श्रीश्रीगुरुगौरांगौ जयतः

श्रीमत्कृष्णद्वैपायन-वेदव्यासकृता

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्यमुकुटमणि

श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित

टीका सहित

नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद

श्रीमत् सच्चिदानन्दभक्तिविनोद ठाकुर-प्रणीत

'रसिकरंजन' नामक मर्मानुवाद सहित

विश्वव्यापी श्रीचैतन्य मठ तथा श्रीगौड़ीय मठ नामक संस्थाओं के संस्थापक

परमहंसकुल संसेव्यचरण

108 श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद

जी के कृपाविग्रह

अखिल भारतीय श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ प्रतिष्ठान के प्रतिष्ठाता

ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिदयित माधव गोस्वामी महाराज

जी के अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवल्लभतीर्थ गोस्वामी महाराज जी

द्वारा सम्पादित

अनुवादक (बंगला-हिन्दी)
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिविज्ञान भारती महाराज

सह-अनुवादकः भक्ति विबुध मुनि

प्रथम संस्करण
श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
श्रीगौराब्द 521
4 सितम्बर, 2007

प्राप्तिस्थान

1 श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ – वृन्दावन, % 0565-2442199
2 श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ – नई दिल्ली, % 011-65955611
3 श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ – मुम्बई, % 022-24463827, 32912553
4 श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ – चण्डीगढ़, % 0172-2708788

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठक निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करने के लिए आमंत्रित हैं

श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
सैक्टर 20-बी
चण्डीगढ़, % 0172-2708788, 09216511765
ई-मेल : sukdevprabhu@gmail.com

(श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद जी द्वारा लिखित)

टीका का विवरण

श्रीमन्महाभारत के भीष्मपर्व के 25वें से 42वें अध्याय तक के अठारह अध्यायों वाले श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ ने उपनिषद् के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की है। इस ग्रन्थ पर असंख्य टीकाएं लिखी जा चुकी हैं एवं बहुत सी भाषाओं में उनका अनुवाद भी हो चुका है। प्राचीन टीकाओं में से श्रीहनुमद्भाष्य के अतिरिक्त श्रीविष्णुस्वामी प्रमुख प्राचीन आचार्यों की बहुत सी टीकाएं अब नहीं देखी जाती हैं। इन प्रचलित टीकाओं में से श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य और श्रीबलदेव विद्याभूषण जी की टीकाओं ने ही मुख्य स्थान प्राप्त किया है। श्रीरामानुज जी के पूर्ववर्ती श्रीयामुनमुनि रचित 'गीतातात्पर्य' की बात सुनने को मिलती है। श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय के श्रीधर स्वामी जी की 'सुबोधिनी- टीका' एवं श्रीबल्लभ और उनके पुत्र श्रीविठ्ठल जी द्वारा रचित क्रमशः 'गीतार्थविवरण' एवं 'गीतातात्पर्य' तथा उनकी परम्परा के सप्तम आचार्य श्री पुरुषोत्तम द्वारा रचित 'अमृततरंगिणी' टीकाएं भी विशेष प्रसिद्ध हैं। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीनिवास आचार्य से आगे 29वें आचार्य केशव कश्मीरी जी की 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक टीका भी देखने को मिलती है। आनंदगिरि जी की 'गीताभाष्यविवेचन' एवं श्री मधुसूदन सरस्वती की 'गूढार्थ-दीपिका' आदि टीकाएं भी विशेषरूप से प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त अर्जुनमिश्र, चतुर्भुजमिश्र, जनार्दनभट्ट, देवबोध, देवस्वामी, नन्दकिशोर, नारायण, सर्वज्ञ, नीलकंठ, चातुर्धर, परमानन्द भट्टाचार्य, यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, लक्ष्मण भट्ट, विमलबोध, वैशम्पायन,श्रीनिवासाचार्य, मध्यमन्दिर, वरदराज, व्यासतीर्थ, सत्याभिनवयति, अंगेश्वरपाल, कृष्णाचार्य, कल्याण भट्ट, केशव भट्ट, जगद्धर, जयतीर्थ, जयराम, राघवेन्द्र,रामानन्दतीर्थ एवं विद्याधिराज इत्यादि टीकाकारों के नाम भी सुनने को मिलते हैं।

उपरोक्त गीतोपनिषद् संदर्भों का इतना प्रचार होने के बावजूद श्री

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर महाशय ने गौड़ीय रसिक भक्तों के अनुकूल 'सारार्थवर्षिणी' नामक टीका की रचना की है। टीकाकार की जीवनी का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है।

श्रीमन्महाप्रभु के समकालीन गोस्वामियों के अप्रकट होने के बाद शुद्ध भक्ति की धारा श्रीनिवास आचार्य, ठाकुर नरोत्तम एवं श्यामानन्द प्रभु के सहारे प्रवाहित हो रही थी। इन्हीं ठाकुर नरोत्तमकी शिष्य-परम्परा के चौथे आचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर हैं।

प्राय: सभी गौड़ीय वैष्णव ही विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के बारे में थोड़ा-बहुत अवश्य जानते हैं। किन्तु जो श्रीमद्भागवत, गीताशास्त्र एवं गोस्वामिओं द्वारा प्रचारित मत का अध्ययन करते हैं, उन्होंने तो श्रील चक्रवर्ती ठाकुर के अलौकिक कृतित्व की बात अवश्य ही सुनी होगी। हमारे यह चक्रवर्ती ठाकुर महाशय मध्यकालीन गौड़ीय वैष्णव धर्म के संरक्षक एवं आचार्य थे। प्राय: सभी वैष्णवों में आज भी श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु-बिन्दु, उज्ज्वल नीलमणिकिरण और श्रीभागवतामृतकणा इन तीनों ग्रन्थों के बारे में यह कहावत है कि ''किरण- बिन्दु-कणा,एई तीन निये वैष्णवपणा।'' अर्थात् इन तीन ग्रन्थों के अध्ययन से वैष्णव लोग भक्ति के सर्वोत्तम रस का आस्वादन करते हुए कृतार्थ हो जाते हैं अर्थात् यह तीनों ग्रन्थ वैष्णवता की चरम अभिव्यक्ति के प्रकाश हैं।

उनके बारे में यह श्लोक भी हर जगह गाते सुना जाता है।

''विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात् ।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्वात् चक्रवर्त्याख्ययाभवत् ॥''

अर्थात् , भक्तिपथ के प्रदर्शक होने के कारण वे विश्वनाथ और भक्तों में श्रेष्ठ होने के कारण चक्रवर्ती के नाम से विभूषित हुए। श्रील विश्वनाथ जी नदीया जिले के राढ़ीय ब्राह्मण वंश में प्रकट हुए। ये हरिबल्लभ दास के नाम से भी प्रसिद्ध थे। रामभद्र एवं रघुनाथ नाम के इनके दो बड़े भाई थे। बचपन में देवग्राम में रहकर व्याकरण की शिक्षा पूरी करने के पश्चात् भक्तिशास्त्रों के अध्ययन के लिए मुर्शिदाबाद जिला के सैयदाबाद नामक ग्राम में स्थित गुरुगृह में चले गये। यहाँ की श्यामराय एवं मोहनराय

की ठाकुर बाड़ी श्रील चक्रवर्ती ठाकुर से संबन्धित बताई जाती है। इनके गुरुदेव श्रीराधारमण चक्रवर्ती ठाकुर थे। श्रीराधारमण जी श्रीगंगानरायण चक्रवर्ती के शिष्य श्री कृष्णचरण के शिष्य थे। श्रीगुरुदेव की कृपाशक्ति से श्रीविश्वनाथ जी ने व्रज में विभिन्न स्थानों पर रहते हुए बहुत से ग्रन्थों की रचना की। वर्तमान में उनकें दो-चार दुष्प्राप्य ग्रन्थों को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थ गौड़ीय वैष्णवों की परमादृत सम्पत्ति हो गये हैं। उन्होंने वृन्दावन के विभिन्न स्थानों में वास किया था। उनके विभिन्न ग्रन्थों के अन्तिम भाग में इन बातों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है।

श्रील विश्वनाथ ठाकुर द्वारा रचित श्रीकृष्णभावनामृत ग्रन्थ एवं श्रीमद्भागवत की सारार्थदर्शिनी टीका के आधार पर ये लगभग 1560 शकाब्द में इस धरा पर प्रकट हुए और 1630 शकाब्द में अन्तर्धान हुए। इस तरह इन्होंने लगभग सत्तर साल इस धरा पर विचरण किया, मुर्शिदाबाद जिले के अन्तर्गत बालुचरगम्भिला के निवासी श्रीगंगानारायण चक्रवर्ती महाशय श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय के शिष्य थे। भगवद् इच्छा से उन्हें पुत्रप्राप्ति नहीं हुई। उनकी एक मात्र पुत्री थी जिसका नाम था विष्णुप्रिया। श्री रामकृष्ण भट्टाचार्य नामक वारेन्द्र श्रेणी के एक ब्राह्मण श्रील ठाकुर महाशय के प्रसिद्ध शिष्य थे। इन्हीं भटटाचार्य के सबसे छोटे पुत्र श्रीकृष्णचरण को श्रीगंगानारायण चक्रवती ने गोद लिया था। यही श्रीकृष्णचरण ही श्री चक्रवर्ती ठाकुर के परमगुरु थे। श्रीरासपंचाध्यायी की सारार्थदर्शिनी टीका के आरम्भ में यह श्लोक देखने को मिलता है।

''श्रीरामकृष्णगंगाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्णः।
श्रीलनरोत्तमनाथं श्रीगौरांगप्रभुं नौमि ॥''

इस श्लोक में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती पाद जी के गुरुदेव श्रीराधारमण चक्रवर्ती ठाकुर को श्रीराम, परमगुरुदेव श्रीकृष्णचरण जी को श्रीकृष्ण, परात्पर गुरुदेव श्रीगंगाचरण जी को गंगाचरण, परम परात्पर गुरुदेव श्रील नरोत्तम ठाकुर को नरोत्तम एवं नाथ शब्द से श्री नरोत्तम के गुरु श्रीलोकनाथ गोस्वामी प्रभु को संबोधित किया गया है-यही उनकी गुरु परम्परा है। गौड़ीय वैष्णव आचार्यों में श्रील चक्रवर्ती ठाकुर के समान

विस्तृत रूप से संस्कृत ग्रन्थों के लेखक विरले ही प्रकट हुए हैं। इस विपुल संस्कृत साहित्य लिखने के अतिरिक्त इन्होंने गौड़ीय वैष्णव समाज के लिए दो बहुत बड़े हितकर कार्यों का व्रत लिया था, उन दोनों प्रचार कार्यों के मूल में कीर्तन कार्य ही था ।

श्रीनिवास आचार्य की सुपुत्री श्रीहेमलता ठकुरानी ने अपने शिष्य रूपकविराज नामक एक उदासीन शिष्य का गौड़ीय वैष्णव समाज से बहिष्कार कर दिया था। तब से रूपकविराज गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की अतिवाड़ी नामक उपशाखा में गिने जाते हैं। उन्होंने गौड़ीय वैष्णव समाज के सिद्धान्त के विपरीत सिद्धान्त बनाया कि केवल त्यागी व्यक्ति ही आचार्य हो सकते हैं। गृहस्थ भक्तों में भक्ताचार्य बनने की सम्भावना नहीं है। विधिमार्ग का पूर्णरूपेण अनादर करते हुए विश्रृंखलतापूर्ण केवल रागमार्ग का प्रचार करने का प्रयास किया। गोस्वामियों के मत के विपरीत मत का प्रचार किया और कहा कि भगवान् के रूप–गुण–लीला का श्रवण कीर्तन किये बिना ही स्मरणादि संभव है। यह हम लोगों का सौभाग्य है कि श्रील चक्रवर्ती ठाकुर ने श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध की सारार्थदर्शिनी टीका में इसका विरोध किया है। आचार्यवंश में श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु के पुत्र वीरभद्र के शिष्यों की वंशावली में एवं श्रीअद्वैतप्रभु के त्यक्त पुत्रों के वंश में गृहस्थ होकर गोस्वामी उपाधि ग्रहण या प्रदान करना शिष्यों के लिए उचित नहीं है। इस बात का रूपकविराज ने प्रचार किया , लेकिन इस मत का विरोध करते हुए श्रील चक्रवर्ती ठाकुर ने यह प्रमाणित किया कि आचार्यवंश की योग्य गृस्हथ संतानों द्वारा आचार्य का कार्य करना असंगत नहीं है। किन्तु धन, शिष्य आदि की लोभी अयोग्य संतानों द्वारा अपने नाम के पीछे गोस्वामी शब्द लगाकर केवल वंश के नाम को ढोना, उन्होंने शाश्वत शास्त्र के विरुद्ध एवं पूर्णरूपेण अनैतिक बताया। इसीलिए उन्होंने आचार्यरूप से कार्य करते हुए भी अपने नाम के साथ 'गोस्वामी' शब्द का प्रयोग नहीं किया। इसे उन्होंने वर्तमान के मूर्ख विचारहीन आचार्यों की संतानों की तत्त्वज्ञान की अनभिज्ञता के निर्दशनरूप छोड़ दिया ।

जयपुर में श्री गोविन्ददेव जी के मंदिर में श्रीरामानुज संप्रदाय के

आचार्यों ने गौड़ीय वैष्णवों के विरोध में एक विशाल विपुल संग्राम आरम्भ किया। जयपुर के उस समय के राजा ने श्रीवृन्दावन के गौड़ीय वैष्णव आचार्यो को श्रीरूपगोस्वामी का अनुगत जान कर श्रीरामानुजियों के साथ विचार-विमर्श के लिए आमंत्रित किया। शकाब्द 1628 में होने वाली इस घटना के समय श्रील चक्रवर्ती ठाकुर अत्यंत वृद्ध हो चुके थे। इसलिए उनके परामर्श से उनके छात्रतुल्य गौड़ीय वैष्णव वेदान्ताचार्य, पंडितकुलमुकुट महामहोपाध्याय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण एव चक्रवर्ती ठाकुर के एक शिष्य श्रीकृष्णदेव जयपुर की इस सभा में गये। जाति- गोस्वामी अपने श्रीमध्व-सम्प्रदाय के अनुगत को भूल चुके थे। साम्प्रदायिक परिचय विस्मृत होकर वैष्णव वेदान्त का अनादर करने के कारण जो संकट खड़ा हुआ, उसे दूर करने के लिए ही श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण महाशय गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के मतानुसार एक ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रचना के लिए मजबूर हुए एवं गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की परंपरा की अनभिज्ञता को दूर करने हेतु श्रील चक्रवर्ती ठाकुर की सम्मति ली। यह कार्य श्रीचक्रवर्ती ठाकुर के वैष्णव धर्म प्रचार का दृष्टान्त स्वरूप है।

श्रीचक्रवर्ती ठाकुर ने बहुत से ग्रन्थों की रचना की है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में से जो हमें प्राप्त हुए हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं— (1) व्रजरीतिचिन्तामणि (2) चमत्कारचन्द्रिका (3) प्रेमसम्पुटम् (खण्डकाव्यम्)(4) गीतावली (5) सुबोधिनी (अलंकार कौस्तुभ टीका) (6) आनन्दचन्द्रिका (उज्ज्वलनीलमणिटीका) (7) श्रीगोपालतापनी टीका (8) स्तवामृतलहरीधृत-(क) श्रीगुरुतत्त्वाष्टकम् , (ख) मंत्रदातृगुरोरष्टकम् (ग) परमगुरोरष्टकम्, (घ) परात्परगुरोरष्टकम् , (ङ) परमपरात्परगुरोरष्टकम्, (च) श्रीलोकनाथाष्टकम् ,(छ) श्रीशचीनन्दनाष्टकम् ,(ज) श्रीस्वरूपचरितामृतम् , (झ) श्रीस्वप्नविलासामृतम् ,(ञ) श्रीगोपालदेवाष्टकम्, (ट) श्रीमदनमोहनाष्टकम् , (ठ) श्रीगोविन्दाष्टकम्, (ड) श्रीगोपीनाथाष्टकम्, (ढ) श्रीगोकुलानन्दाष्टकम् , (ण) स्वयंभगवदष्टकम्, (त) श्रीराधाकुण्डाष्टकम् ,(थ) जगन्मोहनाष्टकम् ,(द) अनुरागवल्ली ,(ध) श्रीवृन्दादेव्याष्टकम् ,(न) श्रीराधिकाध्यानामृतम् (प) श्रीरूपचिन्तामणिः,

(फ) श्रीनन्दीश्वराष्टकम् , (ब) श्रीवृन्दावनाष्टकम्,(भ) श्रीगोवर्धनाष्टकम्,(म) श्रीसंकल्पकल्पद्रुमः,(य) श्रीनिकुन्जविरुदावली, (विरुत्काव्य),(र) सुरतकथामृतम्,(आर्यशतकम्) (ल) श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्,(9) श्रीकृष्णभावनामृतमहाकाव्यम्,(10) श्रीभागवतामृत–कणा ,(11) श्रीउज्ज्वलनीलमणेःकिरणलेशः,(12) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दु,(13) रागवर्त्मचन्द्रिका,(14) ऐश्वर्यकादम्बिनी (दुष्प्राप्य),(15) माधुर्यकादम्बिनी,(16) भक्तिरसामृतसिन्धु टीका,(17) श्री उज्ज्वलनीलमणि टीका,(18) दानकेलिकौमुदी टीका, (19) श्रीललितमाधव नाटक टीका,(20) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण),(21) ब्रह्मसंहिता टीका,(22) श्रीमद्भगवद्गीता की सारार्थवर्षिणी टीका, एवं (23) श्रीमद्भागवत की सारार्थदर्शिनी टीका।

(श्रीमत् सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर जी द्वारा लिखित)

अवतरणिका

प्रणम्याहं प्रवृत्तोऽस्मिन् नित्यानन्दं सशक्तिकम्।
सन्मुदे बंगभाषायां गीतानुवादकर्मणा ॥

पराशक्ति सम्पन्न नित्यानन्द स्वरूप परमेश्वर को प्रणाम करते हुए, साधुजनों के आनन्दवर्द्धन हेतु गीताशास्त्र का अनुवाद कार्य करने जा रहा हूँ।

निगम शास्त्र अत्यन्त अगाध हैं , शास्त्रों में कहीं धर्म , कहीं कर्म, कहीं सांख्यज्ञान एवं कहीं भगवद् भक्ति का विस्तृतरूप से उपदेश दिया गया है, इन सब व्यवस्थाओं में परस्पर क्या सम्बन्ध है, कब किस व्यवस्था को छोड़ दूसरी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए, इस प्रकार के क्रम अधिकार-तत्त्व ज्ञान का वर्णन इस शास्त्र में कहीं-कहीं देखा जाता है। किन्तु कलियुग में स्वल्प आयु और संकीर्णमेधा जीव के लिए इन सब शास्त्रों का अध्ययन करना और विचार कर अधिकारानुसार अपने कर्तव्य का निर्धारण करना बड़ा मुश्किल है। इसलिए इन सभी व्यवस्थाओं या साधनाओं की एक संक्षिप्त एवं सरल वैज्ञानिक मीमांसा की अत्यावश्यकता है । द्वापर के अन्तिम चरण में धीशक्तिसम्पन्न व्यक्तियों ने वेदशास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को न समझने के कारण ही किसी ने एक मात्र कर्म को, किसी ने योग को, किसी ने सांख्य ज्ञान को, किसी ने तर्क को और किसी ने अभेद ब्रह्मवाद को ही ग्रहण करने योग्य मत बतलाया। अचर्वित खाद्यों से जिस प्रकार बदहजमी हो जाती है, ठीक उसी प्रकार खण्ड-ज्ञानजनित इन मतों ने भारत भूमि में नानाविध उत्पात उपस्थित किये अर्थात् यथार्थज्ञान के विषय में लोगों को भ्रमित किया।

कलियुग के आगमन से पहले ही जब उत्पात अत्यन्त प्रबल हो उठे तब सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण जी ने अपने सखा अर्जुन को लक्ष्यकर, जगत् कल्याण के एक मात्र उपाय स्वरूप, सर्ववेद-सारार्थ-मीमांसारूपी श्रीमद्भगवद् गीता का उपदेश दिया, इसलिए गीताशास्त्र सभी उपनिषदों

के सिर के मुकुट के रूप में शोभायमान है। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के आपसी सम्बन्ध और उनके अन्तिम लक्ष्य एवं सब जीवों के नित्य कर्तव्य के रूप में श्रीहरिभक्ति का ही गीता में उपदेश दिया गया है ।

कई तर्कप्रिय पण्डित ऐसा कहते हैं कि गीता अभेदब्रह्मवाद मत पोषक है, उनका ऐसे बोलने का कारण है कि वे अभेदब्रह्मवाद मत के प्रवर्तक भगवदादेशपालकावतार श्रीमत् शंकराचार्य द्वारा विरचित गीताभाष्य को ही मूल आदर्श मानते हैं। जो व्यक्ति कर्म, ज्ञान और योग इत्यादि इनमें से जिस भी साधन का अधिकारी है, वह अगर अपने अधिकारानुरूप साधन को छोड़कर दूसरे साधन को अपनाता है तो उसके नित्य अमंगल की सम्भावना बनी रहती है। यह विचार करके कर्म के अधिकारियों को कर्म में, ज्ञान के अधिकारियों की ज्ञान में, योग के अधिकारियों की योग में निष्ठा बढ़ाने के लिए ही कर्मशास्त्रों में कर्म और ज्ञानशास्त्रों में ज्ञान को सर्वोत्तम कहा है, जिन ग्रन्थों में साधना काल में कर्म-ज्ञान-प्रधानीभूता भक्ति एवं फल काल में निरुपाधिक प्रीति का उपदेश दिया गया है वही ग्रन्थ सभी जीवों के लिए नितान्त मंगलकारी है। सभी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, और भगवद्गीता पूरी तरह से शुद्ध भक्तिशास्त्र हैं। आवश्यकतानुसार इन में कहीं- कहीं कर्म, ज्ञान, मुक्ति एवं ब्रह्मप्राप्ति इत्यादि विषयों की आलोचना देखी जाती है। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर देखा जाता है, कि शुद्ध भक्ति के अलावा इनमें और कुछ भी उपदेश नहीं दिया है।

गीता के पाठकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- स्थूलदर्शी और सूक्ष्मदर्शी। स्थूलदर्शी पाठक तो केवल वाक्यों के अर्थ के आधार पर ही सिद्धान्त तय कर लेते हैं,जबकि सूक्ष्मदर्शी पाठक शास्त्रों के तात्त्विक अर्थ जानने का प्रयास करते हैं। स्थूलदर्शी पाठक तो शुरू से अन्त तक गीता पढ़ने के पश्चात् यही सिद्धान्त तय कर पाते हैं, कि वर्णाश्रम विहित कर्म ही नित्य हैं, इसलिए सारी गीता श्रवण करने के पश्चात् अर्जुन ने युद्धरूपी क्षत्रियधर्म ही स्वीकार किया था। इसलिए वर्णाश्रमविहित कर्म का आश्रय लेना ही गीता शास्त्र का तात्पर्य है। जबकि सूक्ष्मदर्शी पाठक इससे संतुष्ट नहीं होते। वे या तो ब्रह्मज्ञान या फिर पराभक्ति को ही गीता का तात्पर्य निश्चित करते हैं, वे कहते हैं, कि अर्जुन द्वारा युद्ध को अंगीकार

करना केवल अधिकार निष्ठा का उदाहरण मात्र है, गीता का चरम तात्पर्य नहीं। मानव अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्माधिकार प्राप्त करते हैं, एवं उस अधिकारानुसार कर्म करते हुए जीवनयात्रा निर्वाह करते–करते तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। कर्म नहीं करने से सम्यक् जीवनयात्रा निर्वाहित नहीं होती और जीवनयात्रा निर्वाह नहीं होने से तत्त्वज्ञान सुलभ नहीं होता। इसलिए तत्त्वज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में कर्म और वर्णधर्म का एक गहन सम्बन्ध है। जब तक जीव की मायाबन्धन से मुक्ति नहीं होती तब तक यह सम्बन्ध नकारा नहीं जा सकता। अर्जुन का जो स्वभाव देखने को मिलता है, उसमें युद्धरूपी क्षत्रिय धर्म ही कर्तव्य कर्म था, इसलिए गीता श्रवण करके अर्जुन द्वारा युद्ध अंगीकार किए जाने से यही निश्चत होता है कि ब्रह्मस्वभाव वाले व्यक्ति गीता श्रवण करने के पश्चात् उद्धव की तरह संन्यास स्वीकार करेंगे, इसलिए गीता का शुद्ध तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जिस स्वभाव से सम्पन्न है, उसके अनुरूप ही उसका अधिकार है, उसी अधिकार के अनुरूप बताये गये जीवनयात्रा उपयोगी कर्म स्वीकार करते हुए परतत्त्व का अनुसंधान करना ही कर्तव्य है, उसी में श्रेय निहित है। अधिकार त्याग करने से बद्ध जीव के लिए तत्त्वप्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है।

यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि परम वैष्णव अर्जुन क्या वैष्णव स्वभाव सम्पन्न नहीं थे? इसका उत्तर यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि अर्जुन वैष्णव स्वभाव सम्पन्न थे किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने जब संसार में अवतार ग्रहण किया तब उनकी लीला पुष्टि करने के लिए अर्जुन क्षत्रियस्वभाव स्वीकार कर अवतीर्ण हुए, इसलिए लीला में उनका स्वभाव क्षत्रियों के अनुरूप ही था, इसीलिए उन्हें अब क्षत्रियस्वभावसम्पन्न लीला करनी पड़ी। अर्जुन के इसी स्वभाव को लक्ष्य बनाकर भगवान् ने उन्हें उनके अधिकार के अनुसार ही शिक्षा प्रदान की।

सरल बुद्धि द्वारा विचार करने पर मायाबद्ध जीव की अवस्था काफी शोचनीय प्रतीत होती है, इस शोचनीय अवस्था से मंगलमय विशुद्ध अवस्था प्राप्ति के लिए किसी उपाय को अपनाना ही उचित लगता है। उस विशुद्ध अवस्था को ही उपेय या प्रयोजन कहते हैं, जिसके द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसे उपाय कहा जाता है, शास्त्रकारों में से कोई यज्ञ को, कोई योग

को, कोई तर्क को, कोई पुण्य को, कोई वैराग्य को, कोई तपस्या को, कोई धर्मयुद्ध को, कोई ईश्वर उपासना को, कोई धर्म को, कोई गुरुसेवा को, कोई प्रायश्चित को, कोई दान को प्रयोजनप्राप्ति का उपाय बतलाता है। इस प्रकार नाना नामों से अवैज्ञानिक रूप से कहे जाने वाले उपाय भी असंख्य हो उठे हैं, परन्तु विज्ञान के हस्तक्षेप से स्वतः ही इनकी संख्या में गिरावट आई। देखा गया है कि ये सब उपाय भिन्न-भिन्न तीन तत्त्वों के अधीन हैं, वे हैं कर्म, ज्ञान और भक्ति।

स्वतः सिद्ध आत्मज्ञान और विशुद्ध विचारों द्वारा निश्चित हुआ है कि जीव की सिद्ध सत्ता चिन्मयी है, वह इस संसार का नहीं है, माता के गर्भ से जन्म तो केवल इस सिद्धसत्ता की मायाबद्ध दशामात्र है, चिन्तातीत एवं तर्कातीत भगवान् की इच्छा के बिना चिन्मय जीव का जड़ माया के साथ सम्बन्ध होने का और कोई कारण नहीं है, उस कारण को जानना तुच्छ नरबुद्धि की सीमा से बाहर है। जीव की दो अवस्थायें हैं, मुक्त और बद्ध। मुक्त जीव दो प्रकार के हैं, एक तो वे हैं जो कभी मायाबद्ध हुए ही नहीं अर्थात् नित्य मुक्त एवं दूसरे वे जिन्होनें मायाबद्ध दशा से मुक्ति प्राप्त की है, अर्थात् बन्धन मुक्त, दोनों प्रकार के जीव शास्त्रातीत हैं, कर्म, ज्ञान और भक्ति का अन्तर जो बद्धजीवों में देखा जाता है वह मुक्त जीवों में नहीं है, कर्म और ज्ञान प्रेमवृत्ति की उपाधि विशेष हैं। वह उपाधि जिस जीव के प्रेमरूप नित्यधर्म को स्पर्श करती है वही बद्धावस्था है। मायाबद्ध अवस्था में भगवद् बर्हिमुखता रूपी उपाधि से प्रेमवृत्ति 'विकृत' होकर धर्मरूपी एक आकार ले लेती है और स्थान विशेष में ज्ञानरूप से एक और आकार ले लेती है, साधनभक्ति ही इस वृत्ति का तीसरा आकार है, इनमें से साधनभक्तिरूपी आकार ही बद्धजीव के स्वस्थ होने का लक्षण है। जबकि अन्य दोनों मायामय संसार पीड़ा के लक्षण हैं । जब तक शरीर में हैं तब तक कर्म के बिना रहना असम्भव है। शरीरयात्रानिर्वाह के लिए जो सब कर्म किये जाते हैं, उनमें से जो जगत् का अमंगल करने वाले है उन्हे विकर्म या कुकर्म कहते हैं, मंगलजनक कर्म न करना ही अकर्म है, और जिन कर्मों से जगत् का मंगल होता है, उन सब को कर्म कहते हैं। कर्म चार प्रकार के होते हैं, (1) शारीरिक (2)मानसिक (3) सामाजिक (4)

आध्यात्मिक। प्रत्येक कर्म का एक-एक गौण फल होता है जैसे कि आहार का फल शरीरपोषण और विवाह का फल सन्तानोत्पत्ति । किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शान्ति ही सब फलों का अन्तिम या चरम फल है।

वैज्ञानिक दृष्टि कुछ और आगे डालने से देखा जायेगा कि माया यन्त्रणा से क्रमशः मुक्त होकर भगवान् के चरणों की सेवाप्राप्ति ही चरम शान्ति है । आहार, निद्रा, व्यायाम, शौच इत्यादि शरीरपालक कर्म हैं। यज्ञ, व्रत, अष्टांगयोग इत्यादि अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक कर्मों का उपदेश दिया गया है । उनमें से अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन और प्राणायाम- ये चार शरीर सम्बन्धी योग हैं। प्रत्याहार, ध्यान, धारणा - ये मानस योग एवं समाधि आध्यात्मिक योग है। ये सभी शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक कर्म हैं, वेदों और मनु आदि के धर्मशास्त्रों में यज्ञ, दान, व्रत और वर्णाश्रमविहित सब प्रकार के सामाजिक कर्मों की व्यवस्था है। जिन-जिन शास्त्रों में इन सब कर्मों की व्यवस्था देखी जाती है उन -उन शास्त्रों में इन सब कर्मों के तात्कालिक अलग-अलग गौण फल कहे गये हैं किन्तु उन-उन शास्त्रों के अन्त में चरमफल के रूप में शान्ति का ही उल्लेख देखा जाता है अष्टांग योगशास्त्र के विभूति पाद में नाना प्रकार के ऐश्वर्यरूप अप्रधान फल कहें गये हैं पर कैवल्यपाद में केवल शान्ति को ही प्रधान फल निश्चित किया गया है। सभी कर्म पहले सुखभोगरूप फल प्रदान करने की प्रतिज्ञा करते हैं किन्तु अन्त में सब सुखों को अनित्य बतलाते हुए कैवल्यादि शान्ति सुख को ही श्रेष्ठ बताकर उसके प्रति निशाना साधते हैं। कैवल्यादि शान्ति भुक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ होने पर भी दुःख का अभाव मात्र है स्वयं सुखविशेष नहीं है। तब किसी प्रकार ब्रह्मज्ञानरूपी चित्तसुख की खोज होती है। अभेद ब्रह्मसुख तक के सभी गौण फलों का अतिक्रमण कर जब भगवान् का सेवासुख दिखाई देता है तभी कर्म भक्ति में बदल जाते हैं, इसलिए भक्ति ही जीवों के कर्मफल का परम उद्देश्य है।

जिस कर्म का परम उद्देश्य भक्ति नहीं वह भगवद्बहिर्मुख कर्म है, उसे ही कर्म कहा जाता है, भगवत् सेवापरायण कर्म को साधनभक्ति कहा जाता है।

मायाबद्ध होने पर भी जीव स्वयं स्वरूपतः चिन्मय तत्त्व है,

उसके लिए ज्ञानालोचन करना स्वाभाविक है। ज्ञानालोचन चार प्रकार का है सांसारिक ज्ञान आलोचन, लैंगिक ज्ञान आलोचन एवं इन दोनों के अतिरिक्त ज्ञानालोचन और शुद्ध ज्ञानालोचन। दर्शन और श्रवणादिमय जड़ीय 'विषयों का ज्ञान' ही 'जड़ीय ज्ञान' है। ध्यान-धारणा-कल्पना-विभावनामय मानस-जगत् के ज्ञान को ही 'लैंगिक ज्ञान' कहते हैं। जड़ीय और लैंगिक ज्ञान को अष्टांगयोग के अन्तर्गत समाधि अथवा सांख्ययोगी के अतनिरसन प्रक्रिया द्वारा स्थगित करने से जड़ और लिंग के अतिरिक्त ज्ञानरूप 'कूटसमाधि' होती है यहीं पर शंकराचार्य जी का अभेद ब्रह्मवाद या पतंजलि का ईश्वर सायुज्यरूपी कैवल्यवाद उदित होता है । निरुपाधिक चित्तत्त्व को शुद्ध अवस्था में अर्थात् स्थूल और लिंग के 'साक्षात् दर्शन' या कूटसमाधि के अतिरिक्त भावना के दूर होने पर शुद्ध चित् तत्त्व सहज प्रकाशित होता है, उसी का नाम सहज समाधि या शुद्ध ज्ञान है । यह ज्ञान ही भक्ति पोषक है।

ज्ञानालोचन द्वारा बद्धजीव पहले-पहले जड़जगत् की भिन्न-भिन्न वस्तुओं का ज्ञान संग्रह करता है बाद में इन सब वस्तुगत धर्मो एवं सभी वस्तुओं की प्राप्ति के समय उन सब धर्मों के उदित होने से उन विषयों से अवगत हो जाता है और कभी-कभी इन सब वस्तुओं और धर्म की आलोचन करके सब के कर्ता और पालकरूप में ईश्वर की ओर निर्देश करते हुए उनके प्रति एक प्रकार की सकाम भक्ति का प्रदर्शन करता है। कभी इस जगत् को नश्वर जान कर स्वयं वैराग्य करता है एवं प्रपञ्चातीत किसी अनिर्वचनीय तत्त्व के साथ अपने आपको मिला कर अभेद ब्रह्मवाद की कल्पना करता है और कभी-कभी वस्तु के अस्तित्त्व के प्रति घृणा करके नास्तित्व और निर्वाण को ही सुख समझ उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है।

जैसे भी चर्चा क्यों न करें अभेद चिन्तन और निर्वाण को तुच्छ समझ कर जीव अन्त में किसी परम तत्त्व का आनुगत्य स्वीकार करता है। उस आनुगत्य के स्पष्ट होने से भक्ति हो उठती है। इसलिए भक्ति ही जीव के ज्ञानफल का अन्तिम उद्देश्य है कर्म का गौण फल है-भुक्ति और ज्ञान का गौण फल मुक्ति एवं इन दोनों का चरम फल भक्ति को ही समझना

होगा। जहां ज्ञान भक्ति को ही चरम फल न माने वहां पर ज्ञान सोपाधिक और भगवद्बर्हिमुख होता है और जहां पर भक्ति को ही उद्देश्य मानें वहां ज्ञान को साधनभक्ति कहा जाता है।

अनेक लोग यह समझते हैं कि भक्ति का स्वरूप नित्य सिद्ध नहीं है, केवल कर्म की विशुद्ध अवस्था और ज्ञान की कैवल्या अवस्था को ही भक्ति कहा जाता है। ऐसा सिद्धान्त भ्रमात्मक है। सूक्ष्मदर्शी पण्डित कहते हैं कि विशुद्ध आत्मा की आस्वादनवृत्ति की परिचालना को केवला, अकिञ्चना या अनन्याभक्ति कहा जाता है, उसी का दूसरा नाम 'प्रेम' है। आत्मा की विचारवृत्ति की परिचालना को ज्ञान कहते हैं। आस्वादन शून्य विचार अन्त में प्राय: अभेद ब्रह्मवाद या निर्वाणवादरूप अनर्थ को लाकर उपस्थित करता है। जीव स्वभाविक ही 'आस्वादन' प्रधान है । केवल विचारों में ही खो जाने से स्व-स्वभाव से पतित होना पड़ता है। ज्ञान जब प्रेम को लक्ष्य करता है तब ज्ञानमिश्रा भक्ति होती है। ज्ञान जब प्रेम बाहुल्यवश विचारवृत्ति को स्थगित करता है, तब केवला भक्ति के रूप में प्रकाशित होता है।

जीव की सत्ता नित्य है इसलिए उसकी आलोचनावृत्ति भी नित्य है, आलोचनावृत्ति नित्य होने से उसके कार्य भी नित्य हैं। मुक्तावस्था और बद्धावस्था भेद से जीव के कार्य दो प्रकार के हैं - निरुपाधिक और सोपाधिक। माया के संगवश जो शरीर में और शरीर सम्बन्धी सभी वस्तुओं में अहंता और ममता उत्पन्न होती है उसे ही जीव का देहात्माभिमान कहते हैं। मायाबद्ध जीव के कार्य सोपाधिक हैं और जो मायाबद्ध नहीं हैं या भगवान् की कृपा से मायामुक्त हो गये हैं उनके कार्य निरुपाधिक हैं। विशुद्धात्मा के निरुपाधिक कार्य का नाम ही भगवत् सेवा है। और बद्ध आत्मा की सोपाधिक कार्य का नाम ही कर्म है। मायामुक्त होने पर जीव के कार्य निरुपाधिक हो जाते हैं सोपाधिक अवस्था में जीव का कर्म करना मजबूरी है। वास्तविकता तो प्रेमसेवा ही जीव का सहज धर्म है। यही धर्म बद्धावस्था में भी जीव के साथ-साथ ही है किन्तु बहिर्मुख कर्मों की प्रबलता हेतु प्राय: लुप्त रहता है सत्संग के प्रभाव से धीरे-धीरे जब जीवों की बहिर्मुखता दूर हो जाती है। और सेवाभावना प्रबल हो उठती है तब उसे

कर्ममिश्रा साधनभक्ति कहते हैं, किन्तु सेवाभावना के अत्यन्त प्रबल होने पर कर्म क्रमशः भगवद् बहिर्मुखतारूपी स्वरूप को परित्याग कर देता है और तब वह बिहर्मुखता केवला भक्ति में बदल जाती है।

यन्त्र के कार्य की तरह मनुष्यों के कर्म ज्ञानशून्य नहीं है जो कर्म मनुष्य द्वारा किये जाते हैं वह ज्ञानपूर्ण किये जाते हैं । मानव की ज्ञानालोचना कभी भी कर्मशून्यता को प्राप्त नहीं होती। आलोचना ही ज्ञान का जीवन है। यह आलोचना भी एक प्रकार का कर्मविशेष है। इसलिए स्थूल बुद्धि व्यक्तियों को कर्म और ज्ञान दोनों में समानता प्रतीत होती है,जिस प्रकार तात्त्विकविचार में कर्म और ज्ञान दोनों के स्वरूप अलग-अलग हैं उसी प्रकार कार्य करते समय कर्म और ज्ञान से भक्ति का पृथक् निर्देश न कर पाने पर भी तात्त्विकविचार से कर्मज्ञान से भक्ति का पार्थक्य सिद्ध है ।

निरुपाधिक चिन्मयी प्रेमसेवा ही भक्ति का सिद्धस्वरूप है। यद्यपि मायाबद्ध अवस्था में उसका स्पष्ट रूप से निर्देश करना सहज नहीं है फिर भी जिनकी उस विषय में श्रद्धा उत्पन्न हुई है उनके लिए इस की अनुभूति सहज है। जो रुचिवश भक्तितत्त्व की आलोचना करते रहते हैं वे इस विषय में केवल तर्क का आदर नहीं करते। वही भक्तितत्त्व को जान सकते हैं।

भक्ति दो प्रकार की है केवला और प्रधानीभूता। केवला भक्ति स्वतन्त्र और कर्म और ज्ञान की गन्ध से भी रहित है। इसी का ही निरुपाधिक प्रेम, निरुपाधिक सेवा, अनन्या भक्ति, इत्यादि अलग-अलग नामों से शास्त्रों में उल्लेख है। प्रधानीभूता भक्ति तीन प्रकार की है। कर्मप्रधानीभूता, ज्ञानप्रधानीभूता और कर्म-ज्ञान-प्रधानीभूता। जिस कर्म और ज्ञान में भक्ति की प्रधानता हो या कर्म और ज्ञान द्वारा भक्ति का दासत्व देखने को मिले उस कर्म या ज्ञान के साथ जो भक्तिवृत्ति है उसे ही प्रधानीभूता भक्ति कहा जाता है।

जिस कर्म या ज्ञान में भक्तिवृत्ति की प्रधानता नहीं अपितु कर्म या ज्ञान का प्रभुत्व देखने को मिले और भक्ति केवल कर्म और ज्ञान की दासी की तरह सेवा करे, उसी कर्म का नाम ही कर्म और उसी ज्ञान का नाम ही ज्ञान है। ऐसे कर्म या ज्ञान को भक्ति का नाम नहीं दिया जा सकता। कर्म, ज्ञान और भक्ति स्वभावतः परस्पर भिन्न स्वरूप हैं। इसलिए तत्त्वविचार

द्वारा कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्ति को पृथक् किया गया है।

गीता, में अठारह अध्याय हैं उनमें से पहले छः अध्यायों में कर्म, द्वितीय छः अध्यायों में भक्ति और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञान, तीनों का अलग- अलग विचार कर अन्त में भक्ति की ही श्रेष्ठता दिखाई गई है । भक्ति अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है। क्योंकि भक्ति ज्ञान और कर्म की जीवनस्वरूप और अर्थसाधक है इसलिए भक्ति विषयक विचारों को बीच के अध्यायों में रखा गया है ।

इस प्रकार गीता में विशुद्ध भक्ति को ही जीवों का परम उद्देश्य बताया गया है। गीता के अन्त में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोक में भगवान् की शरणागति को ही सर्वगुह्यतम उपदेश बताया है। पाठकवृन्द अपने भक्तिपूत अन्तः करण में श्रील चक्रवर्ती महाशय के टीका के साथ गीता-शास्त्र का पुनः पुनः पाठ कर जीवन सफल करें।

दुर्भाग्यवश अभी तक श्रीमद् भगवद्गीता की जो टीकायें रचित हुई हैं प्रायः सभी अभेद ब्रह्मवादियों द्वारा रचित हैं। विशुद्ध भगवद्भक्ति सम्मत टीका या अनुवाद प्रायः प्रकाशित नहीं है। शंकरभाष्य और आनन्द गीरी की टीका सम्पूर्ण अभेदवादपूर्ण है। श्रीधरस्वामी जी की टीका ब्रह्मवाद पूर्ण न होने पर भी उसमें साम्प्रदायिक शुद्धाद्वैतवाद की गन्ध है। श्री मधुसूदन सरस्वती जी की टीका जिस प्रकार भक्तिपोषकवाक्यों से परिपूर्ण है अन्तिम उपदेश के समय उस प्रकार नहीं है, इसलिए वैसी कल्याणप्रद नहीं है । श्री रामानुज आचार्य जी का भाष्य सम्पूर्ण भक्ति सम्मत है, किन्तु हमारे देश में श्री गौरांग प्रभु जी के अचिन्त्य भेदाभेद शिक्षापूर्ण गीताभाष्य रूप में कोई टीका प्रकाशित नहीं हुई, इसलिए विशुद्ध प्रेम भक्ति के आस्वादकों को वे सब टीकाएं आनन्दवर्द्धक नहीं हुई । इसके अतिरिक्त हमने यत्नपूर्वक श्री गौरांगानुगत महामहोपाध्याय भक्तशिरोमणि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महाशय द्वारा विरचित टीका को उसी के अनुयायी रसिकरंजन नामक बंगानुवाद के साथ ही प्रकाशित किया है।

श्री महाप्रभुजी की शिक्षासम्मत श्री बलदेव विद्याभूषणकृत एक गीताभाष्य भी है। बलदेव जी की टीका विचारपरायण है किन्तु चक्रवर्ती महाशय की टीका विचार और प्रीतिरस दोनों विषयों से परिपूर्ण है: विशेषतः

चक्रवर्ती महाशय की श्रीमद्भागवत की टीका सम्पूर्ण देश में सम्मानित और प्रचारित होने के कारण अभी चक्रवर्ती महाशय की टीका ही प्रकाशित कर रहा हूँ। चक्रवर्ती महाशय के विचार सरल एवं संस्कृत भाषा प्रान्जल है साधारण पाठक भी आसानी से समझ सकते हैं।

रसिक रंजन जितना हो सका सरल भाषा में लिखने का प्रयास किया गया है। जिन कठिन शब्दों को अत्यावशयक समझ कर उनका प्रयोग किया गया है उन शब्दों का अर्थ टीका में ही है। पहले - पहले अनुवादकों ने अनुवाद में ही इन सब शब्दों के अर्थ और संस्कृत टीकाकारों के शब्दप्रयोग करने की चातुरी दिखाने का प्रयास किया और अनुवाद को बड़ा मुश्किल कर दिया है। मैनें इस दोष को परित्यागने का विशेष प्रयास किया है मेरे अनुवाद के साथ गीताशास्त्र यदि पाठकों का प्रीतिकर हो तब मैं उनके शुद्धभक्ति सम्मत वैदान्तिक ग्रन्थ, वेदान्तसूत्रभाष्य और उपनिषद्भाष्य भी इसी प्रणाली में प्रकाशित करूंगा।

(**विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिदयित माधव गोस्वामी महाराज जी द्वारा लिखित**)

निवेदन

बीसवीं शताब्दी के शुद्ध भक्तिप्रवाह के मूलपुरुष नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीमत् सच्चिदानन्द भक्ति विनोद ठाकुर जी के बारे में विद्वत् समाज के लोग थोड़ा बहुत सभी जानते हैं । आचार्यलीला के अनुरूप शास्त्रों के प्रचार के उद्देश्य से उनके द्वारा रचित संस्कृत, बंगला और इंग्लिश तीनों भाषाओं में नाना शास्त्रों के भाष्य एवं उनके स्वरचित असंख्य ग्रन्थों में उनकी तत्त्वपारदर्शिता स्पष्टरूप से झलकती है । ठाकुर महाशय प्रेमावतारी स्वयंरूपी श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु जी की परमपरा के नवम आचार्यवर थे । इन्होनें गौड़ीय वैष्णव मुकुटमणि श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्त्तिपाद जी एवं वेदान्ताचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण महाशय जी दोनों द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखी टीकाओं का अनुसरण करते हुए मर्मानुवाद की रचना की है, जो कि क्रमशः 'रसिकरंजन' और 'विद्वद्रंजन' के नाम से प्रकाशित हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी के मनोभिष्ट संस्थापकवर विश्वव्यापी श्रीचैतन्य मठ और श्रीगौड़ीय मठ के संस्थापक अस्मदीय अभिष्टदेव परमहंसकुल मुकुटमणि श्रीचैतन्य महाप्रभु जी की धारा के दशम आचार्यवर नित्यलीला प्रविष्ट ॐ श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी विष्णुपाद जी ने जनसाधारण के मंगल के लिए श्रीमद् भक्ति विनोद ठाकुर जी द्वारा रचित अधिकांश ग्रन्थों, रचनाओं और भाष्यों का स्वयं सम्पादन एवं प्रकाशन किया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता के असंख्य संस्करण विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जिसने जैसा समझा उसने अपने उन भावों को भाष्य एवं व्याख्या के रूप में प्रकाशित किया है। इन सब व्याख्याकारों को साधारणतया दो भागों में बांटा जा सकता है। आरोहपन्थी एवं अवरोहपन्थी। सांसारिक विद्वानों ने अपनी-अपनी योग्यता के तारतम्य

के अनुसार अपनी–अपनी बुद्धि के बल पर श्री भगवान् के वाक्यों के नाना प्रकार के अर्थ किए हैं । उनकी अविद्याश्रित ज्ञान की गरिमा कभी भी उन्हें अविद्योपाधि से मुक्त नहीं करा सकेगी । ऐसे लोगों की व्याख्या को पढ़कर अविद्याग्रस्त पाठकों को वास्तविक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की सम्भावाना नहीं है । भगवान् श्री कृष्ण अधोक्षज तत्त्व हैं अर्थात् हमारे इन्द्रियों के ज्ञान से परे हैं। उनकी कृपा के बिना और उनके चरणों में वास्तविक शरणागत हुए बिना जिस प्रकार वे स्वयं जीव के इन्द्रिय ज्ञान से अतीत हैं उसी प्रकार से उनकी वाणी या उपदेश अर्थात् गीता भी इन्द्रिय ज्ञान की सीमा से अतीत रहती है, मंगलेच्छु व्यक्तियों के लिए एक मात्र श्री कृष्णैकशरण अनन्य शुद्ध भक्तों द्वारा की गई गीता की व्याख्या ही कल्याण करने वाली है इसके विषय में उपनिषद में कहा गया है:–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ (कठ०2/33)
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ (श्वेता० 6/23)

श्रीमद्भागवत (10/14 /29) में भी कहा गया है अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि। जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ ऐसे असंख्य शास्त्रवाक्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं, इसलिए अवरोहवादी भगवत् कृपाप्राप्त आचार्यों की भगवद् उपदेश उपलिब्ध का वर्णन ही वास्तविक हितकर है। शरणागति के तारतम्य के अनुसार या भगवान् की प्राप्ति के तारतम्य के अनुसार ही भक्त आचार्यों की उपलिब्ध और उनकी व्याख्याओं में भी तारतम्य अवश्य रहेगा किन्तु उसमें वास्तव मंगल का सीधा सम्बंध होने के कारण पाठकों की मंगलप्राप्ति की सम्भावना निश्चित है। सर्वोत्तमरूप से भगवत्प्राप्त अर्थात् श्रीकृष्ण के मधुर रति से समृद्ध श्रीकृष्ण भक्त ही उन्हें उत्तमरूप से जानते हैं। इसलिए उनके द्वारा की गयी गीता अर्थात् भगवान् की वाणी की उपलब्धि भी और–और भक्तों की व्याख्या से शीर्ष स्थान पर अधिकार करेगी । श्रीमद् विश्वनाथ चक्रवर्ती और श्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुर महाशय दोनों ही श्रीकृष्ण प्रेमातुर

भक्त हैं। हमने इन्हीं दोनों प्रेमिक आचार्यों की टीका और मर्मानुवाद अपने श्री गुरुदेव जी के सम्पादित संस्करण की तरह यथावत् संरक्षण किया है।

इसके अतिरिक्त इस प्रवर्द्धित नव संस्करण के प्रत्येक श्लोक का अन्वय और शब्दार्थ दिया गया है, जिससे संस्कृत न जानने वाले लोगों को भी श्रीचक्रवर्ती पाद जी की टीका के भावों के अनुसरण में श्लोकों के प्रत्येक शब्द का अर्थ समझने का अवसर मिल सके । श्री भक्ति विनोद ठाकुरकृत भाषाभाष्यमर्मानुवाद के रूप में यथावत् सन्निविष्ट हुआ है। यह संस्करण तत्त्वज्ञान इच्छुक और शुद्ध भक्ति प्रार्थियों के लिए अवश्य ही विशेष सहायक होगा, ऐसी आशा करता हूँ।

दो शब्द

अखिल भारतीय श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ के द्वारा हिन्दी भाषा में प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता की शुद्ध भक्तिमयी व्याख्या का प्रथम संस्करण आपके हाथों में है। इस संस्करण में क्रमश: मूल श्लोक, ठाकुर भक्तिविनोद जी कृत 'रसिकरंजन' मर्मानुवाद, अन्वय एवं श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जी की 'सारार्थ वर्षिणी' टीका का हिन्दी भावानुवाद आदि प्रकाशित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त वर्णानुसार श्लोक सूची, ग्रन्थ के प्रारंभ में प्रभुपाद श्रीलभक्ति सिद्धान्त सरस्वती जी का 'टीका विवरण' श्रील भक्तिविनोद ठाकुर जी की 'अवतरणिका' एवं मेरे गुरुपादपद्म श्रीश्रीमद्भक्तिदयित माधव गोस्वामी विष्णुपाद जी का 'निवेदन' भी संयोजित है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जी कृत अन्तिम पांच श्लोकों की टीका हमें प्राप्त नहीं हुई है। परन्तु पाठकों के लिए श्रीधरस्वामिपाद जी की उन श्लोकों की भक्तिमयी 'सुबोधिनी' नामक टीका से प्रकाशित है।

इस प्रथम संस्करण में शुद्ध भक्तिमय हिन्दी भावानुवाद एवं प्रूफ संशोधन करने के लिए श्रीपाद त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिविज्ञान भारती महाराज जी ने विशेष रूप से सहायता की है। उनके आनुगत्य में भक्ति विबुध मुनि महाराज (श्री शुकदेव दास ब्रह्मचारी) अक्लान्त परिश्रम के कारण हरि गुरु वैष्णवों के विशेष आशीर्वाद के भाजन हुए हैं।

पूर्ण मनोयोग से प्रूफ संशोधन में सहायता प्रदान करने के कारण निम्नलिखित महानुभाव वैष्णवों के विशेष स्नेहभाजन और आन्तरिक धन्यवाद के पात्र हैं- श्रीपाद देवकीनन्दन दास बाबा जी महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिप्रसून मधुसूदन महाराज, श्रीशुभानन्द दास ब्रह्मचारी, श्रीदशरथनन्दन दास ब्रह्मचारी, श्रीनरोत्तम दास ब्रह्मचारी, श्री श्रीधर दास ब्रह्मचारी, पंजाब विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ॰ दमोदर झा वेदनिधि, डॉ॰ वेदप्रकाश उपाध्याय, डॉ॰ धर्मानन्द शर्मा, डॉ॰ जगदीश प्रसाद सेमवाल, डॉ॰ श्रीघनश्याम उनियाल शास्त्रचूड़ामणी, डॉ॰ कृष्ण मुरारी शर्मा इनके अतिरिक्त डॉ॰ सन्ध्या प्रकाश शर्मा, श्रीनरदेव शास्त्री एवं श्रीअरूण शास्त्री।

श्रीराजेन्द्र हिन्दुजा बैंगलौर, श्रीनारायण प्रसाद मुम्बई, श्रीप्रभुदयाल एवं श्रीमती मुन्नी देवी शर्मा नई दिल्ली, श्रीनवीन अग्रवाल पूना, श्रीअमित अग्रवाल, श्रीश्यामलाल एवं श्रीमती चंचल बतरा देहरादून, आर्थिक योगदान के कारण तथा श्रीराजू बरेजा नई दिल्ली, श्रीमनोज शर्मा नई दिल्ली, श्रीराजन शर्मा जालन्धर, श्रीमनोज कुमार चण्डीगढ़ भी अपनी सेवाओं के कारण गौड़ीय वैष्णवों के विशेष स्नेहभाजन और आन्तरिक धन्यवाद के पात्र हैं। करुणामय गौर हरि इन सबको गीता के तात्पर्य को समझने का सुयोग प्रदान करें उनके श्रीपादपद्मों में इस दासानुदास की यही प्रार्थना है।

इति

वैष्णव दासानुदास
भक्तिवल्लभ तीर्थ

वर्णानुसार-श्लोक सूची

अ

आ

इ

ई

उ

ऊ

ऋ

ए

ओ

क

ग

च

ज

त

द

ध

न

प

ब

र

ल

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् 5/25। लेलिह्यसे ग्रसमानः 11/30। लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा 3/3। लोभः प्रवृत्तिरारम्भः 14/12।

व

वक्तुमर्हस्यशेषेण 10/16। वक्त्राणि ते त्वरमाणाः 11/27। वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः 11/39। वासांसि जीर्णानि यथा 2/22। विद्याविनयसंपन्ने 5/18। विधिहीनमसृष्टान्नम् 17/13। विविक्तसेवी लघ्वाशी 18/52। विषया विनिवर्त्तन्ते 2/59। विषयेन्द्रियसंयोगात् 18/38। विस्तरेणात्मनो योगम् 10/18। विहाय कामान्यः सर्वान् 2/71। वीतरागभयक्रोधाः 4/10। वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि 10/37। वेदानां सामवेदोऽस्मि 10/22। वेदाविनाशिनं नित्यम् 2/21। वेदाहं समतीतानि 7/26। वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव 8/28। वेपथुश्च शरीरे मे 1/29। व्यवसायात्मिका बुद्धिः 2/41। व्यामिश्रेणेव वाक्येन 3/2। व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् 18/75।

श

शक्नोतीहैव यः सोढुम् 5/23। शनैः शनैरुपरमेत् 6/25। शमो दमस्तपः शौचम् 18/42। शरीरवाङ्मनोभिर्यत् 18/15। शरीरं यदवाप्नोति 15/8। शुक्लकृष्णे गती ह्येते 8/26। शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य 6/11। शुभाशुभफलैरेव 9/28। शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यम् 18/43। श्रद्धया परया तप्तम् 17/17। श्रद्धावाननसूयश्च 18/71। श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् 4/39। श्रुतिविप्रतिपन्ना ते 2/53। श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् 4/33। श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः...भयावहः 3/35। श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः...किल्बिषम् 18/47। श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् 12/12। श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये 4/26। श्रोत्रं चक्षुःस्पर्शनञ्च 15/9।

स

स एवायं मया तेऽद्य 4/3। सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः 3/25। सखेति मत्वा प्रसभम् 11/41। स घोषो धार्तराष्ट्राणाम् 1/19। सङ्करो नरकायैव 1/41। संकल्पप्रभवान् कामान् 6/24। सततं कीर्त्तयन्तो माम् 9/14। स तया श्रद्धया युक्तः 7/22। सत्कारमानपूजार्थम् 17/18। सत्त्वं रजस्तम इति 14/5। सत्त्वं सुखे सञ्जयति 14/9। सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् 14/17। सत्त्वानुरूपा सर्वस्य 17/3। सदृशं चेष्टते स्वस्याः 3/33। सद्भावे साधुभावे च 17/26। सन्तुष्टः सततं योगी 12/14। संन्यासस्तु महाबाहो 5/6। संन्यासस्य महाबाहो 18/1। संन्यासः कर्मयोगश्च 5/2। संन्यासं कर्मणां कृष्ण 5/1। समदुःखसुखः स्वस्थः 14/24। समं कायशिरोग्रीवम् 6/13। समं पश्यन् हि सर्वत्र 13/29। समं सर्वेषु भूतेषु 13/28। समः

ह

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रो विजयतेतमाम्

श्रीमद्भगवद्गीता

पहला अध्याय

सैन्यदर्शन

धृतराष्ट्र उवाच μ

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।1॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रो विजयतेतमाम्

श्री 'रसिकरंजन' मर्मानुवाद का भावानुवाद

मर्मानुवाद μ धृतराष्ट्र ने कहा μ हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए दुर्योधनादि मेरे पुत्रों तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने क्या किया? ।।1॥

अन्वय μ धृतराष्ट्र उवाच μ (धृतराष्ट्र बोले) μ हे संजय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः (धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए) मामकाः (दुर्योधनादि) पाण्डवाश्च (और युधिष्ठिरादि ने) किम् अकुर्वत (क्या किया?) ॥ 1 ॥

श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिठाकुर-कृता

'सारार्थवर्षिणी टीका'

गौ
श्रीकृष्णचै
प्राचीनवाचःसुविचार्य सोऽहमज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः।
यतेः प्रभोरेव मते तदत्र सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य।।

इह खलु सकलशास्त्राभिमत-श्रीमच्चरणसरोज-भजनः स्वयं भगवान् नराकृतिपरब्रह्मश्रीवसुदेवसूनुः साक्षात् श्रीगोपालपुर्यामवतीर्यापार-परमतर्क्यस्वकृपाशक्त्यै
भवाब्धिनिमज्जमानान् जगज्जनानुद्धृत्य स्वसौ
स्वीयप्रेमहाम्बुधौ
निष्ठामहिष्ठप्रतिष्ठोऽपि भुवो भारदुःखापहारमिषेण दुष्टानामपि स्वद्वेष्टॄणामपि महासंसारग्राहग्रासी-भूतानामपि मुक्तिदानलक्षणं परमरक्षणमेव कृत्वा स्वान्तर्द्धानोत्तरकालजनिष्यमाणाननाद्यविद्याबन्ध-निबन्धन- शोक-मोहाद्या-कुलानपि जीवानुद्धर्त्तुं शास्त्रकृन्मुनिगणगीयमानयशश्च धर्त्तुं स्वप्रियसखं तादृशस्वेच्छावशादेव रणमूर्द्धन्युद्भूतशोकमोहं श्रीमदर्जुनं लक्ष्यीकृत्य काण्डत्रितयात्मकसर्ववेदतात्पर्य- पर्यवसितार्थरत्नालंकृतं श्रीगीताशास्त्र-मष्टादशाध्यायमन्तर्भूताष्टादशविद्यां साक्षाद्विद्यमानीकृतमिव परम-पुरुषार्थमाविर्भावयाम्बभूव। तत्राध्यायानां प्रथमेन षट्केन निष्कामकर्मयोगः, द्वितीयेन भक्तियोगः, तृतीयेन ज्ञानयोगो दर्शितः। तत्रापि भक्तियोगस्यातिरहस्यत्वादुभय- सञ्जीवकत्वेनाभ्यर्हितत्वात् सर्वदुर्लभत्वाच्च मध्यवर्त्ती कृतः। कर्मज्ञानयोर्भक्ति- राहित्येन वै
सम्मतीकृते। भक्तिस्तु द्विविधा —केवला, प्रधानीभूता च। तत्राद्या—स्वत एव परमप्रबला, ते द्वे (कर्मज्ञाने) विनै
अनन्यादि-शब्दवाच्या। द्वितीया तु कर्मज्ञानमिश्रेत्यखिलमग्रे विवृतीभविष्यति।

अथार्जुनस्य शोकमोहौ
जनमेजयं प्रति तत्र भीष्मपर्वणि कथामवतारयति—धृतराष्ट्र उवाच इति। कुरु-क्षेत्रे युयुत्सवो युद्धार्थं सङ्गता मामका दुर्योधनाद्याः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किं कृतवन्तस्तद्ब्रूहि। ननु युयुत्सव इति त्वं ब्रवीष्येव, अतो युद्धमेव कर्त्तुमुद्यतास्ते तदपि किमकुर्वतेति केनाभिप्रायेण पृच्छसीत्यत आह—धर्मक्षेत्र इति। '*कुरुक्षेत्रं देवयजनम्*' इति श्रुतेः तत्क्षेत्रस्य धर्मप्रवर्त्तकत्वं प्रसिद्धम्। अतस्तत्संसर्गमहिम्ना यद्यधार्मिकानामपि दुर्योधनादीनां क्रोधनिवृत्त्या धर्मे मतिः स्यात्; पाण्डवास्तु स्वभावत एव धार्मिकाः। ततो बन्धुहिंसनमनुचितमित्युभयेषामपि विवेक उद्भूते सन्धिरपि संभाव्यते। ततश्च ममानन्द एवेति सञ्जयं प्रति ज्ञापयितुं इष्टो भावो बाह्यः। आभ्यन्तरस्तु सन्धौ
मदात्मजानामिति मे दुर्वार एव विषादः। तस्मादस्माकीनो भीष्मस्त्वर्जुनेन दुर्जय एवेत्यतो युद्धमेव श्रेयस्तदेव भूयात् इति तु तन्मनोरथोपयोगी दुर्लक्ष्यः। अत्र 'धर्मक्षेत्र' इति क्षेत्र-पदेन धर्मस्य धर्मावतारस्य सपरिकर -युधिष्ठिरस्य धान्यस्थानीयत्वं, तत्पालकस्य श्रीकृष्णस्य कृषीबलस्थानीयत्वं, कृष्णकृतनानाविधसाहाय्यस्य जलसेचन- सेतुबन्धनादिस्थानीयत्वं, श्रीकृष्णसंहार्य —दुर्योधनादेर्धान्यद्वेषिधान्याकार- तृणविशेषस्थानीयत्वञ्च बोधितं सरस्वत्या।।1।।

'सारार्थवर्षिणी' टीका का भावानुवाद

चन्द्र जिस प्रकार अपनी किरणों से कुमुद पुष्प को विकसित करता है ठीक उसी प्रकार कुमुद पुष्प सदृश अपने भक्तों के हृदय में आनन्द का प्रसारण कर उन्हें प्रफुल्लित करने वाले, अपने श्रीकृष्ण नाम के दान से पृथ्वी का अन्धकार मिटाने वाले शुभ्रकिरणमाली, अमृत आधार श्रीकृष्ण चैतन्यचन्द्र मेरे मन में विलास करें।

अज्ञ होते हुए भी यतिश्रेष्ठ श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु जी के मत के अनुसरण में प्राचीन महाजनों की वाणी का सुविचार करते हुए मेरे हृदय में भी गीतामृतविन्दु के आस्वादन का लोभ जाग उठा है। इसके लिए साधु समाज मुझ शरणागत को क्षमा करने की कृपा करे।

जिन स्वयं परब्रह्म भगवान् नराकृति श्रीवसुदेवनन्दन के चरणकमलों के भजन का उपदेश देना ही सभी शास्त्रों का उद्देश्य है, वही परब्रह्म

गोपालपुरी श्री मथुरा में अवतरित हुए। अपार परम इन्द्रियातीत होने पर भी वे कृपा परवश जनसाधारण के दृष्टिगोचर हुए और भवसमुद्र में निमग्न जगत्वासियों का उद्धार करते हुए उन्हें अपने सौन्दर्य-माधुर्यादि का आस्वादन करवा कर अपने प्रेम-रस के महासागर में निमज्जित कर दिया। साधुओं की रक्षा और असुरों का नाश करने का दृढ व्रत धारण कर उन्होंने पृथ्वी का भार हरण करने के बहाने दुष्टों, अपने विद्वेषियों और महासंसाररूपी ग्राह से ग्रस्त जीवों को मुक्ति प्रदान कर उनका रक्षण ही किया है ।

अपने अन्तर्धान के पश्चात् उत्पन्न होने वाले अनादिकाल से अज्ञान तथा शोक-मोहादि ग्रस्त जीवों का उद्धार करने एवं शास्त्रकार मुनियों द्वारा किये गये यशोगान को धारण करने के लिए उन्होंने स्वेच्छावश रणक्षेत्र में अद्भुत शोक-मोह प्राप्त अपने प्रिय सखा अर्जुन को लक्ष्य करके कर्म, ज्ञान और भक्ति काण्डत्रयात्मक, सब वेदों के सारार्थरूपी रत्नों से अलंकृत श्रीगीताशास्त्र का उपदेश देकर परम पुरुषार्थ को प्रकट किया है। इस गीता के अठारह अध्यायों में अठारह विद्याओं का वर्णन है। इस गीता शास्त्र के प्रथम छः अध्यायों मे निष्काम कर्म योग, द्वितीय छः अध्यायों में भक्तियोग और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञानयोग दर्शाया गया है। अत्यन्त रहस्यात्मक एवं कर्म और ज्ञान दोनों की जीवनदायिनी होने के कारण भक्ति को इन दोनों के बीच में रखा गया है। भक्तिरहित कर्म एवं ज्ञान दोनों ही व्यर्थ हैं। केवल भक्तिमिश्रित होने पर ही ये दोनों स्वीकृत हैं। भक्ति दो प्रकार की है-केवला भक्ति और प्रधानीभूता भक्ति। केवलाभक्ति स्वयं ही स्वतन्त्र परम प्रबला है एवं कर्म और ज्ञान के बिना ही विशुद्ध प्रभावशालिनी है। यह 'अकिञ्चना' और 'अनन्य' इत्यादि कई नामों से भी कही जाती है, किन्तु प्रधानीभूता भक्ति कर्म और ज्ञान मिश्रा है। यह आगे विस्तृत रूप से बताया जाएगा ।

अर्जुन का शोक-मोह किस प्रकार का है यह बताने के लिए महाभारत के वक्ता श्रीवैशम्पायन जनमेजय के सम्मुख भीष्मपर्व की कथा की अवतारणा कर रहे हैं - 'धृतराष्ट्र उवाच' इत्यादि -धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं - कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए दुर्योधनादि मेरे पुत्रों तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने क्या किया ? यदि कहा जाय कि युद्ध के लिए आए व्यक्तियों ने युद्ध ही किया ? तब धृतराष्ट्र द्वारा यह पूछने का अभिप्राय क्या है कि उन्होंने क्या किया,

इसके उत्तर में कहते हैं कि देवताओं की यज्ञभूमि होने के कारण कुरुक्षेत्र धर्म में प्रवृत्त करवाने वाले क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध है, इसलिए ऐसे स्थान के प्रभाव से अधार्मिक दुर्योधनादि का क्रोध शान्त हो सकता है और उनकी मति धार्मिक हो सकती है, जब कि पाण्डव तो स्वभाव से ही धार्मिक हैं। इसलिए यदि दोनों पक्षों के लोगों में ऐसा विवेक उदय हो जाए कि बन्धुओं का संहार उचित नहीं है, तो सन्धि सम्भव हो सकती है। धृतराष्ट्र संजय के सामने बाहर से तो ऐसे भाव प्रकट कर रहे हैं कि सन्धि हो जाए तो मुझे आनन्द होगा, किन्तु उनकी आन्तरिक भावना यह है कि यदि सन्धि हो गई तो मेरे पुत्रों का राज्य पहले की तरह सकण्टक बना रहेगा और कभी न समाप्त होने वाले मानसिक दुःख की प्राप्ति होगी, क्योंकि हमारी तरफ से युद्ध करने वाले भीष्म तो अर्जुन के लिए अजेय हैं, इसलिए युद्ध होना ही ठीक है। परन्तु उनका यह मनोभाव दूसरों के लिए जानना मुश्किल है।

यहाँ पर धर्मक्षेत्र शब्द के 'क्षेत्र' पद से सरस्वती मानो यह बता रही हैं कि धर्मावतार युधिष्ठिरादि एवं उनके परिकर फसल के समान हैं, श्रीकृष्ण किसान हैं तथा श्रीकृष्ण के द्वारा पाण्डवों को दी जाने वाली नाना प्रकार की सहायतायें जलसिंचन एवं सेतुबन्धनादि के समान हैं, जब कि श्रीकृष्ण के द्वारा संहार होने योग्य दुर्योधनादि फसल को नष्ट कर देने वाली खरपतवार के समान हैं। जिन्हें श्रीकृष्ण द्वारा धर्मक्षेत्र से उखाड़ फेंका जायेगा॥1॥

संजय उवाच μ

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥2॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥3॥

मर्मानुवाद μ संजय ने कहा μ महाराज! पाण्डवों की सेना और सेनानायकों को व्यूह निर्माण पूर्वक खड़े देखकर राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य जी के पास जाकर कहा, μ हे आचार्य! आप पाण्डवों की इस विशाल सेना का निरीक्षण कीजिए, जोकि आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहरचनापूर्वक खड़ी की गई है॥2–3॥

अन्वय μ संजय उवाच (संजय ने कहा) राजा दुर्योधनः (राजा दुर्योधन

ने) पण्डवानीकम् (पाण्डव सेना को) व्यूढम् (व्यूह रचना में खड़ी) दृष्ट्वा तु (देखकर व अन्दर ही अन्दर भयभीत होकर) आचार्यम् उपसंगम्य (द्रोणाचार्य जी के पास जाकर) वचनम् अब्रवीत् (कुछ वचन कहे)— हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण द्रुपदपुत्रेण व्यूढाम् (आप अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार में खड़ी की गयी) पाण्डुपुत्राणाम् (पाण्डवों की) एतां महतीं चमूं पश्य (इस विशाल सेना को देखें) ॥ 2-3 ॥

टीका— विदित-तदभिप्रायस्तदाशंसितं युद्धमेव भवेत्, किन्तु तन्मनोरथ-प्रतिकूलमिति मनसि कृत्वाह—दृष्ट्वेति, व्यूढं व्यूहरचनयावस्थितं, राजा दुर्योधनः सान्तर्भयमुवाच—पश्यै

द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन तव शिष्येणेति स्ववधार्थं उत्पन्न इति जानतापि त्वयाऽयमध्यापित इति तव मन्दबुद्धित्वम्। धीमतेति शत्रोरपि त्वत्तः सकाशात् त्वद्वधोपाय-विद्या गृहीता इत्यस्य महाबुद्धित्वं फलकालेऽपि पश्येति भावः ॥ 3 ॥

भावानुवाद :-धृतराष्ट्र के अभिप्राय को जानकर संजय ने महाराज से यह तो कहा कि युद्ध तो होगा ही, किन्तु उसका परिणाम उनकी सोच के विपरीत देखते हुए 'दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'व्यूढम् ' शब्द का तात्पर्य है व्यूहाकार में सुसज्जित पाण्डवों की सेना, जिसे देखकर अन्दर ही अन्दर भयभीत होकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य जी के पास जाकर 'पश्यैताम्' इत्यादि नौ श्लोकों में अपने भाव व्यक्त कर रहे हैं ।।2।।

आपका वध करने के लिए ही आपके शिष्य धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति हुई है - यह जानते हुए भी आपने उसे शिक्षा दी है, यही आपकी मन्दबुद्धि का परिचय है जबकि आपका शत्रु होते हुए भी उसने आपसे ही आपके वध करने का उपाय सीखा है, यही उसकी विशेष बुद्धिमत्ता का प्रमाण है। परिणाम के समय भी आपको उसकी इस महाबुद्धि का परिचय देखने को मिलेगा॥ 3 ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥4 ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥5 ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6 ॥

मर्मानुवाद µ इस सेना में महाधनुर्धर भीम, अर्जुन तथा उनके समान अनेक शूरवीर उपस्थित हैं, जैसे सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् ,कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य, बलवान् युधामन्यु, वीर उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के गर्भजात पाँच पुत्र µ ये सभी महारथी हैं ॥4-6 ॥

अन्वय µ अत्र (पाण्डव सेना में) शूराः महेष्वासाः(श्रेष्ठवीर, जिनके धनुष शत्रुओं के द्वारा अकाट्य हैं) युधि (युद्ध में) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुन के समान हैं) युयुधानः (सात्यकि) विराटश्च(विराट राजा) महारथः द्रुपदश्च (महारथी राजा द्रुपद) धृष्टकेतुः (धृष्टकेतु) चेकितानः (राजा चेकितान) वीर्यवान् काशिराजश्च (काशिराज) पुरुजित् कुन्तिभोजश्च (कुन्तिभोज) नरपुंगवः (नरश्रेष्ठ) शैब्यः (शैब्य) विक्रान्तः युधामन्युश्च (विक्रान्त युधामन्यु) वीर्यवान् उत्तमौजाश्च (वीर उत्तमौजा) सौभद्रः (अभिमन्यु) द्रौपदेयाश्च (पाँच पाण्डवों के प्रतिबिन्ध्य आदि पाँचो पुत्र) सर्वे एव महारथाः (सभी महारथी हैं) ॥4-6 ॥

टीका —अत्र चम्वाम्, महान्तः शत्रुभिश्छेत्तुमशक्या इष्वासा धनूंषि येषां ते। युयुधानः सात्यकिः सौ
जाताः प्रतिबिन्ध्यादयः। महारथादीनां लक्षणम्—"*एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्र-प्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः।। अमितान् योधयेद् यस्तु स एवातिरथः स्मृतः। रथी चै*
स्मृतः।।" इति ॥4-6 ॥

भावानुवाद :- जिन धनुर्धारियों के धनुष को शत्रु छेदन न कर सकें, उन्हें ही महेश्वासा कहा गया है। सात्यकि को ही युयुधान, अभिमन्यु को सौभद्र और पाण्डवों द्वारा द्रौपदी से उत्पन्न प्रतिबिन्ध्य, श्रुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतिसेन इन पाँच पाण्डव पुत्रों को ही 'द्रोपदेयाः' कहा गया है।

जो दस हजार धर्नुधारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध कर सके ऐसा शस्त्रशास्त्र प्रवीण योद्धा महारथी कहलाता है। जो अकेले ही असंख्य योद्धाओं

के साथ युद्ध कर सके वह अतिरथी, जो अकेले ही एक हजार योद्धाओं के साथ युद्ध कर सके वह रथी एवं इससे कम के साथ युद्ध करने वाला अर्धरथी कहलाता है ॥4-6॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥7॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥8॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

मर्मानुवाद μ हे गुरो! आपकी जानकारी के लिए मैं अपनी सेना के सभी नायकों के नामों का उल्लेख कर रहा हूँ ॥7॥

रणविजयी स्वयं आप, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ एवं इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अस्त्रशस्त्रों से सम्पन्न और बहुत से युद्ध विशारद वीर पुरुष मेरे लिए प्राण देने के लिए तैयार हैं॥ 8-9॥

अन्वय μ हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः (हममें से जो प्रधान-प्रधान) मम सैन्यस्य नायकाः (मेरी सेना के नायक हैं) तान् (उनको) निबोध (जानें) ते (आपकी) संज्ञार्थम् (सम्पूर्ण जानकारी के लिए) तान् ब्रवीमि (उनके नाम बता रहा हूँ) μ भवान् (आप) भीष्मश्च (भीष्म) कर्णश्च (कर्ण) समितिञ्जयः कृपश्च (सदा संग्राम विजयी कृपाचार्य) अश्वत्थामा (अश्वत्थामा) विकर्णश्च (विकर्ण) सौमदत्तिः (सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा) जयद्रथः (जयद्रथ) नानाशस्त्रप्रहरणाः (नाना प्रकार के शस्त्रधारी) अन्ये च बहवः शूराः (अन्य बहुत से वीर) मदर्थे (मेरे लिए) त्यक्तजीविताः (जीवन तक त्यागने के लिए कृतसंकल्प हैं)॥ 7-9॥

टीका— अस्माकमिति। निबोध बुध्यस्व। संज्ञार्थं सम्यक् ज्ञानार्थम्।।7।।

टीका—सोमदत्तिर्भूरिश्रवाः। त्यक्तजीविता इति जीवित-त्यागेनापि यदि मदुपकारः स्यात्तदा तमपि कर्त्तुं प्रवृत्ता इत्यर्थः। वस्तुतस्तु *"मयै निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"* इति भगवदुक्तेर्दुर्योधनसरस्वती सत्यमेवाह स्म।।

भावानुवाद :- 'निबोध' का अर्थ है जानें। 'संज्ञार्थम्' का अर्थ है

सम्पूर्ण जानकारी के लिए॥7॥

यहां 'सौमदत्तिः' भूरिश्रवा को कहा गया है। जीवन त्यागकर भी यदि मेरा उपकार होता है तो ये वीर उसके लिए भी तैयार हैं, यही दुर्योधन के द्वारा कहे गये 'त्यक्तजीविताः' शब्द का अभिप्राय है। वास्तव में आगे (गीता11/33) भगवान् ने कहा है कि हे अर्जुन! ये सब तो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ । इस वाक्य के अनुसार सरस्वती देवी ने दुर्योधन के मुख से अपनी सेना के वीरों के लिए, पहले ही 'त्यक्तजीविताः' अर्थात् 'मरे हुए' शब्द का प्रयोग करवा दिया ॥8-9॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥10॥

मर्मानुवाद µ भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल पर्याप्त नहीं है, जबकि भीमसेन द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना का बल पर्याप्त है॥ 10॥

अन्वय µ तत् (उपरोक्त वीरों के होते हुए भी) भीष्माभिरक्षितम् अपि अस्माकं बलम् अपर्याप्तम् (भीष्म के द्वारा हरेक प्रकार से रक्षित हमारी सेना पाण्डवों के साथ युद्ध करने में सक्षम नहीं है) भीमाभिरक्षितम् इदं तु एतेषां बलम् (भीम के द्वारा रक्षित पाण्डवों का बल) पर्याप्तम् (परिपूर्ण है अर्थात् हमारे साथ युद्ध करने में समर्थ है)॥ 10॥

टीका— अपर्याप्तमपरिपूर्णं पाण्डवै भीष्मेणातिसूक्ष्मबुद्धिना शस्त्रशास्त्रप्रवीणेनाभितो रक्षितमपि, भीष्मस्योभय-पक्षपातित्वात्। एतेषां पाण्डवानान्तु भीमेन स्थूलबुद्धिना शस्त्रशास्त्रानभिज्ञेनापि रक्षितं पर्याप्तं परिपूर्णम्—अस्माभिः सह युद्धे प्रवीणमित्यर्थः॥ 10॥

भावानुवाद :- 'अपर्याप्तम्' शब्द का अर्थ है अपरिपूर्ण अर्थात् पाण्डवों के साथ युद्ध करने में अपर्याप्तम् अर्थात् अपरिपूर्ण है, क्योंकि अत्यन्त तीक्ष्ण-बुद्धि एवं शस्त्र-शास्त्र में प्रवीण होने पर भी स्नेहवश भीष्म कौरव - पाण्डव दोनों दलों के पक्षपाती हैं, जबकि भीम के द्वारा रक्षित पाण्डवों का बल पर्याप्त या परिपूर्ण है अर्थात् हमारे साथ युद्ध करने में समर्थ है, क्योंकि स्थूलबुद्धि और शस्त्र व शास्त्रों में अप्रवीण होने पर भी भीम एकपक्षपाती है॥ 10॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिता:।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्त: सर्व एव हि ॥11॥
तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्ध: पितामह:।
सिंहनादं विनद्योच्चै: शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥12॥

मर्मानुवाद µ इस समय आप सब अपने-अपने मोर्चों पर खड़े होकर पितामह भीष्म की रक्षा करें॥ 11॥

तब कौरवों में वयोवृद्ध प्रबल प्रतापी पितामह भीष्म ने दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करने के लिए सिंहनाद की तरह उच्चस्वर में शंख बजाया ॥12॥

अन्वय µ सर्व एव हि भवन्त: (आप सभी) सर्वेषु च अयनेषु (व्यूह के सभी प्रवेश द्वारों पर) यथाभागम् (अपने-अपने निर्दिष्ट मोर्चों पर) अवस्थिता: (रहकर) भीष्ममेव अभिरक्षन्तु (सब तरफ से भीष्म की ही रक्षा करें)।।11॥

प्रतापवान् (प्रतापशाली) कुरुवृद्ध: पितामह: (कुरुवंश के वयोवृद्ध पितामह भीष्म ने) तस्य (दुर्योधन के) हर्षं संजनयन् (भय को विध्वंस करते हुए एवं हर्ष उत्पादन करने के लिए) उच्चै: सिंहनादं विनद्य (सिंहनाद के समान उच्चस्वर में) शङ्खं दध्मौ (शंख बजाया)।। 12॥

टीका— तस्माद् युष्माभि: सावधानै
व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभागं विभक्ता: स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यै
भवन्तो भीष्ममेवाभितस्तथा रक्षन्तु यथाऽन्यै
भीष्मबलेनै ।। 11॥

ततश्च स्वसम्मान-श्रवणजनितहर्ष:, तस्य दुर्योधनस्य भयविध्वंसनेन हर्षं सञ्जनयितुं कुरुवृद्धो भीष्म:। सिंहनादमिति उपमाने कर्मणि चेति णमुल्—सिंह इव विनद्य इत्यर्थ:॥ 12॥

भावानुवाद :- क्योंकि अभी भीष्म का बल ही हमारा जीवन है इसलिए आप सब सावधान रहें और व्यूह के प्रवेशमार्गों पर 'यथाभागमवस्थिता:' अर्थात् अपने-अपने मोर्चों पर अडिग रहते हुए सब ओर से पितामह भीष्म की ही रक्षा करें ताकि युद्ध करते समय पीछे से आकर कोई उन्हें मार न पाये॥ 11॥

दुर्योधन के मुख से अपने प्रति सम्मानपूर्ण वाक्य श्रवण कर हर्षित हुए

कुरुवृद्ध भीष्म पितामह ने दुर्योधन के भय का नाश और उसे हर्षित करने के लिए सिंहनाद के समान उच्चस्वर में शंख बजाया॥ 12॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ 13॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ 14॥

मर्मानुवाद µ तभी शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघादि अनेक रणवाद्यों के सहसा एक साथ बज उठने से प्रचण्ड शब्द गूँज उठा॥ 13॥

तत्पश्चात् सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ पर आसीन भगवान् श्रीकृष्ण और धनञ्जय ने दिव्य शंख बजाये ॥ 14॥

अन्वय µ ततः (तत्पश्चात्) शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः (शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग इत्यादि सभी रणवाद्य) सहसा एव अभ्यहन्यन्त (अचानक एक साथ बज उठे) स शब्दः तुमुलः अभवत् (वह शब्द बड़ा ही भयंकर हुआ)॥ 13॥

ततः (उसके पश्चात्) श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ (सफेद रंग के घोड़ों से युक्त महारथ पर आसीन) माधवः पाण्डवः च एव (श्रीकृष्ण और अर्जुन ने) दिव्यौ शङ्खौ (अलौकिक शंख) प्रदध्मतुः (बजाये)॥ 14॥

टीका—ततश्चोभयत्रै
मार्दलाः आनकाः पटहाः गोमुखाः वाद्यविशेषाः॥ 13॥

भावानुवाद :- शंखनाद के पश्चात् दोनों पक्षों के योद्धाओं में युद्ध के प्रति उत्साह देखने को मिला। पणवाः – ढोल, आनकाः – मृदंग और गोमुखाः – रणसिंहा इत्यादि सब वाद्यों के नाम हैं॥ 13॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ 15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ 16॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥17॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्पृथक् ॥18॥

मर्मानुवाद µ हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने 'पाञ्चजन्य' नामक शंख और अर्जुन ने 'देवदत्त' नामक शंख, भयंकर कर्म करने वाले भीम ने 'पौण्ड्र' नामक महाशंख, कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त विजय' नामक शंख, नकुल ने 'सुघोष' एवं सहदेव ने 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाया। हे पृथ्वीपते धृतराष्ट्र! श्रेष्ठ धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट एवं अपराजित सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पांच पुत्र एवं सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्यु इन सब ने अपने अलग-अलग शंख बजाये ।।15-18॥

अन्वय µ हे पृथ्वीपते (धृतराष्ट्र) हृषीकेशः पाञ्चजन्यम् , धनञ्जयः देवदत्तं, भीमकर्मा वृकोदरः महाशङ्खं पौण्ड्रं दध्मौ, कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयम्,नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ दध्मु (भगवान् ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त, भयंकर कर्मा वृकोदर भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाये और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अनन्तविजय एवं नकुल सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाया) परमेष्वासः(महाधनुर्धर) काश्यश्च (काशीराज) महारथः शिखण्ड़ी च धृष्टद्युम्नः विराटश्च अपराजितः, सात्यकिश्च, द्रुपदः, द्रौपदेयाश्च (द्रौपदी के पुत्र) महाबाहुः सौभद्रश्च (अभिमन्यु) सर्वशः सर्व एव पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः (सभी ने अलग-अलग शंख बजाया) ॥ 15-18 ॥

टीका—पाञ्चजन्यादयः शङ्खादीनां नामानि। अपराजितः केनापि पराजेतुमशक्यत्वात् अथवा चापेन धनुषा राजितः प्रदीप्तः॥ 15-17 ॥

भावानुवाद :- पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष और मणिपुष्पक इत्यादि शंखो के नाम हैं। 'अपराजित' उसे कहते हैं जो किसी के द्वारा पराजित न हो अथवा चाप या धनुष से सुशोभित हो॥ 15-17।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥ 19॥

मर्मानुवाद µ इन सभी शंखों की भयंकर ध्वनि पृथ्वी और नभमण्डल को गुञ्जायमान करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण करने लगी।।19॥

अन्वय μ तुमुलः स घोषः (उस भयंकर शंखनाद ने) नभश्च (आकाश) पृथ्वीञ्चैव (और पृथ्वी को) अभ्यनुनादयन् (गुञ्जायमान करते हुए) धार्तराष्ट्राणां (आपके पुत्रों के) हृदयानि (हृदय) व्यदारयत् (विदीर्ण कर दिये)।। 19॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥ 20॥

श्रीअर्जुन उवाच–

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ 21॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ 22॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ 23॥

मर्मानुवाद μ हे महाराज! उस समय शस्त्र चलाने के लिए तैयार कपिध्वजरथ पर आसीन धनञ्जय ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को युद्ध के लिए सुसज्जित देख धनुष को ऊपर उठाते हुए श्रीकृष्ण से यह बात कही ॥20॥

हे अच्युत! जब तक मैं देख न लूँ कि युद्ध के लिए खड़ी इस सेना में मुझे किस–किस के साथ युद्ध करना होगा एवं दुर्योधन का प्रिय चाहने वाले युद्ध की इच्छा से यहाँ एकत्रित लोगों का अवलोकन न कर लूँ, तब तक मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिये॥ 21–23॥

अन्वय μ हे महीपते (हे महाराज) अथ (तत्पश्चात्) शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते (शस्त्र चलाने के लिए तैयार) कपिध्वजः पाण्डवः (कपिध्वज अर्जुन ने) धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्टवा (दुर्योधनादि को युद्ध के लिए खड़े हुए देखकर) धनुः उद्यम्य (धनुष उठाकर) तदा (उस समय) हृषीकेशं (श्रीकृष्ण से) इदं वाक्यं आह (ये वचन कहे) **μ** श्रीअर्जुन उवाच**μ** (श्री अर्जुन ने कहा) हे अच्युत! अहम् (मैं) यावत् योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् निरीक्षे (जब तक युद्ध के लिए खड़े व्यक्तियों का निरीक्षण करूँ) अस्मिन् रणसमुद्यमे (इस युद्ध क्षेत्र में) कैः सह मया योद्धव्यम् (किस–किस के साथ मुझे युद्ध करना होगा) युद्धे दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य (युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का) प्रियचिकीर्षवः (प्रिय

कार्य करने को इच्छुक) ये एते अत्र समागताः (जो सब व्यक्ति यहां आये हैं) योत्स्यमानान् अहं यावत् अवेक्षे (जब तक मैं इन सभी युद्ध करने वालों को देखूँ) तावत् उभयोः सेनयोः मध्ये (तब तक दोनों सेनाओं के मध्य में) मे (मेरे) रथम् (रथ को) स्थापय (खड़ा कीजिये) ॥ 20-23 ॥

संजय उवाच-

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥24 ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥25 ॥

मर्मानुवाद μ हे भारत! गुडाकेश पार्थ द्वारा श्रीकृष्ण को इस प्रकार कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने दोनों पक्ष की सेनाओं के बीच में उस उत्तम रथ को खड़ा करके कहा - पार्थ! युद्ध के लिए इकट्ठे हुए भीष्म और द्रोण इत्यादि इन कौरवों को देखो ॥ 24-25 ॥

अन्वय μ संजयः उवाच (संजय ने कहा) हे भारत! हृषीकेशः (श्रीकृष्ण ने) एवं (इस प्रकार) उक्तः (कहे जाने पर) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओं के बीच में) भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् (भीष्म, द्रोण एवं समस्त राजाओं के सामने) रथम् (रथ) स्थापयित्वा (खड़ा करके) इति उवाच (यह कहा) हे पार्थ ! (अर्जुन) एतान् समवेतान् कुरून् (इन इकट्ठे हुए कौरवों को) पश्य (देखो) ॥ 24-25 ॥

टीका— हृषीकेशः सर्वेन्द्रियनियन्ताप्येवमुक्तोऽर्जुनेनादिष्टः अर्जुनवागिन्द्रियमात्रेणापि नियम्योऽभूदित्यहो प्रेमवश्यत्वं भगवत इति भावः। गुडाकेशेन—गुडा यथा माधुर्यमात्रप्रकाशकास्तत्तथा स्वीयस्नेहरसास्वाद-प्रकाशकाः अकेशा विष्णुब्रह्मशिवा यस्य तेन,—अकारो विष्णुः, को ब्रह्मा, ईशो महादेवः। यत्र सर्वावतारि- चूड़ामणीन्द्रः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एव प्रेमाधीनः सन् आज्ञानुवर्ती बभूव तत्र गुणावतारत्वात्तदंशा विष्णुब्रह्मरुद्राः कथमै प्रकाशयन्तु? किन्तु स्वकर्त्तृकं स्नेहरसं प्रकाश्यै इत्यर्थः। यदुक्तं श्रीभगवता परमव्योमनाथेनापि—"*द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा*" (भा॰ 10/89/58) इति; यद्वा गुडाका निद्रा तस्या ईशेन जितनिद्रेणेत्यर्थः; अत्रापि व्याख्यायाम्—साक्षान्मायया अपि नियन्ता यः श्रीकृष्णः, स चापि येन प्रेम्णा

विजित्य वशीकृतस्तेनार्जुनेन मायावृत्तिर्निद्रा वराकी जितेति किं चित्रमिति भावः। भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः प्रमुखे सम्मुखे सर्वेषां महीक्षितां राज्ञाञ्च। प्रमुखत इति—समासप्रविष्टेऽपि 'प्रमुखतः' शब्द आकृष्यते॥ 24-25॥

भावानुवाद :-तमाम इन्द्रियों के मालिक होते हुए भी भगवान् हृषीकेश अर्जुन की वाणी के अधीन हुए उनके आदेश का पालन कर रहे हैं। अहो! भगवान् की कैसी प्रेमवशता? गुडाकेशेन गुडा अर्थात् गुड़ जिस प्रकार माधुर्य मात्र का प्रकाशक है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्नेह रसास्वाद के प्रकाशक हैं। आकेश अर्थात् 'अ' से विष्णु, 'क' से ब्रह्मा, 'ईश' से महादेव। सब अवतारों के मूल स्वयं श्रीकृष्ण ही जिस अर्जुन के प्रेमाधीन होकर उसकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं, वहां उनके गुणावतार विष्णु, ब्रह्मा और महादेव कैसे अपना ऐश्वर्य प्रकाशित कर सकते हैं अपितु अर्जुन पर अपना स्नेहरस प्रकाशित कर अपने को कृतार्थ समझेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। श्रीमद्भागवत (10/89/58) में परव्योमनाथ ने भी श्रीकृष्ण से कहा - "आप लोगों के दर्शन की अभिलाषा से ही मैं ब्राह्मण के पुत्रों को यहां लाया हूँ"। इस वाक्य से श्रीकृष्ण की भगवत्ता का परिचय मिलता है। इसलिए गुड़ जिस प्रकार केवल मधुर रस का ही प्रकाशक है, उसी प्रकार माधुर्य विग्रह श्रीकृष्ण स्नेहरसास्वाद के प्रकाशक हैं। सभी गुणावतारों ने जिनके प्रति भगवत् प्रेमरसास्वाद अभिव्यक्त किया है वही गुडाकेश हैं। गुडाकेश का एक और अर्थ है 'जितनिद्र' अर्थात् जिसने निद्रा को जीत लिया हो। किन्तु केवल जितनिद्र कहने से अर्जुन की महिमा की हानि होगी क्योंकि, मायापति श्रीकृष्ण जिनके प्रेम के अधीन हो, उस अर्जुन के द्वारा माया की वृत्ति निद्रा जीत ली जाय, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है,यह भाव है। भीष्म, द्रोण एवं सम्पूर्ण राजाओं के सामने रथ को खड़ा कर दिया। यहां पर 'प्रमुखतः' भीष्म द्रोण के साथ समासबद्ध होने पर भी 'सर्वेषां महीक्षिताम्' पद के साथ युक्त हुआ है॥ 24-25॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥ 26॥

मर्मानुवाद µ तब अर्जुन ने दोनों पक्ष की सेनाओं में खड़े पिता के भाइयों,

पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और सुहृदों को देखा॥ 26 ॥

अन्वय µ अथ (तत्पश्चात्) पार्थः तत्र स्थितान् (अर्जुन ने वहां पर खड़े) उभयोरपि सेनयोः पितॄन् पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान् भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् श्वशुरान्, सुहृदश्च एव अपश्यत् (दोनों तरफ की सेनाओं में ही चाचा-ताउओं, पितामहों आचार्यों, मामाओं , भ्राताओं, पुत्रों, पौत्रों, सखाओं, ससुरों एवं सुहृदों को देखा) ॥ 26 ॥

टीका—दुर्योधनादीनां ये पुत्राः पौ ॥ 26 ॥

भावानुवाद :- अर्जुन ने दुर्योधनादि के पुत्रों तथा पौत्रों को देखा ॥26 ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ 27 ॥

अर्जुन उवाच-

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥ 28 ॥

मर्मानुवाद µ उन सभी बन्धुबान्धवों को रणभूमि में खड़े देखकर अत्यन्त करुणा से भरे एवं शोक करते हुए कुन्तीपुत्र अर्जुन ने कहा॥ 27 ॥

हे कृष्ण! इन सभी स्वजनों को युद्ध की अभिलाषा से खड़े देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूख रहा है ॥28 ॥

अन्वय µ स कौन्तेयः (अर्जुन) तान् सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् समीक्ष्य (उन सभी बन्धुओं को खड़े देखकर) परया कृपया आविष्टः (अत्यन्त करुणावश) विषीदन् (शोक करते हुए) इदम् अब्रवीत् (यह बोला) **µ** श्री अर्जुनः उवाच**µ** हे कृष्ण! युयुत्सून् (युद्ध की इच्छा रखने वाले) इमान् स्वजनान् समवस्थितान् दृष्ट्वा (इन स्वजनों को सामने उपस्थित देखकर) मम गात्राणि (मेरा शरीर) सीदन्ति (शिथिल हुआ जाता है) मुखं च परिशुष्यति (और मुख भी सूखा जा रहा है) ।। 27-28 ॥

टीका—दृष्ट्वेत्यत्रस्थितस्येत्यध्याहार्यम्॥ 28 ॥

भावानुवाद :- दृष्ट्वा शब्द में 'स्थितस्य' पद का अध्याहार है॥ 28 ॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥ 29॥

मर्मानुवाद μ मेरे शरीर में कम्प और रोमाञ्च हो रहा है। गाण्डीव धनुष हाथ से खिसकता जा रहा है और त्वचा भी जल रही है॥ 29॥

अन्वय μ मे (मेरे) शरीरे वेपथुः (शरीर में कम्प) च (एवं) रोमहर्षः च (रोमाञ्च भी) जायते (हो रहा है) हस्तात् (हाथ से) गाण्डीवम् (गाण्डीव धनुष) स्त्रंसते (खिसकता जा रहा है) त्वक् च (त्वचा भी) परिदह्यते (जल रही है)।। 29॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥ 30॥

मर्मानुवाद μ मुझ में अब और अधिक खड़ा रहने की सामर्थ्य नहीं है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है और हे कृष्ण! मैं केवल विपरीतफल सूचक अपशकुन ही देख रहा हूँ।। 30॥

अन्वय μ हे केशव! अवस्थातुं च (खड़ा रहने में भी) न शक्नोमि (समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ) मे मनश्च भ्रमति इव (मेरा मन भी चंचल हो रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च पश्यामि (सभी विपरीत लक्षण भी देख रहा हूँ)।।30॥

टीका—विपरीतानि निमित्तानि धननिमित्तकोऽयमत्र मे वास इतिवन्निमित्तशब्दोऽयं प्रयोजनवाची। ततश्च युद्धे विजयिनो मम राज्यलाभात् सुखं न भविष्यति, किन्तु तद्विपरीतमनुतापदुःखमेव भावीत्यर्थः।। 30॥

भावानुवाद :– उदाहरण के लिए जैसे यह कहा जाय कि मैं धन के निमित्त यहां रह रहा हूँ। जिस प्रकार इस वाक्य में 'निमित्त' शब्द प्रयोजनवाची है, उसी प्रकार इस श्लोक में 'निमित्त' शब्द प्रयोजनवाची है। युद्ध में विजयी होने पर भी राज्य प्राप्ति से हमे सुख नहीं होगा, अपितु उसके विपरीत दुःख ही होगा।। 30॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥ 31॥

मर्मानुवाद μ रण में स्वजनों को मारने में मैं कुछ भी कल्याण नहीं देख रहा हूँ। इसलिए हे कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता तथा राज्यसुख की भी मुझे

इच्छा नहीं है॥ 31॥

अन्वय μ आहवे (युद्ध में) स्वजनम् (बंधुओं को) हत्वा (मार कर) श्रेयश्च (मंगल) न अनुपश्यामि (नहीं देखता हूँ) हे कृष्ण! अहम् (मैं) विजयं न कांक्षे, राज्यं च सुखानि च (युद्ध में विजय और राज्य सुख कुछ भी नहीं चाहता)॥ 31॥

टीका—श्रेयो न पश्यामीति *"द्वाविमौ परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः।।"*इत्यादिना हतस्यै हन्तुस्तु न किमपि सुकृतम्। ननु दृष्टं फलं यशोराज्यं वर्त्तते युद्धस्येति, अत आह—न काङ्क्ष इति॥ 31॥

भावानुवाद :- योगयुक्त संन्यासी और युद्ध में मरने वाला दोनों ही सूर्यमण्डल को भेद कर उच्च लोकों में जाते हैं, किन्तु मारने वाले की इस में कुछ भी सुकृति नहीं होती। इसलिए इनको मारने में मंगल नहीं देख रहा हूँ। यदि कहो कि यश और राज्य की प्राप्ति होगी, किन्तु हे कृष्ण ! इन दोनों में से किसी की मुझे तनिक भी अकांक्षा नहीं है॥ 31॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥32॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥33॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥34॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥35॥

मर्मानुवाद μ हे गोविन्द! हमें राज्यभोग और जीवन धारण करने से भी क्या प्रयोजन है? कारण, जिनके लिए राज्य और सुखभोग की कामना की जाती है, वे सब तो इस समय युद्ध में खड़े हैं। हे मधुसूदन! जब आचार्य, ताऊ-चाचा, पुत्र, मामा, ससुर, पौत्र, साला और सम्बंधी अर्थात् सभी आत्मीय जन ही धन एवं प्राण परित्याग करने का दृढ संकल्प लेकर इस युद्ध में खड़े हैं, तब इनके द्वारा मारे जाने पर भी मैं किसी तरह इनको मारने की इच्छा नहीं करता।। 32-34॥

हे जनार्दन! पृथ्वी की तो बात ही क्या, त्रिलोक का राज्य मिलने पर भी धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या सुख मिलेगा? ॥35॥

अन्वय μ हे गोविन्द! येषां अर्थे नः राज्यं भोगाः सुखानि च कांक्षितम् (जिनके लिए हम राज्य, भोग व सुख की कामना करते हैं) ते इमे आचार्याः पितरः, पुत्राः तथा एव च पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः, धनानि प्राणान् च त्यक्त्वा (वही सब आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले, सम्बन्धी धन एव प्राणों की आशा को त्याग कर) युद्धे अवस्थिताः (युद्ध में खड़े हैं) नः (हमें) राज्येन किं भोगैः जीवितेन वा किम्? (राज्य, सुख अथवा जीवन धारण का भी क्या प्रयोजन है?) हे मधुसूदन! महीकृते किं नु (पृथ्वी की तो बात ही क्या) त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि (तीनों लोकों के राज्य के लिए भी) घ्नतः अपि (इनके द्वारा मुझे मारने पर भी) एतान् न हन्तुमिच्छामि (इनको मारने की इच्छा नहीं करता); हे जनार्दन! धार्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्र के पुत्रों को) निहत्य (मारकर) नः (हमें) का प्रीतिः स्यात् (क्या सुख मिलेगा?)।। 32–35॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥36॥

मर्मानुवाद μ आततायियों का वध करना राजनीति शास्त्र द्वारा अनुमोदित होने पर भी धर्मशास्त्र के अनुसार आचार्य आदि आततायियों की हत्या करने से पाप ही होगा, इसलिए, धृतराष्ट्र के पुत्रों को उनके बान्धवों सहित मारने के लिए मैं तैयार नहीं हो पा रहा हूँ। हे माधव! अपने आत्मीयजनों का विनाश करके क्या हमें सुख मिलेगा?॥ 36॥

अन्वय μ आततायिनः एतान् हत्वा पापमेव अस्मान् आश्रयेत् (इन आततायियों को मार कर हमें पाप ही तो लगेगा) तस्मात् वयं सबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं न अर्हाः (इसलिए हमारा बान्धवों सहित धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना अनुचित है) हि (क्योंकि) हे माधव! स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्यामः (स्वजनों को मार कर हम कैसे सुखी रह पायेंगे? अन्याय और अधर्म के कारण परलोक तो क्या इस लोक का सुख भी नहीं मिलेगा)॥ 36॥

टीका—ननु *"अग्निदो गरदश्चै*

षडेते आततायिन:।" इति, *"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवध ोदोषो हन्तुर्भवति भारत।"* इत्यादि वचनादेषां वध उचित एवेति तत्राह—पापमिति। एतान् हत्वा स्थितानस्मान्, 'आततायिनमायान्तम्' इत्यादिकमर्थशास्त्रं धर्मशास्त्राद् दुर्बलम्; यदुक्तं याज्ञवल्क्येन— *"अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्"* (2/21) इति तस्मादाचार्यादीनां वधे पापं स्यादेव। न चै स्यादित्याह—स्वजनमिति॥ 36॥

भावानुवाद :– हे कृष्ण! यदि आप कहें कि किसी के घर को आग लगाने वाले, विष देने वाले, हाथ में शस्त्र लेकर मारने के लिए उतारू, धन हरण करने वाले, भूमि–हरण करने वाले और स्त्री का हरण करने वाले इन छः प्रकार के व्यक्तियों को शास्त्रों में आततायी कहा गया है, तथा इस श्रुति–वचन के अनुसार उन्हें बिना विचार किए मारना कर्तव्य है, क्योंकि आततायी का वध करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। किन्तु यह अर्थशास्त्र की बात है, जो कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा दुर्बल है । जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है **'अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान् है'।** इसलिए आचार्यों के वध से हमें पाप लगेगा ही, अन्याय और अधर्म के कारण परलोक तो क्या इस लोक का सुख भी नहीं मिलेगा ॥ 36॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ 37॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ 38॥

मर्मानुवाद µ लोभ द्वारा बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण दुर्योधन इत्यादि ये लोग कुल के नाश होने से उत्पन्न दोष और मित्रद्रोह से होने वाले पाप को नहीं देख पा रहे हैं, किन्तु हे जनार्दन! कुलनाश से होने वाले दोष को देखते हुए भी हम इस पाप कार्य से पीछे क्यों न हटें?॥ 37–38॥

अन्वय µ हे जनार्दन! यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे पातकं च न पश्यन्ति (यद्यपि लोभ के कारण इनके ज्ञान का नाश हो गया है और ये कुलनाश से होने वाले दोष को नहीं देख पा रहे हैं) तथापि कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं न ज्ञेयम् (किन्तु इस दोष को देखते हुए भी हम पीछे क्यों न हटें?) ॥ 37–38॥

टीका—नन्वेते तर्हि कथं युद्धे वर्त्तन्ते तत्राह—यद्यपीति॥ 37॥

भावानुवाद :- अच्छा तो फिर ये लोग इस युद्ध के लिए क्यों तैयार हैं? इसके उत्तर में 'यद्यपि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं॥ 37॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ 39॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसङ्करः॥ 40॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ 41॥

मर्मानुवाद µ कुल का नाश होने से सनातन कुल परम्परा प्राप्त धर्म विनष्ट हो जाते हैं। कुल-धर्म का नाश हो जाने से शेष कुल भी अधर्म से आच्छन्न हो जाता है॥ 39॥

हे वृष्णिवंशावतंश कृष्ण! अधर्म के प्रबल होने पर कुल की स्त्रियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं और स्त्रियों के व्यभिचारिणी हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है॥ 40॥

वर्णसंकर उत्पन्न होकर कुल और कुल के घातकों को नरक में ले जाने वाला होता है, उस कुल में पिण्ड और उदक के लोप होने से पितर लोग पतित हो जाते हैं॥ 41॥

अन्वय µ कुलक्षये (कुल के नाश हो जाने पर) सनातनाः (कुल-परम्परा से प्राप्त) कुलधर्माः प्रणश्यन्ति (कुल-धर्म विनष्ट हो जाते हैं) धर्मे नष्टे सति (धर्म के नष्ट होने पर) अधर्मः कृत्स्नम् उत कुलम् अभिभवति (अधर्म सारे वंश को पतित करता है।)॥ 39॥

हे कृष्ण! अधर्माभिभवात् (अधर्म से अभिभूत होने पर) कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति (कुल की स्त्रियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं।) स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते (स्त्रियों के दुष्ट हो जाने से वर्णसंकर पैदा होता है।) संकरः (वर्णसंकर) कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (कुल का नाश करने वालों का एवं कुल को नरक भेजने का कारण होता है); एषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः पितरः पतन्ति हि (पिण्ड और तर्पण का कार्य लोप होने से इनके पितरों का निश्चय ही पतन होता है)॥ 40-41॥

टीका—कुलक्षय इति। सनातनाः कुलपरम्पराप्राप्तत्वेन बहुकालतः प्राप्ता इत्यर्थः॥ 39॥

प्रदुष्यन्तीति अधर्म एव ता व्यभिचारे प्रवर्त्तयतीति भावः ॥40॥

भावानुवाद :- 'सनातन' का अर्थ है जो कुलपरम्परा में बहुत समय से चला आ रहा है॥ 39॥

अधर्म ही उन्हें व्यभिचार में लगा देता है॥ 40॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ 42॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ 43॥

मर्मानुवाद µ ऊपर कहे गये वर्णसंकरकारी दोषों से कुलनाशकों के सनातन कुल परम्परा प्राप्त धर्म और जातिधर्म लुप्त हो जाते हैं ॥ 42॥

हे जनार्दन! सुना है कि जिन मनुष्यों के कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं, उनका अनन्त काल तक नरक में वास होता है॥ 43॥

अन्वय µ कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माश्च उत्साद्यन्ते (कुलनाशकों के वर्णसंकर-कारक दोष के कारण सनातन वर्णधर्म और कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं) हे जनार्दन! उत्सन्न कुल-धर्माणां मनुष्याणां नियतं नरके वासो भवति इति अनुशुश्रुम (जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं, उनका अनन्त काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमनें सुना है।) ॥ 42-43॥

टीका—दोषै ॥ 42॥

भावानुवाद :- 'उत्साद्यन्ते' का अर्थ है— लुप्त हो जाते हैं॥ 42॥

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ 44॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ 45॥

सञ्जय उवाच–

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ 46 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सैन्यदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः।

मर्मानुवाद µ हाय! कितने दु:ख का विषय है। हम राज्य सुख के लोभ में अपने स्वजनों को मारने के लिए तैयार होकर महापाप करने का दृढ़ निश्चय कर बैठे हैं॥ 44 ॥

यदि अस्त्रहीन, सामना न करने के लिए तैयार मुझको अस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मार भी दें तो भी मेरे लिए कल्याणकारी होगा। ॥ 45 ॥

इतना कह कर अर्जुन धनुष–बाण का परित्याग करके शोकाकुल चित्त से रथ पर बैठ गये॥ 46 ॥

अन्वय µ अहो बत (हाय! कितने दु:ख का विषय है) वयं महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिताः यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यताः (हमने राज्य सुख के लोभ में स्वजनों का बध करने के लिए तैयार होकर महापाप करने का संकल्प ले लिया है) यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अप्रतिकारम् अशस्त्रं मां रणे हन्युः (यदि सामना न करने वाले और शस्त्रहीन मुझे धृत्तराष्ट्र के पुत्र मार डालें) तत् मे क्षेमतरं भवेत् (वह मेरे लिए अत्यन्त हितकर होगा)। (44–45)

अर्जुनः एवम् उक्त्वा (ऐसा कह कर अर्जुन) संख्ये (युद्ध क्षेत्र में) सशरं चापं विसृज्य शोकसंविग्नमानसः (धनुषबाण छोड़कर शोकाकुल चित्त से) रथोपस्थे (रथ के उपर)उपाविशत् (बैठ गये)॥ 46 ॥

टीका—संख्ये संग्रामे; रथोपस्थे रथोपरि॥ 46 ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु प्रथमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद :– 'संख्ये' का अर्थ है संग्राम, 'रथोपस्थ' का अर्थ है – रथ के ऊपर।

पहले अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त।

पहला अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

साँख्ययोग

संजय उवाच-

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥1॥

श्रीभगवानुवाच-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥2॥

मर्मानुवाद— संजय ने कहा — तब कृपावश, अश्रुओं से भरे नयन और मलिन मुख अर्जुन को देखकर भगवान् वासुदेव बोले ॥1॥

अर्जुन! इस विषम युद्ध के अवसर पर इस प्रकार अनार्यजनोचित, स्वर्ग के रास्ते का बाधक और अपयशकारी यह मोह तुम्हारे अन्दर किस कारण से उपस्थित हुआ? ॥2॥

अन्वय – संजयः उवाच (संजय ने कहा)— तथा (इस प्रकार) कृपया आविष्टम् (करुणावश) अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् (अश्रुपूर्णनेत्र) विषीदन्तं तं मधुसूदन इदं वाक्यम् उवाच (शोकाकुल अर्जुन को भगवान् मधुसूदन ने ये वाक्य कहे)

(श्री भगवान् ने कहा) – हे अर्जुन! विषमे (इस संग्राम संकट के समय) कुतः (किस कारण से) इदम् अनार्यजुष्टम् (सुप्रतिष्ठित लोगों के द्वारा आचरण न किया जाने वाला) अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् (इस लोक और परलोक के हित के प्रतिकूल) कश्मलम् (मोह) त्वा (तुम्हें) समुपस्थितम् (प्राप्त हुआ) ॥2॥

टीका— आत्मानात्मविवेकेन शोकमोहतमो नुदन् ।

द्वितीये कृष्णचन्द्रोऽत्र प्रोचे मुक्तस्य लक्षणम्।। 1॥

कश्मलं मोहः। विषमेऽत्र संग्रामसङ्कटे, कुतो हेतोः। उपस्थितं त्वां प्राप्तमभूत्? अनार्यजुष्टम् सुप्रतिष्ठितलोकै
पारत्रिकै ॥2॥

भावानुवाद— इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने आत्मानात्म के विवेक द्वारा शोक-मोह रूपी अन्धकार को दूर करने का उपदेश एवं और मुक्तपुरुषों के लक्षण बताये हैं।

'कश्मलम्'— मोह।'विषमे'— संग्राम संकट की विषम अवस्था में।'कुतः' का अर्थ है किस कारण से। 'उपस्थितम्' का अर्थ है – आया है। ' अनार्यजुष्टम्' का अर्थ है श्रेष्ठ लोगों द्वारा असम्मानित। एवं 'अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम्' का अर्थ है स्वर्ग का बाधक और अपयशकारी अर्थात् परलोक और इस लोक के सुखों के प्रतिकूल ॥1-2॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥3॥

मर्मानुवाद— हे कुन्तीपुत्र पार्थ! इस प्रकार नपुंसकता को मत प्राप्त होओ,

क्योंकि यह तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है। हे परन्तप! तुम इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े होओ॥ 3 ॥

अन्वय — हे पार्थ ! क्लैब्यं मास्म गमः (कायरता को मत प्राप्त होओ) एतत् त्वयि न उपपद्यते (मेरे सखा होने के कारण यह तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है) परन्तप (पर अर्थात् शत्रु को ताप देने वाले अर्जुन) क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम् (यह तुम्हारा विवेक नहीं अपितु क्षुद्र मानसिक दुर्बलता ही है इसलिए इसे) त्यक्त्वा (त्यागकर) युध्यस्व (युद्ध करो) ॥ 3 ॥

टीका—क्लै
गच्छसि, तस्मान्मास्म गमः, मा प्राप्नुहि, अन्यस्मिन् क्षत्रबन्धौ
त्वयि मत्सखौ
किन्तु भीष्मद्रोणादिगुरुषु धर्मदृष्ट्या विवेकोऽयं धार्तराष्ट्रेषु तु दुर्बलेषु मदस्त्राघातमासाद्य मर्तुमुद्यतेषु दयै
किन्तु शोकमोहावेव। तौ
त्यक्त्वा उत्तिष्ठ। हे परन्तप! परान् शत्रून् तापयन् युध्यस्व ॥3 ॥

भावानुवाद— 'क्लैब्य' का अर्थ है नपुंसकता या कायरता । हे पार्थ! तुम पृथापुत्र हो, इसलिए कायर मत बनों । अन्य किसी अधम क्षत्रिय में तो यह कायरता फिर भी अच्छी लगे किन्तु मेरा सखा होने के कारण तुममें बिल्कुल शोभा नहीं देती। किन्तु यदि तुम कहो कि यह मेरी कायरता नहीं है, यह तो धर्म के दृष्टिकोण से भीष्म और द्रोण के प्रति सम्मान की भावना और मेरे शस्त्रों से मरने वाले धृतराष्ट्र पुत्रों के प्रति दया का भाव है, तो सुनो यह विवेक और दया नहीं बल्कि शोक और मोह हैं और दोनों तुम्हारे मन की दुर्बलता को प्रकट कर रहे हैं, इसलिए तुम हृदय की इस दुर्बलता का परित्याग कर उठो और शत्रु को ताप प्रदान करते हुए युद्ध करो **॥ 3 ॥**

अर्जुन उवाच–

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥4 ॥

मर्मानुवाद — अर्जुन ने कहा – हे शत्रुनाशक मधुसूदन! मैं रणक्षेत्र में भीष्म और द्रोण जैसे पूजनीय गुरुजनों पर बाण कैसे चलाऊँगा? ॥4 ॥

अन्वय— अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) – अरिसूदन मधुसूदन (हे

शत्रु नाशक मधुसूदन) अहम् (मैं) कथम् (किस तरह) संख्ये (युद्ध में) पूजार्हौ (पूजा के योग्य) भीष्मं द्रोणञ्च (भीष्म और द्रोण के प्रति) इषुभिः (बाणों द्वारा) प्रतियोत्स्यामि (युद्ध करूँगा) ॥4॥

टीका—ननु *"प्रतिवध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः"* इति धर्मशास्त्रम्, अतोऽहं युद्धान्निवर्त इत्याह—कथमिति। प्रतियोत्स्यामि प्रतियोत्स्ये। नन्वेतौ
शक्नोम्येवेत्याह—पूजार्हाविति। अनयोश्चरणेषु भक्त्या कुसुमान्येव दातुमर्हामि न तु क्रोधेन तीक्ष्णशरानिति भावः। भो वयस्य कृष्ण! त्वमपि शत्रुनेव युद्धे हंसि, न तु सान्दीपनिं स्वगुरुम्, नापि बन्धून् यदूनित्याह—हे मधुसूदनेति। ननु मधवो यादव एव? तत्राह—हे अरिसूदन! मधुर्नाम दै ॥4॥

भावानुवाद— यदि तुम कहो कि धर्मशास्त्र के अनुसार पूजनीय व्यक्ति की पूजा न करने से या पूजा में व्यतिक्रम होने से अमंगल होता है, इसलिए मैं युद्ध से पीछे हट रहा हूँ, तो मेरा कहना है कि पहल तो उन्होंने की है तब तुम युद्ध क्यों नहीं करते? इस पर अर्जुन ने कहा कि आपकी यह बात सत्य है किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि वे मेरे पूजनीय हैं, इनके चरणों में तो भक्तिभाव से पुष्प-अर्पण करना मेरा कर्तव्य है, न कि तीक्ष्ण बाणों से प्रहार करना। हे मित्र कृष्ण! आपने भी तो युद्ध में केवल शत्रुओं का ही तो नाश किया है, न कि अपने सान्दीपनि आदि गुरुजनों एवं बन्धु यादवों का। यदि आप कहें कि मैने मधु का वध किया था इसलिए मुझे मधुसूदन कहते हैं। मधुपुरी वासी होने के कारण यादवों को भी मधु कहा जा सकता है, तो मेरा कहना है कि आप अरिसूदन हैं मधु नामक दैत्य, जो आपका अरि अर्थात् शत्रु था उसका वध किया था न कि बन्धु मधु अर्थात् यादवों का। इसे स्पष्ट करने के लिए ही श्लोक में मधुसूदन और अरिसूदन दोनों नामों का उल्लेख है ॥ 4 ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥5॥

मर्मानुवाद— मैं इन महानुभाव गुरुजनों को मारने की अपेक्षा इस संसार

में भिक्षा द्वारा जीवन यापन करना अच्छा समझता हूँ, क्योंकि गुरुजनों की हत्या करके उनके खून से सने हुए काम और अर्थ का उपभोग ही तो करना पड़ेगा ॥5 ॥

अन्वय— गुरून् अहत्वा (गुरुओं का वध न करके) इह लोके भैक्ष्यम् (भिक्षा में मिले अन्न को) भोक्तुम् (ग्रहण करना ही) श्रेयः (मंगलजनक है) हि (क्योंकि) महानुभावान् (महानुभाव) अर्थकामान् तु गुरून् हत्वा (अर्थकामी गुरुजनों का विनाश करके) इह एव (इस लोक में) अहं रुधिर-प्रदिग्धान् भोगान् भुञ्जीय (मैं खून से रंगे हुए तमाम भोगों को ही तो भोगूंगा) ॥5 ॥

टीका—नन्वेवं ते यदि स्वराज्येऽस्मिन् नास्ति जिघृक्षा, तर्हि कया वृत्त्या जीविष्यसीत्यत्राह—गुरून् अहत्वा गुरुवधमकृत्वा भै
भिक्षया प्राप्तमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः। ऐहिकदुर्यशोलाभेऽपि पारत्रिकममङ्गलं तु नै
धार्मिकदुर्योधनाद्यनुगतास्त्यज्या एव, यदुक्तं—"*गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यम-जानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥*" इति वाच्यमित्याह— महानुभावानिति। कालकामादयोऽपि यै
कुतस्तद्दोषसम्भव इति भावः। ननु "*अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौ* " इति युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेणै
सत्यम्, तदप्येतान् हतवतो मम दुःखमेव स्यादित्याह,—अर्थकामानर्थलुब्धानप्येतान् गुरून् हत्वाऽहं भोगान् भुञ्जीय किन्त्वेतेषां रुधिरेण प्रदिग्धान् प्रलिप्तानेव। अयमर्थः— एतेषामर्थलुब्धत्वेऽपि मद्गुरुत्वमस्त्येव, अतएवै
मम खलु भोगो दुष्कृतिमिश्रः स्यादिति॥ 5॥

भावानुवाद—अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! यदि आप कहें कि तुम्हारी यदि अपना राज्य भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं है तो जीवन-निर्वाह कैसे करोगे? तो मैं कहूँगा कि गुरुजनों का वध करने जैसे जघन्य कार्य के स्थान पर क्षत्रियों के लिए निन्दित भिक्षा के अन्न से जीवन-निर्वाह करना अत्यन्त कल्याणकारी समझता हूँ, क्योंकि इससे इस लोक में चाहे अपयश हो किन्तु पारलौकिक अमंगल तो नहीं होगा। भगवान् ने कहा सखे! ये गुरुजन तो घमंडी एवं कर्तव्य का निर्णय लेने की योग्यता खो बैठने के कारण अधार्मिक दुर्योधन के अनुगत हो गये हैं, इसलिए इनका त्याग ही उचित है। महापुरुषों

ने भी यही कहा है कि घमंडी, कार्य-अकार्य विवेकहीन कुमार्गगामी गुरु का त्याग कर देना चाहिए। किन्तु यदि तुम कहो कि काल और कामादि जिनके वश में हैं उन भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य इत्यादि में ऐसे दोषों की सम्भावना कैसे हो सकती है? तो सुनो- भीष्म ने युधिष्ठर से स्वयं कहा है कि 'पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है, मैं कौरवों के अर्थ द्वारा बन्ध चुका हूँ', इसलिए अर्थकामी होने के कारण ये महानुभाव नहीं रहे। तब अर्जुन बोले- आप सत्य कह रहे हैं, फिर भी इनकी हत्या करके मुझे दुःख ही होगा, क्योंकि अर्थलोभी इन सभी कौरवों को मार कर मैं जो भोग भोगूंगा वे इन के खून से सने हुए ही होंगे। अर्थलोभी होने पर भी मेरे लिए इनका गुरुत्व तो बना ही रहेगा। इनके बध से मैं गुरुदोषी बन जाऊंगा और मेरे सभी भोग पापमिश्रित ही होगें॥ 5॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ 6॥

मर्मानुवाद— इस युद्ध में जीत और हार में से कौन सी वस्तु हमें गौरव प्रदान करने वाली है, यह भी नहीं समझ पा रहा हूँ,क्योंकि जिन का वध करके हम जीवित रहने की इच्छा नहीं करते, वही धृतराष्ट्र के पुत्र ही हमारे सामने खड़े हैं॥ 6॥

अन्वय— नः (हमें) कतरत् गरीयः (कौन सा गौरवान्वित करने वाला है) एतत् च न विद्मः (यह नहीं जानता) यत् वा जयेम यदि वा नः जयेयुः (हम इन्हें जीतेंगे या ये हमें जीतेंगे, यह भी नहीं जानता हूँ) यान् (जिनका) हत्वा (विनाश करके) न जिजीविषामः (जीवित रहने की इच्छा नहीं करता हूँ) ते धार्तराष्ट्राः (वही धृतराष्ट्र के पुत्र) प्रमुखे (सामने) अवस्थिताः (खड़े हैं)॥ 6॥

टीका—किञ्च, गुरुद्रोहे प्रवृत्तस्यापि मम जयः पराजयो वा भवेदित्यपि न ज्ञायत इत्याह—न चै नोऽस्माकं कतरत् जयपराजयोर्मध्ये किं खलु गरीयोऽधिकतरं भविष्यति, एतन्न विद्मः, तदेव पक्षद्वयं दर्शयति—एतान् वयं जयेम, नोऽस्मान् वा एते जयेयुः इति। किञ्च जयोऽप्यस्माकं फलतः

पराजय एवेत्याह—यानेवेति।। 6।।

भावानुवाद— अर्जुन कहते हैं— गुरुद्रोह करने पर भी हमारी जीत होगी या हार यह भी नहीं जानता और इन दोनों में से कौन सी हमारे लिए मंगलप्रद है, यह भी नहीं जानता। यहाँ दोनों पक्ष दिखा रहें है। या तो हम उन्हें जय करेंगे या वे हमें पराजित करेंगे, किन्तु अर्जुन का कहना है कि यदि हम जीत भी गये तो वह जीत भी हमारी हार ही है क्योंकि जिन को मार कर हम जीना नहीं चाहते, वही हमारे सामने खड़े हैं॥ 6॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ 7॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ 8॥

मर्मानुवाद— इस समय धर्म के विषय में मोहितचित्त एवं स्वाभाविक वीरता परित्यागरूपी कायरता दोष से पराभव स्वभाव वाला मैं आप से जिज्ञासा करता हूँ कि मेरे लिए जो कल्याणकारी मार्ग हो, निश्चय कर उसी का उपदेश दीजिये, मैं आप का शिष्य हूँ और आपकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ 7॥

पृथ्वी का निष्कण्टक एवं समृद्ध राज्य और देवताओं का आधिपत्य मिलने पर भी मुझे ऐसा कोई उपाय नज़र नहीं आता जो मेरे इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके॥ 8॥

अन्वय— कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (स्वाभाविक वीरता का त्याग ही कार्पण्य है, इसी दोष से पराभव स्वभाव वाला) धर्मसंमूढचेताः (धर्म की गति सूक्ष्म है, इसलिए धर्म के विषय में मोहित मैं) त्वां (आपसे) पृच्छामि (जिज्ञासा करता हूँ) यत् (जो) मे (मेरे लिए) श्रेयः (मंगलप्रद) स्यात् (हो) तत् (वह) निश्चितम् (निश्चय करके) ब्रूहि (कहिए) अहम् (मैं) ते (आपका) शिष्यः (शिष्य हूँ) त्वाम् (आपके) प्रपन्नम् (शरणागत हूँ) माम् (मुझे) शाधि (शिक्षाप्रदान कीजिये)॥ 7॥

भूमौ (पृथ्वी पर) असपत्नम् (निष्कण्टक) ऋद्धम् (समृद्ध या धनधान्य संपन्न) राज्यम् (राज्य) सुराणामपि (देवताओं का भी) आधिपत्यम् (साम्राज्य को) अवाप्य (प्राप्त होकर भी) यत् (जो) मम (मेरी) इन्द्रियाणाम् (तमाम इन्द्रियों को) उच्छोषणम् (शोषण करने वाले) शोकम् (शोक को) अपनुद्यात् (दूर कर सके) तत् (ऐसा उपाय) न हि प्रपश्यामि (नहीं देखता हूँ) ?॥ 8 ॥

टीका—ननु तर्हि सोपपत्तिकं शास्त्रार्थं त्वमेव ब्रुवाणः क्षत्रियो भूत्वा भिक्षाटनं निश्चिनोषि तर्ह्यलं मदुक्त्येति तत्राह—कार्पण्येति। स्वाभाविकस्य शौ
मूढबुद्धिरेवास्मि, अतस्त्वमेव निश्चित्य श्रेयो ब्रूहि। ननु मद्वाचस्त्वं पण्डितमानित्वेन खण्डयसि चेत्, कथं ब्रूयाम्? तत्राह— शिष्यस्तेऽहमस्मि, नातः परं वृथा खण्डयामीति भावः।। 7।।

ननु मयि तव सख्यभाव एव, न तु गौ
तस्माद् यत्र तव गौ
मम शोकमपनुद्यात् दूरीकुर्यादेवं जनं न प्रकर्षेण पश्यामि त्रिजगत्येकं त्वां विना। स्वस्मादधिकबुद्धिमन्तं बृहस्पतिमपि न जानामीत्यतः शोकार्त्त एव खलु कं प्रपद्येय इति भावः। यद् यतः शोकादीन्द्रियाणामुच्छोषं महानिदाघात् क्षुद्रसरसामिव उत्कर्षेण शोषो भवति। ननु तर्हि साम्प्रतं त्वं शोकार्त्त एव खलु युध्यस्व, ततश्चै
आह—अवाप्येति भूमौ
प्राप्यापि स्थितस्य ममेन्द्रियाणामेतदुच्छोषणमेवेत्यर्थः।।8।।

भावानुवाद—श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! तर्कपूर्ण शास्त्रार्थ के आधार पर जब तुम कह रहे हो कि क्षत्रिय होने पर भी मैंने भिक्षाटन का निश्चय कर ही लिया है तब फिर मेरा तुम्हें कुछ भी कहना व्यर्थ है। इसके उत्तर में अर्जुन कह रहे हैं कि स्वाभाविक वीरता का परित्याग ही मेरी कायरता है। धर्म का विषय अति सूक्ष्म है इसलिए धर्म क्या है? इसका निर्णय कर पाने में मैं मूढ बुद्धि हूँ, इसलिए आप ही मेरे लिए निश्चित कल्याणकारी मार्ग का उपदेश कीजिए किन्तु प्रभो! यदि आप के मन में ऐसा चिन्तन हो कि तुम तो अपने आप को बड़ा विद्वान समझते हुये जो मैं बोलूंगा उसे खण्डन कर दोगे। इसलिए मैं क्यों बोलूं? तो मैं आश्वासन देता हूँ कि मैं आप का

शिष्यत्व स्वीकार करता हूँ। आपके वचनों का व्यर्थ ही खण्डन नहीं करूंगा।।7।।

अर्जुन ने कहा कि यदि आप कहें कि तुम तो मुझे अपना सखा समझते हो न कि गुरुजन, इसलिए मैं तुम्हे शिष्य कैसे बना सकता हूँ। जिन लोगों में तुम्हारी गुरुभावना हो उन वेदव्यास आदि किसी की भी शरण ग्रहण करो, तो मेरा कहना यह है कि मैं आपको छोड़ कर तीनों लोकों में अन्य ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखता जो मेरे इस शोक को दूर कर सके। मैं बृहस्पति को भी अपने से अधिक बुद्धिमान् नहीं मानता। इसलिए इस शोकमग्न अवस्था में आपको छोड़कर और किसकी शरण में जाऊँ? जिस प्रकार ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड गर्मी छोटे-छोटे सरोवरों को सुखा देती है, उसी प्रकार यह शोक मेरी इन्द्रियों का शोषण कर रहा है। यदि आप फिर भी कहते हैं कि तुम शोकमग्न अवस्था में ही युद्ध करो। कौरवों को जीतने के पश्चात् राज्यादि की प्राप्ति होने पर, मन जब राज्यभोगों में रम जायेगा तब शोक चला जायेगा, तो मेरा कहना है कि पृथ्वी का निष्कंटक राज्य मिले या स्वर्ग का, इस शोक द्वारा मेरी इन्द्रियों का शोषण तो चलता ही रहेगा अर्थात् शोक दूर नहीं होगा ।

सञ्जय उवाच-

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ 9॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ 10॥

मर्मानुवाद— संजय ने कहा— इस प्रकार कहने के पश्चात् शत्रुओं को ताप प्रदान करने वाले गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश भगवान् से ये वचन कह कर चुप हो गये, "हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूंगा"॥ 9॥

हे धृतराष्ट्र! उस समय दोनों पक्ष की सेनाओं के बीच में खड़े शोक-ग्रस्त पार्थ को भगवान् हृषीकेश मुस्कराते हुए बोले॥ 10॥

अन्वय— संजयः उवाच (संजय ने कहा) परन्तपः (शत्रु को पीड़ा देने वाले) गुडाकेशः (अर्जुन) हृषीकेशं गोविन्दम् (श्री भगवान् को) एवम् (इस प्रकार) उक्त्वा (कहकर) न योत्स्ये (युद्ध नहीं करूंगा) इति तूष्णीम्

(खामोश) बभूव (हो गये) ॥ 9 ॥

हे भारत! (धृतराष्ट्र) हृषीकेशः (अर्जुन की इन्द्रियों के नियन्ता श्रीकृष्ण ने) प्रहसन्निव (मुस्कराते हुए) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों पक्ष की सेनाओं के मध्य में) विषीदन्तम् (शोक में डूबे हुए) तम् (अर्जुन को) इदं वचः (यह वचन) उवाच (कहे) ॥ 10 ॥

टीका—अहो तवाप्येतावान् खल्वविवेक इति सख्यभावेन तं प्रहसन् अनौ
तस्मिन् हास्यमनुचितमित्यधरोष्ठनिकुञ्चनेन हास्यमावृण्वंश्चेत्यर्थः। हृषीकेश इति पूर्वं प्रेम्णौ
प्रेम्णौ
भगवता प्रबोधश्च, उभाभ्यां सेनाभ्यां सामान्यतो दृष्ट एवेति भावः।।10।।

भावानुवाद— पहले तो अर्जुन को उसके शोकाकुल होने की अनुचितता का अहसास करवाकर उसे लज्जासमुद्र में निमज्जित करने के उद्देश्य से सख्यभाववश उपहास करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा— "अहो! तुम में भी इतना अज्ञान" किन्तु बाद में यह सोचकर कि शिष्य के ऊपर हंसना अनुचित है, अपने होठों की मुस्कराहट का संवरण कर गम्भीर हो गये। पहले प्रेमवश अर्जुन की आज्ञा के अधीन होने पर भी अब अर्जुन का मंगल करने के लिए अर्जुन के मन को संयमित या वशीभूत कर रहे हैं। अर्जुन का यह विषाद और भगवान् द्वारा दिया गया उपदेश दोनों सेनाओं के लिए समानरूप से दर्शनीय था। 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' कहने का यही तात्पर्य है।। 10।।

श्रीभगवानुवाच —

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥11 ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥12 ॥

मर्मानुवाद— भगवान् बोले, - अर्जुन! तुम बातें तो ज्ञानवान् व्यक्तियों जैसी कर रहे हो किन्तु शोक न करने योग्य विषय के लिए शोक कर रहे हो; कारण, पण्डितजन तो मरे हुए या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते

हैं ॥ 11 ॥

आत्मा–अविनाशी है, इसलिए शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा दो प्रकार की है – परमात्मा और जीवात्मा। मैं परमात्मा हूँ जबकि तुम और ये राजा–लोग सभी जीवात्मा हो। मैं, तुम और ये सभी राजा पहले नहीं थे, ऐसा नहीं है, और भविष्य में नहीं रहेंगे, ऐसा भी नहीं है अर्थात् हम सब पहले थे, अब भी हैं और बाद में भी रहेंगे। ॥ 12 ॥

अन्वय— श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) त्वम् (तुम) अशोच्यान् (शोक न करने योग्य विषय के लिए) अन्वशोचः (शोक कर रहे हो) प्रज्ञावादान् (पाण्डित्यपूर्णवचन) भाषसे च (बोल रहे हो) पण्डिताः (विवेकी व्यक्ति) गतासून् (जिसके प्राण चले गये हैं ऐसे स्थूल शरीर) अगतासून् (जिसके प्राण नहीं गये उस सूक्ष्म शरीर के लिए) न अनुशोचन्ति (शोक नहीं करते हैं) ॥ 11 ॥

अहम् (मैं) जातु (किसी काल में) न आसम् (नहीं था) तु (किन्तु) नैव (ऐसा नहीं है) त्वं न (तुम नहीं थे) न इमे जनाधिपाः इति न (ये राजा नहीं थे, ऐसा भी नहीं है) अतः परम् (और बाद में) सर्वे न भविष्यामः च न एव (और भविष्य में हम सब नहीं रहेगें ऐसा भी नहीं है अर्थात् सभी दुबारा जन्म ग्रहण करेंगें) ॥ 12 ॥

टीका— भो अर्जुन ! तवायं बन्धुवधहेतुकः शोको भ्रममूलक एव, तथा कथं भीष्ममहं संख्ये इत्यादिको विवेकश्चाप्रज्ञामूलक एवेत्याह— अशोच्यान् शोकानर्हानेव त्वमन्वशोचोऽनुशोचितवानसि। तथा त्वां प्रबोधयन्तं मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञायां सत्यामेव ये वादाः "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादीनि वाक्यानि तान् भाषसे, न तु तव कापि प्रज्ञा वर्त्तते इति भावः। यतः पण्डिताः प्रज्ञावन्तो गतासून् गता निःसृता भवन्त्यसवो येभ्यः तान् स्थूलदेहान् न शोचन्ति, तेषां नश्वरभावत्वादिति भावः। अगतासून् अनिःसृतप्राणान् सूक्ष्मदेहानपि न शोचन्ति, ते हि मुक्तेः पूर्वमनश्वरा एव, उभयेषामपि तथा तथा स्वभावस्य दुष्परिहरत्वात्। मूर्खास्तु पित्रादिदेहेभ्यः प्राणेषु निःसृतेष्वेव शोचन्ति, सूक्ष्मदेहांस्तु न, ते प्रायः परिचिन्वन्त्यतस्तै

आत्मान एव।आत्मनान्तु नित्यत्वात्तेषु शोकप्रवृत्तिरेव नास्तीत्यतस्त्वया यत्पूर्वमर्थशास्त्रात् धर्मशास्त्रं बलवदित्युक्तं, तत्र मया तु धर्मशास्त्रादपि

ज्ञानशास्त्रं बलवदित्युच्यते इति भावः।।11।।

अथवा सखे? त्वामहमेवं पृच्छामि, किञ्च प्रीत्यास्पदस्य मरणे दृष्टे सति शोको जायते, तत्रेह प्रीत्यास्पदमात्मा देहो वा। "*सर्वेषामेव भूतानां नृप स्वात्मै वल्लभः*" इति शुकोक्तेरात्मै

ास्यै

अहं परमात्मा जातु कदाचिदपि पूर्वं नासमिति न, अपि त्वासमेव। तथा त्वमपि जीवात्मा आसीरेव। तथेमे जनाधिपा राजानश्च जीवात्मान आसन्नेव इति प्रागभावाभावो दर्शितः। तथा सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्च अतःपरं न भविष्यामः न स्थास्यामः इति न, अपि तु स्थास्याम एवेति ध्वंसाभावश्च दर्शितः इति—परात्मनो जीवात्मनाञ्च नित्यत्वादात्मा न शोकविषय इति साधितम्। अत्र श्रुतयः "*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्*" इत्याद्याः।। 12।।

भावानुवाद— हे अर्जुन! बन्धुवध को लेकर तुम्हारा यह शोक करना भ्रम से उत्पन्न है और 'मैं युद्ध में भीष्मादि पर बाण कैसे चलाऊँगा' इत्यादि विवेक भी भ्रम से ही उत्पन्न है। क्योंकि शोक न करने योग्य वस्तु के लिए तुम शोक कर रहे हो, और यदि मैं सान्त्वना देता हूँ तो बुद्धिमान् की तरह मुझे ही समझाने लगते हो जबकि तुममें जरा सी भी बुद्धि नहीं है । कारण विद्वान् लोग 'गतासून्' अर्थात् जिनके प्राण निकल गये हैं ऐसे स्थूल शरीरों के लिए शोक नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि ये स्थूल शरीर नश्वर हैं और 'अगतासून्' जिनके प्राण नहीं निकले ऐसे सूक्ष्म शरीरों के लिए भी शोक नहीं करते, क्योंकि वह भी नित्य नहीं हैं, उनकी सत्ता भी मुक्तिप्राप्त होने तक ही है। बाद में वह भी नष्ट हो जायेगा। जब स्वभाववश दोनों का नाश अटल है तो शोक कैसा ? किन्तु मूर्ख लोग पितादि के शरीर से प्राण निकल जाने पर उनके शरीर के लिए ही शोक करते हैं, क्योंकि सूक्ष्म देह को तो वे जानते ही नहीं। भीष्मादि गुरुजन स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों में से कुछ भी नहीं हैं।

भीष्मादि तो स्थूल और सूक्ष्म देह में स्थित आत्मा हैं और आत्मा नित्य है, इसलिए शोक का कोई कारण नहीं है। तुमने पहले जो धर्मशास्त्र को अर्थशास्त्र से श्रेष्ठ कहा था वैसे ही अब मैं कहता हूँ कि धर्मशास्त्र से भी ज्ञान

शास्त्र श्रेष्ठ है ॥ 11 ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा– हे सखे ! मैं तुम से पूछता हूँ कि प्रियजन की मृत्यु पर लोग आत्मा के प्रेमवश आत्मा के लिए शोक कर रहे होते हैं या शरीर से प्रेमवश शरीर के लिए शोक करते हैं अर्थात् उस समय प्रेमका पात्र आत्मा होती है या शरीर? श्री शुकदेव जी (भा.10/14/50) कहते हैं कि आत्मा ही सब की प्रिय है शरीर तो नाशवान् है, इसलिए वह प्रेम का पात्र नहीं है।

इस कथन के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा में भेद होने पर भी दोनों प्रकार की आत्मा नित्य और मृत्युरहित हैं, इसलिए आत्मा शोक का विषय नहीं है। इसलिए कह रहे हैं **'न त्वेवाहम्'** अर्थात् मैं परमात्मा पहले नहीं था ऐसा नहीं है, मैं पहले भी था और तुम तथा ये सभी राजा लोक जीवात्मा हैं। तुम सब पहले भी थे और भविष्य में नहीं रहोगे ऐसा भी नहीं है । अर्थात् हम सब भविष्य में भी रहेंगे इससे यह प्रमाणित हुआ कि आत्मा अविनाशी है। इस विषय में श्रुति भी कहती है– 'जो नित्य वस्तुओं में नित्य और चेतन वस्तुओं मे चेतन है जो एक होकर भी सभी की कामना पूर्ण करते हैं' इत्यादि (कठ० 2/3/13) ॥ 12 ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ 13 ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ 14 ॥

मर्मानुवाद— जैसे आत्मा के देह धारण करने पर देह ही क्रमशः कौमार, यौवन और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, किन्तु देही आत्मा में कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार देहान्तर अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होने पर भी देही आत्मा का अस्तित्व लोप नहीं होता। जैसे कौमार अवस्था के पश्चात् यौवन अवस्था की प्राप्ति पर हर्ष और सुख होता है उसी प्रकार जराग्रस्त देह को त्यागने और नवीन देह की प्राप्ति में भगवद्भक्त आत्मा को आनन्द ही होता है, इसलिए देह के नाश होने पर धीर व्यक्ति शोक नहीं करते॥ 13 ॥

मात्रा अर्थात् इन्द्रियों को अनुभव होने वाले विषय सुख–दुःख प्रदान करने वाले सर्दी–गर्मी अनित्य हैं; हे कुन्ती पुत्र! इन सब को सहन करना ही शास्त्र

विहित धर्म है। युद्ध – क्षत्रिय का स्वभावजात धर्म है, उसे त्यागने से महान् अनर्थ हो सकता है॥ 14॥

अन्वय— यथा (जिस प्रकार) देहिनः (देहधारी जीवात्मा की) अस्मिन् देहे (वर्तमान शरीर में) कौमारं यौवनं जरा (शैशव काल समाप्त होने पर यौवन, यौवन समाप्त होने पर वृद्धावस्था प्राप्त होती है) तथा (उसी प्रकार) देहान्तरप्राप्तिः (दूसरी देह प्राप्त होती है) तत्र (इस विषय में) धीरः (विवेकी) न मुह्यति (मोह को प्राप्त नहीं होते हैं)॥ 13॥

हे कौन्तेय (अर्जुन) मात्रास्पर्शास्तु (इन्द्रियों के अनुभव किये जाने वाले विषय) शीतोष्णसुखदुःखदाः (सर्दी-गर्मी, सुख और दुःख देने वाले हैं) आगमापायिनः (ये आते हैं और चले जाते हैं) अनित्याः (इसलिए अनित्य हैं) हे भारत! तान् (उन अनुभव के सभी विषयों को) तितिक्षस्व (सहन करो)॥ 14॥

टीका—ननु चात्मसम्बन्धेन देहोऽपि प्रीत्यास्पदं स्यात्, देहसम्बन्धेन पुत्रभ्रात्रादयोऽपि, तत्सम्बन्धेन नप्त्रादयोऽपि, अतस्तेषां नाशे शोकः स्यादेवेति चेदत आह,—देहिन इति। देहिनो जीवस्यास्मिन् देहे कौ

ततः कौ

देहान्तरप्राप्तिरिति। ततश्चात्मसम्बन्धिनां कौ

शोको न क्रियते, तथा देहस्याप्यात्मसम्बन्धिनः प्रीत्यास्पदस्य नाशे शोको न कर्त्तव्यः। यौ

यौ

नव्यदेहान्तरप्राप्तौ

कौ

13।।

ननु सत्यमेव तत्त्वं, तदप्यविवेकिनो मम मन एवानर्थकारी वृथै शोकमोहव्याप्तं दुःखयतीति, तत्र न केवलं एकं मन एव, अपितु मनसो वृत्तयोऽपि सर्वास्त्वगादीन्द्रियरूपाः स्वविषयानुभाव्यानर्थकारिण्य इत्याह—मात्रेति। मात्रा इन्द्रियग्राह्यविषयास्तेषां स्पर्शः अनुभवाः। शीतोष्णेति आगमापायिन इति— यदेव शीतलजलादिकमुष्णकाले सुखदं, तदेव शीतकाले दुःखदमतोऽनियतत्वादागमापायित्वाच्च, तान् विषयानुभवान् तितिक्षस्व सहस्व,

तेषां सहनमेव शास्त्रविहितो धर्मः। न हि माघे मासि जलस्य दुःखदत्वबुद्ध्यै शास्त्रे विहितः स्नानरूपो धर्मस्त्यज्यते। धर्म एव काले सर्वानर्थनिवर्त्तको भवति, एवमेव ये पुत्रभ्रात्राद्याः उत्पत्तिकाले धनाद्युपार्जनकाले च सुखदास्त एव मृत्युकाले दुःखदा आगमापायिनोऽनित्यास्तानपि तितिक्षस्व, न तु तदनुरोधेन युद्धरूपः शास्त्रविहितः स्वधर्मस्त्याज्यः। विहितधर्मानाचरणं खलु काले महानर्थकृदेव इति भावः।। 14।।

भावानुवाद—यदि कहो कि आत्मा के सम्बन्ध से देह भी प्रीति का पात्र होता है, देह के सम्बन्ध से पुत्र, भाई और फिर उनके सम्बन्ध से पौत्र आदि भी प्रीति के पात्र हैं, तो उनकी मृत्यु से शोक होगा ही तो सुनो, जीव को इस शरीर में जिस प्रकार कौमार अवस्था की प्राप्ति होती है, कौमार अवस्था के नाश होने के पश्चात् यौवन अवस्था की प्राप्ति होती है और यौवन अवस्था के नाश होने पर वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार वृद्धावस्था के नाश होने पर दूसरा शरीर प्राप्त होता है। जिस प्रकार कौमार अवस्था के नाश होने पर यौवन अवस्था की प्राप्ति के समय प्रिय कौमार अवस्था के नाश के लिए शोक नहीं किया जाता, उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध से जो देह प्रीति का पात्र बना है, उस के नाश होने पर भी शोक करना कर्तव्य नहीं है।

यदि यौवनावस्था के नाश होने पर वृद्धावस्था की प्राप्ति पर शोक होता है तो कौमारावस्था से यौवनावस्था प्राप्ति पर हर्ष भी तो होता है। उसी प्रकार भीष्म द्रोणादि के जीर्ण शरीर नाश होने पर नये शरीर की प्राप्ति पर हर्ष व आनन्द करना ही उचित है। एक ही शरीर में जीवात्मा जिस प्रकार कौमार, यौवन, वृद्ध इन नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है उसी प्रकार जीव को नाना प्रकार के देह प्राप्त होते हैं॥ 13॥

अर्जुन ने कहा – भगवन् ! आपने जो कहा वह निःसन्देह सत्य है, फिर भी मुझ अविवेकी का अनर्थकारी मन ही शोक–मोह के वशीभूत होने के कारण मुझे दुःख दे रहा है । केवल मन ही नहीं, अपितु त्वचा आदि इन्द्रियां, मन की समस्त वृत्तियां ही अपने–अपने विषयों का अनुभव कर के अनर्थकारिणी हो रही हैं । भगवान् ने कहा – अर्जुन! इन्द्रियग्राह्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि विषय ही 'मात्रा' हैं एवं उन विषयों का अनुभव

ही स्पर्श है। इन्द्रियों का जब विषयों से संयोग होता है तो सुख-दुःख का अनुभव होता है। किन्तु ये सुख-दुःख **'आगमापायिनः'** अर्थात् आने जाने वाले हैं, इन्हें सहन करना ही शास्त्रविहित धर्म है। जैसे गर्मियों के दिनों में शीतल जल का स्पर्श सुख देता है, किन्तु सर्दियों में उसी शीतल जल के स्पर्श से दुःख का अनुभव होता है। इसलिए अनित्य एवं आने जाने वाला मान कर इन्हें सहन करना ही शास्त्रविहित धर्म है। माघ महीने में शीतल जल दुःखदायी होता है, किन्तु उसके कारण शास्त्रविहित स्नान रूपी धर्म का त्याग नहीं किया जाता। क्योंकि समय पर धर्म ही उनके अनर्थों को नष्ट करता है। इसी प्रकार पुत्र और भाई जन्म के समय और धन कमाने के समय सुखदायी अनुभव होते हैं, किन्तु पुत्र और भ्राता की मृत्यु का और धन के विनाश का समय बड़ा दुःखदायी होता है। पुत्र, भ्राता एवं इनसे होने वाले सुख-दुःख दोनों आने-जाने वाले एवं अनित्य हैं इन्हे सहन करो । इसलिए सुख-दुःख के अनुरोध पर युद्ध-रूपी शास्त्र-विहित धर्म का परित्याग मत करो, क्योंकि शास्त्र-विहित धर्म का परित्याग समय आने पर महान् अनर्थ करने वाला होता है॥ 14॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ 15॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ 16॥

मर्मानुवाद — हे पुरुषश्रेष्ठ! जो पुरुष ठण्डी-गर्मी द्वारा व्याकुल नहीं होता, सुख-दुःख को समान समझता है, वह धीर व्यक्ति ही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होता है॥ 15॥

ये शोक-मोह आदि अनात्म-धर्म हैं। ये केवल देह को ही आश्रय करके रहते हैं, जीवात्मा का स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर शोक-मोह आदि धर्मों से सम्बन्ध कैसा? जो सम्बन्ध दिखता है वह अविद्या द्वारा कल्पित है, सत्स्वरूप भगवान् की शक्ति का अंश होने के कारण जीवात्मा सत् वस्तु है और इसका कभी नाश नहीं है। जबकि देह नाशवान् है, असत् है! इसलिए तत्त्व जानने वालों ने सत् और असत् के विषय में इसी प्रकार अलग-अलग विचार किया है। इस कारण जीवात्मा-स्वरूप भीष्मादि के

केवल देहमात्र नश्वर हैं, किन्तु स्वरूपतः उनका नाश नहीं हो सकता॥ 16॥

अन्वय— हे पुरुषर्षभ! (हे पुरुषश्रेष्ठ) एते (इन सब) समदुःखसुखम्(सुख दुःख में समान भाव) धीरम् (विवेकी) यं पुरुषम् (जिस व्यक्ति को) न व्यथयन्ति (व्यथा नहीं देते) स (वह) अमृतत्वाय (मोक्ष के लिए) कल्पते (समर्थ होता है)॥ 15॥

असतः (शोक मोहादि की आश्रय देह की) भावः (सत्ता अर्थात् नित्यता) न (नहीं है) सतः (जीवात्मा का) अभावः (नाश) न विद्यते (नहीं है), तत्त्वदर्शिभिः (तत्त्वदर्शियों द्वारा) अनयोः उभयोः (जीवात्मा और देह का) अन्तः दृष्टः (तत्त्वनिरूपण किया गया है)॥ 16॥

टीका—एवं विचारेण तत्तत्सहनाभ्यासे सति ते विषयानुभवाः काले किल नापि दुःखयन्ति। यदि च न दुःखयन्ति, तदात्ममुक्तिः स्वप्रत्यासन्नै त्याह—यमिति। अमृतत्वाय मोक्षाय।। 15।।

एतच्च विवेकदशानधिरूढान् प्रति उक्तम्। वस्तुतस्तु ***"असङ्गो ह्ययं पुरुषः"*** इति श्रुतेर्जीवात्मनश्च स्थूल–सूक्ष्म–देहाभ्यां तद्धमै
सम्बन्धो नास्त्येव। तत्सम्बन्धस्याविद्या- कल्पितत्वादित्याह—नेति। असतोऽनात्मधर्मत्वादात्मनि जीवे अवर्त्तमानस्य शोकमोहादेस्तदाश्रयस्य देहस्य च भावः सत्ता नास्ति। तथा सतः सत्यरूपस्य जीवात्मनोऽभावो नाशो नास्ति। तस्मादुभयोरेतयोरसत्सतोरन्तो- निर्णयोऽयं दृष्टः। तेन भीष्मादिषु त्वदादिषु च जीवात्मसु सत्यत्वादनश्वरेषु देहदै
कथं भीष्मादयो नङ्क्ष्यन्ति कथं वा तांस्त्वं शोचसीति भावः।।16।।

भावानुवाद—इस प्रकार विचारपूर्वक इन आने-जाने वाले दुःखों को सहन करने का अभ्यास करने से अनुभव के समय ये दुःखप्रद नहीं होते। इस प्रकार सुख-दुःख में समान व्यक्ति आत्ममुक्ति अर्थात् स्वरूप में अवस्थित होने के समीप होता है। 'अमृतत्वाय' का अर्थ है मोक्ष।। 15।।

ये सब बातें उन पुरुषों के लिए कही गयी हैं, जिनका विवेक उदय नहीं हुआ है। श्रुति में कहा गया है कि यह आत्मा असंग है, अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों एवं उन के शोक, मोहादि धर्मों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है और जो सम्बन्ध देखा जाता है वह अविद्याकल्पित है। शोक मोह नाशवान् धर्म हैं जो कि नाशवान् देह के आश्रित रहते हैं। इन दोनों की

नित्य वस्तु आत्मा में कोई सत्ता नहीं है। सत्य–स्वरूप जीवात्मा का विनाश नहीं है। इसलिए भीष्मादि एवं तुम सब नित्य हो, यह जानने के बाद अविनाशी जीवात्मा के सम्बन्ध में शोक–मोह नहीं रहता। जब भीष्मादि का नाश ही नहीं तो उनके लिए शोक कैसा?

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥17॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ 18॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ 19॥

मर्मानुवाद — जो अविनाशी जीव के रूप में है, वही आत्मा मनुष्य के सारे शरीर में व्याप्त है। अति–सूक्ष्म परमाणु की तरह सूक्ष्म होने पर भी आत्मा में सम्पूर्ण देह को पुष्ट करने वाली महौषधि की तरह सारे शरीर में व्यापक होने की शक्ति विद्यमान है। आत्मा स्वर्ग–नरक और नाना योनियों में भ्रमण कर सकता है, इसलिए उसे 'सर्वग' कहा जाता है। वह अव्यय अर्थात् नित्य है, उसका कोई विनाश नहीं कर सकता॥ 17॥

ये सब शरीर अनित्य हैं, किन्तु शरीर में रहने वाली जीवात्मायें – अविनाशी हैं। जीव या जीवात्मा – अतिसूक्ष्म होने के कारण मापी जाने योग्य नहीं है, अर्थात् अपरिमेय है। इसलिए हे भारत! तुम शास्त्रविहित स्वधर्म का त्याग न कर युद्ध करो॥ 18॥

जो ऐसा जानते हैं कि एक जीव दूसरे जीव को मारता है एवं जो ऐसा जानते हैं कि एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा के द्वारा मारा जाता है, वे दोनों ही कुछ नहीं जानते हैं। जीवात्मा न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है। हे सखा अर्जुन! तुम आत्मा हो, न तो तुम मारने वाले हो और न ही मारे जा सकते हो। अज्ञानी व्यक्तियों के द्वारा गुरुजनों का हत्यारा कहे जाने से तुम्हें अपयश मिलेगा, इस प्रकार भय करने की आवश्यकता नहीं है॥ 19॥

अन्वय— येन (जिसके द्वारा) इदं सर्वम् (यह सम्पूर्ण शरीर) ततम् (व्याप्त है) तत् (उस जीवात्मा को) तु अविनाशी विद्धि (विनाश से अतीत समझना) अव्ययस्य (नाश रहित) अस्य (इस जीव का) कश्चित् (कोई भी)

विनाशं कर्त्तुम् (विनाश करने में) न अर्हति (समर्थ नहीं है) ॥ 17 ॥

नित्यस्य (सदा एकरूप) अनाशिनः (नाश रहित) अप्रमेयस्य (अतिसूक्ष्म होने के कारण न मापने योग्य) शरीरिणः (जीव के) इमे देहाः (ये भौतिक शरीर) अन्तवन्तः (नाशवान्) उक्ताः (कहे गये हैं) हे भारत! (अर्जुन) तस्मात् (इसलिए) युध्यस्व (युद्ध करो) ॥ 18 ॥

यः (जो) एनम् (इस जीवात्मा को) हन्तारम् (विनाश करने वाला) वेत्ति (समझता है) यश्च एनं हतं मन्यते (एवं जो व्यक्ति इसे मरा मानता है) तौ उभौ (वे दोनों ही) न विजानीतः (कुछ नहीं जानते हैं) अयम् (यह) न हन्ति न हन्यते (न मारने वाला है न मरने वाला) ॥ 19 ॥

टीका—नाभावो विद्यते सत इत्यस्यार्थं स्पष्टयति—अविनाशीति। तत् जीवात्मस्वरूपं येन सर्वमिदं शरीरं ततं व्याप्तम्। ननु शरीरमात्रव्यापी चै जीवात्मनो मध्यमपरिमाणत्वेनानित्यत्वप्रसक्तिः? मै *"सूक्ष्माणामप्यहं जीवः"* इति भगवदुक्तेः, "*एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश*" इति, "*बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः*" इति। "*आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः*" इति श्रुतिभ्यश्च तस्य प्रमाण- परिमाणत्वमेव। तदपि सम्पूर्णदेहव्यापिशक्तिमत्वं जतुजटितस्य महामणेर्महौ
सम्पूर्णदेहपुष्टिकरणशक्तिमत्त्वमिव नासमञ्जसम्। स्वर्गनरक-नानायोनिषु गमनञ्च तस्योपाधिपारवश्यादेव। तदुक्तं प्राणमधिकृत्य दत्तात्रेयेण—"*येन संसरते पुमान्*" इति। अतएवास्य सर्वगतत्वमप्यग्रिम-श्लोके वक्ष्यमाणं नासमञ्जसम्। अतएवाव्ययस्य नित्यस्य—"*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्,*" इति श्रुतेः, यद्वा ननु देहो जीवात्मा परमात्मेत्येतद्वस्तुत्रिकं मनुष्यतिर्यगादिषु सर्वत्र दृश्यते, तत्राद्ययोर्देहजीवयोस्तत्त्वं "*नासतो विद्यते भावः*" इत्यनेनोक्तम्, तृतीयस्य परमात्मवस्तुनः किं तत्त्वमित्यत आह—अविनाशि त्विति। तु—भिन्नोपक्रमे, परमात्मनो मायाजीवाभ्यां स्वरूपतः पार्थक्यात् इदं जगत्।। 17।।

"नासतो विद्यते भावः" इत्यस्यार्थं स्पष्टयति—अन्तवन्त इति। शरीरिणो जीवस्य अप्रमेयस्य अति-सूक्ष्मत्वाद्दुर्ज्ञेयस्य। तस्माद् युध्यस्वेति शास्त्रविहितस्य स्वधर्मस्य त्यागोऽनुचित इति भावः॥ 18 ॥

भो वयस्य अर्ज्जुन! त्वमात्मा न हन्तेः कर्त्ता, नापि हन्तेः कर्म इत्याह—य इति। एनं जीवात्मानं हन्तारं वेत्ति, भीष्मादीनर्जुनो हन्तीति यो वेत्तीत्यर्थः। हतमिति भीष्मादिभिरर्जुनो हन्यत इति यो वेत्ति, तावुभावप्यज्ञानिनौ गुरुजनं हन्तीत्यज्ञानिलोकगीताद् दुर्यशसः का ते भीतिरिति भावः॥ 19॥

भावानुवाद— 'सत्य वस्तु का अभाव अर्थात् नाश नहीं है' इसी के अर्थ को भगवान् 'अविनाशी' इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। सारे शरीर में व्याप्त जो जीवात्मा है वह अविनाशी है। यदि प्रश्न हो कि शरीरमात्र में व्यापी आत्मा मध्यमाकार होने के कारण अनित्य तो नहीं है? तो इसके उत्तर में श्रीमद्भागवत (11/16/11) में भगवद्वाक्य है कि 'सूक्ष्म वस्तुओं में मैं जीव हूँ'। श्रुतियों में कहा है – 'यह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है विशुद्ध चित्त से ही इस की उपलब्धि होती है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांच भागों मे विभक्त प्राणवायु शरीर में प्रविष्ट रहती है' (मु० उ० 3/1/9)। और भी कहा गया है कि इस जीवात्मा को केश के अग्रभाग के दस हजारवें हिस्से के समान सूक्ष्म जानो (श्वे० उ० 5/9)। एवं 'अत्यन्त क्षुद्र स्वरूप वाला जीवात्मा देखा गया है', इन श्रुति वचनों से प्रमाणित होता है कि आत्मा सूक्ष्म है। जिस प्रकार सिर पर या वक्षः स्थल पर रखा हुआ लाख में जड़ित महामणि या महौषधखण्ड सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करने में समर्थ है, उसी प्रकार जीवात्मा भी सम्पूर्ण देह में व्याप्त होने की शक्ति से सम्पन्न है। इसमें कुछ असंगत नहीं है। नाना उपाधियों के वश हुआ जीव स्वर्ग नरक एवं भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमण करता है। प्राणों के सम्बन्ध में दत्तात्रेय जी ने कहा है- 'प्राणों के द्वारा ही पुरुष का संसार होता है'।

अगले श्लोक में आत्मा को सर्वत्र विचरण करने वाला कहा गया है यह असंगत नहीं है, जीवात्मा अव्यय अर्थात् नित्य है। श्रुति में कहा है- जो नित्य वस्तुओं में नित्य, चेतन वस्तुओं में चेतन है, जो एक होकर भी सभी कार्यों को पूर्ण करता है। (कठ० 2/2/13) अथवा यदि कहा जाय कि देह, आत्मा और परमात्मा ये तीन वस्तुयें मनुष्य, तिर्यगादि सभी योनियों में देखी जाती हैं, तो इनमें से प्रथम दोनों देह और आत्मा के तत्त्व के बारे में 'नासतो विद्यते भावः' श्लोक में कह आये हैं, किन्तु तृतीय वस्तु परमात्मा का क्या तत्त्व है? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि वह अविनाशी है। 'तु' शब्द भिन्न

उपक्रम में है। स्वरूपतः माया और जीव परमात्मा से पृथक् हैं, इसीलिए यह जगत् हुआ है॥ 17॥

'असत् वस्तु की सत्ता नहीं है' को स्पष्ट करते हुए ही यह 'अन्तवन्त' श्लोक कहा गया है। 'अप्रमेय' अर्थात् अति सूक्ष्म होने के कारण जीवात्मा दुर्ज्ञेय है। 'तस्मात् युध्यस्व' का तात्पर्य है युद्ध करो, क्योंकि शास्त्रविहित धर्म का परित्याग उचित नहीं है।। 18।।

भगवान् ने कहा हे सखा अर्जुन! तुम आत्मा हो, न तो तुम मारने वाले हो और न मरने वाले अर्थात् न कर्ता हो, न कर्म । जो जीवात्मा को हत्या करने या मरने वाला समझता है अर्थात् ऐसा सोचता है कि अर्जुन भीष्मादि की हत्या करेगा या भीष्मादि द्वारा अर्जुन मारा जायेगा। वे दोनों ही अज्ञानी हैं, फिर ऐसे अज्ञानियों द्वारा गुरुजनों का हत्यारा कहे जाने से तुम्हें अपने अपयश का भय क्यों ?॥ 19॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ 20॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ 21॥

मर्मानुवाद— जीवात्मा-अज-अर्थात् जन्म रहित है, नित्य अर्थात् हमेशा रहने वाला है, भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल भी इसे ध्वंस नहीं कर सकते, इसका जन्म-मृत्यु नहीं है अथवा बार-बार इसकी उत्पत्ति एवं वृद्धि भी नहीं होती, यह पुरातन होते हुए भी नित्य नवीन है, कभी मरता नहीं है, जन्म मरणशील शरीर के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है॥ 20॥

जो जीव को अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय जानता है, हे पार्थ! वह पुरुष क्या किसी की भी हत्या करता है? या हत्या करने की आज्ञा कर सकता है?॥ 21॥

अन्वय— अयं (जीवात्मा) कदाचित् (कभी भी) न जायते (जन्म ग्रहण नहीं करता है) वा न म्रियते (और न मरता है) भूत्वा वा भूयः न भविता (बार-

बार उत्पन्न नहीं होता) अयम् अजः (यह जन्म रहित है) नित्यः (त्रिकाल नाश रहित) शाश्वतः (हमेशा रहने वाला) पुराणः (प्राचीन होते हुए भी नवीन के समान क्योंकि जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और नाश – छः प्रकार के विकारों से रहित), अयम् (जीव) शरीरे हन्यमाने (शरीर का नाश होने पर भी) न हन्यते (मरता नहीं है) ॥ 20 ॥

हे पार्थ ! यः (जो व्यक्ति) एनम् (इस जीव को) अविनाशिनम् (अविनाशी) अजम् (जन्म रहित) अव्ययम् (मृत्युरहित) वेत्ति (जानता है) स पुरुषः (वह व्यक्ति) कथम् (किस प्रकार) कम् (किसीका) घातयति (वध करवा सकता है) कम् (किसको) हन्ति (मार सकता है) ॥ 21 ॥

टीका—जीवात्मनो नित्यत्वं स्पष्टतया साधयति—*'न जायते, म्रियते'* इति जन्ममरणयोर्वर्त्तमानत्वनिषेधः, *'नायं भूत्वा भविता'* इति तयोर्भूतत्व-भविष्यत्वनिषेधः। अतएव 'अजः' इति कालत्रयेऽप्यजस्य जन्माभावान्नास्य प्रागभावः। शाश्वतः शश्वत् सर्वकाल एव वर्त्तत इति नास्य कालत्रयेऽपि ध्वंसः, अतएवायं नित्यः। तर्हि बहुकालस्थायित्वाज्जराग्रस्तोऽयमिति चेन्न, पुराणः पुरापि नवः प्राचीनोऽप्ययं नवीन इवेति षड्भावविकाराभावादिति भावः। ननु शरीरस्य मरणादौ
सम्बन्धाभावान्नोपचारः ॥ 20 ॥

अत एवम्भूतज्ञाने सति त्वं युध्यमानोऽप्यहं युद्धे प्रेरयन्नपि दोषभाजौ भवाव इत्याह—वेदेति। नित्यमिति क्रियाविशेषणम्, अविनाशिनमिति, अजमिति, अव्ययमित्येतै
घातयति, कथं वा घातयति, तथा स पुरुषस्त्वल्लक्षणः कं हन्ति, कथं वा हन्ति ? ॥ 21 ॥

भावानुवाद— 'न जायते म्रियते' अर्थात् जीवात्मा न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है ऐसा कह कर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि जीवात्मा नित्य है एवं **'नायं भूत्वा भविता'** से बता रहे हैं कि इस जीवात्मा का भूतकाल में जन्म हुआ है और भविष्य में नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है। जीवात्मा पहले था, अब है, बाद में रहेगा अर्थात् तीनों कालों में इसका जन्म और नाश नहीं है। तीनों कालों में जन्म-मृत्य का अभाव बता कर भगवान् यह सिद्ध कर रहें है कि जीवात्मा पहले भी विद्यमान थी। यदि प्रश्न हो कि

प्राचीन होने के कारण जीवात्मा वृद्ध हो सकती है, तो उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं – ''ऐसा नहीं हैं क्योंकि यह 'पुराणः' अर्थात् प्राचीन होने पर भी नित्य नवीन रहता है, इसमें जन्मादि छः विकार नहीं होते''। यदि प्रश्न हो कि शरीर की मृत्यु के साथ औपचारिक रूप से इसकी भी मृत्यु होती है? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि शरीर के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।। 20।।

इस प्रकार आत्मतत्त्व के ज्ञान से सम्पन्न होकर युद्ध करने पर तुम्हें और युद्ध के लिए प्रेरित करने के कारण मुझे हम दोनों को दोष का भागी नहीं होना पड़ेगा। यहां 'नित्यम्' शब्द क्रियाविशेषण है। इस बात को बताने के लिए कि आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा को अविनाशी, अजन्मा और अव्यय कहा गया है। इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न मेरे जैसे लक्षणों वाला पुरुष कैसे किसी के द्वारा किसी को मरवा सकता है? और तुम्हारे जैसा पुरुष किसी को कैसे मार ही सकता है? अर्थात् न मरवा सकता है और न ही मार सकता है॥ 21॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ 22॥

मर्मानुवाद— मनुष्य जिस प्रकार फटे-पुराने वस्त्रों का परित्याग कर दूसरे नये वस्त्र पहनता है, उसी प्रकार देही (आत्मा) भी जीर्ण शरीर का परित्याग करते हुए नवीन देह धारण करता है॥ 22॥

अन्वय— यथा (जिस प्रकार) नरः (मनुष्य) जीर्णानि वासांसि (जीर्ण वस्त्र) विहाय (परित्याग कर) अपराणि (अपर) नवानि (नये वस्त्र) गृह्णाति (ग्रहण करता है) तथा (उसी प्रकार) देही (जीवात्मा) जीर्णानि शरीराणि (जीर्ण शरीर) विहाय (त्याग कर) अन्यानि नवानि (अन्य नया शरीर) संयाति (धारण करता है)॥ 22॥

टीका—ननु मदीययुद्धाद् भीष्मसंज्ञकशरीरन्तु जीवात्मा त्यक्षत्येवेत्यत-स्त्वञ्चाहञ्च तत्र हेतू भवाव एवेत्यत आह—वासांसीति। नवीनं वस्त्रं परिधापयितुं जीर्णवस्त्रस्य त्याजने कश्चित् किं दोषो भवतीति भावः। तथा

शरीराणीति—भीष्मे जीर्णशरीरं परित्यज्य दिव्यं नव्यमन्यच्छरीरं प्राप्स्यतीति कस्तव वा मम वा दोषो भवतीति भावः॥ 22॥

भावानुवाद—भगवान् ने कहा अर्जुन! यदि तुम कहो कि मेरे युद्ध करने से जीवात्मा भीष्म नामक शरीर का परित्याग करेगा, और उसमें मैं और तुम ही कारण बनेंगे। तो मैं तुम से पूछता हूँ कि नये वस्त्र पहनने के लिए पुराने वस्त्रों का परित्याग करने में कोई दोष होता है क्या? उसी प्रकार भीष्म जीर्ण शरीर का परित्याग कर नये शरीर को धारण करेंगे, इसमें मेरा और भला तुम्हारा क्या दोष हो सकता है?॥ 22॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ 23॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ 24॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ 25॥

मर्मानुवाद— जीवात्मा अस्त्र-शस्त्र से कटता नहीं है, अग्नि से जलता नहीं है, जल से गलता नहीं और न ही वायु इसे सुखा सकती है॥ 23॥

यह जीवात्मा न छेदन होने वाला, न जलने वाला, न गलने वाला और न ही सूखने वाला है। यह तो नित्य, सर्वगत अर्थात् सब योनियों में भ्रमण करने वाला, स्थिर रहने वाला एवं सनातन अर्थात् सदा रहने वाला है, इसे अव्यक्त, अचिन्त्य और विकार रहित कहा गया है। अतिसूक्ष्म होने के कारण इसे 'अव्यक्त' और देह में व्याप्त होने के कारण इसे 'अचिन्त्य' कहा जाता है। जन्मादि छः विकारों से रहित होने के कारण इसे 'अविकारी' कहा जाता है। इस प्रकार जीवात्मा के विषय में जानने के पश्चात् तुम्हारा शोक परित्याग करना ही उचित है अर्थात् तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये॥ 24-25॥

अन्वय— शस्त्राणि (खड्गादि) एनं न छिन्दन्ति (इसे काट नहीं सकते) पावकः (आग्नेयास्त्र) एनं न दहति (इसे जला नहीं सकता है) आपः (पार्जन्य अस्त्र) एनं न क्लेद्यन्ति (इसे गला नहीं सकता है) मारुतः (वायव्य अस्त्र) एनं न शोषयति (इसे सुखा नहीं सकता है) अयं (यह) अच्छेद्य (अकाट्य है) अयम् अदाह्यः अक्लेद्यः अशोष्य एव च (यह न जलने वाला, न गलने

वाला एवं न सूखने वाला है) नित्यः (चिरकाल रहने वाला) सर्वगतः (अपने कर्मों के वशीभूत हुआ देव–मनुष्य–पक्षी–सभी शरीरों में जाने योग्य है) स्थाणुः (स्थिर) अचलः (सदा एकरूप) सनातनः (हमेशा रहने वाला है) ॥23–24॥

अयम् (यह) अव्यक्तः (अति सूक्ष्म होने के कारण इसे आँखों से नहीं देखा जा सकता) अचिन्त्य (अतर्क्य) अविकार्यः (जन्मादि छः प्रकार के विकारों से रहित है।) ॥ 25 ॥

टीका—न च युद्धे त्वया प्रयुक्तेभ्यः शस्त्रास्त्रेभ्यः काप्यात्मनो व्यथा सम्भवेदित्याह—नै
युष्मदादिप्रयुक्तम्, आपः पार्जन्यास्त्रमपि, मारुतो वायव्यमस्त्रम्।। 23।।

तस्मादात्मायमेवमुच्यत इत्याह—अच्छेद्य इति। अत्र प्रकरणे जीवात्मनो नित्यत्वस्य शब्दतोऽर्थतश्च पौ
सन्दिग्धधीषु ज्ञेयम्। यथा कलावस्मिन् धर्मोऽस्ति धर्मोऽस्तीति त्रिचतुर्द्धाप्रयोगात् धर्मोऽस्त्येवेति निःसंशया प्रतीतिः स्यादिति ज्ञेयम्। सर्वगतः स्वकर्मवशात् देवमनुष्यतिर्यगादि–सर्वदेहगतः, स्थाणुरचल इति पौ
अतिसूक्ष्मत्वादव्यक्तस्तदपि देहव्यापिचै
विकारानर्हत्वादविकार्यः।। 24–25।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! तुम्हारे द्वारा चलाये गये अस्त्रों से आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा सम्भव नहीं है, क्योंकि शस्त्र अर्थात् खड्गादि, पावक अर्थात् आग्नेयास्त्र, जल अर्थात् पार्जन्य अस्त्र, और वायु अर्थात् वायव्यास्त्र तेरे द्वारा चलाये जाने पर भी आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा होने वाली नहीं है।। 23।।

यदि किसी को एक बात एक बार समझाने से समझ में न आये तो बार बार समझाने से उसे अवश्य उस बात का अहसास होता है। उदाहरणार्थ धर्म है, धर्म है, धर्म है तीन चार बार यही बात दोहराने से सामने वाले व्यक्ति को अहसास अवश्य हो जायेगा कि धर्म है। उसी प्रकार आत्मा के नित्यत्व के विषय में संशययुक्त व्यक्तियों का संदेह दूर करने के लिए ही जीवात्मा के नित्यत्व को शब्दतः और अर्थतः बार–बार अविनाशी, नित्य और अच्छेद्य कहा गया है, ऐसा जानना चाहिये।

जीवात्मा को सर्वगत कहने का भाव है कि आत्मा अपने कर्मों के

अनुसार देवता, मनुष्य, पशु–पक्षी, आदि सभी योनियों में भ्रमण करने वाला है। स्थाणु एवं अचल शब्दों का बार–बार प्रयोग आत्मा की स्थिरता को निर्धारण करने के लिए किया गया है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आत्मा को अव्यक्त कहा गया है। परमाणु के समान होने पर भी सारे शरीर में व्याप्त होने के कारण अचिन्त्य कहा गया है और जन्मादि छः विकारों से रहित होने के कारण इसे अविकारी कहा गया है॥ 24–25॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ 26॥

मर्मानुवाद— हे महाबाहो! यदि तुम जीव को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी समझो तब भी तो तुम्हारा इस प्रकार शोक करने का कोई कारण नहीं है ॥ 26॥

अन्वय— अथ च (और यदि) एनम् (इसको) नित्यजातम् (देह के जन्म के साथ इस आत्मा का जन्म) वा नित्यं मृतम् (और देह की मृत्यु के साथ ही इसकी मृत्यु) मन्यसे (मानते हो) तथापि हे महाबाहो (तब भी हे पराक्रमवान्) त्वं एनं शोचितुं न अर्हसि (इसके लिए शोक करना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है)॥ 26॥

टीका—तदेवं शास्त्रीय–तत्त्वदृष्ट्या त्वामहं प्रबोधयेयम्, व्यावहारिक–तत्त्वदृष्ट्यापि प्रबोधयाम्यवधेहीत्याह—अथेति। नित्यजातं देहे जाते सत्येव नित्यं नियतं जातं मन्यसे, तथा देह एव मृते मृतं नित्यं नियतं मन्यसे। 'महाबाहो' इति पराक्रमवतः क्षत्रियस्य तव तदपि युद्धमावश्यकं स्वधर्मः, यदुक्तम् (श्रीमद्भा. 10/54/40)—"*क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः। भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरतरस्ततः॥*" इति भावः॥ 26॥

भावानुवाद – परमब्रह्मभगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं– हे अर्जुन ! अभी तक मैंने तुम्हें शास्त्रीय दृष्टिकोण से समझाया परन्तु अब व्यावहारिक दृष्टिकोण से समझाने जा रहा हूँ। ध्यान से सुनो! यदि तुम आत्मा को देह के साथ ही जन्म लेने वाला और शरीर के साथ ही नाश होने वाला समझते हो तब भी हे महाबाहो! उसके लिए शोक करना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है, अपितु पराक्रमी क्षत्रिय होने के कारण तुम्हारे लिए युद्धरूपी स्वधर्म का पालन आवश्यक है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (10/54/40)में कहा गया है कि

ब्रह्माजी ने क्षत्रियों का धर्म ही ऐसा बनाया है कि धर्म की रक्षा के लिए भाई अपने भाई को मार डालता है, इसलिए यह क्षत्रिय धर्म अत्यंत भयावह है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 27॥

मर्मानुवाद— जब जन्म के पश्चात् कर्म क्षय होने पर निश्चय ही मरना होता है और मृत्यु के पश्चात् कर्मों के फल भोगने के लिए फिर निश्चित रूप से जन्म लेना ही पड़ता है, तो इस प्रकार के अटल नियम के प्रति तुम्हारा शोकाकुल होना उचित नहीं है ॥ 27॥

अन्वय— हि (क्योंकि) जातस्य (जन्म लेने वाले की) मृत्युः (वर्तमान शरीरान्तक कर्मों के क्षय होने से मृत्यु) ध्रुवम् (निश्चित है) मृतस्य (मरने वाले का) जन्म (उस शरीर के द्वारा किये गये कर्मों के फल को भोगने लिए जन्म लेना भी) ध्रुवम् (निश्चित ही है) तस्मात् (इसलिए) अपरिहार्येऽर्थे (इस अटल जन्म मृत्यु के लिए) त्वम् (तुम) शोचितुम् (शोक) न अर्हसि (नहीं कर सकते)॥ 27॥

टीका—हि यस्मात्तस्य स्वारम्भककर्मक्षये मृत्युर्ध्रुवो निश्चितः। मृतस्य तद्देहकृतेन कर्मणा जन्मापि ध्रुवमेव? अपरिहार्येऽर्थ इति मृत्युर्जन्म च परिहर्त्तुमशक्यमेवेत्यर्थः है

भावानुवाद– जीवात्मा के प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने पर उस की मृत्यु निश्चित है और मृत्यु से पहले किये गये कर्मों को भोगने हेतु दुबारा जन्म लेना भी निश्चित है। जन्म –मत्यु के इस अटल सत्य को कोई टाल नहीं सकता॥ 27॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 28॥

मर्मानुवाद— हे भारत! जन्म से पहले अव्यक्त ये तमाम प्राणी जन्म लेने पर व्यक्त होते हैं। जन्म और मृत्यु के बीच के समय में व्यक्त रहकर निधन होने के पश्चात् फिर अव्यक्त हो जाते हैं, तब उनके लिए पछतावा क्यों? यद्यपि उपरोक्त मत साधु सम्मत नहीं है, तथापि विचार पूर्वक स्वीकार करने पर क्षत्रिय धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना ही तुम्हारा कर्तव्य है॥ 28॥

अन्वय — भारत (हे अर्जुन) भूतानि (प्राणी) अव्यक्तादीनि (जन्म लेने से पहले अप्रकट) व्यक्तमध्यानि (जन्म के बाद और मृत्यु से पहले के बीच के समय में प्रकट) तथा (एवम्) अव्यक्तनिधनानि एव (निधन होने पर फिर अप्रकट हो जाते हैं) इसलिए तत्र (उस विषय में) परिदेवना का (पछतावा क्या है) ? ॥ 28 ॥

टीका—तदेवं 'जीवपक्षे'—"*न जायते न म्रियते*" इत्यादिना, 'देहपक्षे' च "*जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः*" इत्यनेन शोकविषयं निराकृत्येदानीमुभयपक्षेऽपि निराकरोति—अव्यक्तेति। भूतानि-देव-मनुष्य-तिर्यगादीनि, अव्यक्तानि न व्यक्तिरादौ स्वारम्भकपृथिव्यादिद्रव्यसत्त्वात् कारणात्मना वर्त्तमानोऽस्पष्टमासीदेवेत्यर्थः। व्यक्तं व्यक्तिर्मध्ये येषां तानि, न व्यक्तिर्निधनादनन्तरं येषां तानि। महाप्रलयेऽपि कर्ममात्रादीनां सत्त्वात् सूक्ष्मरूपेण भूतानि सन्त्येव, तस्मात् सर्वभूतान्याद्यन्तयोरव्यक्तानि मध्ये व्यक्तानीत्यर्थः, यदुक्तं श्रुतिभिः (श्रीमद्भा. 10/87/29)—"*स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो*" इति। का परिदेवना—कः शोकनिमित्तो विलापः? तथा चोक्तं नारदेन (श्रीमद्भा. 1/13/44)—"*यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम्। सर्वथा हि न शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात्॥*" इति ॥ 28 ॥

भावानुवाद—'जीव न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है' ऐसा कहकर जीव के लिए शोक न करने को कहा है और शरीर के लिए यह कहकर कि 'जो जन्म लेता है उसका मरना भी निश्चित है', शरीर के लिए भी शोक करने को मना किया है। अब आत्मा और शरीर दोनों के लिए शोक मना करते हुए कह रहे हैं कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, जन्म से पहले व्यक्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि उस समय भी लिंग और स्थूल देह स्वारम्भक पृथ्वी आदि द्रव्यों के कारणात्मक रूप में वर्तमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहते हैं। बीच में प्रकट होते हैं अर्थात् उनके नाम रूपादि प्रत्यक्ष दिखने में आते हैं और मृत्यु के पश्चात् पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। महाप्रलय के समय कर्म और मात्रा आदि के रहने के कारण सूक्ष्म रूप से वर्तमान ही रहते हैं। कहने का भावार्थ है कि तमाम जीव पहले और बाद में अव्यक्त रहते हैं। केवल बीच में व्यक्त होते हैं तो फिर दुबारा उनके अप्रकट होने पर

शोकवश विलाप क्यों? श्रीमद्भागवत (10/87/29) में कहा गया है कि कर्मों के निमित्त ही चराचर जीवों का आविर्भाव होता है, इसलिए शोकवश विलाप क्यों? नारद जी ने भी कहा है कि यदि मनुष्य को जीव रूप में नित्य और शरीर रूप से अनित्य मान कर अथवा अनिर्वचनीयता के कारण नित्य और अनित्य दोनों रूप से भी विचार करें तो भी शोक करना नहीं बनता। केवल मोहजनित स्नेह को छोड़कर शोक का और कोई कारण नहीं है अर्थात् मोहजनित स्नेह ही तुम्हारे शोक का कारण है॥ 28॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ 29॥

मर्मानुवाद— कोई-कोई जीवात्मा को आश्चर्यवत् दर्शन करता है एवं कोई-कोई आश्चर्य की तरह से इसका वर्णन करता है और कोई-कोई आश्चर्यवत् सुनता है, और कोई-कोई सुनकर भी इस जीवात्मा के विषय में नहीं समझ पाता है। जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में इस प्रकार, भ्रम होने से ही 'जड़वाद', 'अनित्य चैतन्यवाद' और 'केवलाद्वैतवाद' रूपी अनर्थ प्रसूत हुए हैं।

अन्वय— कश्चित् (कोई-कोई) एनम् (देह और आत्मा दोनों को) आश्चर्यवत् पश्यति (आश्चर्य की तरह देखता है) तथा एव च (उसी प्रकार ही) अन्यः (अन्य कोई) एनम् (इन दोनों का) आश्चर्यवत् वदति (आश्चर्य की तरह वर्णन करता है) अन्यश्च (और कोई-कोई) एनम् (इन दोनों को) आश्चर्यवत् शृणोति (सुनता है) कश्चित् (कोई-कोई) एनम् (इन दोनों के विषय में) श्रुत्वापि (सुनकर भी) न वेद (समझ नहीं सकता)॥ 29॥

टीका—ननु किमिदं आश्चर्यं ब्रूषे? किञ्चै प्रबोध्यमानस्याप्यविवेको नापयातीति तत्र सत्यमेवमेवेत्याह—आश्चर्यवदिति। एनमात्मानं देहञ्च तदुभयरूपं सर्वलोकम्॥ 29॥

भावानुवाद— हे अर्जुन! यदि तुम कहो कि आप ये क्या आश्चर्यमयी बातें कर रहे हो तो सुनो, ये बातें सचमुच ही आश्चर्यपूर्ण हैं, जो कि बार-बार समझाने पर भी तुम्हारा मोह दूर नहीं हो रहा है। तुम्हारा संशय उचित ही है इसलिए 'आश्चर्यवत्' कहा गया है। केवल तुम ही नहीं आत्मा और शरीर

के विषय में तो सारा जगत् ही आश्चर्यचकित है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 30॥

मर्मानुवाद— वास्तव में देहधारी यह जीवात्मा सदा अवध्य रूप में विराजित रहता है, इसलिए प्राणियों के लिए शोक करना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है॥ 30॥

अन्वय—भारत (हे भारत) अयम् (यह) देही (जीवात्मा) नित्यम् (सदा) सर्वस्य (सबके) देहे (शरीरों में) अवध्यः (अवध्य है) तस्मात् (इसलिए) सर्वाणि भूतानि (भीष्मादि प्राणियों के लिए) त्वम्(तुम) शोचितुम् (शोक) न अर्हसि (नहीं कर सकते)॥ 30॥

टीका—तर्हि निश्चत्य ब्रूहि—किमहं कुर्यां किंवा न कुर्यामिति, तत्र शोकं मा कुरु, युद्धं तु कुर्वित्याह—देहीति द्वाभ्याम्॥ 30॥

भावानुवाद— भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि फिर भी यदि तुम कहते हो कि मैं 'क्या करूँ और क्या न करूँ' आप ही निश्चय करके कहें, तो मेरा कहना है कि तुम शोक का परित्याग करके युद्ध करो॥ 30॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ 31॥

मर्मानुवाद— स्वधर्म की ओर ध्यान देने से तुम फिर इस प्रकार से भयभीत नहीं हो सकते, क्योंकि धर्मयुद्ध को छोड़कर और कोई मंगलकारी कर्म क्षत्रिय के लिए नहीं है, 'मुक्त और बद्ध' दो अवस्थाओं के भेद से जीवात्मा का स्वधर्म भी दो प्रकार का है; मुक्त अवस्था में जीव का स्वधर्म उपाधिरहित होता है, जबकि मायाबद्ध अवस्था में वही स्वधर्म कुछ हद तक उपाधियुक्त हो जाता है। बद्ध अवस्था में जीव की नाना प्रकार की अवाञ्छित अवस्थायें हैं, उन अवाञ्छित अवस्थाओं में स्वधर्म का भी आकार-भेद अपरित्याज्य है। जीव जिस अवस्था में मानव शरीर में अवस्थित है, उस अवस्था में उसका स्वधर्म वर्णाश्रम-धर्म के अनुरूप होने पर ही अति सुन्दर है। वर्णाश्रम धर्म का ही दूसरा नाम - स्वधर्म है, इसलिए क्षत्रिय-स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए युद्ध के अतिरिक्त कल्याणकारी और क्या हो सकता है?॥ 31॥

अन्वय— अपि च (और) स्वधर्मम् अपि च (स्वधर्म के विषय में) अवेक्ष्य (विचार करने पर) विकम्पितुम् (भय करने के) न अर्हसि (योग्य नहीं हो) हि (क्योंकि) क्षत्रियस्य (क्षत्रिय के लिए) धर्मात् युद्धात् (धर्मयुद्ध से) अन्यत् (कोई दूसरा) श्रेयः (श्रेयस्कर कर्म) न विद्यते (नहीं है) ॥ 31 ॥

टीका—आत्मनो नाशाभावादेव वधाद्विकम्पितुं भवितुं नार्हसि, स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसीति सम्बन्धः।। 31।।

भावानुवाद— आत्मा का नाश नहीं है, इसलिए उसके वध की आशंका से तुम्हारा विचलित होना उचित नहीं है और यदि अपने क्षत्रिय-धर्म का विचार करो तब भी तुम्हारा विचलित होना उचित नहीं है ॥ 31 ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ 32॥

मर्मानुवाद— हे पार्थ! अनायास ही प्राप्त, खुले हुए स्वर्ग के द्वाररूपी इस प्रकार के युद्ध का अवसर जिन सब क्षत्रियों को मिला है, वे ही सुखी हैं ॥ 32 ॥

अन्वय— हे पार्थ! सुखिनः क्षत्रियाः च (सुखी क्षत्रिय) यदृच्छया उपपन्नम् (स्वतः प्राप्त) अपावृतम् (खुले हुए) स्वर्गद्वारम् (स्वर्गद्वाररूपी) ईदृशम् (इस प्रकार के) युद्धं लभन्ते (युद्ध प्राप्त करते हैं) ॥ 32 ॥

टीका—किञ्च, जेतृभ्यः सकाशादपि न्याययुद्धे मृतानामधिकं सुखमतो भीष्मादीन् हत्वा तान् प्रत्युत स्वतोऽप्यधिकसुखिनः कुर्वित्याह—यदृच्छयेति। स्वर्गसाधनं कर्मयोगमकृत्वापीत्यर्थः। अपावृतमपगतावरणम्॥ 32 ॥

भावानुवाद— अर्जुन यह जान लो कि न्याययुद्ध में विजेता के हाथ से मरने वाला स्वर्ग में जाकर मारने वाले से अधिक सुख प्राप्त करता है, इसलिए भीष्मादि को अपने से अधिक सुख देने के लिए उनका वध करो। कर्म-योग के बिना स्वर्ग का साधन अनायास प्राप्त हुआ है। 'अपावृतम्' का अर्थ है खुले हुए अर्थात् यह युद्ध स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है ॥ 32 ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ 33॥

मर्मानुवाद — और यदि तुम इस युद्ध को नहीं करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति से भ्रष्ट होकर पाप के भागी बनोगे ॥ 33 ॥

अन्वय— अथ चेत् (यदि) त्वम् (तुम) इमं धर्म्यं (इस धर्म युक्त) संग्रामम् (युद्ध को) न करिष्यसि (नहीं करोगे) ततः (तो) स्वधर्मं कीर्तिञ्च (अपने धर्म और कीर्ति को) हित्वा (नाश कर) पापं अवाप्स्यसि (पाप के भागी होगे)

टीका—विपक्षे दोषानाह—अथेति चतुर्भिः॥ 33॥

भावानुवाद—अब भगवान् चार श्लोको में युद्ध न करने के दोषों का वर्णन कर रहे हैं॥ 33॥

अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ 34॥

मर्मानुवाद—तब लोग चिरकाल तक तुम्हारे अपयश का वर्णन करेंगे। अतिप्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए अपयश मृत्यु से भी अधिक क्लेश देने वाला होता है।

अन्वय— भूतानि (प्राणी) ते (तुम्हारे) अव्ययम् अकीर्तिं च कथयिष्यन्ति (हमेशा अपयश का वर्णन करेंगे) सम्भावितस्य च (अतिप्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए) अकीर्तिः (अपयश) मरणादतिरिच्यते (मृत्यु से भी अधिकतर असहनीय है)॥ 34॥

टीका—अव्ययामनश्वराम्। सम्भावितस्यातिप्रतिष्ठितस्य॥ 34॥

भावानुवाद—यहां 'अव्ययाम्' का अर्थ है अनश्वर, 'सम्भावितस्य' का अर्थ है अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति का॥ 34॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ 35॥

मर्मानुवाद— जिन महारथियों की धारणा में तुम बहुत महान् हो चुके हो, वे महारथी ही तुम्हें तुच्छ समझेंगे। वे समझेंगे कि, तुम भय के कारण ही युद्ध से विमुख हुए हो॥ 35॥

अन्वय— येषां त्वं बहुमतः (जिनके समक्ष तुम "हमारा शत्रु अर्जुन महा वीर है" इस प्रकार अत्यन्त सम्मान के पात्र) भूत्वा (होकर, अब युद्ध न करने से) ते महारथाः (वही महारथी) त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते (तुम्हें डर से युद्ध से विमुख हुआ समझेंगे) अतः लाघवं यास्यसि (इसलिए तुम उनके

लिए तुच्छ हो जाओगे) ॥ 35 ॥

टीका—येषां त्वं बहुमतोऽस्मच्छत्रुरर्जुनस्तु महाशूर इति बहुसम्मान विषयो भूत्वा सम्प्रति युद्धादुपरमे सति लाघवं यास्यसि, ते दुर्योधनादयो महारथास्त्वां भयादेव रणादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः। क्षत्रियाणां हि भयं विना युद्धोपरतिहेतुर्बन्धुस्नेहादिको नोपपद्यत इति मत्वेति भावः॥ 35 ॥

भावानुवाद— भगवान् ने कहा अर्जुन! अभी तक महान् महारथी के रूप में तुम्हारा सम्मान है। वे ऐसा समझते हैं कि हमारा शत्रु अर्जुन महापराक्रमी है, किन्तु यदि तुम युद्ध से पीछे हटोगे तो वह सम्मान नहीं रहेगा। दुर्योधन आदि महारथी यह नहीं समझेंगे कि गुरुजनों एवं बान्धवों के स्नेहवशीभूत होकर तुम युद्ध नहीं करना चाहते। वे तो तुम्हें युद्ध से भागा हुआ ही मानेंगे, वे ऐसा ही मानेंगे कि क्षत्रियों का युद्ध से भागना स्नेह के कारण नहीं, अपितु भयवश होता है, यही भाव है॥ 35 ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ 36 ॥

मर्मानुवाद— तुम्हारे शत्रु तुम्हें न कहने योग्य अनेक प्रकार के कटुवचन कहेंगे। तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे, तुम्हारे लिए इससे अधिक दुःख का विषय और क्या हो सकता है?॥ 36 ॥

अन्वय— तव अहिताः (तुम्हारे शत्रु) तव सामर्थ्यं निन्दन्तः (तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए) बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति च (बहुत से न कहने योग्य-भीरु इत्यादि कटु वचन कहेंगे) ततो दुःखतरं नु किम् (इससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा)॥ 36 ॥

टीका—अवाच्यवादान्, क्लीब इत्यादि-कटूक्तिः॥ 36 ॥

भावानुवाद— 'अवाच्यवादान्' अर्थात् बहुत से न बोलने योग्य 'नपुसंक' इत्यादि कटुवचन॥ 36 ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ 37 ॥

मर्मानुवाद — हे कुन्तीनन्दन! युद्ध में मारे जाने पर तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी और विजयी होने से पृथ्वी का राज्य भोगोगे, इसलिए दृढ़निश्चय करके

युद्ध के लिए खड़े हो जाओ॥ 37॥

अन्वय— त्वं हत:वा स्वर्गं प्राप्स्यसि (मारे जाने पर तुम्हें स्वर्ग मिलेगा) जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् (विजयी होने पर पृथ्वी का राज्य भोग करोगे), तस्मात् (इसलिए) हे कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चय: सन् उत्तिष्ठ (दृढ निश्चय करके युद्ध के लिए खड़े हो जाओ)॥ 37॥

टीका—ननु युद्धे मम जय एव भावीत्यपि नास्ति निश्चय:, ततश्च कथं युद्धे प्रवर्त्तितव्यमित्यत आह—हत इति॥ 37॥

भावानुवाद— यदि अर्जुन के मन में यह भावना हो कि यह भी निश्चित नहीं है कि जीत हमारी ही होगी या उनकी तो क्या सोचकर युद्ध करूँ? इसके उत्तर में भगवान् ने यह 'हतो वा' श्लोक कहा है॥ 37॥

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 38॥

मर्मानुवाद— सुख-दु:ख, लाभ-हानि, और जय-पराजय को समान समझ कर युद्ध करो। इस से तुम पाप के भागी नहीं होओगे॥ 38॥

अन्वय:—सुखदु:खे समे कृत्वा (सुख दु:ख को समान समझ कर) लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा (राज्य की प्राप्ति और अप्राप्ति अर्थात् जय और पराजय को विवेक द्वारा समान जान कर) तत: युद्धाय युज्यस्व (फिर युद्ध करो) एवं पापं न अवाप्स्यसि (इस प्रकार करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा) ॥38॥

टीका—तस्मात्तव सर्वथा युद्धमेव धर्मस्तदपि यदीमं पापकारणमाशङ्कसे, तर्हि मत्त: पापानुत्पत्तिप्रकारं शिक्षित्वा युद्धस्वेत्याह—सुखदु:खे समे कृत्वा तद्धेतू लाभालाभौ
विवेकेन तुल्यौ
भवेत्; यद्वक्ष्यते—"*लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा*" इति।।38।।

भावानुवाद— भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा हे अर्जुन! हर प्रकार से युद्ध करना ही तुम्हारा धर्म है। हाँ, यदि तुम्हें इससे पाप होने का डर है तो मुझसे पाप से छुटकारा पाने का उपाय सीख कर युद्ध करो, जिससे तुम्हें युद्ध करने का पाप न लगे। जय होने पर राज्यकी प्राप्ति से होने वाले सुख और पराजय

से राज्य की अप्राप्ति से होने वाले दु:ख दोनों को विवेक द्वारा समान जानकर स्वधर्म पालन करने के लिए युद्ध करोगे तो जिस प्रकार कमल जल में रहने पर भी जल में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार तुम्हें भी पाप स्पर्श नहीं कर पायेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ 39॥

मर्मानुवाद — इससे पहले साँख्य अर्थात् ज्ञान-सम्बन्धिनी बुद्धि की बात कही गयी है। अब तुम भक्तियोग सम्बन्धिनी बुद्धि के बारे में श्रवण करो। हे पार्थ! भक्तिविषयिणीबुद्धि वाले हो जाने पर तुम संसार से उद्धार प्राप्त करने में समर्थ हो जाओगे। बाद में बताया जायेगा कि बुद्धियोग मात्र एक ही है, किन्तु जब वह बुद्धियोग कर्म की सीमा के दायरे में रहता है तब उसे कर्मयोग कहते हैं, यह बुद्धियोग जब कर्म सीमा को लाँघ कर ज्ञान सीमा के दायरे में आता है तब उसे ज्ञानयोग या साँख्ययोग कहते हैं, और जब दोनों की सीमाओं को लाँघ कर भक्ति को स्पर्श करता है तब उसे 'भक्ति योग' या 'विशुद्ध और सम्पूर्ण बुद्धियोग' कहते हैं॥ 39॥

अन्वय— साँख्ये (सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनेन अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुतत्त्व सम्यक् रूप से प्रकाशित होता है) एषा बुद्धिः ते अभिहिता (इस प्रकार कर्तव्य बुद्धि का तुम्हारे समक्ष वर्णन किया गया है) अधुना योगे इमां बुद्धिं शृणु (अब भक्ति-योग विषयिणी बुद्धि के विषय में श्रवण करो) यया बुद्ध्या युक्तः (जिस भक्ति योग विषयिणी बुद्धि वाला होने पर) कर्मबन्धं प्रहास्यसि (तुम कर्मबन्धन रूप संसार का त्याग कर पाओगे)॥ 39॥

टीका—उपदिष्टं ज्ञानयोगमुपसंहरति—एषेति। सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनेनेति सांख्यं सम्यक् ज्ञानम्; तस्मिन् करणीया बुद्धिरेषा कथिता। अधुना योगे भक्तियोगे इमां वक्ष्यमाणां बुद्धिं करणीयां शृणुः, यया भक्तिविषयिण्या बुद्ध्या युक्तः सहितः कर्मबन्धं संसारम्॥ 39॥

भावानुभाव— परमब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानयोग का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं, कि जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु के तत्त्व का परिपूर्ण ज्ञान हो, उसे ही साँख्य ज्ञान या सम्यक् ज्ञान कहते हैं, इसके द्वारा करणीय बुद्धि की बात

कही गयी है। अब यहाँ भक्तियोग में जिस करणीय बुद्धि की बात कहने जा रहा हूँ, उसे श्रवण करो। उस भक्ति विषयणी बुद्धि वाले होकर तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे॥ 39॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ 40॥

मर्मानुवाद— भक्तियोग में किये गये प्रयत्न का नाश नहीं होता और इसमें उल्टा फल भी नहीं होता। इस योग का थोड़ा सा किया गया अनुष्ठान भी संसाररूपी महान् भय से परित्राण कर देता है॥ 40॥

अन्वय — इह (इस भक्ति योग में) अभिक्रमनाशः (आरम्भ का नाश) न अस्ति (नहीं है) प्रत्यवायः च न विद्यते (और इसमें उल्टा फल भी नहीं है) कर्मयोग के आरम्भ से सम्पूर्ण न होने तक उसमें कर्मनाश और उल्टा फल होता रहता है। तब तो भक्ति योग का अनुष्ठान सम्पूर्ण न होने तक उसका भी समुचित फल नहीं मिलेगा - इसी शंका का निवारण करते हुए कह रहे हैं कि अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि (इस भक्तियोग का किञ्चित् मात्र पालन करने से भी यह योग) महतो भयात् (महानभयरूपी संसार से) त्रायते (त्राण कर देता है) (अजामिल इसका ज्वलन्त दृष्टान्त हैं)॥ 40॥

टीका—अत्र योगो द्विविधः—श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिरूपः, श्रीभगवदर्पित-निष्कामकर्मरूपश्च। तत्र *'कर्मण्येवाधिकारः'* इत्यतः प्राग्भक्तियोग एव निरूप्यते; *''निस्त्रै* इत्युक्तेर्भक्तेरेव त्रिगुणातीतत्वात् तयै निस्त्रैगुण्या भवतीत्येकादशस्कन्धे प्रसिद्धेः; ज्ञानकर्मणोस्तु सात्त्विकत्व-राजसत्वाभ्यां निस्त्रै
कर्मणो वै
ान्याभावादेव। यदि च भगवदर्पितं कर्मापि भक्तिरेवेति मतं तदा कर्म किं स्यात्? यद्भगवदनर्पितं कर्म, तदेव कर्मेति चेन्न, "नै
शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥'' इति नारदोक्त्या तस्य वै
भगवच्चरणमाधुर्यप्राप्तिसाधनीभूता केवलश्रवणकीर्त्तनादिलक्षणै
यथा निष्कामकर्मयोगोऽपि निरूपयितव्यः। उभावप्येतौ

ज्ञेयौ *ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"* इति, "*दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय*" इति चोक्तेः। अथ निर्गुणश्रवणकीर्त्तनादि–भक्तियोगस्य माहात्म्यमाह—नेहेति। इह भक्तियोगेऽभिक्रमे आरम्भमात्रे कृतेऽप्यस्य भक्तियोगस्य नाशो नास्ति, ततः प्रत्यवायश्च न स्यात्। यथा कर्मयोगे आरम्भं कृत्वा कर्माननुष्ठितवतः कर्मनाशप्रत्यवायौ
भक्त्यनुष्ठातुः कामस्य समुचितभक्त्यकरणात् भक्तिफलं तु नै
तत्राह—स्वल्पमिति। अस्य धर्मस्य स्वल्पमप्यारम्भसमये या किञ्चन्मात्री भक्तिरभूत् सापीत्यर्थः, महतो भयात् संसारात् त्रायत एव। "*यन्नामसकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्*" इत्यादि श्रवणात्, अजामिलादौ
"*न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि। मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥*" इति भगवतो वाक्येन सह अस्य वाक्यस्यै
दृश्यते। किन्तु तत्र निर्गुणत्वान्न हि गुणातीतं वस्तु कदाचित् ध्वस्तं भवतीति हेतुरुपन्यस्तः, स चेहापि द्रष्टव्यः। न च निष्कामकर्मणोऽपि भगवदर्पणमहिम्ना निर्गुणत्वमेवेति वाच्यम्, "*मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्*" इति। वाक्येन तस्य सात्त्विकत्वोक्तेः॥ 40॥

भावानुवाद– यहां भक्तियोग दो प्रकार का है– (1) श्रवण–कीर्तनादि भक्तिरूपी योग। (2) भगवान् को अर्पित निष्काम कर्मयोग। भगवान् ने (गीता 2/47) कहा हे अर्जुन! कर्म में ही तेरा अधिकार है, जबकि इससे पहले (गीता 2/45) श्लोक में भक्ति का ही निरूपण करते हुए कहा कि अर्जुन! 'तुम त्रिगुण से ऊपर उठ जाओ' इस वाक्य में भक्ति को ही तीनों गुणों से ऊपर कहा गया है, इसलिए भक्ति से ही तीनों गुणों से पार पाया जा सकता है । जैसा कि श्रीमद्भागवत (11/25/24) में कहा गया है कि ज्ञान सात्त्विक है और कर्म राजसिक है, इसलिए सिद्ध होता है कि ये ज्ञान–कर्म त्रिगुण से ऊपर नहीं हैं। इसलिए इनका निर्गुणत्व सिद्ध नहीं होता। भगवद्–अर्पित लक्षणवाली भक्ति केवल कर्म की विफलता के अभावमात्र का प्रतिपादन करती है, किन्तु अपनी प्रधानता न होने के कारण भगवद् अर्पित भक्ति अपना प्रतिपादन नहीं करती।

यदि भगवान् में अर्पित कर्मों को ही भक्ति मान लिया जाय तो फिर कर्म किसे कहेंगे? क्या भगवान् को अर्पित न की गयी क्रिया ही कर्म है?

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भागवत (1/5/12) में कहते हैं कि जब भगवान् की भक्ति से रहित निष्काम निरंजन ब्रह्मज्ञान भी शोभा नहीं पाता तब आरम्भ से अन्त तक दुःख देने वाले कर्म यदि भगवान् के अर्पित न हों, चाहे वे निष्काम कर्म ही क्यों न हों, कैसे शोभा पा सकते हैं? नारद मुनि जी के इस कथन के अनुसार भगवान् को समर्पित न किए गए सभी कर्म व्यर्थ हैं, इसलिए यहां भगवान् के चरणों के माधुर्य को प्राप्त करवाने वाले साधन के रूप में केवल श्रवण कीर्तनादि लक्षणों वाली भक्ति का ही निरूपण है अर्थात् भक्तियोग का ही वर्णन है। वैसे भगवान् के अर्पित निष्काम कर्मयोग भी विचारणीय है।

भक्तियोग और निष्काम कर्मयोग दोनों प्रकार के योगों को बुद्धियोग के नाम से समझना चाहिये । आगे (गीता 10/10) भगवान् ने कहा भी है कि मैं वही बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा जीव मुझे प्राप्त करते हैं। एवं हे धनञ्जय! सकाम कर्म बुद्धियोग की अपेक्षा अति तुच्छ है ।

अब इस श्लोक में भगवान् श्रवण कीर्तन रूपी निर्गुण भक्ति की महिमा बताते हुए कहते हैं कि- ''भक्ति की मात्र शुरुआत भी की जाय तो उसका भी नाश नहीं होता। 'प्रत्यवाय' अर्थात् उलटा फल भी नहीं होता। कर्मयोग के अन्तर्गत कोई अनुष्ठान आरम्भ किया जाय, वह यदि पूरा न हो तो उसके फल की प्राप्ति तो होती ही नहीं अपितु दोष लगता है'' यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि भक्ति करने की इच्छा होने पर कोई व्यक्ति भक्ति करना आरम्भ करे, किन्तु पूरी तरह न कर पाये तो क्या उस थोड़ी सी की गयी भक्ति का फल मिलेगा कि नहीं या दोष लगेगा? तो उसके उत्तर में कह रहे हैं- 'स्वल्पम्' अर्थात् निर्गुण भक्तियोग के अन्तर्गत की गई थोड़ी सी भक्ति भी नष्ट नहीं होती, अपितु जन्म-मृत्यु चक्र रूपी महान् भय से छुटकारा दिला देती है। अजामिलादि इसके प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत (6/16/44) में कहा गया है कि मात्र एक बार भगवान् का नाम लेने से चाण्डाल भी संसार चक्र से छूट जाता है और (भा0 11/29/20) भी कहा गया है- 'हे उद्धव! मेरे भागवतधर्म को आरम्भ कर देने के पश्चात् फिर किसी प्रकार की विघ्न-बाधा से इसके अंशमात्र के भी नष्ट होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही निर्गुण होने के कारण इसे

सर्वोत्तम निश्चित किया है।

भागवत के इन वाक्यों का एवं गीता दोनों का एक ही तात्पर्य प्रतीत होता है, किन्तु भागवत में यह बताया गया है कि निर्गुण होने के कारण गुणातीत वस्तु का कभी नाश नहीं होता, यहाँ यही विचारणीय है। यदि कोई सोचे कि भगवान् को अर्पण करने से निष्काम कर्म निर्गुण हो जाते हैं तो कहते हैं निष्काम कर्म भगवान् को अर्पण करने के पश्चात् भी निर्गुण नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवत में इसका प्रमाण है। जैसे भगवान् ने कहा 'मुझे अर्पित नित्यनैमित्तक कर्तव्यरूपी निष्काम कर्म सात्त्विक होते हैं निर्गुण नहीं'।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥41॥

मर्मानुवाद— भक्ति योग दो प्रकार का है— (1) श्रवणकीर्तन आदि मुख्य भक्ति योग एवं (2) श्रीकृष्ण में अर्पित निष्काम कर्मरूप गौण भक्तियोग। मुख्य भक्तियोग का लक्ष्य एकमात्र मैं ही हूँ, इसलिए तत्सम्बन्धिनी बुद्धि ही व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि है। मुझ में अनन्य निष्ठारहित अव्यवसायी लोगों की ही कर्मयोग सम्बन्धिनी बुद्धि होती है। अनेक विषयों में निष्ठा होने के कारण वह बहुशाखामयी और अनन्त कामनाओं वाली होती है। उसमें कर्मनाश और विपरीत फल होने की आशंका भी रहती है।

अन्वय— हे कुरुनन्दन! इह (इस योग के विषय में) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः एका एव (बुद्धि मात्र एक ही है) अव्यवसायिनाम् (कामी व्यक्तियों की) बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताः च (कर्मयोग में असंख्य कामनाएँ होने के कारण उनकी अनन्त शाखायें हैं इसलिए उनकी पूर्ति के लिए कर्म भी अनन्त हैं)॥ 41॥

टीका—किञ्च, सर्वाभ्योऽपि बुद्धिभ्यो भक्तियोगविषयिण्येव बुद्धिरुत्कृष्टेत्याह—व्यवसायेति। इह भक्तियोगे व्यवसायात्मिका बुद्धरेकै मम श्रीमद्गुरूपदिष्टं भगवत्कीर्त्तनस्मरणचरणपरिचरणादिकमेतदेव मम साधनमेतदेव ममसाध्यमेतदेव मम जीवातुः साधन-साध्यदशयोस्त्यक्त-मशक्यमेतदेव मे काम्यमेतदेव मे कार्यमेतदन्यत् न मे कार्यं नाप्यभिलषणीयं स्वप्नेऽपीत्यत्रसुखमस्तु दुःखं वास्तु, संसारो नश्यतु, वा न नश्यतु, तत्र मम कापि न क्षतिरित्येवं निश्चयात्मिका बुद्धिरकै

यदुक्तम्—"*ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः*" इति। ततोऽन्यत्र नै बुद्धिरेकेत्याह—बह्विति बहव्यः शाखा यासां ताः। तथा हि कर्मयोगे कामानामानन्त्याद् बुद्धयोऽनन्ताः, तत्साधनानां कर्मणामानन्त्यात् तच्छाखा अप्यनन्ताः। तथै
बुद्धिस्ततस्तस्मिन् शुद्धे सति कर्मसंन्यासे बुद्धिः, तदा ज्ञाने बुद्धिः, ज्ञानवै *ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्*' इति भगवदुक्ते-र्ज्ञानसंन्यासे च बुद्धिरिति बुद्धयोऽनन्ताः। कर्मज्ञानभक्तीनामवश्या-नुष्ठेयत्वात् तत्तच्छाखा अप्यनन्ताः ।। 41।।

भावानुवाद— तमाम बुद्धियों की अपेक्षा भक्तिविषयिणी बुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ है, इस भक्तियोग में व्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। ऐसी बुद्धि वाले की ऐसी भावना होती है कि मेरे गुरु के द्वारा श्रवण कीर्तन, स्मरण और चरणवन्दन और परिचर्या आदि का जो मुझे उपदेश दिया गया है वही मेरा साधन है, वही साध्य एवं मेरा जीवनस्वरूप है। साधक और सिद्ध दोनों अवस्थाओं में मैं इसका त्याग नहीं कर सकता, यही मेरी कामना है और कार्य भी यही है। इसके बिना मुझे स्वप्न में भी किसी दूसरी वस्तु की अभिलाषा या कार्य नहीं है। फलस्वरूप चाहे दुःख हो या सुख, संसार से उद्धार हो या न हो, उसकी कोई चिन्ता नहीं है ।

ऐसी कपटरहित निश्चयात्मिका बुद्धि भक्ति में ही संभव है। श्रीमद् भागवत (11/20/28)में कहा गया है – 'श्रद्धालु व्यक्ति दृढ निश्चय के साथ भक्तिपूर्वक मेरा भजन करें'।

भक्ति के अतिरिक्त और किसी मार्ग में बुद्धि अनन्य नहीं रह पाती। कारण, कर्मयोग में कामनायें अनन्त होनें के कारण बुद्धियां भी अनन्त प्रकार की होती हैं एवं उनके साधन एवं कर्म अनन्त होने के कारण उनकी शाखायें भी अनन्त होती हैं । ज्ञानयोग में अन्तःकरण शुद्धि के लिए सर्वप्रथम बुद्धि निष्काम कर्म में रहती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने के पश्चात् कर्म संन्यास में और अन्त में बुद्धि ज्ञान में लग जाती है। ज्ञान के विफल होने की आशंका से बुद्धि भक्ति में रहती है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है– 'ज्ञान को भी मुझे ही अर्पित करो'। भगवान् के इस वचन के अनुसार ज्ञानसंन्यास में भी बुद्धि होती है, इस तरह बुद्धि अनेक प्रकार की होती है। कर्म, ज्ञान-

भक्ति अवश्य अनुष्ठेय होने के कारण इनकी शाखायें भी अनन्त हैं। किन्तु सगुणा भक्ति तामसादि भेद से बहुत प्रकार की होती है और उसकी शाखायें भी अनन्त होती हैं। निर्गुण भक्ति एक ही होती है, इसलिए सर्वश्रेष्ठ है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ 42॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ 43॥

मर्मानुवाद— वे अव्यवसायी लोग अनभिज्ञ हैं। वेदों के वास्तविक तात्पर्य को न जान केवल अर्थवाद में लगे रहते हैं। वे सामान्य कर्म के फल की इच्छा रखने वाले, स्वर्गप्रार्थी होते हैं। वे जन्म तथा कर्मफल प्रदान करने वाली बहुत सी क्रियाओं द्वारा भोग और ऐश्वर्य सुख की प्राप्ति के साधन स्वरूप, वर्तमान में ही मनोहर (किन्तु परिणाम में विषमय) प्रलोभनीय मधुर वाक्यों में ही आसक्त रहते हैं॥ 42-43॥

अन्वय— अव्यवसायी सकाम कर्मी की निन्दा करते हुए कह रहे हैं— अविपश्चितः (सभी मूर्ख) वेदवादरताः (वेदों के अर्थवाद अर्थात् 'चातुर्मास्य' व्रत का पालन करने वाले को अक्षय फल की प्राप्ति होगी एवं सोमपान करने से तुम मृत्यु-धर्म को लांघकर अमर हो जाओगे इत्यादि वाक्यों में मोहित हुए व्यक्ति) अन्यत् (पशु, अन्न, पुत्र एवं स्वर्गादि के अतिरिक्त दूसरा ईश्वर तत्त्व) न अस्ति (नहीं है) इति वादिनः (इस प्रकार कहने वाले) यां इमां पुष्पितां वाचम् (विष की लता की तरह तात्कालिक मनोहर लगने वाले प्रलोभनीय वेदवाक्य) प्रवदन्ति (ऐसे वेदवाक्य ही सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं— ऐसा कहते हैं) कामात्मानः स्वर्गपराः (वे सकामी स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले) जन्मकर्मफलप्रदां भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाम् (जन्म तथा कर्मफल प्रदायिनी भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करवाने वाली नानाविध क्रिया-विशेष का विस्तार करने वाले वचन कहते हैं)॥ 42-43॥

टीका—तस्मादव्यवसायिनः सकामकर्मिणस्त्वतिमन्दा इत्याह— यामिमामिति। पुष्पितां वाचं पुष्पितां विषलतामिवापाततो रमणीयाम्, प्रवदन्ति प्रकर्षेण सर्वतः प्रकृष्टा इयमेव वेदवागिति ये वदन्ति, तेषां तया वाचा अपहृतचेतसाञ्च व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते इति तृतीयेनान्वयः। तेषु

तस्या असम्भवात् सा तेषु नोपदिश्यत इत्यर्थः। किमिति ते तथा वदन्ति, यतोऽविपश्चितो मूर्खाः। तत्र हेतुः—वेदेषु येऽर्थवादाः—"*अक्षयं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति*", "*अपाम सोमममृता अभूम*" इत्याद्याः। अन्यदीश्वरतत्त्वं नास्तीति प्रजल्पिनः॥ 42॥

ते कीदृशीं वाचं प्रवदन्ति? जन्मकर्मफलप्रदायिनीं भोगै
क्रियाविशेषास्तान् बहु यथा स्यात्, तथा लाति ददाति प्रतिपादयतीति ताम्।।

भावानुवाद – अव्यवसायी सकामकर्मी लोग अति तुच्छ हैं। 'पुष्पितां वाचम्' का अर्थ है कुसुमित विषलता के समान वर्त्तमान में रमणीय या प्रलोभनीय अर्थात् जो पहले तो अमृत के समान किन्तु अन्त में विष के समान प्रतीत होते हैं। 'प्रवदन्ति' का अर्थ है– जो ऐसे वाक्यों को ही सर्वश्रेष्ठ कहते हुए इन्हें ही वेदवाणी बतलाते हैं। ऐसे प्रलोभनीय वाक्यों ने जिनका चित्त हरण कर लिया है उनकी बुद्धि कभी भी व्यवसायात्मिका अर्थात् अनन्य नहीं हो सकती इसलिए उनके लिए यह उपदेश नहीं दिया जा रहा है। वेदों के कर्मकाण्ड के अर्थवाद में फंसे ऐसे व्यक्ति मूर्ख हैं।

वेदों के कर्मकांड में अनेक अर्थवाद हैं, जैसे कि 'चातुर्मास्य व्रत करने से अक्षय पुण्य होता है'। 'सोमपान करने से मनुष्य अमर हो जाते है'। इस प्रकार देखने सुनने में अतिलुभाने वाले वेद वचनों में वे उलझे रहते हैं और कभी-कभी तो यहाँ तक भी प्रजल्प कर बैठते हैं कि 'ईश्वर नाम की कोई वस्तु ही नहीं है'।।42।।

ऐसे लोग क्या बोलते हैं इसके उत्तर में कहते हैं कि वे जन्म तथा कर्मफल प्रदायनी भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति के उद्देश्य से की जाने वाली विशेष क्रियाओं को बढावा देते हैं और उनका ही प्रतिपादन करते रहते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ 44॥

मर्मानुवाद— जो लोग भोग और ऐश्वर्य-सुख में पूरी तरह आसक्त हैं। उन अविवेकी मूर्ख व्यक्तियों की बुद्धि समाधि अर्थात् भगवान् में एकनिष्ठता प्राप्त नहीं करती॥ 44॥

अन्वय— भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् (जो भोगों और ऐश्वर्य में आसक्त हैं) तथा अपहृतचेतसाम् (प्रलोभनीय वाक्यों द्वारा अपहृत चित्त वाले व्यक्तियों की)

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते (निश्चयात्मिका बुद्धि परमेश्वर में एकाग्र नहीं होती है) ॥ 44 ॥

टीका—ततश्च भोगै
चेतो येषां ते, तथा तेषां समाधिश्चित्तै
निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते—"कर्मकर्त्तरि प्रयोगो नोपपद्यते" इति स्वामिचरणाः ॥ 44 ॥

भावानुवाद— इस प्रकार प्रलोभनीय वाक्यों द्वारा हरे हुए मन वाले व्यक्ति भोग और ऐश्वर्यों में आसक्त हो जाते हैं, इसलिए ऐसे व्यक्तियों की परमेश्वर-उन्मुखी बुद्धि अनन्य या निश्चयात्मिका नहीं होती ॥ 44 ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ 45 ॥

मर्मानुवाद — शास्त्रों में दो प्रकार के विषय हैं — 'उद्दिष्ट' विषय और 'निर्दिष्ट' विषय। जो विषय— जिस शास्त्र का चरम उद्देश्य है, वही विषय उस शास्त्र का उद्दिष्ट विषय होता है। जिस विषय को निर्देश कर उद्दिष्ट विषय को लक्ष्य किया जाये उसी विषय को निर्दिष्ट विषय कहा जाता है।

निर्गुण-तत्त्व ही वेदों का उद्दिष्ट विषय है, किन्तु निर्गुण-तत्त्व सहसा लक्षित नहीं होता इसलिए आरम्भ में किसी सगुण तत्त्व का निर्देश करते हैं। इसलिए पहले-पहले ऐसा लगता है कि सत्त्व, रजस और तमो रूपा त्रिगुणमयी माया ही वेदों का विषय है। हे अर्जुन! तुम उसी निर्दिष्ट विषय में ही फँसे न रह कर निर्गुण तत्त्व रूपी उद्दिष्ट तत्त्व को प्राप्त करते हुए निर्गुणता को स्वीकार करो। वेदशास्त्रों में कहीं-कहीं रजस्तमोगुणात्मक कर्म, किसी स्थान पर सत्त्वगुणात्मक ज्ञान एवं विशेष-विशेष स्थानों पर भक्ति का उपदेश दिया गया है। तुम त्रिगुणमय मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से रहित होकर नित्य सत्त्व अर्थात् मेरे भक्तों का संग करो और योगक्षेम की चिन्ता से रहित होकर भक्तियोग द्वारा तीनों से ऊपर उठ जाओ अर्थात् निर्गुण हो जाओ ॥ 45 ॥

अन्वय—वेदाः त्रैगुण्यविषयाः (कर्म ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वेद त्रिगुणात्मक हैं) अर्जुनः (हे अर्जुन) त्वं निस्त्रैगुण्यः भव (तुम कर्म और ज्ञान से विरत होकर वेदों में कही गई भक्तिविधि का पालन करो) उसका उपाय

बताते हुए कह रहे हैं निर्द्वन्द्वः (गुणमय मान अपमान से रहित हो जाओ) नित्यसत्वस्थः (मेरे भक्तों के साथ रहो) निर्योगक्षेमः (अलब्ध वस्तु की प्राप्ति 'योग 'और उसकी रक्षा 'क्षेम' इन दोनों से रहित हो जाओ, वैसे भी भक्ति रस के अस्वादन के पश्चात् इन दोनों की तरफ ध्यान रहता भी नहीं, क्योंकि इस प्रकार के भक्तों का 'योगक्षेम' भगवान् स्वयं वहन करते हैं। मेरे द्वारा प्रदत्त बुद्धि योग में मस्त हो जाओ।

टीका—त्वं तु चतुर्वर्गसाधनेभ्यः सर्वेभ्यो विरज्य केवलं भक्तियोगमेवाश्रयस्वेत्याह—त्रै
प्रकाश्यत्वेन विषया येषां ते त्रै *भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति''* इति न्यायेनोक्तम्। किन्तु "*भक्तिरेवै* इति, "*यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ* इत्यादि-श्रुतयः पंचरात्रादिस्मृतयश्च, गीतोपनिषद्-गोपालतापन्याद्युपनिषदश्च निर्गुणां भक्तिमपि विषयीकुर्वन्त्येव, वेदोक्तत्वाभावे भक्तेरप्रामाण्यमेव स्यात्। ततश्च वेदोक्ता ये त्रिगुणमया ज्ञानकर्मविधयस्तेभ्य एव निर्गतो भव—तान् न कुरु। ये तु वेदोक्ता भक्ति-विधयस्तांस्तु सर्वथै *श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना। ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायै* ॥" इति दोषो दुर्वार एव। तेन सगुणानां गुणातीतानामपि वेदानां विषयास्त्रै
निस्त्रै
तत एव निर्द्वन्द्वो गुणमय-मानापमानादिरहितः। अतएव नित्यै
प्राणिभिर्मद्भक्तै
निस्त्रै
क्षेमस्तद्रहितः। मद्भक्तिरसास्वादवशादेव तयोरननुसन्धानात्, *'योगक्षेमं वहाम्यहम्'* इति भक्तवत्सलेन मयै
निस्त्रै *मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्। राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥"* निष्फलं वेति
नै "*कै*
वै
सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते। तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥ सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो

मदपाश्रयः॥ सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥ पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्। राजसं चेन्द्रिय-प्रेष्ठं तामसं चार्त्तिदाशुचि॥" "च-कारान्मन्निवेदितन्तु निर्गुणम्" इति श्रीस्वामिचरणानां व्याख्यानम्। "*सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्। तामसं मोह-दै*॥" इत्यन्तेन ग्रन्थेन त्रै

प्रदर्श्य निर्गुणस्य सम्यङ् निस्त्रै

कथञ्चित् स्थितस्य त्रै "*द्रव्यं देशस्तथा कालो ज्ञानं कर्म च कारकः। श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रै हि॥ सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः। दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥ एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः। येनेमे निर्जिताः सौ जीवेन चित्तजाः। भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥*" इति। तस्माद्भक्त्यै निर्गुणया त्रै

प्रश्ने वक्ष्यते—"*माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यै ब्रह्मभूयाय कल्पते॥*" इति। श्रीस्वामिचरणानां व्याख्या च—"च—कारोऽत्रावधारणार्थः, मामेव परमेश्वरमव्यभिचारेण भक्तियोगेन यः सेवते" इत्येषा।।45।।

भावानुवाद - भगवान् ने कहा - अर्जुन! तुम चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सब साधनों से विरक्त होकर केवल भक्ति-योग का आश्रय करो । सत्त्व, रजस और तमस ये तीनों गुण कर्म और ज्ञान के प्रकाशक हैं। इनका बाहुल्य होने के कारण ही वेदों को त्रिगुण-विषयक कहा गया है, किन्तु भक्ति ही जीवों को भगवान् के निकट ले जाती है यह माठरश्रुति का वचन है। श्वेताश्वर उपनिषद् में भी कहा है- ''जिसकी जैसी पराभक्ति भगवान् के प्रति है, वैसी ही गुरुदेव के प्रति भी है, उन्हीं के हृदय में शास्त्रार्थ प्रकाशित होते हैं। निर्गुण पञ्चरात्रादि स्मृतियाँ, गीता और गोपालतापनी उपनिषद् सभी का विषय निर्गुण भक्ति ही है, क्योंकि यदि वेदों में भक्ति का वर्णन नहीं होता तो भक्ति अप्रामाणिक हो जाती, इसलिए तुम वेदों में कही गयी ज्ञान-कर्मादि की विद्याओं से बाहर निकलो, उनका पालन मत करो, जबकि वेदों में बताई गई भक्ति की विधियों का सदा पालन करो। श्रुति,स्मृति पुराणादि में बताई गई पञ्चरात्र विधियों का उल्लघंन कर के किया

गया ऐकान्तिकी भक्ति का अभिनय केवल उत्पात ही है या यूँ कहें कि दोष है। सगुण और निर्गुण ये दो ही वेदों के विषय हैं। तुम केवल त्रिगुण रहित हो जाओ। मेरी निर्गुण भक्ति के द्वारा ही तुम तीनों गुणों को पार कर जाओगे। तभी तुम निर्द्वन्द्व अर्थात् मान–अपमान से रहित हो पाओगे। नित्य सत्त्वस्वरूप मेरे भक्तों का संग करो। यहाँ पर 'नित्यसत्त्वगुण में स्थित हो जाओ' और 'त्रिगुण रहित हो जाओ' दोनों की व्याख्याओं में विरोध होगा।

जो वस्तु पास में नहीं है, उसे प्राप्त करने को योग कहते हैं। जो पास है उसकी रक्षा करना क्षेम कहलाता है, किन्तु मेरे भक्तिरस के आस्वादन का लोलुप होने पर योगक्षेम के लिए प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भक्तवत्सलतावश भगवान् ने कहा है कि "भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ," (गीता 9/22)। आत्मवान् अर्थात् मेरे द्वारा उपदिष्ट बुद्धि वाला हो – मेरे परायण हो ।

यहाँ त्रिगुण और निस्त्रैगुण्य की विवेचना की जा रही है जैसे (भा० 11/25/23–29) में कहा गया है कि मेरी प्रीति के उद्देश्य से किए गए नित्य–नैमित्तिकादि कर्म सात्त्विक हैं। फल की इच्छा वाले कर्म राजसिक एवं हिंसा वाले कर्म तामसिक हैं। 'निष्फलं वा' का तात्पर्य है फल की इच्छा से रहित नैमित्तिक कर्म। आत्मविषयक ज्ञान सात्त्विक है, देह सम्बन्धी ज्ञान राजसिक है, प्राकृत ज्ञान तामसिक है और मुझ से सम्बन्धित ज्ञान निर्गुण है। वन में रहना सात्त्विक है। गाँव में रहना राजसिक और जुआघर मे रहना तामसिक है, जबकि जहाँ मैं रहता हूँ अर्थात् मेरे मंदिर में वास करना निर्गुण है। आसक्तिरहित कर्म करने वाला कर्ता सात्त्विक है । जो आसक्ति में अन्धा होकर कर्म करता है वह कर्ता राजसिक है । जिस कर्म करने वाले की स्मृति भ्रष्ट हो गयी है, वह कर्ता तामसिक है, जबकि जो मेरे आश्रित होकर कर्म करता है वह कर्ता निर्गुण है। आत्मविषयक श्रद्धा सात्त्विकी है, कर्मविषयिणी श्रद्धा राजसिक है, अधर्मविषयिणी श्रद्धा तामसिक होती है। मेरी सेवा विषयिणी श्रद्धा निर्गुण है। हितकर, पवित्र और अनायास प्राप्त आहार सात्त्विक होता है। इन्द्रियों को सुख देने वाला कड़वा और खट्टा आहार राजसिक होता है, दुःखदायी और अपवित्र भोजन तामसिक होता है, जबकि मेरा प्रसाद निर्गुण होता है।

आत्मा के द्वारा प्राप्त सुख सात्त्विक, विषयों से प्राप्त सुख राजसिक, मोह एवं दैन्य से प्राप्त सुख तामसिक होता है और मुझ से सम्बन्धित सुख निर्गुण होता है । इसप्रकार त्रिगुणात्मिक वस्तुओं के बारे में बताने के बाद बताया गया है कि निर्गुणभक्ति के द्वारा ही त्रिगुण पर विजय प्राप्त की जा सकती है जैसे कि श्रीमद्भागवत (11/25/30–32) में कहा है – द्रव्य, देश, काल, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, श्रद्धा, अवस्था, आकृति, निष्ठा आदि जितने भाव हैं, वे सब त्रिगुणात्मक हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! पुरुष और प्रकृति के बीच देखे–सुने या चिन्तनीय जितने भी भाव स्थित हैं, सभी गुणमय हैं। हे सौम्य! पुरुष के ये सभी सांसारिक भाव त्रिगुणात्मक कर्मों से उत्पन्न होते हैं। ये सब के सब चित्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए जो जीव इन्हें जीत चुके हैं वे ही भक्ति योग के द्वारा मुझ में निष्ठा युक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ हैं। इस तरह निर्गुण भक्ति के द्वारा ही तीनों गुणों को जीता जा सकता है । इसका उत्तर आगे (गीता 14/26) में ही बताया गया है कि जो व्यक्ति केवल ऐकान्तिक भक्ति योग के द्वारा केवल मेरी सेवा करते हैं वे तीनों गुणों को लांघ कर ब्रह्मानुभूति के योग्य हो जाते हैं। इसी श्लोक की टीका में श्रीधर गोस्वामी कहते हैं – 'च' कार अवधारणार्थ है अर्थात् भगवान् इस के द्वारा कहना चाहते है कि जो अव्यभिचार भक्तियोग से मुझ परमेश्वर की सेवा करते हैं, वे सभी गुणों को जय कर लेते हैं॥ 45॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ 46॥

मर्मानुवाद – छोटे–छोटे जलाशयों को 'उदपान' कहते हैं एवं बहुत बड़े जलाशय को 'संप्लुतोदक' कहा जाता है। एक–एक कुँआ स्नान, वस्त्र धोने इत्यादि अलग–अलग कार्य के लिए प्रयोग में लाया जाता है, किन्तु एक बड़े जलाशय में सभी कार्य सुन्दर रूप से पूरे हो जाते हैं। वेद शास्त्रों के एक भाग में अलग–अलग देवताओं के विषय में और उन–उन की आराधना से जो जो आवश्यकतायें पूरी होती हैं उनका उल्लेख किया गया है, किन्तु सम्पूर्ण वेदों पर विचार करके वेद के तात्पर्य को जानने वाले ब्राह्मणों ने यह स्थिर किया है कि मैं कृष्ण ही एकमात्र भगवान् हूँ और मेरी उपासना से ही सब फल प्राप्त हो जाते हैं। जिनकी एकनिष्ठ निश्चयात्मिका बुद्धि है वे तो स्वभाविक ही एक

मात्र मुझ भगवान् की ही उपासना करते हैं ॥ 46 ॥

अन्वय— उदपाने (छोटे जलाशयों या कुओं से) यावान् अर्थः (जितनी अवश्यकतायें पूरी होती हैं) संप्लुतोदके (सरोवर में) तावान् एव अर्थः (वे सभी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं) एवं सर्वेषु वेदेषु (इसी प्रकार सब वेदों में उन-उन देवताओं की आराधना से ही) विजानतः ब्राह्मणस्य (वेदों के तात्पर्य भक्ति से विशेष रूप से अवगत हुए ब्राह्मण को सब कुछ प्राप्त हो जाता है) ॥ 46 ॥

टीका—हन्त, किं वक्तव्यं निष्कामस्य निर्गुणस्य भक्तियोगस्य माहात्म्यं यस्यै

कृतार्थतेत्येकादशेऽप्युद्धवायापि वक्ष्यते—"*न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥*" इति। किन्तु सकामो भक्तियोगोऽपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः शब्देनोच्यते इति दृष्टान्तेन साधयति—यावानिति। उदपाने इति जात्यै

इति। कश्चित् कूपः शौ

ाावनाद्यर्थकः, कश्चित् केशादिमार्जनार्थकः, कश्चित् स्नानार्थकः, कश्चित् पानार्थकः इत्येवं सर्वतः सर्वेषूदपानेषु यावानर्थः यावन्ति प्रयोजनानीत्यर्थः। संप्लुतोदके महाजलाशये सरोवरेऽपि तावानेवार्थः, तस्मिन् एकस्मिन्नेव शौ

तु तं विनै

द्रष्टव्यः। एवं सर्वेषु वेदेषु तत्तद्देवताराधनेन यावन्तोऽर्थास्तावन्त एकस्य भगवदाराधनेन विजानता विज्ञस्य। ब्राह्मणस्येति ब्रह्म वेदं वेत्तीति ब्राह्मणस्तस्य विजानतः। वेदज्ञत्वेऽपि वेदतात्पर्यं भक्तिं विशेषतो जानतः, यथा द्वितीय स्कन्धे—"*ब्रह्मवर्चस कामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्। इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ देवीं मायान्तु श्रीकामः*" इत्याद्युक्त्वा "*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्*"इति। मेघाद्यमिश्रस्य सौ

तीव्रत्वं ज्ञेयम्। अत्र बहुभ्यो बहुकामसिद्धिरिति सर्वथा बहुबुद्धित्वमेव। एकस्मद्भागवत एव सर्वकामसिद्धिरित्यंशेनै

गुण्याज्ज्ञेयम् ॥ 46 ॥

भावानुवाद – जिसकी शुरुआत मात्र का न तो उल्टा फल है और न ही कभी नाश है ऐसे निष्काम, निर्गुण भक्तियोग की बात और क्या कहूँ? इसका तो अल्पमात्र पालन करने से व्यक्ति धन्य हो जाता है। भगवान् ने श्रीमद्भागवत (11/29/20) में उद्धव से भी कहा है – 'हे उद्धव इस धर्म की निर्गुणता का निर्णय सम्यक् रूप से मेरे द्वारा ही किया गया है। इसलिए मेरे लिए किये गये इस धर्म की त्रुटियों इत्यादि से लेशमात्र भी हानि की सम्भावना नहीं है।' इस श्लोक में सकामभक्ति-योग को 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' भी कहा गया है, इसे दृष्टान्त देकर सिद्ध कर रहे हैं। जातिवाचक संज्ञा हेतु 'उदपान' का प्रयोग यहाँ एक वचन में हुआ है। इसलिए यह कूपों का वाचक है । अलग-अलग कूओं का अलग-अलग कार्य के लिए उपयोग होता है । कोई कूप शौच आदि के लिए प्रयोग होता है, कोई केश धोने के लिए, कोई कूप स्नान के लिए, कोई जल पीने इत्यादि के लिए प्रयोग होता है। प्रत्येक कुआँ अलग-अलग आवश्यकता के लिए प्रयोग होता है, किन्तु एक विशाल सरोवर से सभी आवश्यकतायें पूरी हो सकती हैं और अलग - अलग कुएँ पर जाने की मेहनत भी बच जाती है। सरोवर की एक विशेषता और भी है कि उसका जल सुस्वादु होता है, जबकि कुएँ का जल खारा होता है। कुएँ और सरोवर की विभिन्नतायें ध्यान देने योग्य हैं। उसी प्रकार वेदों में वर्णित अलग-अलग देवताओं की पूजा करने से जो अलग-अलग फल प्राप्त होते हैं वे सब एक मात्र भगवान् की आराधना से प्राप्त हो जाते हैं। 'ब्राह्मण' का अर्थ है वेदों को जाननेवाला, किन्तु वेदज्ञाता होने पर भी जो यह जानता हो कि भक्ति ही वेदों का तात्पर्य है वही वास्तव में ब्राह्मण है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (2/3/2) में कहा गया है कि ब्रह्म तेज की कामना रखने वाला व्यक्ति वेदपति ब्रह्मा जी की, इन्द्रिय तर्पण की भावना रखने वाला इन्द्र की, पुत्र की कामना रखने वाला प्रजापति की तथा श्री की कामना रखने वाला दुर्गा की अराधना करे। ऐसा कहने के बाद पुनः (भा०2/5/10) कहते हैं कि कोई निष्काम हो, सकाम हो या मोक्ष की कामना रखने वाला हो, उसे तीव्रयोग द्वारा केवल परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की ही आराधना करनी चाहिए। जिस प्रकार बादल न छाये हों तो सूर्य की किरणें तेज होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान कर्मादि रहित होने पर भक्तियोग भी तीव्र होता है। बहुत देवताओं

से बहुत सी कामनाओं की पूर्ति होने पर बुद्धि एकनिष्ठ नहीं, अपितु बहुशाखामयी हो जाती है और एक भगवान् से ही तमाम सिद्धियाँ पूरी होने के कारण एकमात्र भगवान् पर ध्यान रहने से बुद्धि एकनिष्ठ होती है ॥ 46 ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ 47 ॥

मर्मानुवाद— कर्म, अकर्म और विकर्म ये तीन प्रकार के कर्म सम्बन्धी विचार हैं। पाप आचरण करने को विकर्म कहा जाता है, स्वधर्मोचित कर्म न करने को अकर्म कहा जाता है— ये दोनों ही नितान्त अमंगल करने वाले हैं, इन दोनों में तुम्हारी रुचि न हो। तुम अकर्म और विकर्म का परित्याग कर सावधानी से कर्म का आचरण करो। कर्म तीन प्रकार के होते हैं— नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म और सकामकर्म। इनमें से सकामकर्म भी अमंगल जनक हैं। जो सकामकर्म करते हैं वे कर्मफल के भागी होते हैं। इसलिए मैं तुम्हारे मंगल के लिए कहता हूँ कि तुम सकामकर्म कर के कर्म फल के हेतु मत बनना। स्वधर्म विहित कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है, किन्तु किसी कर्मफल में तुम्हारा अधिकार नहीं है। जो भक्तियोग का सहारा लेते हैं उनके लिए शरीर यात्रा के निर्वाह के लिए नित्य-नैमित्तिककर्म स्वीकृत हैं ॥ 47 ॥

अन्वय— अब निष्काम कर्मयोग के विषयों में बता रहे हैं— कर्मणि एव ते अधिकारः (कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है) कदाचन फलेषु मा (फल की आकांक्षा कदापि न हो; क्योंकि फल की आशा रखने वाले व्यक्ति अत्यन्त अशुद्ध चित्त वाले होते हैं) कर्मफल हेतुः मा भूः (कर्म करने से फल अवश्य फलेगा, इसलिए फल की कामना रख कर कर्म नहीं करना) अकर्मणि (स्वधर्म को न करने में) ते संगः मा अस्तु (तेरी आसक्ति न हो) ॥ 47 ॥

टीका—एवमेकमेवार्जुनं स्वप्रियसखं लक्ष्यीकृत्य ज्ञानभक्तिकर्म-योगानाचिख्यासुर्भगवान् ज्ञानभक्तियोगौ
निष्कामकर्मयोगमाह—कर्मणीति। मा फलेष्विति—फलाकाङ्क्षिणोऽप्यत्यन्ताशुद्धचित्ता भवन्ति, त्वन्तु प्रायः शुद्धचित्त इति मया ज्ञात्वै
तत्राह—मा कर्मफलहेतुर्भूः फलकामनया हि कर्म कुर्वन् फलस्य हेतुरुत्पादको भवति, त्वन्तु तादृशो मा भूरित्याशीर्मया दीयत इत्यर्थः। अकर्मणि स्वधर्माकरणे

विकर्मणि पापे वा सङ्गस्तव मास्तु, किन्तु द्वेष एवास्त्विति पुनरप्याशीर्दीयत इति। अत्राग्रिमाध्याये—*"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे"* इत्यर्जुनोक्ति—दर्शनादत्राध्याये पूर्वोत्तरवाक्यानाम् अवतारिकाभिर्नातीव सङ्गतिर्विधित्सितेति ज्ञेयम्। किन्तु त्वदाज्ञायां सारथ्यादौ
तिष्ठेति कृष्णार्जुनयोर्मनोऽनुलापोऽयमत्र द्रष्टव्यः।। 47।।

भावानुवाद— इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग के व्याख्याता भगवान् ने अपने प्रियसखा अर्जुन को लक्ष्य करते हुए ज्ञान और भक्ति योग के विषय में कहा, किन्तु अर्जुन को इन में अनधिकारी देख अब उन्हें निष्काम कर्मयोग की बात बताते हुए कह रहे हैं कि !''मा फलेषु'' अर्थात् फल की इच्छा मत करो, क्योंकि फल की इच्छा रखने वाले सकामी पुरुष अत्यन्त मलिन चित्त वाले होते हैं । मैं जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त तो प्रायः शुद्ध ही है । इसलिए ऐसा कह रहा हूँ । अब यदि तुम्हारे मन में यह बात आए कि 'कर्म करेंगे तो फल भी अवश्य भोगना ही होगा', तो उसके लिए मैं कहता हूँ 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' अर्थात् फल की कामना रखकर कर्म करने से ही कर्म फल का उत्पादक होता है। परन्तु तुम फल की इच्छा मत करो, यह मेरा आशीर्वाद है । अकर्म और विकर्म अर्थात् स्वधर्म को न करने में और पाप को करने में तेरी कभी रुचि न हो, बल्कि द्वेष बना रहे। पुनः यही आशीर्वाद देता हूँ। अगले अध्याय में अर्जुन ने कहा है कि नाना प्रकार के अर्थों वाले वाक्यों के द्वारा मेरी बुद्धि मोहित हो रही है, अर्जुन के इस वाक्य से यह समझना चाहिए कि इस अध्याय के पूर्व और उत्तर वाक्यों की अवतारणा द्वारा पूरी संगति नहीं होती है, किन्तु यहाँ अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण का मनोभाव यह है कि जैसे तुम्हारी आज्ञा के अधीन हुआ मैं तुम्हारे सारथि का कार्य कर रहा हूँ, उसी प्रकार तुम भी मेरी आज्ञा का पालन करो॥ 47॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 48॥

मर्मानुवाद— फल की कामना का परित्याग कर भक्ति योग में स्थित होकर स्वधर्म विहित कर्मों का आचरण करो। कर्मफल के प्राप्त होने और न प्राप्त होने इन दोनों अवस्थाओं को समान समझना 'योग' कहलाता है॥ 48॥

अन्वय— हे धनञ्जय! योगस्थः (चित्त को एक मात्र भक्तियोग में स्थित

करो) सगं त्यक्त्वा (मैं करने वाला हूँ ऐसे कर्त्तापन के अभिमान को त्याग कर) सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा कर्माणि कुरु (जय और पराजय में समान बुद्धि वाला होकर कर्म करो, इस तरह यह निष्काम कर्मयोग ही ज्ञानयोग एवं क्रमशः ज्ञानयोग ही भक्तियोग में परिणत हो जायेगा) समत्वं योग उच्यते (जय पराजय में समभाव को ही 'योग' कहा गया है) ॥ 48 ॥

टीका—निष्कामकर्मणः प्रकारं शिक्षयति—योगस्थ इति। तेन जयाजययोस्तुल्यबुद्धिः सन् संग्राममेव स्वधर्मं कुर्विति भावः। अयं निष्कामकर्मयोग एव ज्ञानयोगत्वेन परिणमतीति। ज्ञानयोगोऽप्येवं पूर्वोत्तरग्रन्थार्थतात्पर्यतो ज्ञेयः।।48।

भावानुवाद - निष्काम कर्म की शिक्षा देते हुए भगवान् अर्जुन से कहते हैं - अर्जुन ! जय-पराजय में समान भावना रखते हुए युद्धरूपी स्वधर्म का पालन करो । इस प्रकार के निष्काम कर्मयोग के फलस्वरूप ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पूर्ववर्ती और परवर्ती श्लोकों का तात्पर्य ज्ञानयोग ही समझना चाहिये ॥ 48 ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ 49 ॥

मर्मानुवाद - बुद्धियोग अर्थात् निष्काम कर्मयोग द्वारा भक्ति का अनुशीलन करते हुए सकाम कर्म की भावना दूर करो। क्योंकि जो फल की वासना वाले हैं, वे कृपण हैं; इसलिए तुम बुद्धियोग अर्थात् निष्काम कर्मयोग का आश्रय लो ॥ 49 ॥

अन्वय— सकाम कर्म की निन्दा कर रहे हैं, — हे धनञ्जय! हि बुद्धियोगात् दूरेण कर्म अवरम् (निष्काम कर्मयोग से सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट है) बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ (निष्काम कर्मयोग के आश्रय के लिए प्रार्थना करो) फलहेतवः (फलकामी लोग) कृपणाः (दीन हैं) ॥ 49 ॥

टीका— सकामकर्म निन्दति—दूरेणेति। अवरमतिनिकृष्टं काम्यं कर्म, बुद्धियोगात् परमेश्वरार्पितनिष्कामकर्मयोगात्। बुद्धौ
निष्कामकर्मयोगः॥ 49 ॥

भावानुवाद— सकाम कर्मों की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'बुद्धियोगात्' अर्थात् परमेश्वर अर्पित निष्काम कर्मों से सकाम कर्म 'दूरेण अवरम्' अर्थात् अत्यन्त निकृष्ट होते हैं । यहाँ 'बुद्धौ' का अर्थ है

निष्काम कर्म में और बुद्धियोग का अर्थ है निष्काम कर्मयोग।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ 50॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ 51॥

मर्मानुवाद— बुद्धियोग ही कर्म का कौशल है। इसलिए बुद्धियोग वाला होकर इसी जन्म में पाप पुण्य दोनों से ऊपर उठो। विद्वान् व्यक्ति बुद्धियोग द्वारा कर्मों से उत्पन्न होने वाले फलों का त्याग करके जन्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए वे भक्तों की चरम अवस्था यानि क्लेशरहित परम पद को प्राप्त करते हैं॥ 50–51॥

अन्वय— बुद्धियुक्तः इह उभे सुकृतदुष्कृते जहाति (निष्काम कर्म करने वाले इसी जन्म में पाप और पुण्य का परित्याग कर देते हैं, क्योंकि पाप और पुण्य करने वाले दोनों को ही उनके फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है) तस्मात् योगाय युज्यस्व (इसलिए निष्काम कर्मयोग करने वाला हो) योगः कर्मसु कौशलम् (सकाम–निष्काम दोनों प्रकार के कर्मों में उदासीन होकर कर्म करना ही कर्म की कुशलता अर्थात् निपुणता है)॥ 50॥

बुद्धियुक्ता मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा (समत्व बुद्धि वाले मनीषिगण कर्मों से उत्पन्न फलों का त्याग कर) जन्मबन्धविनिर्मुक्ता : (जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त होकर) अनामयं पदं गच्छन्ति (मोक्षपद को प्राप्त करते हैं)॥ 51॥

टीका—योगाय उक्तलक्षणाय। युज्यस्व घटस्व, यतः कर्मसु सकाम–निष्कामेषु मध्ये योग एवोदासीनत्वेन कर्मकरणमेव। कौ
नै ॥ 50॥

भावानुवाद – पहले कहे अनुसार जय–पराजय में समानभाव रखते हुए कर्मयोग करो, क्योंकि सकाम – निष्काम दोनों में से उदासीनभाव से निष्काम कर्म करना ही कुशलता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 52॥

मर्मानुवाद— इस प्रकार परमेश्वर में अर्पित निष्काम कर्म का अभ्यास करते करते जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दल-दल का सम्पूर्णरूप से अतिक्रमण कर लेगी उस समय पहले सुने हुए और बाद में सुनने योग्य समस्त शास्त्रों से निरपेक्ष होकर विशुद्धभक्ति-साधन में लग जाओगे॥ 52 ॥

अन्वय— यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति (जब तुम्हारा अन्तःकरण दुर्गम मोह का अतिक्रमण कर लेगा) तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च अर्थेषु निर्वेदं प्राप्स्यसि (फलभोगजनक पहले सुने हुए और बाद में सुनने योग्य विषयों के प्रति तुम्हारा वैराग्य हो जायेगा अर्थात् इस लोक और परलोक के विषय-भोगों से वैराग्य हो जायेगा) ॥ 52 ॥

टीका—एवं परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्माभ्यासात् तव योगो भविष्यतीत्याह—यदेति। तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं मोहरूपं गहनं विशेषतोऽतिशयेन तरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रोतव्येष्वर्थेषु श्रुतस्य श्रुतेऽप्य-र्थेषु निर्वेदं प्राप्स्यसि। असम्भावना-विपरीतभावनयोर्नष्टत्वात् किं मे शास्त्रोपदेशवाक्यश्रवणेन ? साम्प्रतं मे साधनेष्वेव प्रतिक्षणमभ्यासः सर्वथोचित इति मंस्यस इति भावः॥ 52 ॥

भावानुवाद - भगवान् कह रहे हैं "हे अर्जुन! इस प्रकार परमेश्वर में निष्काम कर्म के अभ्यास से तुम्हारा योग हो जाएगा ।" जब तुम्हारा अन्तःकरण मोहरूपी दलदल से पार हो जायेगा तब सुनने योग्य और सुने हुए दोनों विषयों से तुम्हारा मन विरक्त हो जाएगा। यदि प्रश्न हो कि असम्भावना और विपरीतभावना नष्ट हो जानेपर शास्त्र-श्रवण करने की क्या आवश्यकता है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि वह अवस्था एकदम नहीं आती । अभी मेरे द्वारा बताये गए साधनों का हर समय अभ्यास करना ही उचित है॥ 52 ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ 53 ॥

मर्मानुवाद— जब तुम्हारी बुद्धि वेदों के नाना प्रकार के अर्थों द्वारा विचलित नहीं होगी, तब तुम सहज समाधि में स्थिर होकर विशुद्ध भक्ति योग प्राप्त करोगे॥ 53 ॥

अन्वय— यदा (जिस समय) श्रुतिविप्रतिपन्ना (श्रुति–ज्ञान में अच्छी तरह प्रतिष्ठित होकर लौकिक और वैदिक अर्थ से विरक्त) ते अचला बुद्धिः समाधौ स्थास्यति (तुम्हारी अचला बुद्धि परमेश्वर में एकाग्र हो जायेगी) तदा योगम् अवाप्स्यसि (तभी तुम्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा) ॥ 53 ॥

टीका—ततश्च श्रुतिषु नाना–लौ
असम्मता विरक्तेति यावत्। तत्र हेतुः—निश्चला तेषु तेष्वर्थेषु चलितुं विमुखीभूतेत्यर्थः। किन्तु समाधौ
तदा योगमपरोक्षानुभवप्राप्त्या, जीवन्मुक्त इत्यर्थः॥ 53 ॥

भावानुवाद – तत्पश्चात् नाना प्रकार के लौकिक एवं वेदों के अर्थवाद के श्रवण से तुम्हारी बुद्धि विरक्त हो उठेगी, विचलित नहीं होगी या निश्चल हो जाएगी, तब तुम षष्ठ अध्याय में बताई गयी अचला समाधि में स्थित हो जाने पर योग का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाओगे॥ 53 ॥

अर्जुन उवाच–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ 54॥

मर्मानुवाद— इस प्रकार श्रवण करते हुए अर्जुन महाशय ने कहा, – हे केशव! स्थितप्रज्ञ अर्थात् अचला बुद्धि वाले व्यक्तियों के क्या लक्षण हैं? एवं वे स्थितप्रज्ञ, समाधि में स्थित या जीवन्मुक्त पुरुष, मान–अपमान, स्तुति–निन्दा और स्नेह–द्वेष की स्थिति आने पर क्या बोलते हैं एवं बाह्य विषयों के सम्बन्ध में कैसा आचरण करते हैं? यह सब जानने की इच्छा रखता हूँ॥ 54॥

अन्वय— अर्जुन उवाच (पहले श्लोक में समाधि में अचला बुद्धि की बात सुनकर उसके लक्षणों के प्रति जिज्ञासु अर्जुन ने कहा) हे केशव! स्थितप्रज्ञस्य समाधिस्थस्य (अचला बुद्धि वाले व्यक्ति के) का भाषा (क्या लक्षण हैं) स्थितधी : किं प्रभाषेत (स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति सुख–दुःख, मान–अपमान, स्तुति–निन्दा और स्नेह–द्वेष की स्थिति उपस्थित होने पर स्पष्टरूप से या मन ही मन क्या कहता है) किमासीत व्रजेत किम् (बाह्य विषयों में उसकी इन्द्रियां कैसे विचरण करती हैं)?

टीका—समाधावचला बुद्धिरिति श्रुत्वा तत्त्वतो योगिनो लक्षणं

पृच्छति—स्थितप्रज्ञस्येति, स्थिता स्थिराऽचला प्रज्ञा बुद्धिर्यस्येति। का भाषा?—भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणं किं लक्षणमित्यर्थः। कीदृशस्य समाधिस्थस्येति समाधौ
समाधिस्थ इति जीवन्मुक्तस्य संज्ञाद्वयम्। किं प्रभाषेतेति सुखदुःखयोर्मानापमानयोः स्तुतिनिन्दयोः स्नेहद्वेषयोर्वा समुपस्थितयोः किं प्रभाषेत? स्पष्टं स्वगतं वा किं वदेदित्यर्थः। किमासीत?—तदिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनाभावः कीदृशः? व्रजेत किं?—तेषु चलनं वा कीदृशमिति॥ 54॥

भावानुवाद - समाधि में अचला बुद्धि की बात सुन कर अर्जुन समाधि में स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षण पूछते हैं - जिसकी प्रज्ञा या बुद्धि स्थिर या अचला हो गयी है, ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की भाषा कैसी होती है या वह कैसे बोलता है? किस प्रकार समाधि में रहता है? श्री भगवान् ने कहा - अर्जुन! जीवन्मुक्त को ही स्थितप्रज्ञ एवं समाधिस्थ इन दो नामों से कहा गया है। कैसे बोलता है अर्थात् सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, स्नेह-द्वेष इन सब अलग-अलग अवस्थाओं के उपस्थित होने पर वह स्पष्ट रूप से या मन ही मन में क्या बोलता है, कैसे बैठता है का भाव है कि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से कैसे रोकता है और कैसे चलाता है का भाव है कि उसकी इन्द्रियाँ विषयों में किस प्रकार विचरण करती हैं॥ 54॥

श्रीभगवानुवाच-

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 55॥

मर्मानुवाद— भगवान् ने कहा - हे पार्थ! जिस समय जीव मन की तमाम कामनाओं का परित्याग कर देता है एवं प्रत्याहृतमन अर्थात् भक्तियोग स्थित मन में आनन्दस्वरूप आत्मा के स्वरूपदर्शन से परितुष्ट हो जाता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं॥ 55॥

अन्वय— श्रीभगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा -) हे पार्थ! यदा (जिस समय पुरुष) सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति (मन की सभी कामनाओं का परित्याग कर देता है) आत्मनि आत्मना तुष्टः (निगृहीत मन में प्राप्त आनन्द द्वारा तुष्ट अर्थात् आत्माराम हो जाता है) तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते (तब स्थितप्रज्ञ कहलाता है)॥ 55॥

टीका—चतुर्णां प्रश्ननानां क्रमेणोत्तरमाह—प्रजहातीति यावदध्याय-समाप्तिः। सर्वानिति कस्मिन्नप्यर्थे यस्य किञ्चिन्मात्रोऽपि नाभिलाष इत्यर्थः। मनोगतानिति कामानामनात्मधर्मत्वेन परित्यागे योग्यता दर्शिता। यदि ते ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा तांस्त्यक्तुमशक्येरन् वह्नेरौ
हेतुः—आत्मनि प्रत्याहृते मनसि प्राप्तो य आत्मा आत्मानन्दरूपस्तेन तुष्टः। तथा च श्रुतिः—"*यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥*" इति॥ 55॥

भावानुवाद - इस श्लोक से अध्याय की समाप्ति तक भगवान् अर्जुन के क्रमशः चारों प्रश्नों का उत्तर देते हैं ।'सर्वान्' कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य अपनी सभी कामनाओं का परित्याग कर देता है या उसके मन में लेशमात्र भी अभिलाषा नहीं रहती। सभी कामनायें मन का धर्म हैं, अर्थात् अनात्मधर्म हैं इसलिए इनको त्याग करने की योग्यता दिखाई गई है। यदि ये कामनायें आत्मधर्म होती, तब जैसे आग उष्णता को नहीं त्याग सकती वैसे इनका परित्याग करना भी असंभव होता। इसका कारण यह है कि वह निगृहीत मन के द्वारा आनन्द-स्वरूप आत्मा को प्राप्त कर उस से ही संतुष्ट होता है। श्रुति कहती है- जिस समय हृदय में स्थित सभी कामनायें समाप्त हो जाती हैं, मर्त्त्य भी अमृत हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है (कठ० 3/14) ॥ 55 ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ 56॥

मर्मानुवाद— शारीरिक, मानसिक और सामाजिक क्लेशों के आने पर भी जिसका मन विचलित नहीं होता और जिसको शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सुखों की भी कोई प्यास नहीं है एवं जो अनुराग, भय और क्रोध से रहित है। वही स्थितधी अर्थात् स्थितप्रज्ञ है॥ 56॥

अन्वय— "किं प्रभाषेत"— इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, दुःखेषु (आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख और आधिदैविक दुःखों के आने पर) अनुद्विग्नमनाः (प्रारब्ध के अनुसार मिलने वाले दुःख मुझे अवश्य भोगने ही पडेंगे ? इस प्रकार अपने मन के भावों को व्यक्त करता हुआ उनसे घबराता नहीं है) सुखेषु (और सुख आने पर) विगतस्पृहः (सुख की इच्छा से रहित

है) यही स्पष्ट रूप से बतला रहे हैं— वीतरागभयक्रोधः(निडर और अपने विद्वेषी के प्रति भी क्रोधशून्य) मुनिः (आत्म-मननशील व्यक्ति) स्थितधीः (स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहलाता है)॥ 56॥

टीका—किं प्रभाषेतेत्यस्य उत्तरमाह—दुःखेष्विति द्व्याभ्याम् दुःखेषु क्षुत्पिपासाज्वर-शिरोरोगादिष्वाध्यात्मिकेषु सर्पव्याघ्राद्युत्थितेष्वाधिभौ केष्वति- वातवृष्ट्याद्युत्थितेष्वाधिदै
दुःखमिदं मयावश्यं भोक्तव्यमिति स्वगतं केनचित् पृष्टः सन् स्पष्टञ्च ब्रुवन्, न दुःखेषूद्विजत इत्यर्थः। तस्य तादृशमुखविक्रियाभाव एवानुद्वेगलिङ्गं सुधिया गम्यम्, कृत्रिमानुद्वेगलिङ्गवांस्तु कपटी,-सुधिया परिचितो भ्रष्ट एवोच्यत इति भावः। एवं सुखेष्वप्युपस्थितेषु विगतस्पृह इति प्रारब्धमिदमवश्यभोग्यमिति स्वगतं स्पष्टञ्च ब्रुवाणस्य तस्य सुखस्पृहा-राहित्यलिङ्गं सुधिया गम्यमेवेति भावः। तत्तल्लिङ्गमेव स्पष्टीकृत्य दर्शयति—वीतो विगतो रागोऽनुरागः सुखेषु, वीतं भयं स्वभोक्तृभ्यो व्याघ्रादिभ्यः वीतः क्रोधः स्वहन्तृषु बन्धुजनेषु यस्य सः। यथै
नापि तत्र क्रोधोऽभूदिति॥ 56॥

भावानुवाद - स्थितप्रज्ञ पुरुष क्या बोलते हैं, अगले दो श्लोकों में इस का उत्तर देते हुए कहते हैं - 'दुःखेषु' दुःखों में अर्थात् भूख, प्यास, बुखार और सरदर्द इत्यादि रोगों से प्राप्त आध्यात्मिक दुःख, सर्प, सिंह आदि से प्राप्त आधिभौतिक दुःख एवं आँधी, वर्षा आदि से प्राप्त आधिदैविक दुःख इन त्रितापों के आने पर उनका मन विचलित नहीं होता। वे स्वयं मन-मन में या किसी के पूछने पर स्पष्ट यही कहते हैं कि ये प्रारब्ध के दुःख तो हमें अवश्य भोगने ही होंगे, किन्तु उससे विचलित नहीं होते। दुःख उपस्थित होने पर भी उनके मुख पर उसके चिह्न व्यक्त न होने पर विद्वान् लोग समझ जाते हैं कि इन्हें किसी प्रकार का उद्वेग नहीं है, किन्तु यदि कोई कपटी व्यक्ति ऐसा अभिनय करता है, तो भी वे समझ जाते हैं। उसी प्रकार सुखों के आने पर भी वह स्पृहारहित रहते हैं अर्थात् उल्लसित नहीं होते और स्वयं मन ही मन में या किसी के पूछने पर स्पष्ट कहते हैं कि यह तो प्रारब्ध का भोग है। ऐसे व्यक्तियों के मुख पर अभिव्यक्त सुख निःस्पृहता के चिह्नों को भी विद्वान् व्यक्ति समझ लेते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष के उन-उन चिह्नों को

स्पष्टरूप से बता रहे हैं। वे 'वीतराग' अर्थात् अपने को खाने वाले बाघ आदि को देखकर भी उन्हें भय नहीं होता। वीतक्रोध–अपने को मारने वाले के ऊपर भी क्रोध नहीं करते, अपितु उनके साथ भी बन्धुओं जैसा व्यवहार करतें है। जिस प्रकार जड़भरत को देवी के पास ले जाकर बलि देनेवाले राजा वृषल पर भी महाराज जड़भरत को न तो क्रोध आया और न भयभीत हुए॥ 56॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 57॥

मर्मानुवाद— उसी पुरुष की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, जो तमाम जड़ विषयों के प्रति स्नेहशून्य है और सांसारिक शुभ–अशुभ की प्राप्ति होने पर उनमें राग–द्वेष नहीं करता। जब तक शरीर रहेगा तब तक सांसारिक लाभ–हानि अवश्यम्भावी है, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष उन सब प्रकार की लाभ–हानि में अनुराग या विद्वेष नहीं रखता, क्योंकि उसकी प्रज्ञा समाधि में स्थिर रहती है।

अन्वय — यः सर्वत्र अनभिस्नेहः (जो सांसारिक सम्बन्धियों के प्रति स्नेहशून्य है) तत्तत् शुभम् (सम्मान–भोजन आदि) अशुभम् (अनादर–प्रहारादि) प्राप्य (प्राप्त होने पर) न अभिनन्दति (तुम सुखी हो जाओ–ऐसा आशीर्वाद या प्रशंसा नहीं करता) न द्वेष्टि (तुम पापात्मा हो, नरक में जाओ–ऐसा अभिशाप भी नहीं देता) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (वही स्थितप्रज्ञ है)॥ 57॥

टीका—अनभिस्नेहः सोपाधिस्नेहशून्यः दयालुत्वान्निरुपाधिरीषन्मात्रस्नेहस्तु तिष्ठेदेव। तत्तत्प्रसिद्धं सम्मान–भोजनादिभ्यः स्वपरिचरणं शुभं प्राप्याशुभमनादरणं मुष्टिप्रहारादिकञ्च प्राप्य क्रमेण नाभिनन्दति, न प्रशंसति—त्वं धार्मिकः परमहंस–सेवी सुखी भवेति न ब्रूते, न द्वेष्टि—त्वं पापात्मा नरके पतेति नाभिशपति, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—समाधिं प्रति स्थिता, सुस्थितप्रज्ञा उच्यत इत्यर्थः॥ 57॥

भावानुवाद - अभिस्नेह–अर्थात् उपाधियुक्त स्नेह शून्य, किन्तु ऐसे व्यक्तियों में भी दयालुतावश थोड़ा निरुपाधिक प्रेम अवश्य विद्यमान रहता है, किसी से भोजनादि हेतु निमन्त्रण अर्थात् सम्मान–सेवा प्राप्त कर उसे ऐसा कह कर कि 'आप बड़े धर्मात्मा हो', उसकी प्रशंसा नहीं करते और न ही यह कहकर कि 'तुम बड़े सन्तसेवी हो सुखी रहो', ऐसा आशीर्वाद ही देते हैं, उसी प्रकार किसी के द्वारा अनादर या मारे जाने पर उसे अभिशाप भी

नहीं देते कि तुम पापात्मा हो नरक में जाओ इत्यादि। मान-अपमान में चित्त समान रहता है, ऐसे व्यक्तियों की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, समाधि में स्थित होती है और इन्हें ही सुस्थितप्रज्ञ कहते हैं॥ 57॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 58॥

मर्मानुवाद— सभी इन्द्रियां स्वतन्त्रतापूर्वक बाह्य विषयों में विचरण करना चाहती हैं, किन्तु उस पुरुष की सभी इन्द्रियां बुद्धि के अधीन होने के कारण विषयों में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सकती, बल्कि बुद्धि के आदेशानुसार कार्य करती हैं। जिस प्रकार कछुआ इच्छापूर्वक अपने सभी अंगों को अपने अन्दर समेट लेता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष की इन्द्रियां कभी तो बुद्धि की इच्छा के अनुसार स्थिर रहती हैं और कभी उपयुक्त विषयों में विचरण करती हैं॥ 58॥

अन्वय — ''किमासीत'' — इसका उत्तर देते हुए कहते हैं — यदा च अयम् (जिस समय यह) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियों के ग्राह्य शब्दादि विषयों से) इन्द्रियाणि (आँख कान आदि इन्द्रियों को) संहरते (समेट लेता है, बाह्य विषयों में इन्द्रियों का विचरना बन्द करके स्थिर रहता है) उसका दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जो कूर्मः अङ्गानि इव (कछुये की तरह अपने मुख और नेत्रादि को अपनी सीमा में रखता है) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (वही स्थितप्रज्ञ है)॥ 58॥

टीका—किमासीतेत्यस्योत्तरमाह—यदेति। इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि संहरते। स्वाधीनानामिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनं निषिध्यान्तरेव निश्चलतया स्थापनं स्थितप्रज्ञस्यासनमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः- कूर्मोऽङ्गानि मुखनेत्रादीनि यथा स्वान्तरेव स्वेच्छया स्थापयति।। 58।।

भावानुवाद - स्थितप्रज्ञ व्यक्ति किस प्रकार बैठता है? इस का उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ पुरुष रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श आदि विषयों से अपनी आँख, कान, नाक, त्वचा और रसना इत्यादि इन्द्रियों को समेट लेता है। जिस प्रकार कछुआ अपने मुख, नेत्र इत्यादि को अपने कवच में समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार वह अपने अधीन उन इन्द्रियों को समेट कर स्वान्तर में निश्चलरूप से स्थापन कर लेता है । यही उसका बैठने का तरीका है॥ 58॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥59॥

मर्मानुवाद—देहधारी जीव का निराहार रहकर विषयों से छुटकारा पाने का जो विधान देखा जाता है, वह अत्यन्त मूढ़ लोगों से सम्बन्धित विधान है। अष्टांग योग में जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा विषयों से छुटकारा पाने की जो व्यवस्था दी गयी है, वह इसी प्रकार के मूढ़ लोगों से ही सम्बन्धित विधि है, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुषों के सम्बन्ध में यह विधि लागू नहीं होती। स्थितप्रज्ञ पुरुष तो परमतत्त्व के सौन्दर्य का दर्शन कर उस के प्रति आकृष्ट होकर सामान्य सांसारिक जड़ विषयों के प्रति अनुराग का त्याग कर देते हैं। अतिमूढ़ व्यक्तियों के लिए विषयों से इन्द्रियों के निराहार द्वारा संयमित करने की व्यवस्था दिए जाने पर भी, रागमार्ग के अतिरिक्त जीव को नित्य मंगल की प्राप्ति नहीं होती, श्रेष्ठ विषय मिलने मात्र से राग स्वाभाविक ही तुच्छ विषयों का परित्याग कर देता है॥ 59॥

अन्वय— निराहारस्य देहिनः (इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले अभिमानी व्यक्तियों को) विषया विनिवर्तन्ते (उपवास आदि के कारण विषय ग्रहण करते नहीं देखा जाता) रसवर्जम् (वह केवल बाह्य त्यागमात्र है; किन्तु विषयतृष्णा बनी रहती है) परं दृष्ट्वा (किन्तु परमात्मा के दर्शन करके) निवर्त्तते (विषय वासना भी समाप्त हो जाती है)॥ 59॥

टीका—ननु मूढ़स्याप्युपवासतो रोगादिवशाद्वेन्द्रियाणां विषयेष्वचलनं सम्भवेत्तत्राह—विषया इति। रसवर्जं रसो रागोऽभिलाषस्तंवर्जयित्वा, अभिलाषस्तु विषयेषु न निवर्त्तत इत्यर्थः। अस्य स्थितप्रज्ञस्य तु परं परमात्मानं दृष्ट्वा विषयेष्वभिलाषो निवर्त्तत इति न लक्षणव्यभिचारः। आत्मसाक्षात्कारसमर्थस्य तु साधकत्वमेव, न तु सिद्धत्वमिति भावः॥ 59॥

भावानुवाद - यदि कहो कि उपवास के समय या रोग से पीड़ित होने पर मूढ़ मनुष्य की इन्द्रियां भी विषयों में प्रवेश नही करतीं तो उसके विषय में कह रहे हैं- उपवास आदि के कारण भी व्यक्तियों को विषय ग्रहण करते नहीं देखा जाता, किन्तु उसमें उनकी विषयतृष्णा बनी रहती है, जबकि परमात्मा का दर्शन करके विषय वासना भी समाप्त हो जाती

है। यहाँ लक्षण का व्यभिचार नहीं है जो आत्मसाक्षात्कार में समर्थ हैं वे साधक ही हैं, सिद्ध नहीं॥ 59॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ 60॥

मर्मानुवाद— जो विधिमार्ग के द्वारा चित्त को विषयों से हटाने का प्रयास करते हैं, उनकी अत्यन्त क्षोभकारी इन्द्रियां समय-समय पर मन को विषयों में धकेलती हैं, किन्तु रागमार्ग में ऐसे पतन की आशंका नहीं है॥ 60॥

अन्वय— हे कौन्तेय; यततः (मोक्ष के लिए प्रयत्नशील) विपश्चितः पुरुषस्य अपि (विवेकी पुरुष के भी) प्रमाथीनि इन्द्रियाणि (मन का मन्थन कर देने वाली ये इन्द्रियां) प्रसभं मनः हरन्ति (मन को बल पूर्वक हरण कर लेती हैं)।

टीका—साधकावस्थायान्तु यत्न एव महान्, न त्विन्द्रियाणि परावर्त्तयितुं सर्वथा शक्तिरित्याह—यतत इति। प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि क्षोभकराणीत्यर्थः।

भावानुवाद - साधक अवस्था में यत्न करते रहना ही बड़ी बात है, किन्तु इन्द्रियों को सब प्रकार से नियन्त्रित करने की शक्ति साधक अवस्था में नहीं रहती। इसलिए भगवान् कह रहे हैं, कि ये इन्द्रियाँ यत्नशील साधक के हृदय में भी लोभ उत्पन्न करने वाली हैं॥ 60॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 61॥

मर्मानुवाद— इसलिए जो पुरुष पहले कहे गये युक्तवैराग्यरूप योगमार्ग में स्थित हुए मेरी उत्तमा भक्ति का आचरण करता है और सभी इन्द्रियों को यथास्थान नियमित करता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है॥ 61॥

अन्वय— तानि सर्वाणि संयम्य (उन सब इन्द्रियों को संयमित करके) मत्परः (मेरे परायण होकर) युक्त आसीत (एकाग्रचित्त से रहना उचित है) यस्य इन्द्रियाणि वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (सभी इन्द्रियां जिसके वशीभूत हैं, वही स्थितप्रज्ञ है)॥ 61॥

टीका—मत्परो मद्भक्त इति, मद्भक्तिं विना नै
सर्वत्र द्रष्टव्यम्, यदुक्तमुद्धवेन— *"प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।*

विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिता:॥" "अर्थात् आनन्ददुघं पदाम्बुजं हंसा: श्रयेरन्" इति। वशे हीति स्थितप्रज्ञस्येन्द्रियाणि वशीभूतानि भवन्तीति साधकाद्विशेष उक्त:॥ 61॥

भावानुवाद – 'मत्पर:' का अर्थ है मेरे भक्त बन जाओ, मेरे परायण हो जाओ, मेरी भक्ति के बिना इन्द्रियों को जय नहीं किया जा सकता। यह बात आगे सर्वत्र देखने को मिलेगी जैसे कि श्रीमद्भागवत (11/29/2-3) में उद्धव भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं– 'हे कमलनयन कृष्ण! योगिजन प्राय: मन को निग्रह करने का प्रयास करते हैं, किन्तु थोड़े प्रयास के बाद ही शांत-क्लान्त हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष सुखपूर्वक निखिल आनन्द-परिपूरक आपके चरणकमलों का सहारा लेते हैं'। साधारण साधक की तुलना में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की विशेषता यह है कि उसकी इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥ 62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ 63॥

मर्मानुवाद— दूसरी ओर, विधिमार्गगत फल्गुवैराग्य योग के अनर्थों की आलोचना करते हैं। वैराग्य का अभ्यास करते-करते जब विषयों का चिन्तन होता है, तब क्रमश: विषय को प्राप्त करने की स्पृहा पैदा होती है। उसके संग से काम उत्पन्न होता है और फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है॥ 62॥

क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिविभ्रम, अर्थात् शास्त्र उपदेश विस्मृत हो जाते हैं फलस्वरूप बुद्धि नाश एवं बुद्धिनाश होने से सर्वनाश हो जाता है। विधि मार्गगत फल्गु वैराग्य-योग की अनेक स्थानों में यही गति होती है इसलिए यह योग विघ्नों वाला है॥ 62॥

अन्वय—विषयान् ध्यायत: पुंस: तेषु संग: उपजायते (इन्द्रियग्राह्य विषयों का ध्यान करते-2 पुरुष की उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है) सङ्गात् काम: संजायते (संग से उसकी प्राप्ति की कामना होती है) कामात् क्रोध: अभिजायते (किसी के द्वारा कामपूर्ति में बाधा डालने से क्रोध उत्पन्न होता है) क्रोधात् सम्मोह: भवति (क्रोध से कार्य अकार्य का विवेक नहीं रहता) सम्मोहात्

स्मृतिविभ्रमः (सम्मोह से शास्त्र द्वारा उपदेश दिए गए स्वार्थ की विस्मृति हो जाती है) स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः (स्मृति नाश होने से सद्व्यवसाय का नाश हो जाता है) बुद्धिनाशात् प्रणश्यति (बुद्धि नाश होने से संसार कुंए में गिर जाता है) ॥ 62–63 ॥

टीका—स्थितप्रज्ञस्य मनोवशीकार एव बाह्येन्द्रियवशीकारकारणं सर्वथा मनोवशीकाराभावे तु यत् स्यात्तत् शृण्वित्याह—ध्यायत इति। सङ्ग आसक्तिः, आसक्त्या च तेष्वधिकः कामोऽभिलाषः, कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधः॥ 62 ॥

क्रोधात्संमोहः कार्याकार्यविवेकाभावः, तस्माच्च शास्त्रोपदिष्ट– स्वार्थस्य स्मृतिनाशः, तस्माच्च बुद्धेः सद्व्यवसायस्य नाशः, ततः 'प्रणश्यति' संसारकूपे पतति ॥ 63 ॥

भावानुवाद – भगवान् ने कहा– अर्जुन ! मन को वश में करना ही स्थितप्रज्ञ पुरुष का बाह्येन्द्रियों को वश में करने का मूल मंत्र है। किन्तु मन वश में नहीं होने से जो होता है उसे सुनो – मन वशीभूत नहीं होने से विषयों का चिन्तन होता है और विषयों का चिन्तन करने से उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से कामना पूरी करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। अभिलाषा पूरी होने में विघ्न पड़े, तो क्रोध उत्पन्न होता है ॥ 62 ॥

क्रोध से संमोहः होता है अर्थात् क्या करना चाहिए क्या नहीं इसका विवेक जाता रहता है। सम्मोह के कारण शास्त्रों के आत्मकल्याणकारी उपदेशों की स्मृति नाश हो जाती है। स्मृतिनाश होने से बुद्धि का सद्व्यवसाय नष्ट हो जाता है। फलस्वरूप प्राणी संसारकूप में गिर जाता है ॥ 63 ॥

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 64॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 65॥

मर्मानुवाद— युक्तवैराग्य का अवलम्बन करने से स्थितप्रज्ञ व्यक्ति राग–द्वेष का त्याग कर देता है। फिर इन अपने अधीन इन्द्रियों को यथायोग्य सभी जड़ विषयों में विचरण करवाता हुआ भी विधेयात्मपुरुष अर्थात् स्वतन्त्र व्यक्ति चित्तप्रसाद प्राप्त करता है ॥ 64 ॥

चित्त-प्रसाद अर्थात् भक्ति आने से सारे दुःख नाश हो जाते हैं। भक्तों की बुद्धि हर प्रकार से अपने आराध्यदेव में स्थिर रहती है॥ 65॥

अन्वय— मन से न ग्रहण कर अपनी वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने में कोई दोष नहीं होता। यह बता कर ''व्रजेत् किम्'' का उत्तर प्रदान कर रहे हैं - रागद्वेषविमुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् (आसक्ति और विद्वेषशून्य आत्मवशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करने पर भी) विधेयात्मा (जिसका मन वचन में स्थित है अर्थात् जो वचन के अनुरूप कार्य करता है, ऐसा पुरुष) प्रसादम् अधिगच्छति (प्रसन्नता प्राप्त करता है) प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते (प्रसन्नता प्राप्त होने पर आध्यात्मिक आदि सभी दुःख नाश हो जाते हैं) प्रसन्नचेतसः हि (प्रसन्नचित्त व्यक्ति ही) आशु (शीघ्र) बुद्धिः पर्यवतिष्ठते (स्वाभीष्ट विषय के प्रति सर्वतोभाव से स्थिर रहता है)॥ 64-65॥

टीका—मानसविषयग्रहणाभावे सति स्ववश्यै
दोष इति वदन् स्थितप्रज्ञो व्रजेत किमित्यस्योत्तरमाह—रागेति। विधेयो वचने स्थित आत्मा मनो यस्य सः। *"विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः। वश्यः प्रणेयो निभृतविनीतप्रसृताः समाः॥"* इत्यमरः। प्रसादमधिगच्छतीत्येतादृश-स्याधिकारिणो विषयग्रहणमपि न दोष इति किं वक्तव्यम्? प्रत्युत गुण एवेति। स्थितप्रज्ञस्य विषयत्यागस्वीकारावेव आसनव्रजने ते उभे अपि तस्य भद्रे इति भावः॥ 64॥

टीका—बुद्धिः पर्यवतिष्ठते सर्वतोभावेन स्वाभीष्टं प्रति स्थिरीभवतीति विषयग्रहाणाभावादपि समुचितविषयग्रहणं तस्य सुखमिति भावः। प्रसन्नचेतस इति चित्तप्रसादो भक्त्यै
एव प्रपञ्चितम्, कृतवेदान्तशास्त्रस्यापि व्यासस्याप्रसन्नचित्तस्य श्रीनारदोपदिष्टया भक्त्यै ॥ 65॥

भावानुवाद - यदि मन विषयों को ग्रहण न करे, तो वशीभूत इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करने पर भी दोष नहीं है। ऐसा कह कर भगवान् 'स्थितप्रज्ञ पुरुष किस प्रकार चलता है', इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि जिनका आत्मा मन और वचन में स्थित है वह विधेयात्मा कहलाता है। विधेय, विनयग्राही,

वचनस्थित, आश्रय, वश्य, प्रणेय, निभृत, विनम्र, प्रसृत ये सभी समानार्थक या पर्यायवाची शब्द हैं– (अमरकोष)। ऐसे अधिकारी व्यक्तियों द्वारा विषयों को ग्रहण करने में भी दोष नहीं है, अपितु शुभ ही है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति द्वारा विषयों का त्याग और स्वीकार या उनमें विचरण या उनसे निग्रह दोनों ही उसके लिए शुभ हैं॥ 65॥

उनकी बुद्धि सर्वदा अपने आराध्यदेव में स्थित रहती है। इसलिए विषयत्याग और समुचित विषयग्रहण दोनों में उसकी चित्त की प्रसन्नता बनी रहती है। चित्त की प्रसन्नता भक्ति से ही प्राप्त होती है। भक्ति के अतिरिक्त और किसी उपाय से चित्त की प्रसन्नता नहीं हो सकती, यह भागवत के प्रथम स्कन्ध में ही विस्तृतरूप से वर्णित है। वेदान्तशास्त्र की रचना करने पर भी जब वेदव्यास जी ने प्रसन्नता का अनुभव नहीं किया, तो श्री नारद जी के उपदेशानुसार भक्ति से उन्हें चित्त की प्रसन्नता प्राप्त हुई थी॥ 65॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 66॥

मर्मानुवाद— और देखो, जिसका परम रसमय परमेश्वर में ध्यान नहीं है उसे निकृष्ट रस से शान्ति कैसे मिल सकती है? ऐसे अशान्त व्यक्ति को परम सुख किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? और अवशीभूत मन वाले व्यक्ति का परमरसभावनारूप भगवद् ध्यान कभी भी सम्भव नहीं है॥ 66॥

अन्वय— कहे गए विषय को व्यतिरेकभाव से बतला रहे हैं अयुक्तस्य (अवशीभूत मन वाले पुरुष की) बुद्धि (आत्मविषयिणी बुद्धि) नास्ति (नहीं होती) अयुक्तस्य (और आत्मविषयिणीबुद्धिरहित व्यक्ति द्वारा) भावना (परमेश्वर का ध्यान) न च (नहीं होता) अभावयतः शान्तिः न च (ध्यानहीन व्यक्ति को शान्ति नहीं होती) अशान्तस्य सुखं न (और शान्ति रहित व्यक्ति को सुख नहीं होता)॥ 66॥

टीका—उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—नास्तीति। अयुक्तस्यावशी-कृतमनसो बुद्धिरात्मविषयिणी प्रज्ञा नास्ति अयुक्तस्य तादृशप्रज्ञारहितस्य भावना परमेश्वरध्यानञ्चाभावयतोऽकृतध्यानस्य शान्तिर्विषयोपरामो नास्त्यशान्तस्य सुखं आत्मानन्दो न॥ 66॥

भावानुवाद - अयुक्त पुरुष अर्थात् जिसका मन वशीभूत नहीं हैं,

उसकी आत्मविषयिणी प्रज्ञा हो ही नहीं सकती और उस बुद्धिहीन का परमेश्वर में भी ध्यान नहीं लगता और ध्यान न लगने के कारण उसे शान्ति नहीं मिलती अर्थात् विषयों से वैराग्य नहीं होता और अशान्त व्यक्ति को आत्मानन्द कैसे मिल सकता है ?॥ 66 ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 67 ॥

मर्मानुवाद—विपरीत वायु जिस प्रकार नौका को बहा ले जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों में विचरने वाला मन इन्द्रियों के अनुवर्ती होकर अजितेन्द्रिय पुरुष की प्रज्ञा का हरण कर लेता है॥ 67 ॥

अन्वय— अजितेन्द्रिय पुरुष की बुद्धि नहीं होती इसका प्रतिपादन कर रहे हैं— इन्द्रियाणां चरताम् (अपने-2 विषयों में विचरणकारी इन्द्रियों में से) यन्मनः अनुविधीयते (मन जिस इन्द्रिय के पीछे गमन करता है) तत् (वही इन्द्रिय) अस्य प्रज्ञां हरति (उसकी बुद्धि का हरण कर लेती है अर्थात् विषयों की ओर आकृष्ट करती है) वायुः अम्भसि नावम् इव (ठीक उसी प्रकार जैसे प्रतिकूल वायु नौका को जलमग्न कर देती है)॥ 67 ॥

टीका—अयुक्तस्य बुद्धिर्नास्तीत्युपपादयति—इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु चरतां मध्ये यन्मन एकमिन्द्रियमनुविधीयते, पुंसा सर्वेन्द्रियानुवर्त्तिः क्रियते, तदेव मनोऽस्य प्रज्ञां बुद्धिं हरति, यथाम्भसि नीयमानां नावं प्रतिकूलो वायुः।। 67।।

भावानुवाद - अयुक्त अर्थात् मन को वश में न कर पाने वाले पुरुष बुद्धिहीन होते हैं, इसी का प्रतिपादन करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि अपने-अपने विषयों में विचरण करती हुई जिस एक इन्द्रिय के साथ मन चल पड़ता है उस इन्द्रिय का अनुगमन करने वाला वह मन बुद्धि को उसी प्रकार हर लेता है जैसे जल में विचरती हुई नाव को विपरीत वायु बहा ले जाती है॥ 67 ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 68 ॥

मर्मानुवाद— इसलिए, हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियां समस्त विषयों से युक्त वैराग्यरूपीयोग द्वारा वश में हो गयी हैं, उसकी प्रज्ञा को ही प्रतिष्ठित जानना॥ 68 ॥

अन्वय— हे महाबाहो! (हे महाबाहो) (जिस प्रकार शत्रु को वश में किया जाता है, उसी प्रकार मन को निग्रह करो) तस्मात् (इसलिए) यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि (जिसकी इन्द्रियां विषयों से निवृत्त हो गई हैं) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (वही स्थितप्रज्ञ है) ॥ 68 ॥

टीका – यस्य निगृहीतमनसः, हे महाबाहो! इति यथा शत्रून् निगृह्णासि, तथा मनोऽपि निगृहाणेति भावः ॥ 68 ॥

भावानुवाद – हे महाबाहो! सम्बोधन का तात्पर्य है कि जिस प्रकार तुम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हो उसी प्रकार मन को भी जीतो।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ 69 ॥

मर्मानुवाद— हे अर्जुन! बुद्धि दो प्रकार की है – 'आत्मप्रवणा' और 'विषयप्रवणा'। जिस बुद्धि का झुकाव भगवान् की ओर है या परमात्मा में आसक्त है उसे 'आत्मप्रवणा बुद्धि' कहते हैं, जबकि 'जिस बुद्धि का झुकाव विषयों की ओर है वह 'विषयप्रवणा बुद्धि' कहलाती है। आत्मप्रवणा बुद्धि मायामुग्ध जीवों के लिए रात्रि विशेष है, इस रात्रि में सोए हुए होने के कारण वे प्राप्य वस्तु भगवान् का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु उस रात्रि में स्थितप्रज्ञ जागता है और आत्मबुद्धिनिष्ठ आनन्द का साक्षाद् अनुभव करता है। विषयप्रवणा बुद्धि में मायामुग्ध जीव जागते हुए अपने-अपने विषयों अर्थात् शोकमोह आदि का साक्षात् अनुभव करते हैं, किन्तु स्थितप्रज्ञ मुनि के लिए वही रात्रि विशेष है। उसमें वह सांसारिक लोगों के सुख-दुःखप्रद विषयों को उदासीनभाव से देखते-देखते अपने भोगने योग्य विषयों को यथोचित निर्लेपभाव से स्वीकार करता है ॥ 69 ॥

अन्वय— सर्वभूतानां या निशा संयमी तस्यां जागर्ति(सब प्राणियों की आत्मप्रवणबुद्धिरूपी निशा में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति जाग्रत रहता है अर्थात् आत्मनिष्ठ आनन्द का साक्षात् अनुभव करता है) यस्याम् (विषयप्रवणा बुद्धि में) भूतानि जाग्रति (सब प्राणी विषयनिष्ठ सुख-दुःख मोह आदि का अनुभव करते हैं) सा मुनेः निशा (वह स्थितप्रज्ञ की रात्रि है अर्थात् विषयनिष्ठ सुख-दुःखादि में वह उदासीन रहता है) ॥ 69 ॥

टीका—स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतःसिद्ध एव सर्वेन्द्रियनिग्रह इत्याह— येति। बुद्धिर्हि द्विविधा भवति—आत्मप्रवणा विषयप्रवणा च। तत्र या आत्मप्रवणा बुद्धिः, सा सर्वभूतानां निशा, निशायां किं किं स्यादिति तस्यां स्वपन्तो जना यथा न जानन्ति, तथै
तस्यां संयमी स्थितप्रज्ञो जागर्त्ति, न तु स्वपति; अत आत्मबुद्धिनिष्ठमानन्दं साक्षादनुभवति। यस्यां विषयप्रवणायां बुद्धौ
विषयसुखशोकमोहादिकं साक्षादनुभवति, न तु तत्र स्वपन्ति। सा मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा तन्निष्ठं किमपि नानुभवतीत्यर्थः। किन्तु पश्यतः सांसारिकाणां सुखदुःखप्रदान् विषयान् तत्रौ
यथोचितं निर्लेपमाददानस्येत्यर्थः॥ 69॥

भावानुवाद - स्थितप्रज्ञ का इन्द्रियों पर नियंत्रण होना स्वतः सिद्ध होता है 'या निशा' द्वारा यही बता रहे हैं। बुद्धि दो प्रकार की होती है (1) आत्मप्रवणा अर्थात् जिस बुद्धि का झुकाव परमात्मा की ओर है या परमात्मा में अनुरक्त है (2) विषयप्रवणा अर्थात् जिस बुद्धि का झुकाव या आसक्ति विषयों में है। आत्मप्रवणा बुद्धि सब प्राणियों के लिए रात्रिसमान है। जिस प्रकार रात्रि में सब प्राणी सो जाते हैं, उस समय वे कुछ नहीं जानते कि घर में क्या हो रहा है, उसी प्रकार आत्मप्रवणा बुद्धि में क्या अनुभव प्राप्त होता है कैसा आनन्द प्राप्त होता है, यह वे प्राणी नहीं जानते जो सोये हुए हैं। किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष उस रात्रि में जागते रहते हैं । वे आत्मप्रवणा बुद्धि की उपलब्धिरूपी आत्मबुद्धिनिष्ठ आनन्द का अनुभव करते हैं।

जिस विषयप्रवणा बुद्धि में जीव जाग्रत रहते हैं और अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार सुख-दुःख, शोक-मोह का अनुभव करते रहते हैं, उस समय वे सोते नहीं है, स्थितप्रज्ञ पुरुष की यह रात्रि है इस में वे कुछ अनुभव नहीं करते और वे सांसरिक लोगों को सुख-दुःख देने वाले विषयों को उदासीनभाव से देखते रहते हैं और यथोचित विषयों को निर्लिप्तभाव से ग्रहण करते हैं॥ 69॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ 70॥

मर्मानुवाद— कामी व्यक्ति कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अनेक नदियों का जल जैसे आपूर्यमाण समुद्र में प्रवेश करके भी उसे क्षोभित नहीं कर सकता, उसी प्रकार तमाम कामनायें स्थितप्रज्ञ मुनि में प्रविष्ट कर उसके मन में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकती, इसलिए वह स्थितप्रज्ञ मुनि ही शान्ति प्राप्त करता है ॥ 70 ॥

अन्वय— विषय ग्रहण करने में क्षोभरहित रहना ही निर्लेपता है— यही कह रहे हैं— यद्वत् आपः आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रं प्रविशन्ति (वर्षा में नदियों का जल समुद्र में प्रवेश करता है, किन्तु उसका तट अतिक्रमण नहीं कर सकता) तद्वत् (उसी प्रकार) सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति (तमाम भोग्य विषय जो मुनि के पास आते हैं उसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर पाते हैं) स शान्तिम् आप्नोति (ऐसा मुनि ही शान्ति प्राप्त करता है) कामकामी तु न (किन्तु भोगों की कामना रखने वाला व्यक्ति शान्ति प्राप्त नहीं करता है) ॥ 70 ॥

टीका—विषयग्रहणे क्षोभराहित्यमेव निर्लेपतेत्याह—आपूर्यमाणमिति। यथा वर्षास्वितस्ततो नादेया आपः समुद्रं प्रविशन्ति, कीदृशम्? आ—ईषदपि आपूर्यमाणंतावतीभिरप्यद्भिः पूरयितुं न शक्यम्। अचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादं तद्वदेव कामा विषया यं प्रविशन्ति भोग्यत्वेनायान्ति। यथा अपां प्रवेशे अप्रवेशे वा समुद्रो न कमपि विशेषमापद्यते, एवमेव यः कामानां भोगे अभोगे च क्षोभरहित एव स्यात् स स्थितप्रज्ञः। शान्तिं ज्ञानम् ॥ 70 ॥

भावानुवाद - विषयों को ग्रहण करने पर भी क्षोभ रहित रहना ही निर्लेपता है, इसलिए 'आपूर्यमाणम्' इत्यादि कहा है। जिस प्रकार वर्षाकाल में अनेक नदियाँ आकर समुद्र में प्रवेश करतीं हैं। किन्तु समुद्र अपनी मर्यादा या सीमाओं का उल्लघंन नहीं करता, उसी प्रकार भोगों के रूप में तमाम विषय स्थितप्रज्ञ के पास आते हैं, किन्तु वे उसके मन को क्षोभित नहीं कर पाते। ठीक जिस प्रकार नदियों के जल के प्रवेश करने और न करने से समुद्र को कोई फर्क नहीं पड़ता, उसी प्रकार भोगों के भोग या अभोग दोनों अवस्थाओं में जो विचलित नहीं होते, वे ही स्थितप्रज्ञ पुरुष शांति प्राप्त करते हैं ॥ 70 ॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ 71 ॥

मर्मानुवाद— सभी कामनाओं का परित्याग कर जो समस्त विषयों में स्पृहा रहित होकर निरहंकार और ममताशून्यभाव से विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥ 71 ॥

अन्वय—यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय (जो व्यक्ति सब विषयों की उपेक्षा कर) निस्पृहः निरंहकारः निर्ममः चरति (स्पृहाशून्य और स्वदेह सम्बन्धी स्त्री-पुत्र आदि में अहंता और ममता शून्य होकर विचरण करता है) स शान्तिम् अधिगच्छति (वही शान्ति प्राप्त करता है) ॥ 71 ॥

टीका—कश्चित्तु कामेष्वविश्वसन् नै
निरहङ्कारो निर्मम इति देह-दै ॥ 71 ॥

भावानुवाद - कोई-कोई कामनाओं के प्रति अविश्वास कर उन्हें भोग नहीं करता— इसलिए 'विहाय' इत्यादि श्लोक कहा है। निरहंकार निर्ममः अर्थात् जो कामनाओं का परित्याग कर दैहिक विषयों में अहंकार और ममता रहित होकर विचरण करते हैं, वही शांति प्राप्त करते हैं ॥ 71 ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ 72 ॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे साँख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

मर्मानुवाद— इस प्रकार की स्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। हे पार्थ! जो इस स्थिति को प्राप्त करता है, वह मोहित नहीं होता, अन्त समय में खट्वांग राजा की तरह ऐसी स्थिति प्राप्त करने पर उसे ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्मप्रापिका स्थिति को 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं। ब्रह्म को प्राप्त करवाने वाली जड़मुक्ति को 'ब्रह्मनिर्वाण' कहते हैं। जड़ से विलक्षण तत्त्व का नाम 'ब्रह्म' है। इस तत्त्व में अवस्थित होने से अप्राकृत रस की प्राप्ति होती है ॥ 72 ॥

दूसरे अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त

अन्वय— हे पार्थ! ब्राह्मी स्थितिः एषा (ब्रह्म-प्रापिका ज्ञाननिष्ठा इस प्रकार है) एनां प्राप्य न विमुह्यति (इसको प्राप्त होने से दुबारा संसार-मोह की प्राप्ति नहीं होती) अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा (मृत्यु के समय भी इसी ब्राह्मी निष्ठा को प्राप्त होने से) ब्रह्म निर्वाणम् ऋच्छति (ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है अर्थात् जड़ मुक्ति प्राप्त करता है) ॥ 72 ॥

टीका—उपसंहरति—एषेति। ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका, अन्तकाले मृत्युसमयेऽपि, किं पुनराबाल्यम्॥ 72॥

ज्ञानं कर्म च विस्पष्टमस्पष्टं भक्तिमुक्तवान्।
अतएवायमध्यायः श्रीगीतासूत्रमुच्यते ॥
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
श्रीगीतासु द्वितीयोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद - उपसंहार करते हुए कहते हैं - जब मृत्यु के समय ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने से मृत्यु के समय ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है। तब वह स्थिति यदि बाल्य अवस्था में प्राप्त हो जाय तो क्या कहना? इस अध्याय में ज्ञान, कर्म स्पष्टरूप में तथा भक्ति का अस्पष्टरूप से निरूपण किया गया है । इस अध्याय को गीतासूत्र भी कहा जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

दूसरे अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

दूसरा अध्यायः समाप्त

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

अर्जुन उवाच-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 1॥

मर्मानुवाद —हे जनार्दन! हे केशव! आपके मतानुसार कर्मादि की अपेक्षा व्यवसायात्मिका गुणातीता भक्तिविषयिणी बुद्धि ही यदि श्रेष्ठ है, तो फिर मुझे घोर युद्धरूपी कर्म करने की अनुमति क्यों दे रहे हैं?

अन्वय — अर्जुनः उवाच (अर्जुन ने कहा) — जनार्दन - (हे जनार्दन)! कर्मणः (राजसिक और सात्त्विक कर्म की अपेक्षा) बुद्धिः (व्यवसायात्मिका गुणातीता भक्ति) ते (आपको) ज्यायसी चेत् (यदि श्रेष्ठ) मता (मान्य है) तत्

किम् (तब क्यों) माम् (मुझे) घोरे कर्मणि (युद्धरूपी भयानक कर्म में) नियोजयसि (नियुक्त कर रहे हैं)।।1॥

निष्काममर्पितं कर्म तृतीये तु प्रपञ्च्यते
काम-क्रोध-जिगीषायां विवेकोऽपि प्रदर्श्यते।

टीका – पूर्ववाक्येषु ज्ञानयोगान्निष्कामकर्मयोगाच्च निस्त्रै
गुणातीत- भक्तियोगस्योत्कर्षमाकलय्य तत्रै
संग्रामे प्रवर्त्तकं भगवन्तं सख्यभावेनोपालभते, ज्यायसी श्रेष्ठा बुद्धिर्व्यवसायात्मिका गुणातीता भक्तिरित्यर्थः। घोरे युद्धरूपे कर्मणि किं नियोजयसि प्रवर्त्तयसि ? हे जनार्द्दन, जनान् स्वजनान् स्वाज्ञया पीडयसीत्यर्थः। न च तवाज्ञा केनाप्यन्यथा कर्त्तुं शक्यत इत्याह—हे केशव! को ब्रह्मा, ईशो महादेवः, तावपि वयसे वशीकरोषि।।1।।

भावानुवाद – इस अध्याय में निष्काम भाव से अर्पित कर्म का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है तथा काम क्रोध पर विजय चाहने वालों के लिए विवेक भी दिखाया गया है ।

पिछले अध्याय में अर्जुन ने ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग से निर्गुणता की अवस्था तक पहुँचाने वाले गुणातीत भक्तियोग की उत्तमता के विषय में सुना तो उसी में ही उनकी उत्कण्ठा जाग उठी और क्षत्रिय धर्मरूपी युद्ध में लगाने वाले श्री भगवान् को सख्यभाववश उलाहना देते हुए कहा- जब व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् निर्गुणा भक्ति ही श्रेष्ठ है, तो मुझे युद्धरूपी घोर कर्म में क्यों लगा रहे हो ? हे जनार्दन! आप तो 'जन' अर्थात् अपने जनों को आज्ञा देकर 'अर्दन' अर्थात् पीड़ा देने वाले हो न! क्या कहूँ ? आप केशव हो, अर्थात् क- ब्रह्मा, ईश- महादेव इन दोनों को वश में करने वाले हो। इसलिए आपकी आज्ञा टालने में कोई भी समर्थ नहीं है, मेरी तो बात ही क्या॥ 1 ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ 2 ॥

मर्मानुवाद — आपने जो उपदेश मुझे दिये हैं, वे श्रवण करने से नाना प्रकार के अर्थों वाले लगते हैं, क्योंकि कहीं तो आप भक्तकृपा से प्राप्त होने

वाली निर्गुणा भक्ति का उपदेश दे रहे हैं और कहीं पुनः मेरे अधिकार को बताते हुए कर्म करने का आदेश दे रहे हैं। इसमें मेरा कहना यह है कि राजस कर्म से सात्त्विक कर्म श्रेष्ठ है, एवं सात्त्विक कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान भी सात्त्विक कर्म विशेष है। यदि मेरा निर्गुणभक्ति प्राप्त करने का अधिकार न हो, तो मुझे सात्त्विक कर्म अर्थात् ज्ञान की शिक्षा दीजिये। जिस से मैं संसारबन्धन से मुक्त हो जाऊँ। कर्म के अधिकारियों को कर्म की शिक्षा देना ही उचित है, इसलिए निश्चयपूर्वक मुझे एक उपदेश दीजिये॥ 2॥

अन्वय — व्यामिश्रेण इव वाक्येन (कहीं तो कर्म की और कहीं ज्ञान की प्रशंसारूपी नाना अर्थों वाले वाक्यों से) मे बुद्धिम् (मेरी बुद्धि को) मोहयसि इव (मोहित सी कर रहे हैं) तत् (इसलिए) एकम् (दोनों में से एक) निश्चित्य (निश्चय करके) वद (कहें) येन (जिसके द्वारा) अहम् (मैं) श्रेयः (मंगल) आप्नुयाम् (प्राप्त कर सकूँ)॥ 2॥

टीका—भो वयस्य अर्जुन, सत्यं गुणातीता भक्तिः सर्वोत्कृष्टै
यादृच्छिक–मदै
साध्या न भवति। अतएव निस्त्रै
भूया इत्याशीर्वाद एव दत्तः। स च यदा फलिष्यति, तदा तादृश–
यादृच्छिकै
'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति मयोक्तमेवेति चेत्, सत्यम्, तर्हि कमै
न ब्रूषे? किमिति सन्देहसिन्धौ
आ–सम्यक्तया मिश्रणं नानाविधार्थमिलनं यत्र तेन वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि। तथा हि *''कर्मण्येवाधिकारस्ते''* इत्युक्त्वापि *''सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।'' ''बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौ* इति योगशब्दवाच्यं ज्ञानमपि ब्रवीषि। *''यदा ते मोहकलिलम्''* इत्यनेन ज्ञानं केवलमपि ब्रवीषि। किञ्चात्रेव– शब्देन त्वद्वाक्यस्य वस्तुतो नास्ति नानार्थ–मिश्रितत्वम्, नापि कृपालोस्तव मन्मोहनेच्छा, नापि मम तत्तदर्थानभिज्ञत्वम्, किन्तु स्पष्टीकृत्यै
अयं गूढोऽभिप्रायः—राजसात् कर्मणः सकाशात् सात्त्विकं कर्म श्रेष्ठम्, तस्मादपि ज्ञानं श्रेष्ठम्, तच्च सात्त्विकमेव। निर्गुणभक्तिश्च तस्मादतिश्रेष्ठै

तत्र सा यदि मयि न सम्भवेदिति ब्रूषे, तदा सात्त्विकं ज्ञानमेवै
तत एव दुःखमयात् संसारबन्धनान्मुक्तो भवेयमिति।।2।।

भावानुवाद – हे सखा अर्जुन ! यह सत्य है कि निर्गुण भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु अपने प्रयास से प्राप्त नहीं की जा सकती, बल्कि केवल किसी स्वच्छन्द, मेरे ऐकान्तिक महान् भक्त की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए तुम निर्गुण हो जाओ। तुम निर्गुण भी मेरी निर्गुणा भक्ति के द्वारा ही हो सकते हो । यह मैंने तुम्हें आशीर्वाद दिया है । यह आशीर्वाद जब फलीभूत होगा तब वैसे ही किसी स्वच्छन्द ऐकान्तिक भक्त की कृपा से गुणातीता भक्ति प्राप्त करोगे, किन्तु अभी तो कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है । यह मैं पहले कह चुका हूँ, यही सत्य भी है । तब अर्जुन ने कहा यदि ऐसा ही है, तो आप सीधा क्यों नहीं कहते कि कर्म करो, मुझे भ्रम में क्यों डाल रहे हो और मेरी बुद्धि मोहित कर रहे हो । पहले आपने कहा – कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है (गीता 2/47), फिर (गीता 2/48) कहा कामना पूरी होने और पूरी न होने दोनों अवस्था में समान रहना ही 'समत्वयोग' कहलाता है । इसके बाद (गीता 2/50) फिर कहा कि बुद्धिमान् व्यक्ति 'सुकृत' और 'दुष्कृत' दोनों कर्मों का परित्याग कर देता है, इसलिए निष्काम कर्म करो, क्योंकि निष्काम कर्म अर्थात् बुद्धियोग ही कर्मकौशल है। यहाँ पर आप 'योग' शब्द से ज्ञान का भी प्रतिपादन कर रहे हैं। और फिर 'यदा ते मोहकलिलम्' अर्थात् जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दल-दल को पार करेगी, ऐसा कह कर आप केवल ज्ञान को ही बतला रहे हैं। वस्तुतः यहां 'इव' शब्द का प्रयोग करने के कारण आपका वाक्य नाना अर्थों वाला नहीं है, परन्तु ऐसा लगता है। हे कृपालु! आपकी इच्छा मुझे मोहित करने की नहीं है और मैं भी इस विषय में इतना अनाड़ी नहीं हूँ, किन्तु आपका मुझे स्पष्ट बोलना ही उचित है। अर्जुन के कहने का अभिप्राय यह है कि राजसिक से सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है। निर्गुणा भक्ति ज्ञान से भी श्रेष्ठ है। यदि निर्गुण भक्ति का मैं अधिकारी नहीं हूँ, तो एक मात्र सात्त्विक ज्ञान का उपदेश दीजिए। मैं उसीसे संसार बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा ॥2॥

श्रीभगवानुवाच-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥3 ॥

मर्मानुवाद — भगवान् ने कहा — मैंने इससे पहले अध्याय में जो कहा है उसमें मेरा ऐसा उपदेश नहीं है कि साँख्ययोग और कर्मयोग परस्पर अलग-अलग रूप से मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। भक्तियोग को छोड़ कर और कोई मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं है। उस भक्तियोग के साधन में निष्ठा दो प्रकार की है, जो व्यक्ति शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, वे ज्ञान-भूमिका में आरोहण करने का प्रयास करते हैं, ऐसे व्यक्तियों की सांख्य,ज्ञान और योग में ही निष्ठा होती है। अन्तःकरण शुद्ध करने के लिए बताई गई कर्मयोगनिष्ठा उनके लिए आदरणीय नहीं हैं। वे साँख्ययोग निष्ठा द्वारा ही भक्ति योग में आरोहण करने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर जिनका अन्तः करण शुद्ध नहीं हुआ वे भगवान् में अर्पित निष्काम कर्मयोग के द्वारा ज्ञान की भूमिका पर आरोहण के लिए साधना करते हुए अन्त में भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। वास्तव में भक्तिभूमि प्राप्त करने के लिए जो सोपान है, वह मात्र एक ही है। केवल आरोहियों की अवस्था के अनुसार केवल निष्ठा दो प्रकार की होती है ॥ 3 ॥

अन्वय — श्री भगवान् (श्री भगवान् ने) उवाच (कहा)—अनघ (हे निष्पाप) अस्मिन् लोके (इस लोक में) द्विविधा निष्ठा (दो प्रकार की निष्ठा की बात) पुरा (इससे पहले अध्याय में) मया (मेरे द्वारा) प्रोक्ता (कही गई है)। साँख्यानाम् (शुद्ध अन्तःकरण वाले ज्ञानियों की) ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोग के द्वारा) योगिनाम् (अशुद्धः अन्तःकरण वाले साधकों की) कर्मयोगेन (ईश्वर में अर्पित निष्काम कर्मयोग के द्वारा) निष्ठा (मर्यादा) स्थापिता (स्थापित हुई है) ॥ 3 ॥

टीका — अत्रोत्तरम्—यदि मया परस्परनिरपेक्षावेव मोक्षसाधनत्वेन कर्मयोगज्ञानयोगावुक्तौ
मया तु कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठावत्त्वेन यद्द्वै
न तु वस्तुतो मोक्षं प्रत्यधिकारिद्वै
द्विप्रकारा निष्ठा नितरां स्थितिमर्यादेत्यर्थः। पुरा प्रोक्ता पूर्वाध्याये कथिता।

तामेवाह—सांख्यानां सांख्यं ज्ञानं तद्वताम्, तेषां शुद्धान्तःकरणत्वेन ज्ञानभूमि-कामधिरूढानां ज्ञानयोगेन निष्ठा, तेनै ज्ञानित्वेनै *''तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः''* इत्यादिना। तथा शुद्धान्तःकरणत्वाभावेन ज्ञानभूमिकामधिरोढूमसमर्थानां योगिनां तदारोहणार्थमुपायवतां कर्मयोगेन मदर्पितनिष्कामकर्मणा निष्ठा मर्यादा स्थापिता, ते खलु कर्मित्वेनै *''धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते''* इत्यादिना। तेन 'कर्मिणो' 'ज्ञानिन' इति नाममात्रेणै वस्तुतस्तु कर्मिण एव कर्मभिः शुद्धचित्ता ज्ञानिनो भवन्ति, ज्ञानिन एव भक्त्या मुच्यन्ते इति मद्वाक्यसमुदायार्थ इति भावः।। 3।।

भावानुवाद- भगवान् ने कहा कि- ''यदि मैं कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों को मोक्ष प्राप्ति का अलग-अलग साधन कहूँ, तो तुम्हारा प्रश्न होगा कि दोनों में निश्चयपूर्वक किसी एक को कहूँ, किन्तु मेरे द्वारा कही गई कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा, इन दो निष्ठाओं में पूर्व और परवर्ती अवस्थाओं का ही मात्र भेद है। किन्तु 'मोक्ष के अधिकारियों के दो भेद हैं', ऐसा मैंने नहीं कहा। पिछले अध्याय में मैने दो प्रकार की निष्ठा बताई है।'' उसी निष्ठा के सम्बन्ध में कह रहे हैं-'जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है ऐसी ज्ञान की भूमिका में आरूढ ज्ञानियों की ज्ञानयोग द्वारा निष्ठा अर्थात् मर्यादा स्थापित की गई है, वे ही 'ज्ञानी' के नाम से विख्यात हैं'। पहले गीता (2/61) में कहा गया है कि 'समस्त इन्द्रियों को संयमित करके योगी मेरे परायण रहें'। जबकि शुद्ध अन्तःकरण न होने के कारण ज्ञानभूमिका में अधिरूढ होने में जो असमर्थ हैं, किन्तु उसके लिए प्रयासरत हैं, उन योगियों के लिए मुझमें अर्पित निष्कामकर्म द्वारा मर्यादा स्थापित की गई है, उन्हें कर्मी कहा जाता है। गीता (2/31) में कहा गया है-'धर्मयुद्ध को छोड़ कर क्षत्रिय के लिए और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है'। इसलिए कर्मी और ज्ञानी नाममात्र से दो हैं किन्तु वास्तविकता में कर्मी ही कर्मों के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर ज्ञानी की संज्ञा प्राप्त करते हैं और ज्ञानी ही मेरी भक्ति द्वारा मुक्त होते हैं'', यही मेरे कहने का भाव है॥ 3॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ 4॥

मर्मानुवाद— शास्त्रों के अनुसार कर्म न करने से नैष्कर्म्य कर्मरूपी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। शास्त्रीय कर्मों को त्याग कर अशुद्ध चित्त वाला व्यक्ति सिद्धि कैसे प्राप्त कर सकता है?॥ 4॥

अन्वय — पुरुषः (अधिकारी व्यक्ति) कर्मणाम् (शास्त्र विहित कर्मों को) अनारम्भात् (न करने से) नैष्कर्म्यम् (ज्ञान) न अश्नुते (प्राप्त नहीं कर सकता) संन्यसनात् एव (शास्त्रीय कर्मों का परित्याग करने मात्र से) सिद्धिं न समधिगच्छति (सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता)॥ 4॥

टीका—चित्तशुद्ध्यभावे ज्ञानानुत्पत्तिमाह—नेति। शास्त्रीयकर्मणामनार-म्भादननुष्ठानान्नै
कर्मत्यागात्।। 4।।

भावानुवाद- चित्तशुद्धि न होने तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। शास्त्रीय कर्मों को किए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और न ही अशुद्ध चित्त अवस्था में संन्यास एवं शास्त्रीय कर्म त्यागने से सिद्धि होती है॥ 4॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ 5॥

मर्मानुवाद — वह अशुद्ध चित्त वाले पुरुष शास्त्रीय कर्मों का परित्याग करने पर भी प्रकृति के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुणों द्वारा उत्तेजित होकर पराधीन से हुए सभी व्यावहारिक कर्मों को करते हैं। इसलिए शास्त्रों द्वारा बताये गये चित्तशोधक कर्मों का त्याग करना उनके लिए उचित नहीं है॥ 5॥

अन्वय — कश्चित् (कोई) जातु (कभी भी) अकर्मकृत् (कर्म किये बिना) क्षणमपि (एक क्षण के लिए भी) न तिष्ठति (रह नहीं सकता) प्रकृतिजैः गुणैः (प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा) सर्वः अवशः (सभी जीव विवश से हुए) कर्म कार्यते (कर्म करते हैं)॥ 5॥

टीका—किन्त्वशुद्धचित्तः कृतसंन्यासः शास्त्रीयं कर्म परित्यज्य व्यावहारिके कर्मणि निमज्जतीत्याह—नहीति। ननु संन्यास एव तस्य वै
लौ

भावानुवाद– क्योंकि कोई भी व्यक्ति कर्म किए बिना नहीं रह सकता, इसलिए अशुद्ध चित्त व्यक्ति यदि संन्यास लेकर शास्त्रविहित कर्मों को त्याग भी देता है, तो वह व्यावहारिक कर्मों में फंस जाता है। हे अर्जुन! यदि तुम कहो कि क्या संन्यास ही उसकी वैदिक और लौकिक कर्म प्रवृत्ति का विरोधी है? तो सुनो, उसे विवश होकर कर्म करना ही पड़ता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ 6॥

मर्मानुवाद — जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ उसका केवल कर्मेन्द्रियों को संयम करने से कुछ होने वाला नहीं है। वह व्यक्ति कर्मेन्द्रियों का संयम कर मन ही मन में विषयों का चिन्तन करता रहता है, इसलिए ऐसे मूढ़ व्यक्ति को 'मिथ्याचारी' कहा जाता है॥ 6॥

अन्वय — यः (जो व्यक्ति) कर्मेन्द्रियाणि संयम्य (हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियों को संयम कर के) इन्द्रियार्थान् (विषयों का) मनसा (मन-मन में) स्मरन् आस्ते (स्मरण करता रहता है) विमूढात्मा (मूढ़ चित्त) सः (उस व्यक्ति को) मिथ्याचारः (मिथ्याचारी) उच्यते (कहा जाता है)॥ 6॥

टीका—ननु तादृशोऽपि संन्यासी कश्चित् कश्चिदिन्द्रियव्यापारशून्यो मुद्रिताक्षो दृश्यते? तत्राह—कर्मेन्द्रियाणि, वाक्पाण्यादीनि निगृह्य यो मनसा ध्यानच्छलेन विषयान् स्मरन्नास्ते, स मिथ्याचारो दाम्भिकः।। 6।।

भावानुवाद– उपर्युक्त अशुद्ध चित्त संन्यासी यदि इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोक कर आँख बंद कर बैठा देखा जाता है, तो उसे क्या कहेंगे? उसी के विषय में भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति वाणी और हाथ इत्यादि इन्द्रियों का संयम कर ध्यान का दिखावा करते हुए मन ही मन में विषयों का चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी या ढोंगी है ॥ 6॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ 7॥

मर्मानुवाद — जिन्होंने मन के द्वारा सभी इन्द्रियों को संयम करते हुए कर्मेन्द्रियों द्वारा गृहस्थधर्म में कर्मयोग आरम्भ कर दिया है, उसमें यदि वे निर्बल

भी हैं, तो भी मिथ्याचारी से तो श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वर्तमान में निर्बल होने पर भी कर्मयोग करते-करते क्रमशः फल की इच्छा का त्याग कर भविष्य में शक्तिशाली बन जायेंगे॥ 7॥

अन्वय —अर्जुन (हे अर्जुन) यः (जो) मनसा (मन से) इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को) नियम्य (नियमित करके) कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रियों से) कर्मयोगम् (शास्त्रविहित कर्मयोग का) आरभते (आरम्भ करता है) असक्तः (फल की इच्छा रहित) सः (वह व्यक्ति) विशिष्यते (मिथ्याचारी से श्रेष्ठ है)॥ 7॥

टीका—एतद्विपरीतःशास्त्रीयकर्मकर्त्ता गृहस्थस्तु श्रेष्ठ इत्याह—यस्त्विति। कर्मयोगं शास्त्रविहितम्। असक्तोऽफलाकांक्षी विशिष्यते। "असम्भावितप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठादपि पुरुषाद्विशिष्टः" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः।। 7।।

भावानुवाद- इस प्रकार के ढोंगी संन्यासी से तो वे कर्मयोगी गृहस्थी श्रेष्ठ हैं, जो फल की कामना त्याग कर शास्त्रीय कर्मों को करते हैं, इसीलिए विशिष्टता प्राप्त करते हैं। श्रीपाद रामानुजाचार्य जी ने कहा है कि असम्भावित प्रमाद के कारण ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति से भी गृहस्थ श्रेष्ठ है॥ 7॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ 8॥

मर्मानुवाद — अनधिकारी व्यक्ति के लिए कर्मत्याग करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म का त्याग करने से जब तुम्हारी शरीरयात्रा भी निर्वाह नहीं होती तब कर्म का त्याग किस प्रकार सम्भव है? इसलिए सकामकर्मों का त्याग कर सन्ध्या उपासना आदि नित्यकर्म करते हुए चित्त के शुद्ध होने पर ज्ञान की भूमिका का अतिक्रमण करते हुए तुम निर्गुण-भक्ति प्राप्त करो॥ 8॥

अन्वय — त्वम् (तुम) नियतं कर्म (सन्ध्या उपासना आदि नित्यकर्म) कुरु (करो) अकर्मणः (कर्मत्याग की अपेक्षा) कर्म (कर्म करना) ज्यायः (श्रेष्ठ है) अकर्मणः (कर्म का त्याग करने से) ते (तुम्हारी) शरीरयात्रापि (शरीर यात्रा भी) न प्रसिध्येत् (निर्वाह नहीं होगी)॥ 8॥

टीका—तस्मात्त्वं नियतं नित्यं सन्ध्योपासनादि, अकर्मणः कर्मसंन्या-सात्सकाशाज्ज्यायः श्रेष्ठम्। संन्यस्त-सर्वकर्मणस्तव शरीरनिर्वाहोऽपि न सिध्येत्।।8।।

भावानुवाद- इसलिए अर्जुन तुम शास्त्रविहित नित्यसन्ध्या - उपासनादि नित्य कर्मों को करो। वह कर्म संन्यास से श्रेष्ठ है। समस्त कर्मों से संन्यास लेने से तुम्हारा शरीर निर्वाह भी नहीं होगा॥ 8॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 9॥

मर्मानुवाद — भगवान् को अर्पित निष्कामधर्म को 'यज्ञ' कहते हैं, उस यज्ञ के उद्देश्य से किये कर्मों को छोड़ कर और जितने भी कर्म हैं उन्हें 'कर्मबन्धन' समझना। तुम यज्ञ के लिए ही सब कर्म करो। कामना पूरी करने के उद्देश्य से किया गया कर्म भगवान् को अर्पित होने पर भी बन्धन का कारण होता है। इसलिए फल की इच्छा को छोड़ कर भगवद् अर्पित कर्म करो। इस प्रकार का कर्म ही भक्तियोग का साधक-स्वरूप होता है, जो कि भगवत् तत्त्व ज्ञान को उत्पन्न करते हुए निर्गुणभक्ति को प्राप्त करवायेगा॥ 9॥

अन्वय— यज्ञार्थात् कर्मणः (विष्णु में अर्पित निष्काम धर्म के लिए जो कर्म है) ततोऽन्यत्रैव अयं लोकः (उसको छोड़ और सभी कर्मों द्वारा इस लोक में) कर्मबन्धनः भवति (कर्मबन्धन होता है) कौन्तेय (हे कौन्तेय) मुक्तसङ्गः सन् (आसक्ति रहित हो कर) तदर्थं कर्म (यज्ञ के लिए कर्म) समाचर (करो)॥ 9॥

टीका—ननु तर्हि *''कर्मणा बध्यते जन्तुः''* इति स्मृतेः, कर्मणि कृते बन्धः स्यादिति चेन्न; परमेश्वरार्पितं कर्म न बन्धकमित्याह—यज्ञार्थादिति। विष्णवर्पितो निष्कामो धर्म एव यज्ञ उच्यते। तदर्थं यत् कर्म, ततोऽन्यत्रै लोकः कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यमानो भवति। तस्मात् त्वं तदर्थं तादृशधर्मसिद्ध्यर्थं कर्म समाचर। ननु विष्णवर्पितोऽपि धर्मः, कामनामुद्दिश्य कृतश्चेत् बन्धको भवत्येवेत्याह—मुक्तसङ्गः फलाकाङ्क्षारहितः; एवमेवोद्धवं प्रत्यपि श्रीभगवतोक्तम्—*"स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञै*
स्वर्गनरकौ

शुचिः। ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति।।" इति।।9।।

भावानुवाद- भगवान् ने कहा - अर्जुन! यदि तुम ऐसा कहो कि 'जीव कर्म के द्वारा ही बंधता है', इसलिए कर्म से मुझे बन्धन होगा ही? तो सुनो, ये नियम हर जगह लागू नहीं होता। परमेश्वर के लिए किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं होता । श्रीविष्णु अर्पित निष्काम कर्म को यज्ञ कहा जाता है। विष्णु के लिए किए जाने वाले कर्मों को छोड़ कर और सभी कर्म लोंगों को संसार में बाँध लेते हैं, इसलिए तुम विष्णु के लिए कर्म करो और सुनो विष्णु अर्पित धर्म भी यदि किसी कामना के उद्देश्य से किया जाये, तो वह भी बन्धन का कारण होता है''। इसलिए कहा है कि फल की इच्छा से रहित होकर कर्म करो। श्रीमद्भागवत (11/20/10-11) में भगवान् ने उद्धव से कहा भी है कि - ''हे उद्धव! स्वधर्म का आचरण करने वाले व फल की कामना रहित व्यक्ति यज्ञों के द्वारा आराधना करें, और निषिद्ध कर्म न करें तो उन्हें स्वर्ग या नरक प्राप्त नहीं होता, वे स्वधर्म में स्थित होकर, निषिद्ध विषयों का त्याग कर और आसक्ति रहित होकर इस जगत् में रहते हुए ही विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं''।।9।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ 10॥

मर्मानुवाद— अशुद्ध चित्त वाले व्यक्ति के लिए निष्काम कर्म करना ही कर्तव्य है ऐसे व्यक्ति के लिए कर्मसंन्यास मंगलकारी नहीं है। यदि किसी व्यक्ति की निष्काम कर्म करने की शक्ति न हो, तो वह सकाम अवस्था में भी भगवद् अर्पित कर्म करे। वह किसी प्रकार भी कर्म का त्याग कर अकर्म या विकर्म को वरण न करे। यज्ञ के साथ प्रजाओं की सृष्टि करके ब्रह्मा जी ने यह आदेश दिया कि तुम इस यज्ञरूपी धर्म का आश्रय लेकर क्रमशः समृद्ध होते चले जाओ, यह यज्ञ ही तुम्हें सारी इच्छित वस्तुयें प्रदान करने वाला हो॥ 10॥

अन्वय— पुरा (सृष्टि के प्रारम्भ में) सहयज्ञाः (विष्णु में अर्पित निष्काम धर्म करने वाली) प्रजाः (प्रजा की) सृष्ट्वा (सृष्टि करके) प्रजापतिः (प्रजापति ब्रह्मा जी ने) उवाच (कहा था) अनेन (इस धर्म के द्वारा) प्रसविष्यध्वम् (समृद्ध होओ) एष यज्ञः (यह यज्ञ) वः (आपकी) इष्टकामधुक्

(इच्छित वस्तुयें प्रदान करने वाला) अस्तु (हो) ॥ 10 ॥

टीका—तदेवाशुद्धचित्तो निष्कामं कर्मै इदानीं यदि च निष्कामोऽपि भवितुं न शक्नुयात्, तदा सकाममपि धर्मं विष्ण्वर्पितं कुर्यात्, न तु कर्मत्यागमित्याह—सहेति सप्तभिः। यज्ञेन सहिताः सहयज्ञाः—"वोपसर्जनस्य" इति 'सहस्य' सादेशाभावः। पुरा विष्ण्वर्पितधर्मकारिणीः प्रजाः सृष्ट्वा ब्रह्मोवाच—अनेन धर्मेण प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिरुत्तरोत्तरमतिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः। तासां सकामत्वमभिलक्ष्याह—एष यज्ञो व इष्टकामधुक् अभीष्टभोग-प्रदोऽस्त्वित्यर्थः।। 10।।

भावानुवाद- भगवान् कह रहे हैं- ''जिनका चित्त अभी शुद्ध नहीं हुआ वे निष्काम कर्म ही करें, संन्यास न लें और यदि निष्काम कर्म भी न कर सकें तो सकाम कर्म ही करें और उन्हें विष्णु के अर्पित करते रहें किन्तु कर्म का त्याग न करें''। यहाँ से आगे सात श्लोकों में यही बात कही गई है ।सृष्टि के आरंभ में विष्णु अर्पित धर्म करने वाली प्रजा की सृष्टि करके ब्रह्माजी ने कहा था,-'इस धर्म के द्वारा आप लोग उत्तरोत्तर अतिशय वृद्धि प्राप्त करो।' प्रजा के सकामभाव को जान कर ब्रह्माजीने यह भी कहा कि यह ''यज्ञ तुम्हारे लिए इच्छित वस्तुओं को देने वाला हो ''॥ 10 ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ 11 ॥

मर्मानुवाद — इस यज्ञ से देवता लोग आप लोगों पर प्रसन्न हों और आपको मनोवाञ्छित फल प्रदान करके तुम्हें भी प्रसन्नता प्रदान करें॥ 11 ॥

अन्वय — अनेन यज्ञेन (इस यज्ञ के द्वारा) देवान् (देवताओं को) भावयत (प्रसन्न करो) ते देवाः (देवता प्रसन्न होकर) वः (आपको) भावयन्तु (प्रसन्न करें) एवम् (इस प्रकार) परस्परम् (आपस में एक दूसरे को) भावयन्तु (प्रसन्न करने से) परं श्रेयः (परम कल्याण) अवाप्स्यथ (प्राप्त कर सकोगे) ॥ 11 ॥

टीका—कथमिष्टकामप्रदो यज्ञो भवेत्तत्राह—देवानिति। अनेन यज्ञेन देवान् भावयत, भाववतः कुरुत—भावः प्रीतिस्तद्युक्तान् कुरुत प्रीणयत इत्यर्थः। ते देवा अपि वः प्रीणयन्तु।। 11।।

भावानुवाद- यह किसप्रकार इच्छित वस्तुओं को देने वाला हो सकता है इसे बताते हुए कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न करो और देवता इच्छित वस्तुयें प्रदान करके तुम्हें प्रसन्नता प्रदान करेंगे।। 11।।

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङक्ते स्तेन एव स:॥ 12॥

मर्मानुवाद— देवता प्रसन्न हो कर वर्षा करते हैं उससे अन्न आदि उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति पञ्चमहायज्ञों के द्वारा देवताओं को दिए बिना उस अन्नादि को ग्रहण करते हैं, वे चोर के समान दोष के भागी होते हैं।

अन्वय — हि (क्योंकि) देवा: (देवता) यज्ञभाविता: (यज्ञ से प्रसन्न होकर) इष्टान् भोगान् (वाञ्छित भोग्य वस्तुयें) दास्यन्ते (प्रदान करेंगे) तै: (देवताओं द्वारा) (वृष्ट्यादिद्वारेण) (वर्षा आदि के द्वारा) दत्तान् (दिये पदार्थ) एभ्य: (इन देवताओं को) अप्रदाय (बिना दिये) यो (जो) भुङक्ते (भोजन करता है) स: (वह) स्तेन एव (चोर ही है)॥ 12॥

टीका—एतदेव स्पष्टीकुर्वन् कर्माकरणे दोषमाह—इष्टानिति। तै वृष्ट्यादिद्वारेणान्नादीनुत्पाद्येत्यर्थ:। एभ्यो देवेभ्य: पञ्चमहायज्ञादिभिरदत्त्वा यो भुङ्क्ते, स तु चौ

भावानुवाद- कर्म न करने से दोष लगता है, इसे स्पष्ट करते हुए भगवान् यह श्लोक कह रहे हैं- देवताओं द्वारा वर्षा करने पर अन्न उत्पन्न होता है - इस प्रकार उन देवताओं के द्वारा प्रदत्त इस अन्न को जो पञ्चमहायज्ञों के द्वारा देवताओं को अर्पित किए बिना खाता है वह चोर है॥ 12॥

यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै:।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ 13॥

मर्मानुवाद — जो लोग यज्ञ का अवशेष अन्नादि ग्रहण करते हैं वे पञ्चसूना से होने वाले सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं। और जो केवल स्वार्थवश अपने लिए ही पकाते और भोजन करते हैं वे सभी पाप ही खाते हैं।

अन्वय — यज्ञशिष्टाशिन: सन्त: (वैश्वदेवादि यज्ञ करने के पश्चात् बचे हुए अन्न का भोजन करने वाले) [पञ्चसूनाकृतै:] [पञ्चसूना से होने वाले]

सर्व किल्बिषैः (समस्त पापों से) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं) ये (जो) आत्मकारणात् (केवल अपने लिए) पचन्ति (पकाते हैं) ते (वे) पापाः (पापिष्ठ व्यक्ति) अघम् (पाप ही) भुञ्जते (भोजन करते हैं)॥ 13॥

टीका – वैश्वदेवादि-यज्ञावशिष्टमन्नं येऽश्नन्ति, ते पंचसूना-कृतैः सर्वैः पापैर्मुच्यन्ते। पंचसूनाश्च स्मृत्युक्ताः – "कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्ज्जनी। पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति" इति॥ 13॥

भावानुवाद– जो लोग वैश्वदेवादि यज्ञ के अवशेष अन्न को ग्रहण करते हैं वे पंचसूना द्वारा किये गये सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं। स्मृति में कहा गया है कि ओखली, चक्की, चूल्हा, घड़ा और झाड़ू, इन पाँचों से जीवों की हत्या होती है। गृहस्थ के लिए ये पांच 'सूना' कहे गये हैं। सूना पशुओं के वध के स्थान को कहा जाता है। इसी पाप के कारण गृहस्थ स्वर्ग की प्राप्ति नहीं कर पाते॥ 13॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ 14॥

मर्मानुवाद — अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है॥ 14॥

अन्वय — अन्नात् (वीर्य रक्त के रूप में परिणत अन्न से) भूतानि (प्राणी) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) पर्जन्यात् (वर्षा से) अन्नसम्भव : (अन्न उत्पन्न होता है) यज्ञात् (यज्ञ से) पर्जन्यः भवति (वर्षा होती है) यज्ञः (यज्ञ) कर्मसमुद्भवः (कर्म से उत्पन्न होता है)॥ 14॥

टीका – जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपि यज्ञं कुर्यादेवेत्याह-अन्नाद् भूतानि प्राणिनो भवन्तीति भूतानां हेतुरन्नम्-अन्नादेव शुक्रशोणितरूपेण परिणतात् प्राणिशरीर-सिद्धेस्तस्यान्नस्य हेतुः पर्जन्यः, वृष्टिभिरेवान्नसिद्धेस्तस्य पर्जन्यस्य हेतुर्यज्ञः, लोकैः कृतेन यज्ञेनैव समुचितवृष्टिप्रदमेघसिद्धेस्तस्य यज्ञस्य हेतुः कर्म, ऋत्विग्यजमानव्यापारात्मकत्वात् कर्मण एव यज्ञसिद्धेः॥ 14॥

भावानुवाद– जगत् चक्र का हेतु होने के कारण यज्ञ को करना आवश्यक है। अन्न से जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिए जीवों का कारण अन्न है, क्योंकि

अन्न से रक्त बनता है और रक्त के वीर्य के रूप में परिवर्तित होने से जीवों का शरीर बनता है। उस अन्न का कारण है मेघ। मेघवृष्टि से अन्न उपजता है और मेघ का कारण है यज्ञ, क्योंकि यज्ञ से ही समुचित वृष्टि देने वाले मेघों का सृजन होता है। उस यज्ञ का कारण कर्म है। ऋत्विक् अर्थात् यज्ञपुरोहित और यजमान के द्वारा किये कर्म से ही यज्ञ सिद्ध होता है॥ 14॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ 15॥

मर्मानुवाद — कर्म ब्रह्म अर्थात् वेद से उत्पन्न होता है; ब्रह्म अर्थात् वेद अक्षर अच्युत से उत्पन्न होते हैं, इसलिए इस जगत् चक्र की प्रवृत्ति का हेतु जो यज्ञ है उसे करना उसके अधिकारियों का परम कर्तव्य है; उसमें सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य प्रतिष्ठित होता है।

अन्वय — कर्म (कर्म) ब्रह्मोद्भवम् (वेद से उत्पन्न) विद्धि (जानना) ब्रह्म (वेदों को) अक्षरसमुद्भवं विद्धि (अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न जानना) तस्मात् (इसलिए) सर्वगतं ब्रह्म (सर्वव्यापक ब्रह्म) यज्ञे (यज्ञ में) नित्यम् (नित्य) प्रतिष्ठितम् (प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञ द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है)॥ 15॥

टीका—तस्य कर्मणो हेतुर्ब्रह्म वेदः, वेदोक्तविधिवाक्यश्रवणादेव यज्ञं प्रति व्यापारोत्पत्तेस्तस्य वेदस्य हेतुरक्षरं ब्रह्म, ब्रह्मत एव वेदोत्पत्तेः, तथा च श्रुतिः—*"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"*इति। तस्मात् सर्वगतं सर्वाव्यापकं ब्रह्म यज्ञे प्रतिष्ठितमिति यज्ञेन ब्रह्मापि प्राप्यत इति भावः। अत्र यद्यपि कार्यकारणभावेनान्नाद्या ब्रह्म पर्यन्ताः पदार्था उक्तास्तदपि तेषु मध्ये यज्ञ एव विधेयत्वेन शास्त्रेणोच्यत इति। स एव प्रस्तुतः, *"अग्नौ*
*वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।"*इति स्मृतेः।। 15।।

भावानुवाद– उस कर्म का कारण हैं वेद, क्योंकि वेदों में वर्णित विधिवाक्यों के द्वारा ही यज्ञ किया जाता है उस वेद का भी कारण अक्षर ब्रह्म है, क्योंकि वेद ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। इसके सम्बन्ध में श्रुति में कहा गया है– 'ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महापुरुष के निःश्वास से उत्पन्न हुए हैं' इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है, इस

वाक्य से यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञ से ब्रह्म की भी प्राप्ति होती है। यद्यपि अन्न से ब्रह्म तक वस्तुओं को कार्यकारण के रूप में कहा गया है, फिर भी शास्त्रों में प्रधानरूप से यज्ञ की प्रशंसा की गई है। स्मृति में भी कहते हैं – "अग्नि में दी गई आहुति सूर्य तक पहुँचती है, सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं"।। 15।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ 16॥

मर्मानुवाद — हे पार्थ! सकाम कर्म के अधिकारी व्यक्तियों में से जो इस जगत् चक्र का प्रवर्तन करने वाले यज्ञ को नहीं करते हैं वे पापमय जीवन जीने वाले, इन्द्रियों के सेवक के रूप में बेकार ही जीवन धारण करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् को अर्पित निष्काम कर्मयोग पर पाप-पुण्यों का अधिकार नहीं है। कारण, शास्त्रों में इसे निर्गुण भक्ति प्राप्ति का प्रशस्त मार्ग बताया गया है। इस मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति का चित्त मल रहित होकर अनायास ही शुद्ध हो जाता है। जिन सब व्यक्तियों ने भगवद् अर्पित निष्काम कर्म करने का अधिकार प्राप्त नहीं किया है। वे सदा कामना और इन्द्रिय तृप्ति के वशीभूत रहते हैं, इसलिए पाप करने में मग्न रहते हैं। उनकी पाप-वृत्ति को कम करने के लिए पुण्य कर्म करना ही एकमात्र उपाय है। पाप हो जाने पर उसका प्रायश्चित ही करणीय है। यज्ञ -व्यवस्था ही धर्म या पुण्यकर्म है, जिससे समष्टि जीवों का शुभ होता है और जगत् चक्र सही रूप से चलता रहता है, वही 'पुण्य' है। पुण्य करने से 'पञ्चसूना' इत्यादि सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। यज्ञ करने वाले के द्वारा अपना सुख और इन्द्रियतृप्ति जितनी जगत् के मंगल की रक्षा करते हुए स्वीकार की जा सके उतना ही 'यज्ञाङ्ग' होकर वह पुण्य में बदल जाता है। जिन सब अज्ञात तरीकों से जगत् के मंगल स्वरूप फल की उत्पत्ति होती है, वे सब भगवान् की शक्ति से उत्पन्न देवता विशेष हैं। उन विधिरूप देवताओं को प्रसन्न कर उनकी अनुकम्पा से आनन्द मिलने पर कोई पाप बाकी नहीं रहता; इसी को कर्मचक्र कहते हैं। इस प्रकार देवताओं की पूजा द्वारा जो कर्म स्वीकार किए गये हैं, उन्हें ही 'भगवद् -अर्पित' 'सकाम कर्म' कहते हैं। इन सब विधियों को प्राकृतिक विधि जानकर जो लोग कार्य

करते हैं, वे लोग केवल नैतिक लोग हैं, विष्णु अर्पित कर्म करने वाले नहीं है। इसलिए नैतिकता को छोड़ भगवान् को अर्पित सकाम कर्म करना ही उस अधिकारी जीव के लिए मंगल जनक है॥ 16॥

अन्वय — पार्थ (हे पार्थ) यः (जो) [कर्म या ज्ञान के अधिकारी] इह (इस जगत् में) एवम् (इस प्रकार) [परमपुरुषेण] [परमपुरुष के द्वारा कार्यकारणरूप से] प्रवर्तितम् (चलाये हुए) चक्रम् (चक्र का) न अनुवर्तयति (अनुसरण नहीं करता) अघायुः (पापपूर्ण जीवन) इन्द्रियारामः (इन्द्रियों में आसक्त) सः (वह व्यक्ति) मोघम् (व्यर्थ में) जीवति (जीवन धारण करता है) ॥ 16॥

टीका—एतदननुष्ठाने प्रत्यवायमाह—एवमिति। चक्रं पूर्वपश्चाद्भागेन प्रवर्त्तितम्—यज्ञात् पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नम्, अन्नात् पुरुषः, पुरुषात् पुनर्यज्ञो, यज्ञात् पर्जन्य इत्येवं चक्रं यो नानुवर्त्तयति—यज्ञानुष्ठानेन न परिवर्त्तयति, स अघायुः पापव्याप्तायुः। को नरके न मङ्क्ष्यतीति भावः।। 16।।

भावानुवाद- इस अनुष्ठान के न करने से जो दोष होता है उसे ही यहाँ कह रहे हैं - जैसे कि यज्ञ से मेघ और मेघ से अन्न, अन्न से प्राणी, प्राणियों द्वारा फिर यज्ञ और यज्ञ से फिर मेघ । जो इस चक्र का अनुवर्तन नहीं करते अर्थात् यज्ञ अनुष्ठान करके इस का आचरण नहीं करते उनका जीवन पापमय है। ऐसे पापमय जीवन वाले सभी नरक में ही जाते हैं। इसके विपरीत जो यज्ञ करते हैं, वे नरक में नहीं जाते हैं॥ 16॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 17॥

मर्मानुवाद —इस प्रकार के कर्मचक्र में वर्तमान सभी जीव अपना कर्तव्य समझ कर्म का अनुष्ठान करते हैं। किन्तु जो लोग अनात्म और आत्मतत्त्व का अलग-अलग विवेचन करने में समर्थ हुए हैं, वे आत्मवस्तु में ही मग्न रहते हैं, वही आत्मतृप्त हैं और आत्मानन्द का अनुभव करने के कारण सुखी हैं। वे कर्तव्य समझकर कर्म नहीं करते, वे तो केवल मात्र अपने शरीर की यात्रा का निर्वाह करने के लिए कर्म करके कर्मचक्र से निवृत्तिरूपी शान्ति की खोज करते हैं। इसलिए सब कर्म करते हुए भी वह नित्य और सकाम कर्मों को नहीं

करते, इसलिए उनके कर्मों को कर्म नहीं कहा जा सकता। उनके सभी कर्मों को अवस्था भेद से 'ज्ञान' या 'भक्ति' कहा जाता है॥ 17॥

अन्वय — तु (किन्तु) यः मानवः (जो व्यक्ति) आत्मरतिः (आत्मा में रमण करने वाला) आत्मतृप्तः (आत्मानन्द का अनुभव हो जाने के कारण सुखी) आत्मनि एव सन्तुष्टः (आत्मा में ही संतुष्ट हो) तस्य (उसके लिए कुछ भी) कार्यम् (करणीय) न विद्यते (नहीं है)॥ 17॥

टीका—तदेवं निष्कामत्वासामर्थ्ये सकामोऽपि कर्म कुर्यादेवेत्युक्तम्। यस्तु शुद्धान्तःकरणत्वात् ज्ञानभूमिकामारूढः, स तु नित्यं काम्यञ्च न करोतीत्याह—यस्त्विवति द्वाभ्याम्। आत्मरतिरात्मारामो यत आत्मतृप्त आत्मानन्दानुभवेन निर्वृतः। न स्वात्मनि निर्वृतो बहिर्विषयभोगेऽपि किञ्चिन्निर्वृतो भवतु। तत्र नै
कर्म नास्ति।। 17।।

भावानुवाद- यहाँ कहा है कि जो निष्काम भावना से कर्म नहीं कर सकते, वे सकाम कर्म ही करें। किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और ज्ञान-भूमिका पर आरूढ हैं, ऐसे व्यक्ति नियत सकाम कर्मों को नहीं करते और न ही उनके लिए एसा करना आवश्यक ही है,। इन दो श्लोकों में यही बात बता रहे हैं। 'आत्मरति' अर्थात् जो आत्माराम हैं, आत्मतृप्त हैं, वे आत्मानन्द के अनुभव से सुखी रहते हैं। यदि कोई आत्मानन्द से सुखी नहीं है तो बाह्य विषयों से किंचित् मात्र भी सुखी नहीं हो सकता। जो अपने में ही तृप्त हैं, उन्हें बाह्य विषयों की आवश्यकता नहीं है और न ही उनके लिए कुछ करणीय है।। 17।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ 18॥

मर्मानुवाद —आत्मानन्द का अनुभव करने वाला यदि कर्तव्य कर्म करे तो उसका पुण्य नहीं होता और यदि कर्त्तव्य कर्म न करे तो उसका पाप नहीं होता। ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सभी प्राणियों से उसका कोई स्वार्थमय सम्बन्ध नहीं होता। आत्मा में ही रमण करने के कारण पूरी तरह तृप्त उस व्यक्ति का पाप-पुण्य उद्देश्य नहीं रह जाता। वह स्वाभाविक ही जो करता है या जो

नहीं करता सभी मंगलमय होता है॥ 18॥

अन्वय — इह (इस जगत् में) तस्य (उस आत्माराम पुरुष का) कृतेन कर्मणा (कर्म करने से) अर्थः- नास्ति (पुण्य नहीं होता) अकृतेन (कर्म न करने से) अनर्थः न (पाप नहीं होता) अस्य सर्वभूतेषु (तमाम प्राणियों में इस व्यक्ति का) कश्चित् (कोई) अर्थव्यपाश्रयो न भवति (अपने स्वार्थ हेतु आश्रणीय नहीं है)॥ 18॥

टीका—कृतेनानुष्ठितेन कर्मणा नार्थो न फलम्। अकृतेन कश्चन प्रत्यवायोऽपि न, यस्मादस्य सर्वभूतेषु ब्रह्माण्डस्थावरादिषु मध्ये कश्चिदप्यर्थाय स्वप्रयोजनार्थं व्यपाश्रय आश्रयणीयो न भवति। पुराणादिषु व्यपाश्रयशब्देन तथै *वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम्। ज्ञानवै नेह कश्चिद्व्यपाश्रयः*।। इति, तथा *''यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति''* इति, *''संस्था-हेतुरपाश्रयः''*इत्यादावप्यपेत्युपसर्गस्यानधिकार्थकत्वम दृष्टम्।।18।।

भावानुवाद- आत्मानन्द अनुभवकारी यदि कर्तव्य कर्म करे तो उसका पुण्य नहीं होता और यदि न करे तो उसे कोई दोष नहीं लगता। इसलिए ब्रह्माण्ड में स्थित कोई भी प्राणी उनके अपने स्वार्थ के लिए आश्रय योग्य नहीं है। श्रीमद्भागवत (2/4/17-18)में 'व्यपाश्रय' का अर्थ आश्रणीय ही किया गया है- जिसकी भगवान् वासुदेव के चरणों में भक्ति है उनके लिए ज्ञान वैराग्यादि में से कोई भी आश्रय लेने योग्य नहीं है और भी कहा है कि भगवान् के आश्रितजनों के चरणों का आश्रय लेने मात्र से जीव शुद्ध हो जाता है॥ 18॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ 19॥

मर्मानुवाद— तुम सदा कर्मफल में अनासक्त होकर कर्म करो, क्योंकि आसक्ति रहित भाव से कार्य करते-करते जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मोक्ष और कुछ नहीं है, केवल तमाम कर्मों की चरम परिपक्व अवस्था में जो परम भक्ति है, वही मात्र है।। 19॥

अन्वय — तस्मात् (इसलिए) असक्तःसन् (फल की आसक्ति से रहित होकर) कार्यं कर्म (आवश्यक कर्तव्य कर्म का) समाचर (आचरण करो)

हि (क्योंकि) असक्त: (आसक्ति रहित होकर) कर्म आचरन् (कर्म करने से) पूरुष: (पुरुष) परम् आप्नोति (परम पद प्राप्त करता है) ॥ 19 ॥

टीका—तस्मात्तव ज्ञानभूमिकारोहणे नास्ति योग्यता, काम्यकर्मणि तु सद्विवेकवतस्तव नै
कार्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन विहितं परं मोक्षम्।। 19।।

भावानुवाद- हे अर्जुन! ज्ञानभूमिका पर आरोहण करने की तुम्हारी योग्यता नहीं है, क्योंकि तुम सद्विवेकी हो, इसलिए सकाम कर्म में भी तुम्हारा अधिकार नहीं है। तुम केवल निष्काम कर्म करो। आवश्यक कर्तव्य के रूप में जिन कर्मों को करने का विधान है उन्हें करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥ 19 ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

मर्मानुवाद — राजा जनक जैसे ज्ञान के अधिकारी व्यक्तियों ने कर्म के द्वारा ही भक्तिरूपी संसिद्धि को प्राप्त किया था। इसलिए लोकशिक्षा के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है ॥ 20 ॥

अन्वय — जनकादय: (जनकादि ज्ञानियों ने भी) कर्मणा एव (कर्म के द्वारा ही) संसिद्धिम् आस्थिता (सिद्धि प्राप्त की थी) लोकसंग्रहमपि संपश्यन् एव ('लोग शिक्षा लेंगे' इस प्रकार विचार कर) कर्म कर्तुम् अर्हसि (कर्म करना उचित है) ॥ 20 ॥

टीका—अत्र सदाचारं प्रमाणयति—कर्मणेति। यदि वा त्वमात्मानं ज्ञानाधिकारिणं मन्यसे,तदपि लोके शिक्षाग्रहणार्थं कमै

भावानुवाद - यहाँ सदाचार का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि तुम समझते हो कि मैं ज्ञान का अधिकारी हूँ तब भी कर्म करो, ताकि लोग तुमसे शिक्षा ग्रहण कर सकें ॥ 20 ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ 21 ॥

मर्मानुवाद — श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही

करने लगते हैं। श्रेष्ठ लोग जिसे प्रमाणरूप से स्वीकार करते हैं, दूसरे लोग भी उन्हीं का अनुसरण करते हैं॥ 21॥

अन्वय — श्रेष्ठः (श्रेष्ठ व्यक्ति) यद् यद् (जैसे-जैसे) आचरति (आचरण करते हैं) इतरो जनः (दूसरे व्यक्ति) तत् तत् एव (वैसा-वैसा ही कर्म करने लगते हैं) सः (वे श्रेष्ठ लोग) यत् (जिसे) प्रमाणम् (प्रमाण के रूप में) कुरुते (स्वीकार करते हैं) लोकः (साधारण लोग भी) तद् अनुवर्तते (उन्हीं का अनुसरण करते हैं)॥ 21॥

टीका—लोकसंग्रहप्रकारमेवाह—यद् यदिति।। 21।।

भावानुवाद- लोकसंग्रह के प्रकार बताते हुए यह श्लोक कह रहे हैं।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥ 22॥

मर्मानुवाद — हे पार्थ! मैं परमेश्वर हूँ, इन तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी करना कर्तव्य नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ।। 22।।

अन्वय — पार्थ (हे अर्जुन) त्रिषु लोकेषु (तीनों लोकों में) मम (मेरा) किञ्चन (कोई) कर्त्तव्यं नास्ति (कर्त्तव्य नहीं है) अनवाप्तम् अवाप्तव्यम् (प्राप्त करने योग्य और अप्राप्त) किञ्चन नास्ति (कुछ भी नहीं है) [तथापि] कर्मणि (फिर भी कर्म में) वर्त्त एव (तत्पर रहता हूँ)।। 22।।

टीका—अत्राहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः।। 22।।

भावानुवाद- तीन श्लोकों में भगवान् अपने आप को लोगों को शिक्षा देने वाले के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।। 22।।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 23॥

मर्मानुवाद — यदि मैं सावधानी पूर्वक कर्म न करूं तब सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हुए कर्म का त्याग कर देंगे॥ 23॥

अन्वय— यदि जातु (यदि कभी भी) अतन्द्रितः सन् (सावधानी से) अहम् (मैं) कर्मणि (कर्म में) न वर्त्तेयम् (व्यस्त न रहूँ) पार्थ (हे अर्जुन) मनुष्याः (मानव) सर्वशः (हमेशा) मम (मेरे) वर्त्म (मार्ग का) अनुवर्त्तन्ते

(अनुसरण करेंगे)।। 23।।

टीका—अनुवर्त्तन्तेऽनुवर्त्तेरन्नित्यर्थः।। 23।।

भावानुवाद– अनुवर्तन्ते का अभिप्राय है – अनुकरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ 24 ॥

मर्मानुवाद — मैं यदि कर्म न करूँ तो कर्म त्याग करने से सारे लोक नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगे। मैं वर्ण–संकरता का कारण बन जाऊंगा और वर्णसंकरता से सारी प्रजा नष्ट हो जायेगी ॥ 24 ॥

अन्वय — अहं चेत् कर्म न कुर्याम् (मैं यदि कर्म न करूँ) तर्हि (तो) इमे लोकाः उत्सीदेयुः (तब ये सब लोक कर्म त्याग करने के कारण भ्रष्ट हो जायेंगे) संकरस्य च कर्ता स्याम् (मैं वर्ण संकर का कारण बन जाऊँगा) इमाः प्रजाः उपहन्याम् (और इस सारी प्रजा के विनाश का कारण बनूंगा)।। 24।।

टीका—उत्सीदेयुर्मां दृष्टान्तीकृत्य धर्ममकुर्वाणा भ्रंश्येयुः। ततश्च वर्णसङ्करो भवेत्तस्याप्यहमेव कर्त्ता स्यामेवमहमेव प्रजा हन्यां—मलिनाः कुर्याम्।। 24।।

भावानुवाद – यदि मैं धर्म का आचरण न करूं तो लोग भी धर्म का पालन नही करेंगे और भ्रष्ट हो जायेंगे । फलस्वरूप वर्णसंकर उत्पन्न होंगे जिसका कारण मैं होऊँगा और मैं ही प्रजा का नाश करने वाला बनूँगा अथवा मलिन करने वाला होऊँगा।। 24।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ 25 ॥

मर्मानुवाद — इसलिए लोक शिक्षा के लिए विद्वान् ठीक उसी प्रकार अनासक्त हो कर कार्य करे जैसे अज्ञानी पुरुष आसक्त हो कर कर्म करता है। इसलिए विद्वान् और अज्ञानी के कर्मों की किस्म अलग नहीं है, उनमें केवल उनकी आसक्ति और अनासक्ति सम्बन्धी निष्ठा ही अलग होती हैं – ऐसा जानना ॥ 25 ॥

अन्वय — भारत (हे भारत) अविद्वांसः (अज्ञ व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) कर्मणि सक्ताः (कर्म में आसक्त होकर) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करता

है) तथा (उसी प्रकार) विद्वान् (ज्ञानी व्यक्ति) लोकसंग्रहं चिकीर्षुः (लोकों को शिक्षा देने की इच्छा से) असक्तः कुर्यात् (आसक्ति रहित होकर कर्म करे) ॥ 25 ॥

टीका—तस्मात् प्रतिष्ठितेन ज्ञानिनापि कर्म कर्त्तव्यमित्युपसंहरति—सक्ता इति।। 25।।

भावानुवाद– इसलिए बड़े से बड़े ज्ञानी के लिए भी कर्म करना कर्तव्य है ॥ 25 ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ 26 ॥

मर्मानुवाद — जो यह नहीं जानते कि भक्ति को जन्म देने वाला ज्ञान ही कर्म का उद्देश्य है वे 'अज्ञ' हैं। इसी अज्ञानतावश वह सकाम कर्मों को स्वीकार करते हैं, और कर्मों में आसक्त होते हैं। ऐसे कर्मों में आसक्त व्यक्ति को तत्त्वज्ञान के तात्पर्य के बारे में बताओ भी तो वह उसमें रुचि नहीं दिखाते। इसलिए विद्वान् लोगों को एकदम उन्हें कर्मत्याग करने का उपदेश नहीं देना चाहिये बल्कि निष्काम कर्मयोग के द्वारा स्वयं आचरण करके शिक्षा देते हुए उन्हें चित्त शुद्ध करने के लिए कर्म का उपदेश दें। एकदम कर्म को त्यागने का उपदेश देकर उनकी बुद्धि में भेद उत्पन्न न करें, क्योंकि इससे उनका मंगल नहीं होगा। ज्ञान का उपदेश करने वालों के लिए मेरा यह उपदेश है। किन्तु जो भक्ति का उपदेश करने वाले हैं, उनके लिए यह उपदेश नहीं है, क्योंकि भक्ति के सम्बन्ध में चित्त शुद्ध होने तक की प्रतीक्षा नहीं है। इस विषय में बाद में विशेष रूप से विचार करेंगे॥ 26 ॥

अन्वय — विद्वान् (ज्ञान योग का उपदेश करने वाले) कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम् (कर्मों में आसक्त चित्त वाले अज्ञानियों को) बुद्धिभेदं न जनयेत् ('कर्म का त्याग करके ज्ञान का अभ्यास करो' ऐसा उपदेश देकर उनमें बुद्धिभेद उत्पन्न न करें) युक्तः सन् (समाहित चित्त से) सर्वकर्माणि समाचरन् (निष्काम कर्मों को करते हुए) कर्माणि योषयेत् (उन्हें कर्मों में लगायें) ॥26 ॥

टीका—अलं कर्मजड़िम्ना, त्वं कर्मसंन्यासं कृत्वा ज्ञानाभ्यासेनाहमिव कृतार्थीभव इति बुद्धिभेदं न जनयेत् कर्मसङ्गिनामशुद्धान्तःकरणत्वेन

कर्मस्वेवासक्तिमताम्, किन्तु त्वं कृतार्थीभविष्यन् निष्कामकर्मेव कुरु इति कर्माण्येव योजयेत् कारयेत्। अत्र कर्माणि समाचरन् स्वयमेव दृष्टान्तीभवेत्। ननु *"स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्नवक्त्यज्ञाय कर्म हि। न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः॥"* (भा॰ 6/9/50) इत्यजितवाक्येनै
तत् खलु भक्त्युपदेष्टृक-विषयमिदन्तु ज्ञानोपदेष्टृक-विषयमित्यविरोधः, ज्ञानस्यान्तःकरण शुद्ध्यधीनत्वात्, तच्छुद्धेस्तु निष्काम-कर्माधीनत्वात्, भक्तेस्तु स्वतः प्राबल्यादन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तानपेक्षत्वात्। यदि भक्तौ
शक्नुयात्, तदा कर्मिणां बुद्धिभेदमपि जनयेत्, भक्तौ
कर्मानधिकारात्—*"तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥"* इति, *"धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः"* इति, *''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''* इति, *"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि"* इत्यादिवचनेभ्य इति विवेचनीयम्।।26।।

भावानुवाद – भगवान् कहते हैं – हे अर्जुन! ज्ञानी पुरुष अशुद्धचित्त वाले व्यक्ति को यह कह कर कि 'कर्मों की जड़ता में क्या रखा है तू भी मेरी तरह कर्मों से संन्यास ले और कृतार्थ हो जा' उसकी बुद्धि को भ्रमित न करें। कर्मों में आसक्त व्यक्तियों का अन्तःकरण अशुद्ध होता है। उसे यदि ज्ञानाभ्यास का उपदेश देंगे तो वह न तो ज्ञानाभ्यास ही कर पायेगा और कर्म भी छोड़ बैठेगा। दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जायेगा। इसलिए अर्जुन तुम कृतार्थ होकर भी निष्काम कर्म करो और दूसरों को भी निष्काम कर्म में लगाओ। स्वयं कर्म का आचरण करते हुए दूसरों के लिए एक उदाहरण बनो और यदि तुम कहो कि भागवत में आपने कहा है कि जिस प्रकार अच्छा वैद्य रोगी द्वारा इच्छा करने पर भी उसे कुपथ्य नहीं देते उसी प्रकार स्वयं परम कल्याण को जानने के बाद विद्वान् व्यक्ति अन्य पुरुषों को कर्म का उपदेश नहीं देते। इस प्रकार आपकी दोनों बातों में परस्पर विरोध दिख रहा है, तो सुनों – वह बात मैंने भक्ति का उपदेश देते हुए कही थी और अब जो कही है वह ज्ञानविषयक उपदेश देते हुए कही है, इसलिए दोनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान अन्तःकरण की शुद्धि के अधीन है और वह शुद्धि निष्काम कर्म के बिना

नहीं हो सकती। किन्तु भक्ति स्वयं इतनी प्रबला है कि अन्तःकरण शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिए यदि किसी में इतनी सामर्थ्य है कि वह कर्मी व्यक्ति की भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है, तो कर्मी को एक दम कर्म की हीनता बता कर भक्ति की शिक्षा दे सकता है। क्योंकि भक्ति में श्रद्धावान् पुरुष का कर्म में अधिकार नहीं है, किन्तु श्रीमद्भागवत (11/20/9) में कहा गया है कि– तब तक कर्म करते रहना चाहिए जब तक पूर्ण वैराग्य न हो जाए या फिर जब तक मेरी कथाश्रवण और कीर्तन में रुचि न हो जाए। श्रीमद्भागवत (11/11/32) में कहा गया है – जो सब धर्मों का परित्याग कर के मेरा ही भजन करते हैं वे ही उत्तम साधु हैं। गीता (18/66) में कहा है कि सब धर्मों का परित्याग कर एक मात्र मेरी ही शरण में आ जाओ। स्वधर्म त्याग कर श्रीहरि के चरणों का भजन करता हुआ यदि कोई अपक्व अवस्था में पतित हो जाता है, तो उसका कभी अहित नहीं होता, इन सभी वचनों की विवेचना करना आवश्यक है॥ 26॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ 27॥

मर्मानुवाद — विद्वान् और अविद्वान् इन दोनों में भेद बता रहा हूँ, तुम श्रवण करो। प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाने वाले समस्त कर्मों को अविद्या द्वारा माया में फंसा हुआ जीव अहंकारवश अपने द्वारा किया हुआ मानता है। 'मैं कर्त्ता हूँ', ऐसा अभिमान करता है। यही अविद्वान् का लक्षण है॥ 27॥

अन्वय — अहङ्कार–विमूढात्मा (देह आदि में मैं बुद्धि करने वाला विमूढ –चित्त व्यक्ति) प्रकृतेः गुणैः (प्रकृति के गुणों द्वारा) सर्वशः (सब प्रकार के) क्रियमाणानि कर्माणि (किये जाते हुए कर्मों को) अहमेव कर्त्ता (मैं ही करता हूँ) इति मन्यते (ऐसा मानता है)॥ 27॥

टीका—ननु यदि विद्वानपि कर्म कुर्यात्तर्हि विद्वदविदुषोः को विशेष इत्याशङ्क्य तयोर्विशेषं दर्शयति—प्रकृतेरिति द्वाभ्याम्। प्रकृतेर्गुणै सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि यानि कर्माणि, तान्यहमेव कर्त्ता करोमीत्यविद्वान् मन्यते।। 27।।

भावानुवाद– अच्छा यदि विद्वान् और अविद्वान् दोनों को ही कर्म

करना पड़ता है, तो दोनों में अन्तर ही क्या रहा, इसी का उत्तर इस श्लोक में दे रहे हैं । सब कार्य, जो कि प्रकृति के गुणों के द्वारा कार्यशील इन्द्रियों के माध्यम से किये जा रहे हैं, यह विद्वान् जानता है किन्तु अविद्वान् पुरुष सभी कार्यों को अपने द्वारा किया गया मानता है, अर्थात् अपने आप को कर्ता मानता है॥ 27 ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

मर्मानुवाद — हे महाबाहो ! तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति प्राकृत गुणकर्म को आत्मा से पृथक् जान उनका संग नहीं करता है, वह मात्र यह समझता है कि मैं शरीर से अलग हूँ, शरीर नहीं हूँ, किन्तु घटनावश माया में फंस कर माया के गुणों के वशीभूत हुआ कार्य कर रहा हूँ॥ 28 ॥

अन्वय— गुणकर्मविभागयोः (जो गुण और उनके कार्यों के विभाग अर्थात् सत्त्व रजस् तमस् एवं देवता इन्द्रिय और उनके विषयों के) तत्त्ववित् (तत्त्व को जानता है) सः (वह) गुणाः (देवताओं द्वारा प्रेरित आँख आदि इन्द्रियां) गुणेषु (रूपादि विषयों में) वर्तन्ते (वर्तती हैं) इति मत्वा (ऐसा मान कर) न सज्जते (उनमें आसक्त नहीं होता है) ॥ 28 ॥

टीका—गुणकर्मणोयौ

सत्त्वरजस्तमांसि, कर्मविभागः सत्त्वादिकार्यभेदा देवतेन्द्रियविषयाः, तयोस्तत्त्वं स्वरूपं तज्ज्ञस्तु तत्त्ववित्। गुणाः देवताः प्रयोज्यानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि गुणेषु रूपादिषु विषयेषु वर्त्तन्ते। अहन्तु न गुणः, नापि गुणकार्यः कोऽपि, नापि गुणेषु गुणकार्येषु तेषु कोऽपि मे सम्बन्धः इति मत्वा विद्वांस्तु न सज्जते।। 28।।

भावानुवाद- गुण और कर्म दो विभाग हैं, इनको जो तत्त्व से जानता है, वही तत्त्वविद् है। इनमें से सत्त्व, रजस्, तमस् ये गुणों के तीन विभाग हैं। सत्त्वादि कार्यभेद देवता और इन्द्रियों के विषय, ये कर्मों के दो विभाग हैं। तत्त्वविद् व्यक्ति इन दोनों के तत्त्व को जानता है। वह जानता है कि गुणसमूह और देवताओं से प्रयोज्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ गुणों में या रूपादि विषयों में विचरती हैं। किन्तु वह यह जानता है कि मैं न तो गुण हूँ और न ही किसी प्रकार का गुणकार्य हूँ और इन से मेरा कोई सम्बन्ध भी नहीं है, इसलिए वह

उनमें आसक्त भी नहीं होता। यही विद्वान् की विशेषता है ॥ 28 ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

मर्मानुवाद — मैं शरीर से अलग आत्मा हूँ, ऐसा ज्ञान न होने के कारण ही मूढ़ व्यक्ति अपने आप को शरीर ही समझ बैठते हैं, एवं प्राकृत गुणों से अपना सम्बन्ध मान बैठते हैं। उन अल्प ज्ञान वाले व्यक्तियों को तत्त्वज्ञ व्यक्ति बेकार में ही विचलित नहीं करते, बल्कि उन्हें क्रमशः योग्य बनाकर उच्चाधिकार के अनुरूप ज्ञान प्रदान करते हैं।

अन्वय — प्रकृतेः गुणसंमूढाः [भूतग्रस्त व्यक्ति की तरह] (गुणों में आविष्ट हुए व्यक्ति) गुणकर्मसु (गुणों के कार्य विषयों में) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं) तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् (उन असर्वज्ञ मूढ व्यक्तियों को) कृत्स्नविद् (सर्वज्ञ व्यक्ति) न विचालयेत् (आत्म अनात्म सम्बन्धी विचारों को जबरन ग्रहण करवाने की चेष्टा न करें) [किन्तु गुणावेश-निवर्त्तक निष्कामकर्मैव कारयेत्] [बल्कि गुणावेश निवारक निष्काम कर्म करवायें] ।।29 ॥

टीका—ननु यदि जीवा गुणेभ्यो गुणकार्येभ्यश्च पृथग्भूतास्तद-सम्बन्धास्तर्हि कथं ते विषयेषु सज्जन्तो दृश्यन्ते? तत्राह—प्रकृतेर्गुणै संमूढास्तदावेशात् प्राप्तसम्मोहाः यथा भूताविष्टो मनुष्य आत्मानं भूतमेव मन्यते, तथै

गुणकार्येषु विषयेषु सज्जन्ते। तानकृत्स्नविदो मन्दमतीन् कृत्स्नवित् सर्वज्ञो न विचालयेत्। *'त्वं गुणेभ्यः पृथग्भूतो जीवः, न तु गुणः'* इति विचारं प्रापयितुं न यतते, किन्तु गुणावेशनिवर्त्तकं निष्कामकमै

मनुष्यत्वं, न भूतः, किन्तु मनुष्य एवेति शतकृत्वोऽप्युपदेशेन स्वास्थ्यमापद्यते, किन्तु तन्निवर्त्तकौ

भावानुवाद- अच्छा यदि जीव गुणों और उनके कार्यों से अलग है या उनसे सम्बन्ध रहित है तो उन्हें विषयों में आसक्त क्यों देखा जाता है? उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि वे गुणों में आसक्त इसलिए दिखते हैं क्योंकि प्रकृति के गुणों के आवेश से सम्मोहित हो जाते हैं । जिस प्रकार भूतग्रस्त व्यक्ति अपने आप को भूत ही मानता है उसी प्रकार गुणों का आवेश होने पर

जीव अपने आपको गुण ही समझते हैं । इसलिए वे उनमें आसक्त होते हैं। ऐसे विषयों में आसक्त मन्दमति पुरुषों को तत्त्ववेत्ता पुरुष विचलित न करें अर्थात् जबरदस्ती उन्हें यह समझाने का प्रयास न करें कि 'तुम गुण नहीं हो उनसे अलग जीव हो', अपितु उन्हें गुणों के आवेश को समाप्त करनेवाले निष्काम कर्मों में लगाएं, जैसे किसी भूतग्रस्त व्यक्ति से सैंकड़ों बार बोला जाये कि तुम भूत नहीं हो, तुम मनुष्य हो तब भी वह ठीक नहीं होता है, बल्कि औषधि-मणि मंत्र आदि के प्रयोग से उसे स्वस्थ किया जाता है। उसी प्रकार कर्मावेश से हटाने के लिए गुणों में आसक्त जीव को निष्काम कर्मों का उपदेश देना चाहिए॥ 29॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ 30॥

मर्मानुवाद — इसलिए हे अर्जुन! तुम तत्त्वज्ञान सम्पन्न होकर आत्मनिष्ठ-चित्त वाले हो जाओ और अपने प्राकृत-अहंकार और फल की कामना का परित्याग कर सभी कर्म मेरे अर्पण करो एवं चिन्ता और सन्देह का परित्याग कर अपने युद्धरूपी स्वधर्म का पालन करो॥ 30॥

अन्वय — अध्यात्मचेतसा (आत्मनिष्ठ चित्त से) मयि (मुझ में) सर्वाणि कर्माणि (सब कर्म) संन्यस्य (समर्पण कर) निराशीः (निष्काम) निर्ममः (सब में ममता रहित होकर) च विगतज्वरः भूत्वा (और खेद रहित होकर) युध्यस्व (स्वधर्म युद्ध का पालन करो)॥ 30॥

टीका—तस्मात्त्वं मय्यध्यात्मचेतसात्मनीत्यर्थः। एवमध्यात्ममव्ययी-भावसमासात्, ततश्च आत्मनि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेनात्मनिष्ठेनै तु विषयनिष्ठेनेत्यर्थः। मयि कर्माणि संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्ममः सर्वत्र ममताशून्यो युध्यस्व।। 30।।

भावानुवाद- इसलिए हे अर्जुन! तुम आत्मनिष्ठ चित्त से सभी कर्मों को मुझे समर्पण करो। निष्काम और ममताशून्य हो कर युद्ध करो, विषयी मन से नहीं॥ 30॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ 31॥

मर्मानुवाद— जो हमेशा इस निष्काम भगवदर्पित कर्मयोग को करते हैं, एवं ईर्ष्या रहित होकर मेरे प्रति श्रद्धा करते हैं। वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥ 31 ॥

अन्वय — श्रद्धावन्तः (श्रद्धालु व्यक्ति) अनसूयन्तः (दोष-दृष्टि रहित) ये मानवाः (जो सब व्यक्ति) मे इदम मतम् अनुतिष्ठन्ति (मेरे अभिमत अनुसार इस निष्काम कर्मयोग को करते हैं) ते (वे) कर्म कुर्वाणा अपि कर्मभिः मुच्यन्ते (कर्म करते हुए भी कर्म से मुक्त होते हैं) ॥ 31 ॥

टीका—स्वकृतोपदेशे प्रवर्त्तयितुमाह—ये मे इति।। 31।।

भावानुवाद- अपने उपदेश का अनुसरण करवाने के लिए भगवान् यह श्लोक कह रहे हैं।। 31।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

मर्मानुवाद - जो लोग ईर्ष्यावश मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते हैं, उन्हें तुम सम्पूर्ण ज्ञान से वञ्चित, नष्ट और अज्ञानी समझना ॥ 32 ॥

अन्वय - ये तु अभ्यसूयन्तः (और जो असूयावश या दोषदृष्टि के कारण) मे एतत् मतं नानुतिष्ठन्ति (मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते हैं) तान् सर्वज्ञानविमूढान् (उन्हें समस्त ज्ञान से वञ्चित) नष्टान् अचेतसः विद्धि (पुरुषार्थ से भ्रष्ट और अज्ञानी समझना) ॥ 32 ॥

टीका—विपक्षे दोषमाह—ये त्विति।। 32।।

भावानुवाद- इस उपदेश के अनुसरण न करने पर दोष की बात बता रहे हैं।।32।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥33 ॥

मर्मानुवाद — कहीं ऐसा नहीं समझना कि विद्वान् पुरुष आत्म-अनात्म का विचार कर एकाएक माया के गुण-कर्म का त्याग कर संन्यासधर्म अपनायेंगे तभी उनका मंगल होगा। ज्ञानवान् होने पर भी बद्ध जीव अपने कई जन्मों के अभ्यास के अनुरूप बने स्वभाव के अनुसार ही चेष्टा करते हैं; निग्रह का मार्ग

अपनाने के साथ–साथ स्वभाव छूट जायेगा, ऐसा नहीं है, एकाएक स्वभाव का परित्याग सम्भव नहीं होता, बद्ध जीव साधारणतया उसी स्वभाव के अनुरूप कार्य करते हैं जिनका वे पिछले अनेक जन्मों से अभ्यास करते आ रहे हैं। उस स्वभाव से छुटकारा पाने का उपाय यह है कि उसी स्वभाव में अवस्थित रहते हुए वह उसके अनुयायी सभी कर्मों को बड़ी सावधानी से करते रहें। जब तक भक्तियोग के अनुरूप वैराग्य हृदय में न आ जाए, तब तक भगवान् के अर्पित निष्काम कर्मयोग करना ही एक मात्र मंगल का रास्ता है। क्योंकि उससे स्वधर्म पालन और स्वधर्म संस्कार, दोनों ही फल एक साथ सम्भव हैं। स्वधर्म का परित्याग करने पर व्यक्ति कुपथगामी हो जाता है। जहां पर मेरी या मेरे भक्त की कृपा से भक्तियोग उदय हो जाता है, वहां पर मुझ में अर्पित निष्काम कर्मयोग से श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त हो जाने के कारण इस प्रकार के स्वधर्म पालन करने की आवश्यकता नहीं होती और जहां भक्तियोग का उदय नहीं हुआ वहां तो मुझ में अर्पित निष्काम कर्मयोग ही मंगलप्रद है॥ 33॥

अन्वय — ज्ञानवान् अपि (ज्ञानी व्यक्ति भी) स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते (अपनी प्रकृति अर्थात् दुःस्वभाव के अनुरूप कार्य करते हैं) भूतानि प्रकृतिं यान्ति (इसलिए सभी प्राणी उन्हीं चेष्टाओं के फलस्वरूप वैसे ही स्वभाव के अधीन होते हैं) निग्रहः (शास्त्रों या राजा के द्वारा विहित दण्ड) किं करिष्यति (उनका क्या करेगा?)॥ 33॥

टीका—ननु राज्ञ इव तव परमेश्वरस्य मतमनुतिष्ठन्तो राजकृतादिव त्वत्कृतान्निग्रहात् किं न बिभ्यति? सत्यम्, ये खल्विन्द्रियाणि चारयन्तो वर्त्तन्ते, ते विवेकिनोऽपि राज्ञः परमेश्वरस्य च शासनं मन्तुं न शक्नुवन्ति। तथै स्वभावोऽभूदित्याह—सदृशमिति। ज्ञानवानप्येवं पापे कृते सत्येवं नरको भविष्यत्येवं राजदण्डो भविष्यति, एवं दुर्यशश्च भविष्यतीति विवेकवानपि स्वस्याः प्रकृतेश्चिरन्तनपापाभ्यासोत्थदुःखभावस्य सदृशमनुरूपमेव चेष्टते। तस्मात् प्रकृतिं स्वभावं यान्त्यनुसरन्ति। तत्र निग्रहस्तच्छास्त्रद्वारा मत्कृतो राजकृतो वा। तेनाशुद्धचित्तान् उक्तलक्षणो निष्कामकर्मयोगः, शुद्धचित्तान् ज्ञानयोगश्च संस्कर्तुं प्रबोधयितुं च शक्नोति। न त्वत्यन्ताशुद्धचित्तान्; किन्तु तान् अपि पापिष्ठस्वभावान् यादृच्छिक–मत्कृपोत्थभक्तियोग एव उद्धर्त्तुं प्रभवेत्,

यदुक्तं स्कान्दे—*"अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य ते क्षणात्। नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते"*।। 33।।

भावानुवाद – यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार राजा का आदेश पालन न करनेवालों को दण्ड मिलता है, उस प्रकार परमात्मा का आदेश पालन न करने वाले को क्या दण्ड नहीं मिलता? या उसे परमात्मा के दण्ड का भय ही नहीं होता? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि हां यह सत्य है कि उन्हें दण्ड मिलता है और उन्हें भय भी होता है किन्तु इन्द्रियों की तृप्ति में लगे हुए वे राजा या परमेश्वर का आदेश पालन करने में असमर्थ होते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है। यह जानते हुए भी कि 'पाप से राजदण्ड मिलता है', 'नरक जाना पड़ता है' और 'बदनामी भी होती है', वे अपने चिरकालीन स्वभाववश पाप से उत्पन्न होने वाले दुःखदायी भावों के अनुरूप ही कार्य करते हैं। इस प्रकार वे स्वभाव का ही अनुसरण करते हैं। शास्त्र के सहयोग से मेरे द्वारा एवं राजा के शासन द्वारा यथावश्यक निग्रह हो सकता है। निष्काम कर्मयोग से अशुद्ध चित्त वाले व्यक्तियों का एवं ज्ञानयोग से शुद्ध चित्तवालों का संस्कार हो सकता है और उन्हें प्रतिबोधित किया जा सकता है, किन्तु अत्यन्त अशुद्ध चित्तवाले पुरुष का इससे कल्याण नहीं होगा । केवल मेरी कृपा से उत्पन्न भक्ति ही ऐसे पापियों का उद्धार करने में समर्थ है। जैसा कि स्कन्दपुराण में कहा गया है कि हे देवर्षे! आप धन्य हैं क्योंकि आपकी कृपा से क्षण में ही नीच बहेलिए ने पुलकित होकर भगवान् के चरणों में रति प्राप्त की है॥ 33॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ 34॥

मर्मानुवाद — अर्जुन ! यदि कहो कि विषयों को ग्रहण करने से अधिकतर जीवों के विषयबन्धन की ही सम्भावना होती है, कर्ममुक्ति की सम्भावना नहीं है। तब सुनो, सारे विषय ही जीव के विरोधी हैं, ऐसा नहीं है, केवल उन विषयों के प्रति जो राग-द्वेष है वही जीव का परम शत्रु है। इसलिए विषयों को ग्रहण करते समय उनके प्रति आसक्ति को नियन्त्रित करने से तुम सभी विषयों को ग्रहण करते हुए भी विषयों में नहीं फंसोगे। जब तक हमारा

यह प्राकृत शरीर है तब तक विषयों को तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। किन्तु अपने आप को शरीर समझने के कारण उन-उन विषय कार्यों में जो हमारा राग-द्वेष होता है उनका दमन करते-करते तुम्हें विषयों से वैराग्य हो जायेगा और सुनो, जो भगवान् से सम्बन्धित राग या द्वेष है अर्थात् जिन वस्तुओं या कार्यों से भक्ति उदित होती है, उनमें राग और भक्ति का नाश करने वाली वस्तुओं एवं कार्यों से जो द्वेष है, मैंने उन्हें दमन करने का उपदेश यहां नहीं दिया है। हाँ, मैंने केवल सांसारिक सुख सम्बन्धी राग-द्वेष को वश में करने का उपदेश ही दिया है।

अन्वय— इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे (इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में) रागद्वेषौ (आसक्ति और द्वेष) व्यवस्थितौ (अवश्यम्भावी है) तयो (रागद्वेषयोः) वशं न आगच्छेत् (उस रागद्वेष के वशीभूत मत होओ) तौ हि (क्योंकि वह राग और द्वेष) अस्य परिपन्थिनौ (साधक के विरोधी हैं) ॥ 34 ॥

टीका—यस्माद् दुःस्वभावेषु लोकेषु विधिनिषेधशास्त्रं न प्रभवति, तस्माद्यावत् पापाभ्यासोत्थ-दुःस्वभावो नाभूत्तावद् यथेष्टमिन्द्रियाणि न चारयेदित्याह—इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सा प्रत्येकम्, सर्वेन्द्रियाणामर्थे स्वस्वविषये परस्त्रीमात्रगात्रदर्शनस्पर्शन-तत्सम्प्रदानक-द्रव्यदानादौ शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागस्तथा गुरुविप्रतीर्थातिथिदर्शनस्पर्शनपरिचरण-तत्सम्प्रदानक-धन-वितरणादौ
वर्त्तेते, तयोर्वशमधीनत्वं न प्राप्नुयात्, यद्वा, इन्द्रियार्थे स्त्रीदर्शनादौ
केनचित् कृते सति द्वेष इति अस्य पुरुषार्थसाधकस्य क्वचित्तु मनोऽनुकूलेऽर्थे सुरसस्निग्धान्नादौ
स्वपुत्रादिदर्शन-श्रवणादौ
गच्छेदिति व्याचक्षते।। 34।।

भावानुवाद- दुष्ट स्वभाववाले व्यक्तियों पर विधि-निषेध शास्त्र का भी कोई ज़ोर नहीं चलता। पाप करते-करते दुःस्वभाव उत्पन्न न हो जाये, इसलिए इन्द्रियों को अपने इच्छानुसार विचरण नहीं करने देना चाहिए। सभी इन्द्रियों का अपने-अपने अनुकूल विषयों की ओर आकर्षण और प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष रहता है। जैसे परस्त्री का दर्शन, स्पर्श, उसे द्रव्यादि दान इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध होने पर भी दुःस्वभाव वाले व्यक्ति का उसमें आकर्षण

होता है और गुरु, विप्र, तीर्थ तथा अतिथि का दर्शन, स्पर्शन, सेवा शास्त्रविहित शुभ कर्म हैं किन्तु इन कार्यों में धन खर्च करने में प्रायः ऐसे लोगों का द्वेष होता है। स्त्री के दर्शनादि से राग और किसी के द्वारा इसका प्रतिघात करने पर द्वेष करना उचित नहीं है। इसी प्रकार पुरुषार्थसाधक को सरस, सुस्निग्ध अन्नादि मनोनुकूल पदार्थों के प्रति राग भी नहीं करना चाहिए और विरस, रूक्ष अन्नादि मन के प्रतिकूल पदार्थों के प्रति द्वेष भी नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार अपने पुत्रादि को देखने सुनने से उसके प्रति राग और शत्रु के पुत्र को देखने-सुनने से उसके प्रति द्वेष नहीं होना चाहिए। राग-द्वेष के वशीभूत होना उचित नहीं है ॥ 34 ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

मर्मानुवाद — इसलिए मुझ में अर्पित निष्काम कर्मयोग के विचार में बद्ध जीव के लिए विगुण स्वधर्म ही अच्छा है, जबकि उत्तमरूप से अनुष्ठित होने पर भी दूसरे का धर्म अच्छा नहीं है। स्वधर्म पालन करते करते उच्च धर्म की प्राप्ति होने से पहले ही यदि मृत्यु हो जाये तो भी मंगलजनक है, किन्तु परधर्म किसी भी अवस्था में अभय देने वाला नहीं होता। हां, निर्गुण भक्ति के उपस्थित होने से स्वधर्म को त्यागने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि तब तो जीव का नित्य धर्म ही स्वधर्म के रूप में प्रकाशित हो जाता है और औपाधिक स्वधर्म परधर्म बन जाता है ॥ 35 ॥

अन्वय — स्वनुष्ठितात् परधर्मात् (भली भाँति पालन हो सकने वाले दूसरे के धर्म से) विगुणः स्वधर्मः (अल्प दोष से युक्त स्वधर्म) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) स्वधर्मे (अपने-अपने वर्ण या आश्रम उचित धर्म में) (रहकर) निधनं श्रेयः (मरना भी अच्छा है) परधर्मः भयावहः (जबकि परधर्म उसकी अपेक्षा भयानक अर्थात् भय को देने वाला है) ॥ 35 ॥

टीका—ततश्च युद्धरूपस्य धर्मस्य यथावद् रागद्वेषादिराहित्येन कर्त्तुमशक्यत्वात् परधर्मस्य चाहिंसादेः सुकरत्वाद्धर्मत्वाविशेषाच्च तत्र प्रवर्त्तितुमिच्छन्तं प्रत्याह—श्रेयानिति। विगुणः किञ्चिद्दोषविशिष्टोऽपि सम्यगनुष्ठातुमशक्योऽपि परधर्मात् स्वनुष्ठितात् साध्वेवानुष्ठातुं शक्यादपि

सर्वगुणपूर्णादपि सकाशात् श्रेयान्। तत्र हेतुः—स्वधर्म इत्यादि, *"विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमाच्छलः। अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्।।"* (श्रीमद्भा. 7/15/12) इति सप्तमोक्तेः।। 35।।

भावानुवाद– जब भगवान् ने देखा कि अर्जुन राग–द्वेष से रहित होकर युद्धरूपी स्वधर्मके पालन में असमर्थ, एवं अहिंसा आदि परधर्म को सरल–सहज जानकर उसे ही अपनाना चाहता है तो श्रीभगवान् ने कहा – अर्जुन! 'विगुण' अर्थात् किञ्चित् गुणहीन होनेपर और भलीभाँति करने में असमर्थ होने पर भी स्वधर्म दूसरों के 'स्वनुष्ठित' अर्थात् भलीभाँति हो सकने वाले, सर्वगुणपूर्ण धर्म से श्रेष्ठ है। उसका कारण है– 'स्वधर्मे' इत्यादि। श्रीमद्भागवत (7/15/12) में कहा है –

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमाच्छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥

विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा एवं छलधर्म अधर्मरूपी वृक्ष की पाँच शाखाएँ हैं। धर्मज्ञ व्यक्ति को निषिद्ध के रूप में इनका त्याग कर देना चाहिये॥ 35॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ 36॥

मर्मानुवाद — इस प्रकार श्रवण करते हुए अर्जुन ने कहा : हे वार्ष्णेय! अपनी इच्छा न होने पर भी किस के द्वारा प्रेरित यह जीव बलपूर्वक लगाए हुए की तरह मजबूरन पाप करता है? आप ने कहा है कि जीव नित्य शुद्ध चित्स्वरूप है, सभी प्रकार के जड़ गुणों एवं जड़ सम्बन्धों से अलग है। तब तो जड़जगत् में पाप करना भी जीव का अपना स्वभाव नहीं है, किन्तु देखा यह जाता है कि जीव सदा ही पाप कर रहे हैं। इसलिए आप मुझे स्पष्ट रूप से बतायें कि जीव से पाप कौन करवाता है?॥ 36॥

अन्वय — अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) वार्ष्णेय! (हे वृष्णिवंशश्रेष्ठ) अयं पूरुषः (यह जीव) केन प्रयुक्तः (किस की प्रेरणा से) अनिच्छन् अपि

(इच्छा न होते हुए भी) बलात् इव नियोजितः (बलपूर्वक लगाए हुए की तरह) पापं चरति (पाप करता है) ॥ 36 ॥

टीका—यदुक्तं रागद्वेषौ
परस्त्रीसम्भोगादौ
विधिनिषेधशास्त्रार्थज्ञानवत्त्वात् पापे प्रवर्त्तितुमिच्छारहितोऽपि बलादिवेति प्रयोजक-प्रेरणवशात् प्रयोज्यस्यापीच्छा सम्यगुत्पद्यत इति भावः।। 36।।

भावानुवाद- विवेकी पुरुष का भी परस्त्री-सम्भोगादि शास्त्रनिषिद्ध विषयों में राग हो जाता है अतः उस विषय में अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं- हे कृष्ण ! जो पुरुष विधि-निषेध परक शास्त्रों का ज्ञाता है इसलिए पापों में फंसना नहीं चाहता है, फिर भी वह मनुष्य किसके द्वारा प्रेरित होकर बलपूर्वक लगाये गये के समान पाप में प्रवृत्त होता है, इसमें 'पाप करवाने वाला कौन है' जिसकी प्रेरणा से इच्छा न होते हुए भी पाप में प्रवृत्त होने की इच्छा हो जाती है ॥ 36 ॥

श्रीभगवानुवाच-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

मर्मानुवाद — यह प्रश्न सुन कर भगवान् ने कहा - अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न काम ही पुरुष को पाप में लगाने वाला है। विषयों की अभिलाषा को ही काम कहते हैं। 'काम' ही बाद में क्रोध का रूप धारण कर लेता है। काम रजोगुण को आश्रय करके उत्पन्न होता है और जब कामना पूरी होने में बाधा उत्पन्न होती है तब तमोगुण का आश्रय कर यही काम 'क्रोध' के रूप में बदल जाता है। यह काम अतिशय प्रचण्ड है एवं सब कुछ भक्षण करने वाला है, तुम इस काम को ही जीव का प्रधान शत्रु जानना ॥ 37 ॥

अन्वय — श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले) एष कामः (यह विषय अभिलाषा ही) एष क्रोधः (क्रोध के रूप में बदल जाती है) रजोगुण समुद्भवः (यह रजोगुण से उत्पन्न होता है) महाशनः (सब भक्षण करने वाला) महापाप्मा (अति प्रचण्ड़ है) इह एनं वैरिणं विद्धि (इस काम को ही जीव का प्रधान शत्रु

जानना) ॥ 37 ॥

टीका—एष काम एव विषयाभिलाषात्मकः पुरुषं पापे प्रवर्त्तयति, तेनै प्रयुक्तः पुरुषः पापं चरतीत्यर्थः। एष काम एव पृथक्त्वेन दृश्यमान एष प्रत्यक्षः क्रोधो भवति। काम एव केनचित् प्रतिहतो भूत्वा क्रोधाकारेण परिणमतीत्यर्थः। कामो रजोगुणसमुद्भव इति राजसात् कामादेव तामसः क्रोधो जायत इत्यर्थः। कामस्यापेक्षितपूरणेन निवृत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—महाशनः महदशनं यस्य सः। *"यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्।।"* इति स्मृतेः, कामस्यापेक्षितं पूरयितुमशक्यमेव। ननु दानेन सन्धातुमशक्यश्चेत् सामभेदाभ्यां स स्ववशीकर्त्तव्यः? तत्राह—महापाप्माऽत्युग्रः।। 37।।

भावानुवाद– विषयों की अभिलाषारूपी काम ही पुरुष को पाप में लगाता है, इसीसे प्रेरित हुआ पुरुष पाप करता है। यह काम ही पृथक् रूप में दिखते हुए भी प्रत्यक्षरूप से क्रोध का रूप धारण कर लेता है। 'काम' ही किसी के द्वारा आहत होने पर 'क्रोध' के रूप में परिणत हो जाता है। 'काम' रजोगुण से उत्पन्न होता है और इसी राजसिक 'काम' से तामसिक 'क्रोध' उत्पन्न होता है। यदि प्रश्न हो कि इच्छा के पूर्ण होनेपर काम से निवृत्ति होगी या नहीं, तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं– ऐसा नहीं है, क्योंकि यह काम महाशन अर्थात् विशाल भोजन करने वाला है अर्थात् कभी न तृप्त होने वाला है। स्मृति में कहा गया है– '**यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥**' अर्थात् पृथ्वी में जितने भी धान्य, जो सोना, पशु, स्त्री इत्यादि हैं, वे सभी एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं – ऐसा समझकर संतोष करना ही उचित है। स्मृति की इस उक्ति के अनुसार काम की आकांक्षा पूर्ण करना ताकत से बाहर की बात है। यदि कहा जाय कि दाम द्वारा वश नहीं किया जा सकता, तो साम और भेद के द्वारा उसे अपने वश में करना चाहिए, तो इसके उत्तर में कहते हैं – यह महापाप्मा अर्थात् अति उग्र है साम और भेद से भी यह वशीभूत नहीं होता, इसे वश में करना अत्यन्त कठिन है॥ 37॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ 38॥

मर्मानुवाद— इस काम ने ही इस जगत् को कहीं कुछ हल्के रूप से, कहीं गाढ़रूप से तो कहीं अतिगाढ़रूप से आवृत करके रखा हुआ है। उदाहरण देकर समझा रहा हूँ, सुनो, जिस प्रकार धुआं अग्नि को ढ़क लेता है उसी प्रकार काम द्वारा हल्के रूप से चेतनता आवृत होने पर जीव भगवान् को स्मरण आदि करने का कार्य कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में जीव मुकुलित चेतन के रूप में निष्काम कर्मयोग के आश्रित रहते हैं। धूल से ढके हुए दर्पण की तरह गाढ़ रूप से काम द्वारा चेतनता ढके हुए जीव नररूप में रहते हुए भी परमेश्वर का स्मरण नहीं कर सकते। यहां पर जीव संकुचित चेतन स्वरूप में नितान्त नीति को मानने वाले और नास्तिक के रूप में रहते हैं, जो कि पशु-पक्षियों के ही समान है और ज़ेर द्वारा ढके गर्भ की तरह काम द्वारा अत्यन्त गाढ़रूप से ढकी चेतनता वाले जीव वृक्षादि की तरह अवस्थान करते हैं, ये आच्छादित चेतन कहलाते हैं॥ 38॥

अवन्य — यथा धूमेन वह्निः आव्रियते (जिस प्रकार धुएँ द्वारा अग्नि आवृत होती है) यथा आदर्शः मलेन (जैसे दर्पण धूल द्वारा) यथा उल्बेन गर्भः आवृतः (जिस प्रकार ज़ेर द्वारा गर्भ आवृत होता है) तथा तेन कामेन इदम् ज्ञानम् आवृतम् (उसी प्रकार काम द्वारा यह ज्ञान ढक जाता है)॥ 38॥

टीका—न च कस्यचिदेवायं वै

धूमेनेति। कामस्यागाढ़त्वे गाढ़त्वेऽतिगाढ़त्वे च क्रमेण दृष्टान्ताः— धूमेनावृतोऽपि मलिनो वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यन्तु करोति। मलेनावृतो दर्पणस्तु स्वच्छता- धर्म तिरोधानात् बिम्बग्रहणं स्वकार्यं न करोति, स्वरूपतस्तूपलभ्यते। उल्बेन जरायुणावृतो गर्भस्तु स्वकार्यं करचरणादिप्रसारणं न करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति। एवं कामस्यागाढ़त्वे परमार्थस्मरणं कर्त्तुं शक्नोति, गाढ़त्वे न शक्नोत्यतिगाढ़त्वे त्वचेतनमेव स्यादिदं जगदेव।। 38।।

भावानुवाद- वह काम किसी व्यक्तिविशेष का शत्रु है ऐसा नहीं है,

यह तो सबका ही शत्रु है– इसे दृष्टान्त के द्वारा बता रहे हैं। अग्नि धुएँ से ढकी और मलिन होनेपर भी दहन आदि अपने कार्यों को करती है, किन्तु मल से आवृत दर्पण का स्वच्छता–धर्म नष्ट हो जाने के कारण दर्पण बिम्ब–ग्रहणरूप अपने कार्य को नहीं करता है, किन्तु स्वरूपतः उसकी उपलब्धि रहती है। ज़ेर के द्वारा आवृत गर्भस्थ शिशु हाथ–पैर चलाने के कार्य को नहीं कर सकता है, अतः स्वरूपतः भी उसकी उपलब्धि नहीं रहती। इसी प्रकार काम के गाढ़ नहीं होने पर परमार्थ स्मरण किया जा सकता है किन्तु काम के गाढ़ होने पर ऐसा सम्भव नहीं है, जबकि काम के अतिगाढ़ता होने पर यह जगत् वासनापूर्ति में अचेतन सा ही हो जाता है॥ 38॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ 39॥

मर्मानुवाद — यह काम ही जीवों की अविद्या है, यही जीवों का नित्य बैरी है। जो कि अत्यन्त कठिनाई से दमन होने वाली अग्नि के समान जीव की चेतनता को आवृत कर लेता है। जिस प्रकार मैं भगवान् चित्पदार्थ हूँ, उसी प्रकार जीव भी चित् पदार्थ है। स्वरूपतः मुझ में और जीव में भेद इतना ही है कि मैं पूर्णस्वरूप 'सर्वशक्तिमान्' हूँ जबकि जीव 'अणु–चैतन्य' एवं मेरे द्वारा दी गई शक्ति द्वारा ही क्रिया करने में समर्थ है। मेरा नित्य दास्य करना ही जीव का नित्यधर्म है, उसी का नाम प्रेम या निष्काम जैवधर्म है। चेतन पदार्थमात्र ही स्वभावतः स्वतन्त्र है। शुद्ध जीव भी स्वभावतः स्वतन्त्र है, इसलिए स्वेच्छापूर्वक मेरा नित्य दास है। इस विशुद्ध स्वतन्त्र इच्छा की अपगति को ही अविद्या या काम कहते हैं। जो सब जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से मेरा दास्य स्वीकार नहीं करते वे इस पवित्र तत्त्व के अपगत भावरूप काम को ही वरण करते हैं। काम के द्वारा आवृत होते–होते जीव आच्छादित चेतन की तरह जड़वत् हो जाता है। इसी को जीवों का कर्मबन्धन या संसारयातना कहते हैं॥ 39॥

अन्वय — कौन्तेय! (हे अर्जुन) दुष्पूरेण अनलेन इव (घी की आहुति से तृप्त न होने वाली अग्नि के समान) एतेन कामरूपेण नित्यवैरिणा (इस काम और उसके मूल अज्ञानरूपी नित्य शत्रु द्वारा) ज्ञानिनः (ज्ञानी व्यक्ति का) ज्ञानम्

आवृतम् (ज्ञान आवृत हो जाता है) ॥ 39 ॥

टीका—काम एव हि जीवस्याविद्येत्याह—आवृतमिति। नित्यवै
कामरूपेण—कामाकारेणाज्ञानेनेत्यर्थः। च-कार—इवार्थे, अनलो यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथा कामोऽपि भोगेनेत्यर्थः, यदुक्तम्—"*न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥*" इति।। 39।।

भावानुवाद- काम ही जीवों के लिए 'अविद्या' है। इस 'काम' को नित्य वैरी कहा गया है, अतः सभी प्रकार से इसका नाश करना ही आवश्यक है। काम के रूप में यह अज्ञान ही है। जिस प्रकार घी के द्वारा अग्नि को तृप्त नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार काम भी भोगों से तृप्त नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवत (9/19/14) में कहा है कि-जैसे घी से अग्नि शांत नहीं होती है, बल्कि क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है, वैसे ही भोगों को भोगने से भोगपिपासा वृद्धि को ही प्राप्त होती है, न कि शान्त होती है ॥ 39 ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ 40 ॥

मर्मानुवाद — विशुद्धज्ञान स्वरूप जीव देह को धारण कर देही के नाम से विख्यात होता है। वह काम जीव के इन्द्रिय, मन और बुद्धि में वास करता हुआ जीव के ज्ञान को आवृत किये रहता है। काम का सूक्ष्म तत्त्व जो अविद्या है, वह विशुद्ध अहंकार स्वरूप अणुचैतन्य जीव पर जब सर्वप्रथम सांसारिक अहंकार का आवरण डालती है तो प्राकृत बुद्धि ही काम का वासस्थान होती है। बाद में सांसारिक अहंकार परिपक्व होकर इस काम को मनरूपी दूसरा वासस्थान प्रदान करता है और जब मन विषयपरायण हो जाता है तो इन्द्रियों को इस काम के तीसरे वास स्थान के रूप में प्रस्तुत करता है। इन तीनों वास स्थानों के सहारे यह काम जीव को सांसारिक जड़ विषयों में फंसाता है। स्वतन्त्र इच्छावश जीव की मेरी तरफ सन्मुखता ही 'विद्या' कही जाती है जबकि स्वतन्त्र इच्छावश मेरे प्रति विमुखता को ही 'अविद्या' कहा जाता है ॥ 40 ॥

अन्वय — अस्य वैरिणः (इस कामरूप शत्रु के) इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः (इन्द्रिय मन और बुद्धि) अधिष्ठानम् उच्यते (वासस्थल कहे गये हैं) एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य (ये काम इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान को ढक कर) देहिनम् विमोहयति (जीव को मोहित करता है) ॥ 40 ॥

टीका—क्वासौ
कामस्याधिष्ठानं महादुर्गराजधान्यः, शब्दादयो विषयास्तु तस्य राज्ञो देशा इति भावः। एतै

भावानुवाद– यह काम रहता कहाँ है? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामरूप शत्रु के रहने के स्थान हैं, जो कि महादुर्ग या राजधानी के समान हैं। शब्दादि विषय उस कामरूपी राजा के देश या राज्य हैं। इन सब के द्वारा देही अर्थात् जीव मोहित होता है।

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ 41 ॥

मर्मानुवाद — इसलिए हे भरतर्षभ! तुम सबसे पहले इन्द्रियादि को नियमित करके ज्ञान–विज्ञान को ध्वंस करने वाले इस महापाप रूपी काम को जय करो अर्थात् उसके अपगतभाव का नाश कर उसके स्व–स्वभाव को वापस लाकर अर्थात् काम को कृष्ण–सेवा में अर्पण करके उनके प्रेमात्मक स्वरूप का अवलम्बन करो। मायाबद्ध जीव का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य यही है कि पहले युक्तवैराग्य और स्वधर्म पालन करे। जिससे वह क्रमशः साधनभक्ति प्राप्त करता हुआ प्रेमभक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करे। मेरी कृपा या मेरे भक्त की कृपा से जो निरपेक्ष भक्ति प्राप्त होती है, वह अत्यन्त विरल और किसी–किसी स्थान पर आकस्मिकी प्रथा के रूप में उदित होती है॥ 41 ॥

अन्वय — भरतर्षभ (हे भरत श्रेष्ठ) तस्मात् त्वम् (इसलिए तुम) आदौ इन्द्रिाणि नियम्य (पहले इन्द्रियों को नियंत्रित करके) ज्ञानविज्ञाननाशनम् एनम् पाप्मानम् प्रजहि (ज्ञान और विज्ञान को ध्वंस करने वाले इस पापी का नाश करो) ॥ 41 ॥

टीका—वै
कामस्याश्रयेष्विन्द्रियादिषु यथोत्तरं दुर्जयत्वाधिक्यम्। अतः प्रथमप्राप्तानीन्द्रियाणि

दुर्जयान्यप्युत्तरापेक्षया सुजयानि, प्रथमं तानि जीयन्तामित्याह तस्मादिति। इन्द्रियाणि नियम्येति यद्यपि परस्त्रीपरद्रव्याद्यपहरणे दुर्निवारं मनो गच्छत्येव, तदपि तत्र तत्र नेत्रश्रोत्रकरचरणादीन्द्रियव्यापारस्थगणनादिन्द्रियाणि न गमयेत्यर्थः। पाप्मानमत्युग्रं कामं जहीतीन्द्रियव्यापारस्थगणनमतिकालेन मनोऽपि कामाद्विच्युतं भवतीति भावः।। 41।।

भावानुवाद- यही नीति है। शत्रु के आश्रयस्थल को जीत लेने से शत्रु पर विजय प्राप्त हो जाती है। काम के वासस्थान इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीतना क्रमशः अधिक कठिन है। इन्द्रियाँ दुर्जेय हैं, परन्तु मन और बुद्धि की अपेक्षा इन्हें आसानी से जीता जा सकता है। अतः तुम सर्वप्रथम इन्द्रियों को ही जीतो। यद्यपि कठिनता से वश में होने वाला मन ही परस्त्री, परद्रव्यादि की ओर दौड़ता है, तथापि उन सबको आँख, कान, हाथ पाँव इत्यादि इन्द्रियों का कार्य समझकर इन्द्रियों को नियन्त्रित कर उनके पीछे मत जाने दो। तुम, 'पाप्मानम्', अर्थात् अति उग्र काम का त्याग करो, इस प्रकार इन्द्रियों को वशीभूत करते-करते इससे कालान्तर में मन भी काम से दूर हो जाएगा॥ 41॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 42॥

मर्मानुवाद — संक्षेप में कहता हूँ कि तुम जीव हो, यही तुम्हारा तत्त्व है। फिलहाल माया में फंसे होने के कारण इन्द्रिय, मन और बुद्धि को आत्मा या अपना आपा समझ रहे हो, जो कि अविद्या से उत्पन्न भ्रममात्र है। जबकि वास्तविकता यह है कि जड़ माया से सभी इन्द्रियां सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ है और मन से सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ बुद्धि है और आत्मा जो जीव है वह बुद्धि से भी श्रेष्ठ है।। 42॥

अन्वय — इन्द्रियाणि पराणि आहुः (विषयों से इन्द्रियों को श्रेष्ठ बतलाते हैं) इन्द्रियेभ्यः मनः परम् आहुः (इन्द्रियों से मन को श्रेष्ठ कहते हैं) मनसः तु बुद्धिः परा (मन से विज्ञानरूपी बुद्धि प्रबला है) यः बुद्धेः परतः स तु (बुद्धि से भी प्रबल है जीवात्मा जो काम को जय कर सकती है)॥ 42॥

टीका—न च प्रथममेव मनोबुद्धि-जये यतनीयमशक्यत्वादित्याह—

इन्द्रियाणि पराणीति। दश–दिग्विजयिभिरपि वीरै
श्रेष्ठानीत्यर्थः। इन्द्रियेभ्यः सकाशादपि प्रबलत्वान्मनः परम्—स्वप्ने खल्विन्द्रियेष्वपि नष्टेष्वनश्वरत्वादिति भावः, मनसः सकाशादपि परा प्रबला बुद्धिर्विज्ञानरूपा, सुषुप्तौ
भावः। तस्या बुद्धेः सकाशादपि परतो बलाधिक्येन यो वर्त्तते—तस्यामपि ज्ञानाभ्यासेन नष्टायां सत्यां यो विराजते इत्यर्थः; स तु प्रसिद्धो जीवात्मा कामस्य जेता। तेन वस्तुतः सर्वतोऽप्यतिप्रबलेन जीवात्मनेन्द्रियादीन् विजित्य कामो विजेतुं शक्य एवेति नात्रासम्भावना कार्येति भावः।। 42।।

भावानुवाद– हे अर्जुन! सर्वप्रथम मन और बुद्धि को जीतने का प्रयास करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। दशों दिशाओं को जीतने वाले वीरों से भी ये जीतने में नहीं आती। मन इन्द्रियों से भी प्रबल और श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वप्नावस्था में इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी मन कार्यशील रहता है। विज्ञानरूपी बुद्धि मन से प्रबल और श्रेष्ठ है, क्योंकि सुषुप्तावस्था या सुनिद्राकाल में मन के नष्ट होने पर भी समान आकार वाली बुद्धि अनश्वर होती है। जो उस बुद्धि से भी श्रेष्ठतर अर्थात् बलशाली होकर विराजमान है और बुद्धि के नष्ट होने पर भी वर्तमान रहता है– वह आत्मा है। यही प्रसिद्ध जीवात्मा काम को जीतने वाला है। वस्तुतः यह जीवात्मा जो कि सबकी अपेक्षा अतिशय प्रबल है, इन्द्रियादि को जीतकर निश्चितरूप में काम को भी जीतने में समर्थ है– इस विषय में संदेह मत करो॥ 42॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ 43॥

इति श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्म-योगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

मर्मानुवाद— इस प्रकार अपने अप्राकृत तत्त्व को जान कर एवं सभी जड़ीय सविशेष और निर्विशेष चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने आपको विशुद्ध भगवान् का दासरूप श्रेष्ठ तत्त्व जानकर चित् शक्ति द्वारा अपने को निश्चल करके कर्ममार्ग का अवलम्बन कर दुर्जय काम का नाश करो॥ 43॥

इस अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय — महाबाहो (हे महाबाहो) एवम् (इस प्रकार) बुद्धेः परम् (बुद्धि से अलग जीवात्मा को) बुद्ध्वा (जानकर) आत्मानम् (मन को) आत्मना (निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा) संस्तभ्य (स्थिर कर के) दुरासदम् (दुर्जेय) कामरूपम् शत्रुं जहि (कामरूपी शत्रु का विनाश करो)॥ 43॥

टीका—उपसंहरति—एवमिति। बुद्धेः परं जीवात्मानं बुद्ध्वा सर्वोपाधिभ्यः पृथग्भूतं ज्ञात्वा आत्मना स्वेनै
दुरासदं दुर्जयमपि कामं जहि नाशय।। 43।।

अध्यायेऽस्मिन् साधनस्य निष्कामस्यै
तत्साध्यज्ञानस्य गुणतां वदन्॥ इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
तृतीयः खलु गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद- 'एवम्', इत्यादि के द्वारा इस अध्याय का उपसंहार किया जा रहा है। जीवात्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ और सभी उपाधियों से पृथक् जानकर स्वयं को स्थिर करते हुए इस दुर्जेय काम का नाश करो।

इस अध्याय में साधन निष्कामकर्म की प्रधानता और इसके साध्य ज्ञान की सगुणता वर्णित हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।॥ 43॥

तीसरे अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त।

तीसरा अध्याय समाप्त।

चौथा अध्याय

ज्ञानविभागयोग

श्रीभगवानुवाच-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ 1॥

मर्मानुवाद — भगवान् ने कहा – मैंने निष्काम कर्म से प्राप्त होने वाले इस अविनाशी ज्ञानयोग का पूर्वकाल में सूर्य को उपदेश दिया था। सूर्य ने इसे मनुसे कहा एवं मनु ने इसे इक्ष्वाकु से कहा था॥ 1॥

अन्वय — श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा)। अहम् (मैंने) विवस्वते (सूर्य को) अव्ययम् (अव्यय फल) इमम् (इस) योगम् (निष्काम कर्म से प्राप्त होने वाले ज्ञानयोग का उपदेश) प्रोक्तवान् (कहा था) विवस्वान् मनवे प्राह (सूर्य ने मनु को कहा) मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् (मनु ने इक्ष्वाकु से कहा)॥ 1॥

टीका— *तुर्ये स्वाविर्भावहेतोर्नित्यत्वं जन्मकर्मणोः।*
स्वस्योक्तं ब्रह्मयज्ञादिज्ञानोत्कर्षप्रपञ्चनम्।।
अध्यायद्वयेनोक्तं निष्कामकर्मसाध्यं ज्ञानयोगं स्तौ

भावानुवाद - इस चौथे अध्याय में परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णने अपने आविर्भाव का कारण एवं जन्म-कर्म की दिव्यता और ब्रह्मयज्ञादि के ज्ञान की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। तीसरे एवं चौथे दो अध्यायों में निष्काम कर्म से प्राप्त होने वाले ज्ञानयोग की प्रशंसा की गई है॥ 1॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ 2॥

मर्मानुवाद — इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को सब राजर्षियों ने जाना। हे परन्तप! दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के कारण फिलहाल यह योग नष्टप्राय हो गया है॥ 2॥

अन्वय — एवं परम्परा प्राप्तम् इमं योगं राजर्षयः विदुः (इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना) परन्तप (हे शत्रु को ताप देने वाले) स योगः (वही योग) महता कालेन (बहुत समय बीत जाने से) इह (वर्तमान में) नष्टः (नष्ट प्राय हो गया है)॥ 2॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ 3॥

मर्मानुवाद — वही सनातन योग आज मैंने तुम्हें कहा है; क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो। इसलिए उत्तम और अत्यन्त गोपनीय होने पर भी मैंने तुम्हें इसका उपदेश किया है।समस्त वेद शास्त्रों में यही मेरा उपदेश है, इसलिए इसी योग का अवलम्बन करते हुए युद्ध करो॥ 3॥

अन्वय — अयं स एव पुरातनः योगः (यह वही पुरातन योग ही) अद्य (आज) मया (मेरे द्वारा) ते (तुम्हें) प्रोक्तः (कहा गया) इति (क्योंकि) [तुम] मे (मेरे) भक्तः (भक्त) सखा च (और सखा) असि (हो) हि (निश्चय) एतत् (यह) उत्तमं रहस्यम् (अतिगोपनीय है)॥ 3॥

टीका—त्वां प्रत्येवास्य प्रोक्तत्वे हेतुः—भक्तो दासः सखा चेति भावद्वयमन्यस्त्ववर्वाचीनं प्रत्येवावक्तव्यत्वे हेतुः रहस्यमिति।।3।।

भावानुवाद – तुम्हें यह ज्ञान प्रदान करने के दो कारण हैं एक तो तुम मेरे दास हो और दूसरे सखा, अन्यथा यह योग किसी आधुनिक व्यक्ति को कहे जाने योग्य नहीं है, क्योंकि यह गोपनीय है॥ 3॥

अर्जुन उवाच–

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ 4॥

मर्मानुवाद — सूर्य का जन्म तो बहुत पहले हुआ था जबकि आप ने अब जन्म ग्रहण किया है, इसलिए इस बात का विश्वास कैसे करूँ कि आप ने पूर्वकाल में सूर्य को इस ज्ञान का उपदेश दिया था?॥ 4॥

अन्वय— अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) भवतः जन्म (आप का जन्म) अपरम् (अब हुआ है) विवस्वतः जन्म (सूर्य का जन्म) परम् (पहले हुआ है) त्वम् आदौ (आपने पहले) विवस्वते (सूर्य को) प्रोक्तवान् (कहा था) इति (यह बात) कथम् (किस प्रकार) विजानीयाम् (समझूँ?)॥ 4॥

टीका—उक्तमर्थमसम्भवं पृच्छति। अपरमिदानीन्तनम्, परं पुरातनम् अतः कथमेतत् प्रत्येमीति भावः।। 4।।

भावानुवाद – भगवान् द्वारा ऊपर कही इस बात को कि मैंने यह ज्ञान सब से पहले सूर्य को दिया था; असम्भव जान कर अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न कर रहे हैं कि हे कृष्ण ! आप का जन्म तो अभी हुआ है, जबकि सूर्य तो बहुत पहले से है इसलिए इस बात पर विश्वास कैसे करूँ?

श्रीभगवानुवाच–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ 5॥

मर्मानुवाद — श्रीकृष्ण ने कहा – हे परन्तप अर्जुन! मेरे एवं तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परमेश्वर होने के कारण मैं उन सबको स्मरण कर सकता हूँ, किन्तु तुम अणु चैतन्य जीव हो, इसलिए उन सबका स्मरण नहीं कर सकते। मैं जब–जब जगत् में अवतीर्ण होता हूँ, मेरे सिद्धभक्त होने के कारण तुम भी मेरी लीला की पुष्टि के लिए मेरे साथ जन्म ग्रहण करते हो, किन्तु एकमात्र सर्वज्ञ होने के कारण उन सबको केवल मैं ही जानता हूँ॥ 5॥

अन्वय — श्री भगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा) ।अर्जुन (हे अर्जुन) तव च मे (तुम्हारे और मेरे) बहूनि जन्मानि (बहुत से जन्म) व्यतीतानि (व्यतीत हो चुके हैं) अहम् (मैं) तानि सर्वाणि (उन सब को) वेद (जानता हूँ) परन्तप (हे परन्तप) त्वम् (तुम) न वेत्थ (नहीं जानते) ॥ 5 ॥

टीका—अवतारान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणाह—बहूनीति। तव चेति यदा यदै
सर्वेश्वरत्वेन सर्वज्ञत्वात्। त्वं न वेत्थ मयै
भावः। अतएव हे परन्तप! साम्प्रतिककुन्ती-पुत्रत्वाभिमानमात्रेणै
शत्रूंस्तापयसि।। 5।।

भावानुवाद - अतः भगवान् ने कहा- 'बहूनि' अर्थात् मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं मैंने अन्य अवतारों में भी उपदेश प्रदान किया था किन्तु जब-जब मेरा अवतार हुआ है, तुम्हारा भी आविर्भाव हुआ है, क्योंकि तुम मेरे पार्षद हो। सब का ईश्वर और सर्वज्ञ होने के कारण मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ किन्तु तुम नहीं जानते। क्योंकि लीलापुष्टि हेतु मैं तुम्हारे ज्ञान को ढक देता हूँ, इसलिए तुम नहीं जानते । इसलिए अभी तुम अपने आप को कुन्तीपुत्र होने का अभिमान करते हुए 'पर' अर्थात् शत्रुओं को ताप देने वाले हो ॥ 5 ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ 6 ॥

मर्मानुवाद — यद्यपि मैं और तुम सभी बार-बार इस जगत् में आते हैं, किन्तु मेरे आने में और तुम्हारे आने में बहुत अन्तर है, क्योंकि मैं तो सभी का ईश्वर हूँ, अज अर्थात् जन्म रहित एवं अव्यय स्वरूप हूँ। अपनी चित् शक्ति के द्वारा प्रकट होता हूँ, जबकि तमाम जीव मेरी मायाशक्ति के वशीभूत होकर जगत् में जन्म ग्रहण करते हैं, इसलिए उन्हें पिछले जन्म की स्मृति भी नहीं रहती। वे अपने कर्मवश लिंगशरीर का आश्रय कर बार-बार जन्म लेते हैं, जो कि उन्हें उनके कर्मों के फलानुसार प्राप्त होते हैं, किन्तु मेरे जो देव, मनुष्य तिर्यक् के रूप में आविर्भाव हैं, वे मेरी स्वतन्त्र इच्छा से ही होते रहते हैं। मेरा विशुद्ध चित् शरीर जीव की तरह सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर और स्थूलशरीर से आवृत नहीं होता। वैकुण्ठ में रहते समय जो मेरा नित्य शरीर है, उसे ही मैं इस

प्रापञ्चिक जगत् में लीला के अनुसार प्रकट करता हूँ। यदि कहो कि चित् तत्त्व प्रपञ्च अर्थात् इस माया जगत् में किस प्रकार प्रकट हो सकता है ? तो सुनो, मेरी शक्ति का तर्क के द्वारा या चिन्तन के द्वारा अनुमान नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वह इन दोनों से अतीत है। मेरी शक्ति से जो–जो हो सकता है वह तुम विचारों द्वारा निर्णय नहीं कर सकते। साधारणतया तुम्हारे जानने योग्य यही है कि अविचिन्त्य शक्ति सम्पन्न भगवान् मैं किसी प्रापञ्चिक विधि से बंधा हुआ नहीं हूँ। मैं इच्छा करने पर सारे वैकुण्ठ को अनायास ही विशुद्ध रूप से जड़ जगत् में प्रकट कर सकता हूँ, या सारे जड़ जगत् को परिवर्तित करके चिद् बना सकता हूँ। इसलिए मेरा यह सच्चिदानन्द विग्रह प्रपञ्च से अतीत एवं प्रपञ्च में अवतीर्ण होने पर भी पूर्ण रूप से शुद्ध है, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। जिस माया के द्वारा जीव नियंत्रित होते हैं वह मेरी शक्ति है, किन्तु मेरी स्वीय शक्ति के रूप में तो मेरी चित् शक्ति को ही समझना होगा। मेरी शक्ति एक है, किन्तु मेरे सामने वह चित् शक्ति है, जबकि कर्मबद्ध जीवों के लिए वही माया शक्ति है और इस प्रकार नानाविध प्रभाव वाली है।

अन्वय — अजः सन् अपि (जन्म रहित होने पर भी) अव्ययात्मा (अनश्वर होते हुए भी) भूतानामीश्वरः सन् अपि (जीवों का ईश्वर होने पर भी) स्वां प्रकृतिम् (मैं अपने सच्चिदानन्द रूप को) अधिष्ठाय (अवलम्बन कर) आत्ममायया (अपनी योगमाया द्वारा) सम्भवामि (देव, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादि योनियों में अवतरित होता हूँ)।। 6॥

टीका—स्वस्य जन्मप्रकारमाह—अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन् सम्भवामि, देवमनुष्यतिर्यगादिषु आविर्भवामि। ननु किमत्र चित्रम् ? जीवोऽपि वस्तुतोऽज एव स्थूलदेहनाशानन्तरं जायत एव तत्राह—अव्ययात्माऽनश्वरशरीरः। किञ्च, जीवस्य स्वदेहभिन्नस्वस्वरूपेणाजत्वमेव आविद्यकेन देहसम्बन्धेनै जन्मवत्त्वम्, मम त्वीश्वरत्वात् स्वदेहाभिन्नस्याजत्वं जन्मवत्त्वमित्युभयमपि स्वरूपसिद्धम्। तच्च दुर्घटत्वात् चित्रमतर्क्यमेव। अतः पुण्यपापादिमतो जीवस्येव सदसद्योनिषु न मे जन्माशङ्केत्याह—भूतानामीश्वरोऽपि सन् कर्म–पारतन्त्र्यरहितोऽपि भूत्वेत्यर्थः। ननु जीवो हि लिङ्गशरीरेण स्वबन्धकेन कर्मप्राप्यान् देवादि–देहान् प्राप्नोति। त्वं परमेश्वरो लिङ्गरहितः सर्वव्यापकः कर्मकालादि–नियन्ता; *"बहु स्याम्"* इति श्रुतेः सर्वजगद्रूपो भवस्येव। तदपि

यद्विशेषत एवम्भूतोऽप्यहं सम्भवामीति ब्रूषे तन्मन्ये सर्वजगद्विलक्षणान् देहविशेषान् नित्यानेव लोके प्रकाशयितुं त्वज्जन्मेत्यवगम्यते। तत् खलु कथमित्यत आह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठायेति। अत्र प्रकृतिशब्देन यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिरुच्यते, तदा तदधिष्ठाता परमेश्वरस्तद्द्वारा जगद्रूपो भवत्येवेति न विशेषोपलब्धिः। तस्मात् *''संसिद्धिप्रकृती त्विमे स्वरूपञ्च स्वभावश्च''* इत्यभिधानात् अत्र प्रकृति-शब्देन स्वरूपमेवोच्यते। न च त्वं स्वरूपभूता मायाशक्तिः स्वरूपञ्च तस्य सच्चिदानन्द एव; अतएव स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिमिति श्रीस्वामिचरणाः। प्रकृतिं स्वभावं स्वमेव स्वभावमधिष्ठाय स्वरूपेण स्वेच्छया सम्भवामीत्यर्थः—इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः। प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनै *''स भगवतः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि''* इति श्रुतेः। स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सम्भवामि देहदेहिभावमन्तरेण एव देहिवद् व्यवहरामीति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः। ननु यदव्ययात्मा अनश्वरमत्स्यकूर्मादिस्वरूप एव भवसि तर्हि तव प्रादुर्भवत्स्वरूपं पूर्वप्रादुर्भूतस्वरूपाणि च युगपदेव किं नोपलभ्यन्ते तत्राह— आत्मभूता या माया, तया। स्वस्वरूपावरण-प्रकाशन-कर्म च यया चिच्छक्तिवृत्त्या योगमाययेत्यर्थः। तया हि पूर्वकालावतीर्णस्वरूपाणि पूर्वमेव आवृत्य वर्त्तमानस्वरूपं प्रकाश्य सम्भवामि। आत्ममायया सम्यक् प्रच्युतज्ञानबलवीर्यादिशक्त्यै आत्मज्ञानेन। माया वयुनं ज्ञानमिति ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः। तथाचाभियुक्तप्रयोगः। मायया सततं वेत्ति प्राचीनानां शुभाशुभमिति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः। मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिः मायामात्रमिति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः।। 6।।

भावानुवाद - परमब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण अपने जन्म के विषय में समझाते हुए कहते हैं - ''मैं अजन्मा होते हुए भी देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों की योनि में आविर्भूत होता हूँ''। यदि प्रश्न हो कि जीव भी तो अजन्मा ही हैं और एक स्थूल शरीर के नाश होने के पश्चात् दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, तो फिर आप के अजन्मा होने में क्या विचित्रता है? तो उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जीवों के शरीर नश्वर हैं, अविद्या से तैयार हुई देह के सम्बन्ध से ही उनका जन्म होता है और अपने किये हुए पुण्य-पापादि

कर्मों के अधीन होकर विवश हुये वे सद्–असद् योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। जबकि मेरा शरीर नश्वर नहीं है। मैं और मेरा शरीर अभिन्न है इसलिए इसका अजत्व और जन्मत्व दोनों ही स्वतः सिद्ध है। जो कि अतिविचित्र और तर्कातीत है इसलिए पुण्य पाप आदि फल स्वरूप जीवों के सत्–असत् योनियों में जन्म के समान मेरे जन्म की आशंका नहीं है। मैं जीव की तरह कर्मों के परतन्त्र होकर नहीं, बल्कि स्वेच्छा से जन्म ग्रहण करता हूँ। इसपर यदि प्रश्न हो कि जीव भी अपने बन्धक लिंगशरीर के साथ कर्मों के अनुसार देव–मनुष्य, पशुपक्षी आदि शरीरों को प्राप्त करते हैं जबकि आप परमेश्वर हैं, लिंगशरीर रहित हैं , सर्वव्यापक, कर्म और काल आदि के नियन्ता हैं। 'बहु स्याम्' अर्थात् बहुत हो सकता हूँ । श्रुति के इस वचन के अनुसार भी आप सर्वजगद्रूप हो । तब भी विशेष रूप से आप कह रहे हैं कि मैं 'एवम्भूतोप्यहं सम्भवामि' अर्थात् ऐसा होने पर भी प्रकट होता हूँ, इससे मैं भी यही समझता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् से विलक्षण अपने नित्यस्वरूपों को लोक में प्रकाशित करने के लिए ही आप जन्म लेते हैं। किन्तु आप के वे शरीर कैसे होते हैं। इसके उत्तर में कह रहे है कि 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' अर्थात् मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर आविर्भूत होता हूँ । यहाँ पर अगर 'प्रकृति' शब्द से हम यह समझें कि यहाँ बहिरंगा मायाशक्ति को प्रकृति कहा है तो मानना पड़ेगा कि इस माया के अधिष्ठाता परमेश्वर इस के द्वारा ही जगद्रूप में अभिव्यक्त होते हैं तो ऐसा मानने में परमात्मा की कोई विशेषता नहीं रहेगी। शब्दकोश में 'संसिद्धिप्रकृति त्विमे स्वरूपञ्च स्वभावश्च'। प्रकृति शब्द का अर्थ स्वरूप ही कहा गया है। श्रीधरस्वामिपाद जी ने कहा है – न त्वं स्वरूपभूता ...... प्रकृतिम् इति। अर्थात् हे प्रभो ! आपका स्वरूप मायाशक्ति का नहीं, बल्कि सच्चिदानन्दमय ही है, अतएव आपकी प्रकृति शुद्ध सत्त्वात्मिका है । श्री रामानुजाचार्यपाद जी लिखते हैं 'प्रकृतिः स्वभावः स्वमेव...... संभवामि इत्यर्थः' अर्थात् भगवान् आप अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो अपने ही स्वरूप में अपनी इच्छा से ही आविर्भूत होते हैं।

प्रकृति अर्थात् स्वभाव, सच्चिदानन्दघन और एकरस इन शब्दों का प्रयोग कर माया को यहाँ अलग रखा गया है। 'स्वाम्' का अर्थ है – अपना

स्वरूप। श्रुति में कहा गया है – 'स भगवतः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' अर्थात् वे भगवान् अपनी ही किसी महिमा में प्रतिष्ठित है । श्रीमधुसूदन सरस्वती के अनुसार भगवान् अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हुए ही आविर्भूत होते हैं एवं देह-देही के भेद से रहित हैं तथापि देही के समान ही व्यवहार करते हैं।

यदि प्रश्न हो कि अच्छा, जब आप अव्ययात्मा हैं, अनश्वर हैं, तब मत्स्य-कूर्मादि स्वरूप भी अनश्वर हैं किन्तु जब आप इन रूपों में अवतरित होते हैं, तब क्या आपके पहले वाले विद्यमान स्वरूप और वर्तमान अवतरित स्वरूपों की एक साथ उपलब्धि होती है? तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि मैं "'आत्ममायया' अर्थात् आत्ममाया द्वारा ही यह कार्य होता है। उसकी सहायता से ही पूर्वकाल में अवतीर्ण स्वरूपों को पहले ही आवृत कर वर्तमान स्वरूप प्रकाशित करते हुए मैं आविर्भूत होता हूँ ।"

श्रीधरस्वामिपाद अपनी टीकामें लिखते हैं – 'आत्ममाया' अर्थात् भगवान् कहते हैं कि मैं 'सम्यक्, प्रच्युत ज्ञान, बल, वीर्यादि शक्ति' के द्वारा ही आविर्भूत हुआ करता हूँ। श्री रामानुजाचार्य अपने भाष्यमें लिखते हैं कि – श्रीभगवान् आत्ममाया अर्थात् आत्मज्ञानके द्वारा आविर्भूत होते हैं। 'माया वयूनं ज्ञानम्' – यहाँ माया शब्द ज्ञान का पर्यायवाची है, इस माया के सहयोग से ही भगवान् प्राचीन जीवों के शुभ-अशुभ को जानते हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भगवान् देह-देही भाव शून्य हैं उनमें इस प्रकार की प्रतीति माया-मात्र है ॥ 6 ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

मर्मानुवाद — मेरे आविर्भाव का यही मात्र नियम है, कि मैं इच्छामय हूँ। अपनी इच्छा होने से ही अवतीर्ण होता हूँ, जब जब धर्म की हानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं स्वेच्छापूर्वक प्रकट होता हूँ। इस जगत् की परिचालना करने वाली मेरी सभी विधियां अजेय हैं, किन्तु काल के प्रभाव से जब ये विधियां किसी अनिर्देश्य कारणवश विगुण हो जाती हैं, तभी अधर्म प्रबल हो उठता है। उस दोष का निवारण करने में मुझे छोड़कर और कोई समर्थ नहीं है, इसलिए अपनी चिदशक्ति की सहायता से प्रपंच में

प्रकट हो कर धर्मग्लानि समाप्त कर देता हूँ। इस भारतभूमि पर ही मेरा उदय देखने को मिलता है, ऐसी बात नहीं है। मैं तो देव, मनुष्य, पक्षी इत्यादि सभी राज्यों में आवश्यकता के अनुसार इच्छापूर्वक उदित होता हूँ।

ऐसा मत समझना कि मैं म्लेच्छ और अन्त्यजों के राज्य में उदित नहीं होता। उन सब निम्न वंश के पुरुष जितनी मात्रा में धर्म को स्वधर्म के रूप में स्वीकार करते हैं उतने ही धर्म की हानि होने पर उनके बीच में मैं शक्त्यावेश अवतार के रूप में प्रकट होकर उनके धर्म की रक्षा करता हूँ। किन्तु भारतभूमि पर वर्णाश्रम-धर्मरूप में साम्बन्धिक स्वधर्म का भलीभांति आचरण होता है, इसलिए अपनी भारतवासी प्रजा के धर्मस्थापना के लिए मैं अधिकतर प्रयास करता हूँ। इसलिए युगावतार, अंशावतार इत्यादि जितने रमणीय अवतार हैं भारत में ही ग्रहण करता हूँ। जहां वर्णाश्रम धर्म नहीं है, वहां पर निष्काम कर्मयोग और उससे प्राप्त होने वाला ज्ञानयोग और चरम फलरूप भक्तियोग का सुचारु रूप से आचरण नहीं होता है। तब भी जो उन अन्त्यज लोगों में थोड़ी बहुत भक्ति देखी जाती है वह भक्तकृपा से आकस्मिकी प्रथा सम्बन्धी जानना॥ 7॥

अन्वय — भारत (हे भारत) यदा यदा (जब जब) धर्मस्य (धर्म की) ग्लानिः (हानि) अधर्मस्य च (और अधर्म का) अभ्युत्थानम् भवति (अभ्युत्थान होता है) तदा तदा (तब तब) आत्मानम् (नित्यसिद्ध देह का) अहम् (मैं) सृजामि (सृष्ट देह की तरह प्रदर्शन करता हूँ)॥ 7॥

टीका—कदा सम्भवामित्यपेक्षायामाह—यदेति। धर्मस्य ग्लानि-र्हानिर-धर्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिस्ते द्वे सोढुमशक्नुवन् तयोवै
"आत्मानं देहं सृजामि, नित्यसिद्धमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया" इति श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादाः।। 7।।

भावानुवाद - श्रीभगवान् आविर्भाव का समय बताते हुए कह रहे हैं- 'यदा-यदा' अर्थात् जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब उसे सहन न कर पाने के कारण एवं अधर्म के नाश और धर्म की संस्थापना के लिए में अवतीर्ण होता हूँ । श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'आत्मानं सृजामि' आत्मा अर्थात् देहका सृजन करता हूँ - मायाके सहयोग से अपने नित्यसिद्ध देहको सृष्ट हुए की भाँति दिखाता हूँ॥ 7॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ 8॥

मर्मानुवाद — राजर्षि, ब्रह्मर्षि इत्यादि मेरे जितने भी भक्त हैं उनमें अपनी शक्ति का आवेश करवा कर उनसे वर्णाश्रम धर्म की संस्थापना करता हूँ। किन्तु परम भक्त-साधुओं की अभक्त व्यक्तियों से रक्षा करने के लिए मेरे अपने अवतार की आवश्यकता है, इसलिए युग-युग में अवतार लेकर मैं साधुओं की रक्षा और असाधुओं का नाश करता हूँ एवं श्रवण-कीर्तनादि भक्ति का प्रचार कर जीव के नित्य धर्म की संस्थापना करता हूँ। 'मैं युग-युग में अवतीर्ण होता हूँ' इस बात से, यह भी स्वीकार करना कि कलियुग में भी मेरा अवतार होता है। कलिकाल का मेरा अवतार केवल कीर्तनादि के द्वारा परम दुर्लभ प्रेम की संस्थापना करेगा। इसके अतिरिक्त उसका कोई और अभिप्राय नहीं होगा। सब अवतारों में श्रेष्ठ होने पर भी वह साधारण लोगों के लिए गोपनीय होगा। मेरे परम भक्त स्वाभाविक ही उस अवतार की ओर विशेष रूप से आकर्षित होंगे, यह तुम भी उनके साथ अवतीर्ण होकर देख सकोगे। कलियुग के निस्तारक इस गोपनीय अवतार के द्वारा असुर व्यक्तियों की असुरता का विनाश होगा, असुर व्यक्तियों का नहीं, यही उस गोपनीय अवतार का परम रहस्य है॥ 8॥

अन्वय — साधूनाम् (अपने एकान्त भक्तों के) परित्राणाय (मेरे दर्शन न होने से उत्पन्न जो दु:ख है उससे रक्षा करने के लिए) तथा दुष्कृताम् (एवं जो दुष्कृतिशाली अर्थात् मेरे भक्तों को दु:ख देते हैं उनके) विनाशाय (विनाश के लिए) धर्मसंस्थापनार्थाय (अपने ध्यान-यजन-परिचर्या-संकीर्तन रूपी धर्म की पूरी तरह से स्थापना के लिए) युगे युगे (प्रत्येक युग में) सम्भवामि (आविर्भूत होता हूँ)॥ 8॥

टीका—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्महान्यधर्मवृद्धी दूरीकर्त्तुं शक्नुवन्त्येव एतावदर्थमेव किं तवावतारेण इति चेत् सत्यम्। अन्यदपि अन्यदुष्करं कर्म कर्त्तुं सम्भवामीत्याह—परीति। साधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्तानां मद्दर्शनोत्कण्ठास्फुटचित्तानां यद्दै
मद्भक्तलोकदु:खदायिनां मदन्यै
धर्मसंस्थापनार्थाय मदीयध्यानयजनपरिचर्यासङ्कीर्त्तनलक्षणं परमधर्मं मदन्यै

प्रवर्त्तयितुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण स्थापयितुमित्यर्थः। युगे युगे प्रतियुगं प्रतिकल्पं वा। न चै
दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्त्तृक-वधेन विविधदुष्कृतफलान्नरकसहस्रनिपातात् संसाराच्च परित्राणतस्तस्य स खलु निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः।। 8।।

भावानुवाद - हे अर्जुन ! यदि तुम्हारे मन में यह प्रश्न हो कि जब आपके राजर्षि और ब्रह्मर्षि भक्त भी धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि को रोकने का कार्य कर सकते हैं तब आपके अवतार की क्या आवश्यकता है? तो सुनो - तुम्हारा कहना ठीक है कि ब्रह्मर्षि आदि भी यह काम कर सकते हैं, किन्तु मैं ऐसे कार्यों के लिए अवतरित होता हूँ, जिन्हें कोई दूसरा नहीं कर सकता। वह है साधुओं के परित्राण अर्थात् मेरे एकान्त भक्त जिनका मन मेरे दर्शन की अभिलाषा से अत्यन्त व्याकुल होता है, उनकी व्याकुलता को दूर करना और 'दुष्कृताम्' अर्थात् मेरे भक्तों को दुःख देनेवाले एवं मेरे बिना किसी और से न मारे जाने योग्य रावण - कंस - केशी आदिके विनाश के लिए मुझे ही आना पड़ता है और 'धर्मसंस्थापनार्थाय' अर्थात् मेरे ध्यान, भजन, परिचर्या, संकीतर्नादि लक्षणोंसे युक्त परमधर्मकी भलीभांति संस्थापना मेरे बिना दूसरों से नहीं हो सकती । युग-युग में, अर्थात् प्रतियुग या प्रतिकल्प में मैं आता हूँ । इस प्रकार दुष्टोंको दण्ड देने वाले मुझ में विषमता-दोष की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। अपने हाथों से उन दुष्ट असुरों का वध कर विविध दुष्कृतियों के कारण उन्हें मिलने वाले नरक एवं संसार से उनका परित्राण करता हूँ। इसलिए मेरे द्वारा उन्हें दिये गये दण्ड को उन पर कृपा ही जाननी चाहिये॥ 8॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ 9॥

मर्मानुवाद — अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा मैं दिव्य जन्म और कर्म स्वीकार करता हूँ इससे सम्बन्धित पहले वर्णित सिद्धान्त से जो अवगत हैं या मेरे दिव्य जन्म-कर्म के तत्त्व को जानते हैं, वे देह त्याग करने के पश्चात् दुबारा जन्म ग्रहण नहीं करते। वह तो मेरी चित् शक्ति की प्रकाशरूप ह्लादिनी शक्ति के वशीभूत होकर मेरी नित्य सेवा प्राप्त करते हैं। किन्तु तत्त्वज्ञान न होने के कारण जो मेरे जन्म, कर्म और संसार में प्रकाशित मेरी इस देह को अनित्य

(नाशवान्) और माया का समझते हैं, वे अविद्यावश बार-बार संसार चक्र में घूमते रहते हैं अपने ऐसे सिद्धान्तों के कारण ही अज्ञानी पुरुष कर्मों की जड़ता में ही फंसे रहते है, साधुकृपा के बिना उनमें मेरी निर्मल भक्ति प्रकट नहीं होती।।9॥

अन्वय — अर्जुन (हे अर्जुन) मे (मेरा) जन्म कर्म च (जन्म और कर्म) दिव्यम् (दिव्य हैं) एवम् (इस प्रकार) यः (जो) तत्त्वतः (यथार्थरूप से या मेरे जन्म कर्म को ब्रह्मस्वरूप) वेत्ति (जानता है) सः (वह) देहम् त्यक्त्वा (वर्तमान देह का त्याग करके) पुनः जन्म न एति (दुबारा जन्म ग्रहण नहीं करता है) माम् एति (अपितु मुझे प्राप्त होता है)॥ 9॥

टीका—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मत्कर्म्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणै
श्रीरामानुजाचार्यचरणाः श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाश्च। "दिव्यमलौ
श्रीस्वामिचरणाः। लोकानां प्रकृतिसृष्टत्वादलोकिक- शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थ-स्तेषामप्यभिप्रेतः। अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद्भगवज्जन्म-कर्मणोर्नित्यत्वम्। तच्च भगवत्सन्दर्भे—*"न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा"* इत्यत्र श्लोके श्रीजीव-गोस्वामिचरणै
श्रुतिस्मृतिवाक्य- बलादतर्क्यमेवेदं मन्तव्यम्। तत्र पिप्पलादशाखायां पुरुषबोधनी श्रुतिः—*"एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा"* इति। तथा जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं श्रीभागवतामृते बहुश एव प्रपञ्चितम्। एवं *'यो वेत्ति तत्त्वत'* इति, *'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा'* इत्यस्मिंस्तथा *'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'* इत्यस्मिंश्च मद्वाक्ये एवास्तिकतया मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वमेव यो जानाति, न तु तयोर्नित्यत्वे काञ्चिद्युक्तिमप्यपेक्षमाणो भवतीत्यर्थः; यद्वा, तत्त्वतः *'ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'* इत्यग्रिमोक्तेस्तच्छब्देन ब्रह्मोच्यते। तस्य भावस्तत्त्वं तेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन यो वेत्तीत्यर्थः। स वर्त्तमानं देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नै
व्याचक्षते स्म। स देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नै
"मदीयदिव्यजन्मचेष्टितयाथार्थ्यज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपाप्मा अस्मिन्नेव जन्मनि ममाश्रित्य मदेकप्रियो मामेव प्राप्नोति" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः।। 9।।

भावानुवाद – ऊपर कहे गये लक्षणों वाले मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंका तत्त्वतः ज्ञान होने मात्र से ही जीव कृतार्थ हो जाता है। श्रीपाद रामानुजाचार्यजी और श्रीपाद मधुसूदन सरस्वतीने 'दिव्य' शब्द का अर्थ अप्राकृत किया है, जबकि श्रीधरस्वामिपादने दिव्य शब्द का अर्थ किया है– अलौकिक । सारा संसार प्रकृति द्वारा ही सृष्ट है, इसलिए 'दिव्य' शब्द को समझाने के लिए श्रीधरस्वामिपादजीने 'अलौकिक' शब्द से अप्राकृत होना ही समझाया है । अतः अप्राकृत और गुणातीत होने के कारण श्रीभगवान् के जन्म और कर्म नित्य हैं। भगवत्सन्दर्भ में श्रीपादजीवगोस्वामीने भी श्रीमद्भागवत (8/3/8)के 'न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा' की व्याख्या में इस प्रसङ्गको उद्धृत किया है अथवा युक्ति के द्वारा सिद्ध न होने पर भी श्रुति–स्मृति वाक्यके बल पर अतर्क्यरूप में यह सिद्धान्त मानने योग्य ही है। इस सन्दर्भ में पिप्पलादशाखा की पुरुषबोधिनीश्रुति भी कहती है– 'एको देवो नित्यलीलानुरक्तो देवभक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा' अर्थात् नित्य लीलानुरक्त एक देव भक्तव्यापी –भक्तहृदय में अन्तरात्मा स्वरूप से विराजमान है। श्रीभगवान् के जन्म और कर्म के नित्यत्व के विषय में श्रीमद्भागवतामृत में अनेक स्थानों पर विस्तारपूर्वक बताया गया है। 'जो इसे तत्त्व से जानते हैं', कि 'अजन्मा और अव्यय होने पर भी' मैं जन्म लेता हूँ एवं 'मेरे जन्म कर्म दिव्य हैं' इसके लिए उन्हें किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं है, उनका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता अथवा जो तत्त्वतः– 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' (गीता 17/13) – इस वाक्य में 'तत्' शब्द का तात्पर्य 'ब्रह्म' है, जिस का भाव है कि जो उन्हें तत्त्व से ब्रह्मस्वरूप समझते हैं, उन्हें देहपरित्याग करने के पश्चात् पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता है। वे उन्हें ही प्राप्त करते हैं।

यहां पर 'देहत्याग कर' पद की अधिक भाव से व्याख्या की गयी है। देह त्यागने के पश्चात् उनका पुनः जन्म नहीं होता, ठीक है किन्तु देह त्याग किये बिना ही मुझे प्राप्त होते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं – ''मेरे दिव्य जन्म–कर्मके यथार्थ ज्ञानसे सम्पूर्णरूप से मेरी प्राप्ति के विरोधी समस्त पाप विध्वंस हो जाते हैं । एकमात्र मेरे प्रेमी भक्त मेरे आश्रित होकर इस जन्म में ही मुझे प्राप्त हो जाते हैं।'' – ऐसा श्रीपादरामानुजाचार्य जी का मत है॥ 9॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ 10॥

मर्मानुवाद — मेरा जन्म, कर्म और शरीर चिन्मय और विशुद्ध है, किन्तु मूर्ख लोग इसके सम्बन्ध में विचार करते समय राग, भय, क्रोध इन तीन प्रवृत्तियों द्वारा चालित होते हैं, जिनकी बुद्धि अत्यन्त जड़बद्ध है, वे जड़ तत्त्व में यहाँ तक अनुराग प्रकाशित करते हैं कि चित्तत्त्व भगवान् नाम की कोई नित्य वस्तु भी है, वे स्वीकार ही नहीं करते हैं। वे लोग स्वभाव को ही परम तत्त्व कहते हैं। कोई–कोई तो जड़ को ही चेतन तत्त्व का जनक बतलाते हैं, इसलिए ये सभी जड़वादी, स्वभाववादी, या चैतन्यहीन विधिवादी लोग इतर राग द्वारा चालित होने के कारण परम तत्त्व भगवत् प्रेम से शनैः शनैः वञ्चित हो जाते हैं।

कोई–कोई विचारक चित् तत्त्व को एक नित्य पदार्थ के रूप में स्वीकार तो करते हैं, किन्तु सहज ज्ञान का परित्याग करते हुए सदा युक्तियों का आश्रय लेते हैं, इससे जड़ जगत् में जितने प्रकार के गुण और कर्म देखे जाते हैं, उन सबको सतर्कता के साथ 'असत्' कह कर परित्याग करते हुए अस्फुट जड़–विपरीत बतलाते हैं, और एक अनिर्देश्य कल्पित ब्रह्म की कल्पना करते हैं। वह ब्रह्म और कुछ नहीं केवल मेरी माया का व्यतिरेक प्रकाशमात्र है वह मेरा नित्य स्वरूप नहीं है। ऐसे लोग मेरे स्वरूपध्यान और स्वरूपलिंगपूजा को इस भय से छोड़ देते हैं, कि कहीं इस ध्यान और चिन्ता से किसी प्रकार के जड़ धर्म का आश्रय न हो जाये। इसी भय से वे परमतत्त्व के स्वरूप से वञ्चित हो जाते हैं, कोई–कोई तो जड़ से अतीत कुछ है, इस का निर्णय न कर पाने के कारण क्रोधवश चित्त से शून्य और निर्वाण को ही परमतत्त्व के रूप में स्थापित कर लेते हैं, बौद्ध,जैन आदि मत ऐसे लोगों की ही देन है।

इस प्रकार के राग, भय और क्रोध शून्य होकर सर्वत्र मेरा ही दर्शन करके और सम्यक् रूप से मेरा आश्रय लेकर पूर्वोक्त ज्ञान को अंगीकार करते हुए एवं युक्तियों एवं कुयुक्तियों की विषज्वाला को सहन करने रूपी तप द्वारा पवित्र होकर मेरे पवित्र प्रेम को अनेक लोगों ने प्राप्त किया है॥ 10॥

अन्वय — वीतरागभयक्रोधाः (विरुद्धवादियों के प्रति प्रीति, भय और द्वेष रहित) मन्मया (मेरे जन्म कर्म के बारे में श्रवण, कीर्तन और स्मरण में लगे चित्त वाले) माम् उपाश्रिताः (मेरे अनन्य आश्रित) बहवः (बहुत से व्यक्ति) ज्ञानतपसा (पूर्वोक्त मेरे जन्म और कर्म की नित्यता के ज्ञान के विरोधी कुतर्कों

और कुयुक्तियों को सहन करने रूपी तपस्या द्वारा) पूतः (निर्मल होकर) मद्भावम् (मुझ में भक्ति) आगताः (प्राप्त करते हैं)॥ 10॥

टीका—न केवलमेक एवाधुनिक एव, मज्जन्मकर्मतत्त्वज्ञानमात्रेणै प्राप्नोत्यपि तु प्राक्तना अपि पूर्वपूर्वकल्पावतीर्णस्य मम जन्मकर्मतत्त्वज्ञानवन्तो माम अपुरेव इत्याह—वीतेति। "ज्ञानमुक्तलक्षणं मज्जन्मकर्मणोस्तत्त्वतोऽनुभव-रूपमेव तपस्तेन पूताः" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः। यद्वा, ज्ञाने मज्जन्मकर्मणो-र्नित्यत्वनिश्चयानुभवे यन्नानाकुमतकुतर्ककुयुक्तिसर्पी-विषदाहसहनरूपं तपस्तेन पूताः। तथा च श्रीरामानुजभाष्यधृता श्रुतिः— *"तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्"* इति। धीरा धीमन्त एव तस्य योनिं जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः। वीतास्त्यक्ताः कुमतप्रजल्पितेषु जनेषु रागाद्या यै
भयं नापि तेषु क्रोधा मद्भक्तानामित्यर्थः। कुतो मन्मया मज्जन्मकर्मानुध्यानमनन-श्रवणकीर्त्तनादिप्रचुराः। मद्भावं मयि प्रेमाणम्।।10।।

भावानुवाद - श्रीभगवान् बोले - "अर्जुन! ऐसा नहीं है कि केवल इस अवतार के समकालीन व्यक्ति ही मेरे जन्म - कर्म तत्त्व के ज्ञान से मुझे प्राप्त होते हैं, बल्कि पूर्वकालीन अनेक व्यक्ति पूर्व-पूर्व कल्पों में अवतीर्ण मेरे जन्म-कर्म के तत्त्व को जानकर मुझे प्राप्त हुए हैं"। 'ज्ञानतपसा' - अर्थात् पहले कहे गये मेरे जन्म-कर्म का जो तत्त्वस्वरूप अनुभव है उससे पवित्र हुए हैं - ऐसा श्रीरामानुजाचार्यपाद की व्याख्या है अथवा मेरे जन्म कर्म व नित्यत्व को भलीभाँति अनुभव करने में जो नाना प्रकार के कुमत, कुतर्क और कुयुक्ति रूपी सर्पों की विषयज्वाला को सहन करना पड़ता है वह भी तप है - उससे वे व्यक्ति पवित्र हो जाते हैं। श्रीरामानुजाचार्यभाष्य में उद्धृत श्रुति में कहा गया है - धीर या धीमान् व्यक्ति ही श्रीभगवान् की योनि अर्थात् जन्म-प्रकार को भलीभाँति जानते हैं। 'वीतराग' अर्थात् जिन्होंने कुमत प्रजल्पकारी व्यक्तियों के प्रति राग का त्याग कर दिया है, उन भक्तों में राग-प्रीति और क्रोध-भय भी नहीं रहता, इस प्रकार के भक्त पवित्र हो चुके होते हैं, क्योंकि वे मेरे जन्म-कर्म-ध्यान-मनन-श्रवण-कीर्तनादि में निमग्न रहते हैं। 'मद्भाव' का तात्पर्य है - मेरे प्रति प्रेम"॥ 10॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 11॥

मर्मानुवाद — जो व्यक्ति जिस भावना से मेरे शरणागत होते हैं, मैं भी उसी भावना के अनुरूप उनका भजन करता हूँ । सभी मत मतान्तरों का चरम उद्देश्य मैं ही सब का प्राप्य हूँ। जो शुद्ध भक्त हैं, वे परम धाम में मेरे सच्चिदानन्द विग्रह की नित्यकाल सेवा करते हुए परमानन्द की प्राप्ति करते हैं।

निर्विशेषवादियों को मैं आत्मविनाशरूपी निर्वाण मुक्ति प्रदान करता हूँ, मेरे सच्चिदानन्द विग्रह की नित्यता को स्वीकार न करने के कारण ऐसे लोगों का चिदानन्द स्वरूप लोप हो जाता है। निष्ठादोष के कारण किसी-किसी निर्विशेषवादी को मैं नश्वर जन्म भी प्रदान करता हूँ। जो शून्यवादी हैं, उनके लिए शून्यस्वरूप होकर उन्हें शून्य में लय कर देता हूँ, जो जड़, जड़कर्म या जड़ विधिवादी हैं, उनको आच्छादित चेतन के रूप में जड़प्राय करके उनको जड़रूप में उनका प्राप्य होता हूँ। जो लोग कर्मी हैं उनको मैं कर्मफल प्रदाता ईश्वर के रूप में प्राप्त होता हूँ। जो योगी है, उनको मैं ईश्वररूप से विभूतियां प्रदान करता हूँ या कैवल्य (मुक्ति) प्रदान करता हूँ। इस प्रकार विभिन्न मतवादियों को विभिन्न रूपों से प्राप्त होता हूँ। इन सब प्रकार की प्राप्तियों में से मेरी सेवा प्राप्ति को ही सर्वप्रधान समझना। मनुष्यमात्र ही विविध उपायों से मेरा अनुवर्तन करते हैं॥ 11॥

अन्वय — ये (जो) यथा (जिस प्रकार) माम् (मेरा) प्रपद्यन्ते (भजन करता है) अहम् (मैं) तान् (उसका) तथा एव (उसी प्रकार ही) भजामि (भजन का फल देता दूँ) पार्थ (हे अर्जुन) सर्वशः मनुष्याः (ज्ञानी, कर्मी, योगी और अलग-अलग देवताओं का भजन करने वाले सभी मनुष्य ही) मम वर्त्म अनुवर्तन्ते (मेरे पथ का अनुसरण करते हैं)॥ 11॥

टीका—ननु त्वदेकान्तभक्ताः किल त्वज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं मन्यन्त एव, केचित्तु ज्ञानादिसिद्ध्यर्थं त्वां प्रपन्नाः ज्ञानिप्रभृतयस्त्वज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं नापि मन्यन्त इति तत्राह—य इति। यथा येन प्रकारेण मां प्रपद्यन्ते भजन्ते अहमपि तांस्तेनै

नित्ये एवेति मनसि कुर्वाणास्तत्तल्लीलायामेव कृतमनोरथविशेषा मां भजन्तः सुखयन्त्यहमपीश्वरत्वात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुमपि समर्थस्तेषामपि जन्मकमणोर्नित्यत्वं कर्त्तुं तान् स्वपार्षदीकृत्य तै

मवतरन्नन्तर्दधानश्च तान् प्रतिक्षणमनुगृह्णन्नेव तद्भजनफलं प्रेमाणमेव ददामि।

ये ज्ञानिप्रभृतयो मज्जन्मकर्मणोर्नश्वरत्वं मद्विग्रहस्य मायामयत्वञ्च मन्यमानाः मां प्रपद्यन्ते अहमपि तान् पुनः पुनर्नश्वरजन्मकर्मवतो मायापाशपतितानेव कुर्वाणस्तत्प्रतिफलं जन्ममृत्युदुःखमेव ददामि। ये तु मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं मद्विग्रहस्य च सच्चिदानन्दत्वं मन्यमाना ज्ञानिनः स्वज्ञानसिद्ध्यर्थं मां प्रपद्यन्ते, तेषां स्वदेहद्वयभङ्गमेवेच्छतां मुमुक्षुणामनश्वरं ब्रह्मानन्दमेव सम्पादयन् भजनफलमाविद्यक–जन्ममृत्युध्वंसमेव ददामि। तस्मान्न केवलं मद्भक्ता एव मां प्रपद्यन्ते, अपि तु सर्वशः सर्वेऽपि मनुष्याः ज्ञानिनः कर्मिणो योगिनश्च देवतान्तरोपासकाश्च मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते—मम सर्वस्वरूपत्वात् ज्ञानकर्मादिकं सर्वं मामेकमेव वर्त्मेति भावः।। 11।।

भावानुवाद – केवल आपके एकान्त भक्त ही आपके जन्म व कर्म को दिव्य मानते हैं, ज्ञानी आदि नहीं। वे तो ज्ञान आदि की सिद्धि के लिए ही आपका आश्रय लेते हैं लेकिन आपके जन्म–कर्म के नित्यत्व को स्वीकार नहीं करते, तो उनका क्या होता है? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – 'ये यथा' अर्थात् जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेता है या मेरा भजन करता है, मैं भी उसी प्रकार ही उसका भजन करता हूँ अर्थात् उसीके अनुसार भजनफल प्रदान करता हूँ। मैं प्रभु हूँ और मेरा जन्म–कर्म नित्य ही है – जो व्यक्ति मेरे बारे में ऐसा सोचकर मेरी उन–उन लीलाओं में विशेष मनोरथ के साथ मेरा भजन (सेवा) करके मुझे सुख प्रदान करते हैं, सब कुछ करने में समर्थ ईश्वर होने के कारण मैं भी उनके जन्म–कर्म को नित्य बनाते हुए उन्हें अपना पार्षद बना लेता हूँ और यथासमय उनके साथ अवतीर्ण एवं अन्तर्धान होकर निरन्तर उन पर कृपा करते हुए उनके भजन के फलस्वरूप प्रेम प्रदान करता हूँ। ज्ञानी लोग जो कि मेरे जन्म–कर्म को नश्वर और मेरे श्रीविग्रह को मायामय मानकर मेरा आश्रय लेते हैं, मैं भी उन्हें पुनः पुनः नश्वर, जन्म–कर्मशील मायाके जाल में डालकर जन्म–मृत्युरूप दुःख प्रदान करता हूँ। किन्तु जो ज्ञानी मेरे जन्म–कर्म को नित्य और मेरे विग्रह को सच्चिदानन्द जानकर अपने ज्ञानकी सिद्धिके लिए मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, स्थूल और लिङ्गशरीरों का त्याग चाहने वाले उन मुमुक्षुओं को ब्रह्मानन्द प्रदान कर अविद्या से उत्पन्न जन्म–मृत्यु का नाश भजनफल के रूप में प्रदान करता हूँ। इसलिए ऐसा नहीं है कि केवल मेरे भक्तगण ही मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, अपितु ज्ञानी, कर्मी, योगी, त्यागी, देवतोपासक –

सभी श्रेणी के लोग मेरे पथ का अनुसरण करते हैं। मैं सर्वस्वरूप हूँ, अतः ज्ञान-कर्मादि सभी मेरे ही पथ हैं॥ 11॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ 12॥

मर्मानुवाद — अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में अपने स्वरूप और साम्बन्धिक तत्त्व को स्पष्टरूप से कहने के पश्चात् भगवान् पुनः पूर्व प्रस्तावित क्रमानुसार कर्मतत्त्व का उपदेश करने लगे। हे अर्जुन! मैंने पहले ही कहा है कि कर्मतत्त्व को भलीभाँति समझ लेने से कर्मबन्धन नहीं रहता है और यह भी कहा था कि विकर्म और अकर्म परित्याग करने योग्य हैं। अवस्था के अनुसार केवल कर्म ही ग्रहण करने योग्य है। ये कर्म तीन प्रकार के हैं- नित्य, नैमित्तिक और सकाम कर्म। अकर्म और विकर्म से सकाम कर्म ही अच्छा है। कामना पूरी करने के लिए फलकामी व्यक्ति बहुत से देवी देवताओं की उपासना करते हैं, क्योंकि निःसन्देह इस मनुष्य लोक में सकाम कर्म का फल अतिशीघ्र प्राप्त होता है। इस नश्वर संसार की उन्नति की कामना से जिन-जिन कर्मों को मनुष्य करता है, उन-उन कर्मों के फल को देने वाले क्षुद्र-क्षुद्र देवता लोग सन्तुष्ट होकर शीघ्र ही फल प्रदान करते हैं। वे सब देवता कौन हैं, वह क्रमशः तुम्हें बताऊँगा॥12॥

अन्वय - इह (इस मनुष्य लोक में) कर्मणाम् (कर्मों की) सिद्धिम् (सफलता) कांक्षन्तः (चाहने वाले सकामी व्यक्ति) देवताः (देवताओं की) यजन्तः (पूजा करते हैं) हि (क्योंकि) मानुषे लोके (मनुष्य लोक में) कर्मजा (कर्म से उत्पन्न) सिद्धिः (स्वर्गादि फल) क्षिप्रं भवति (शीघ्र मिल जाता है)॥ 12॥

टीका—तत्रापि मनुष्येषु मध्ये कामिनस्तु मम साक्षाद्भूतमपि भक्तिमार्गं परिहाय शीघ्रफलसाधकं कर्मवर्त्म एवानुवर्त्तन्ते इत्याह—काङ्क्षन्त इति। कर्मजा सिद्धिः स्वर्गादिमयी।। 12॥

भावानुवाद - भगवान् ने कहा- उन सब व्यक्तियों में से कुछ सकामी व्यक्ति ऐसे होते हैं जो मेरे भक्ति के रास्ते को छोड़ कर शीघ्र फल देने वाले, कर्ममार्ग को अपनाते हैं। इसलिए उन सकामी व्यक्तियों को मेरी प्राप्ति न होकर मात्र स्वर्गादि की प्राप्ति होती है॥ 12॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥ 13॥

मर्मानुवाद — गुण और कर्मों के अनुसार विभाग करते हुए मैंने ही चारों वर्णों का सृजन किया है। जगत् में मुझे छोड़ कर और कोई कर्त्ता नहीं है, इसलिए वर्णधर्म और सभी वर्णों का कर्त्ता मुझे छोड़ कर कोई और दूसरा नहीं है। किन्तु वर्णधर्म का कर्त्ता कहने पर भी मुझे अकर्ता और अविनाशी ही जानना। जीवों के पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार ही मैंने अपनी माया शक्ति द्वारा ये वर्णधर्म बनाये हैं। वस्तुतः चित्शक्ति का अधीश्वर जो मैं हूँ, मेरे द्वारा कर्ममार्ग की सृष्टि करने से किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं हुआ है। जीव का भाग्य अर्थात् उसके द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का किया गया अपव्यवहार ही इसका कारण है॥ 13॥

अन्वय— मया (मेरे द्वारा) गुणकर्मविभागशः (सत्त्वादि गुण और शम दम आदि कर्मों के विभाग के अनुसार) चातुवर्ण्यं सृष्टम् (ब्राह्मणादि चार वर्ण सृष्ट हुए थे) तस्य (उन चारों वर्णों के) कर्तारमपि (सृष्टा होने पर भी) माम् (मुझे) अकर्त्तारम् (वास्तव में गुणातीत स्वरूप होने के कारण असृष्टा) अव्ययम् (एवं श्रमादिरहित) विद्धि (जानना)॥ 13॥

टीका—ननु भक्तिज्ञानमार्गौ
त्वयि परमेश्वरे वै
वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्—स्वार्थे ष्यञ्। अत्र सत्त्वप्रधानाःब्राह्मणास्तेषां शमदमादीनि कर्माणि; रजःसत्त्वप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां शौ
प्रधाना वै
कर्मेत्येवं गुणकर्मविभागशो गुणानां कर्मणाञ्च विभागै
कर्ममार्गाश्रितत्वेन सृष्टाः। किन्तु तेषां कर्त्तारं स्रष्टारमपि मामकर्त्तारमस्रष्टारमेव विद्धि, तेषां प्रकृतिगुणसृष्टत्वात् प्रकृतेश्च मच्छक्तित्वात्, स्रष्टारमपि मां वस्तुतस्त्वस्रष्टारं, मम प्रकृतिगुणातीतस्वरूपत्वादिति भावः। अतएवाव्ययम्—स्रष्टृत्वेऽपि न मे साम्यं किञ्चिद् व्येतीत्यर्थः।। 13।।

भावानुवाद - यदि अर्जुन कहे कि प्रभो! भक्ति और ज्ञानमार्ग दोनों संसारबंधन का मोचन करने वाले हैं, जबकि कर्ममार्ग जिससे भवमोचन तो क्या, अपितु बंधन होता है। मैं पूछता हूँ– जब आप ही सब मार्गों के स्रष्टा

हैं तो आप परमेश्वर में ऐसी विषमता क्यों? तो इसके उत्तर में कहते हैं – नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। चार वर्ण हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण – सत्त्वगुण प्रधान हैं, शम–दम ही उनके कर्म हैं। क्षत्रिय – रजो गुण और सत्त्वगुण प्रधान हैं, वीरता और युद्धादि उनके कर्म हैं, वैश्य – तामसिक और राजसिक गुणप्रधान हैं, कृषि और गोरक्षा आदि उनके कर्म हैं। शूद्र – तमोगुण प्रधान हैं तीनों वर्णों की सेवा इनके कर्म हैं। इस प्रकार गुणों और कर्मों के विभाग द्वारा कर्ममार्ग के आश्रितरूप से चारों वर्ण मेरे द्वारा सृष्ट हुए हैं, किन्तु, उनका कर्ता और स्रष्टा होने पर भी मुझे अकर्ता और अस्रष्टा ही जानो। वे प्रकृति के गुणों द्वारा सृष्ट हैं और प्रकृति मेरी ही शक्ति है, परन्तु मैं प्रकृति के गुणों से अतीत हूँ। अतः वस्तुतः मैं स्रष्टा होकर भी अस्रष्टा ही हूँ। स्रष्टा होने पर भी मेरा कुछ भी व्यय नहीं होता है। मैं अव्ययरूप से ही स्थिर रहता हूँ॥ 13॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥14॥

मर्मानुवाद — जीव के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही यह कर्मतत्त्व मैंने बनाया है, वह मुझे लिप्त नहीं कर सकता। कर्मफल में भी मेरी स्पृहा नहीं है, क्योंकि मैं षडैश्वर्य पूर्ण भगवान् हूँ, इसलिए ये तुच्छ कर्मफल मेरे लिए अत्यन्त नगण्य हैं, जीव के कर्ममार्ग और मेरी स्वतन्त्रता पर विचार करते हुए, जो मेरे अव्यय तत्त्व से अवगत हो जाते हैं, वे कभी भी कर्म द्वारा नहीं बन्धते हैं और शुद्ध भक्ति का आचरण करते हुए वे मुझे ही प्राप्त होते हैं॥ 14॥

अन्वय — कर्माणि (सभी कर्म) [जीवमिव] [जीवों की तरह] माम् (मुझे) न लिम्पन्ति (लिप्त नहीं कर सकते) मे (मेरी) कर्मफले (कर्मफल स्वर्गादि में) स्पृहा नास्ति (स्पृहा नहीं है) इति (इस प्रकार) यः (जिसने) माम् (मुझे) अभिजानाति (पूरी तरह से जान लिया है) सः (वह) कर्मभिः (कर्मों के द्वारा) न बध्यते (बद्ध नहीं होता है)॥ 14॥

टीका—नन्वेतत्तावदास्ताम्, सम्प्रति त्वं क्षत्रियकुलेऽवतीर्णः क्षत्रियजात्युचितानि कर्माणि प्रत्यहं करोष्येव, तत्र का वार्त्तेत्यत आह—न मामिति। न लिम्पन्ति जीवमिव न लिप्तीकुर्वन्ति, नापि जीवस्येव कर्मफले स्वर्गादौ

कर्मादिकरणमिति भावः। इति—मामिति, यस्तु न जानाति स कर्मभिर्बध्यते इति भावः।। 14।।

भावानुवाद - यदि अर्जुन कहे— आपकी बात ठीक है किन्तु अभी तो आप क्षत्रियकुल में अवतीर्ण हुए हैं और प्रतिदिन क्षत्रियोचित कर्म भी करते हैं, तब मैं आपको किस प्रकार अकर्ता मान लूँ, तो इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं - 'न माम्' इत्यादि अर्थात् ये कर्म जिस प्रकार जीवों को लिप्त करते हैं वैसे मुझे लिप्त नहीं करते और जीवकी तरह मेरी कर्मफल स्वर्गादि की कामना भी नहीं है। परमेश्वर होने के कारण मैं स्वानन्दपूर्ण हूँ, तथापि लोकशिक्षा के लिए ही कर्मादि करता हूँ। जो यह नहीं जानते हैं, वे कर्मों से बँध जाते हैं॥ 14॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ 15॥

मर्मानुवाद — पूर्वकालीन मुमुक्षुओं ने इसी तत्त्व की जानकारी होने के पश्चात् सकाम कर्म का पूरी तरह त्याग कर दिया था और मुझ में अर्पित निष्काम कर्म का अनुष्ठान किया था। इसलिए तुम भी जनक आदि पूर्व-पूर्व महाजनों के द्वारा किये गये निष्काम कर्मयोग का आश्रय लो॥ 15॥

अन्वय — एवं ज्ञात्वा (इस प्रकार जान कर) पूर्वैः मुमुक्षुभिः (प्राचीन मुमुक्षुओं द्वारा) कर्म (कर्म का) कृतम् (आचरण किया गया है) तस्मात् (इसलिए) पूर्वैः (प्राचीन जनकादि द्वारा) पूर्वतरं कर्म एव (पहले किये गये कर्मों को ही) कुरु (करो)॥ 15॥

टीका—एवम् एवम्भूतमेव मां ज्ञात्वा पूर्वै
कर्म कृतम्।। 15।।

भावानुवाद - इस प्रकार ही मेरे स्वरूप को जानकर प्राचीन जनकादि ने भी लोकप्रवर्त्तन के लिए ही कर्म किये हैं॥ 15॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 16॥

मर्मानुवाद — किसे 'कर्म' और किसे 'अकर्म' कहते हैं इसका निर्णय लेने में विद्वान् लोगों को भी मोह हो जाता है, मैं उसी विषय का उपदेश तुम्हें

दे रहा हूँ, जिसे जानकर तुम तमाम प्रकार के अमंगलों से मुक्ति प्राप्त कर लोगे ॥16 ॥

अन्वय — किं कर्म (कर्म क्या है?) किम् अकर्म (अकर्म क्या है?) इति अत्र (इस विषय में) कवयः (विवेकी व्यक्ति भी) मोहिताः भवन्ति (मोहित हो जाते हैं) तत् (इसलिए) ज्ञात्वा (जिसे जानकर) अशुभात् (अमंगल भरे संसार से) मोक्ष्यसे (मुक्ति प्राप्त कर सकोगे) तत् (उसी कर्म और अकर्म के विषय में) ते (तुम्हें) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा) ॥ 16 ॥

टीका—किञ्च, कर्मापि न गतानुगतिकन्यायेनै कर्त्तव्यम्, किन्तु तस्य प्रकारविशेषं ज्ञात्वै

भावानुवाद - विवेकवान् पुरुषों को देखा-देखीमात्र से कर्म नहीं करना चाहिए, बल्कि किस प्रकार का कर्म है यह जानने के बाद ही कर्म करना चाहिए। इसलिए पहले उसके दुर्ज्ञेयत्व को बताते हैं ॥ 16 ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ 17 ॥

मर्मानुवाद — कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों की अलग-अलग गति पर विचार कर लेना कर्तव्य है, क्योंकि कर्म का तत्त्व अतिगहन है इसे जानना बहुत कठिन है। जो वेदों में हमारे कर्तव्य बताये गये हैं उन्हें करने को ही 'कर्म' कहते हैं। जिन कर्मों को करने के लिए मना किया गया है उन्हें करना 'विकर्म' है, जो कि दुर्गति दिलाने वाले हैं। कर्मों को न करना ही अकर्म कहलाता है। अकर्म से संन्यासियों को किस प्रकार मंगल की प्राप्ति होती है। इस तत्त्व को जानना आवश्यक है ॥ 17 ॥

अन्वय — कर्मणः अपि (वेद विहित कर्मों को) बोद्धव्यम् अस्ति (जानना चाहिए) विकर्मणः (शास्त्रों में निषेध किये गये कर्मों के सम्बन्ध में) बोद्धव्यम् अस्ति (जानना चाहिए) अकर्मणः च (कर्म के अकरण अर्थात् संन्यास के सम्बन्ध में भी) बोद्धव्यम् अस्ति (जानना चाहिए) कर्मणः (कर्म, विकर्म और अकर्म का) गतिः (तत्त्व) गहना (गहन है) ॥ 17 ॥

टीका—निषिद्धाचरणं दुर्गतिप्रापकमिति तत्त्वम्, तथा अकर्मणः कर्माकरणस्यापि संन्यासिनः कीदृशं कर्माकरणं शुभदमिति अन्यथा निःश्रेयसं कथं हस्तगतं स्यादिति भावः। कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणां,

गतिस्तत्त्वम्, गहना दुर्गमा।। 17।।

भावानुवाद – शास्त्रों द्वारा निषेध किये गये कर्म 'विकर्म' हैं, उन्हें करने से दुर्गति होती है। कर्म न करने को 'अकर्म' कहते हैं, किन्तु अकर्म संन्यासी के लिए कैसे शुभप्रद है? इसे समझना होगा अन्यथा श्रेय कैसे हस्तगत हो सकता है? 'कर्मणो गहना गतिः' इस वाक्य में कर्मणः शब्द से कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों को बताया गया है। कर्त्तव्य करना ही कर्म है॥ 18॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 18॥

मर्मानुवाद — जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान्, युक्त एवं सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्मयोगी के सारे कर्म ही कर्मसंन्यास रूपी 'अकर्म' हैं एवं कर्मत्याग ही उसका निष्काम कर्म करना है; अर्थात् सारे कर्म करता हुआ भी वह 'कर्मी' नहीं है। अकर्म और कर्म उसके सामने एक ही रूप धारण करते हैं॥ 18॥

अन्वय — (जो) कर्मणि (शुद्ध अन्तःकरण वाले ज्ञानी के द्वारा किया गया निष्काम कर्मयोग) अकर्म (बन्धन करने वाला नहीं, इसलिए कर्म नहीं है अकर्म है ऐसा) पश्येत् (दर्शन करता है) अकर्मणि च (एवं अशुद्ध अन्तःकरण वाले संन्यासी के द्वारा किये गये कर्मों के अकरण में) कर्म (दुर्गति प्रदान करने वाला कर्मबन्धन) पश्येत् (देखता है) स एव (वही व्यक्ति) मनुष्येषु (मनुष्यलोक में) बुद्धिमान् (विवेकी) स युक्तः (योगी) कृत्स्न-कर्मकृत् (और सभी कर्मों को करने वाला है)॥ 18॥

टीका—तत्र कर्माकर्मणोस्तत्त्वबोधमाह—कर्मणीति। शुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानवत्त्वेऽपि जनकादेरिवाकृत-संन्यासस्य कर्मण्यनुष्ठीयमाने निष्काम-कर्मयोगे अकर्म, कर्मेदं न भवतीति यः पश्येत्, तत्कर्मणो बन्धकत्वाभावादिति भावः, तथाऽशुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानाभावेऽपि शास्त्रज्ञत्वात् ज्ञानवावदूकस्य संन्यासिनोऽकर्मणि, कर्माकरणे कर्म पश्येत् दुर्गतिप्रापकं कर्मबन्धमेवोपलभ्यते, स एव बुद्धिमान्, स तु कृत्स्नकर्माण्येव करोति, न तु तस्य ज्ञानवावदूकस्य ज्ञानिमानिनः सङ्गेनापि तद्वचसापि संन्यासं करोतीति भावः। तथा च

भगवद्वाक्यम्— *"यस्त्वसंयतषड्वर्ग: प्रचण्डेन्द्रियसारथि:। ज्ञानवै*
र्महा। अविपक्व कषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते।।" इति।।18।।

भावानुवाद – कर्म और अकर्मके तत्त्वज्ञान की बात बता रहे हैं। शुद्ध अन्त:करणवाले व्यक्ति ज्ञानवान् होनेपर भी जो राजा जनकादि के सदृश संन्यास न ग्रहण कर निष्काम कर्मयोग के द्वारा कर्म करते हैं, वे अकर्म ही करते हैं, कर्म नहीं, जो ऐसा देखते हैं वे कर्म से नहीं बँधते हैं और जिनका अन्त:करण भी अशुद्ध है तथा जिन्हें तत्त्वज्ञान भी नहीं हैं, केवल शास्त्रज्ञान के अधार पर लम्बी–चौड़ी ज्ञान की बातें करने वाले एवं कर्मों को त्याग देनेवाले संन्यासी के अकर्म में भी जो व्यक्ति कर्म को देखते हैं अर्थात् उन कर्मों के दुर्गतिदायक कर्मबन्धन को समझते हैं, वे बुद्धिमान् हैं। पहले प्रकार के पुरुष सभी कर्मों को करते हैं, किन्तु वाचाल और स्वयं को ज्ञानी समझने वाले अभिमानी व्यक्ति की सङ्गति और उपदेश से भी संन्यासग्रहण नहीं करते हैं। श्रीभगवान् ने श्रीमद्भागवत (11/18/40–41) में भी कहा है कि जो ज्ञान–वैराग्यसे रहित है तथा काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि को नहीं जीत पाया एवं प्रबल इन्द्रियरूपी सारथि के द्वारा परिचालित होकर केवल जीविका निर्वाह के लिए त्रिदण्ड ग्रहण करने का अभिनय करता है, वह विषयवासनाग्रस्त आत्महत्यारा आराध्य देवताओं को, अपने आप को और आत्मा में स्थित मुझ से छल कर खुद भी दोनों लोकों से वञ्चित हो जाता है॥ 18॥

यस्य सर्वे समारम्भा: कामसङ्कल्पवर्जिता:।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा:॥ 19॥

मर्मानुवाद — जिसके संकल्पशून्य सभी कर्म सम्पूर्णरूप से अनुष्ठित होते हैं, वही ज्ञानाग्नि द्वारा दग्धकर्मा और पण्डित कहलाता है। विहित या निषिद्ध जो भी कर्म वह करता है वे सब निष्काम कर्मयोग से प्राप्त ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं॥ 19॥

अन्वय — यस्य (जिसके) सर्वे समारम्भा: (सारे कर्म) कामसंकल्पवर्जिता: (फल की कामना से रहित) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् (उसने विहित और निषिद्ध दोनों कर्मों को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर दिया है) तम् (उसीको)

बुधाः (विद्वान् लोग) पण्डितम् (पण्डित) आहुः (कहते हैं) ॥19॥

टीका—उक्तमर्थं विवृणोति—यस्येति पञ्चभिः। सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि कामः फलं तत्सङ्कल्पेन वर्जिताः। ज्ञानमेवाग्निस्तेन दग्धानि कर्माणि क्रियमाणानि विहितानि निषिद्धानि च यस्य सः; एतेन विकर्मणश्च बोद्धव्यमित्यपि विवृतम्। एतादृशाधिकारिणि कर्म यथा अकर्म पश्येत्, तथै विकर्माप्यकमै *"अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनै यथै कुरुते तथा"*।। 19।।

भावानुवाद - जिसके कर्म काम व संकल्प से रहित होते हैं उसके शास्त्रविहित, निषिद्ध और क्रियमाण सभी कर्म ज्ञान की अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं, ऐसे योग्य अधिकारी के कर्म को 'अकर्म' के रूप में देखना चाहिए, वैसे ही 'विकर्म' और 'निषिद्ध कर्म' को भी अकर्म के रूप में देखना चाहिए। यहां पिछले श्लोक की संगति भी हो गई॥ 19॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ 20॥

मर्मानुवाद — योग और क्षेम के अभिप्राय से रहित, अपने ही आनन्द में परितृप्त रहता हुआ जो कर्मफल की आसक्ति का त्याग करते हुए सभी प्रकार के कर्म करता है, वह उन तमाम कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता है अर्थात् उन कर्मों के फल से बंधता नहीं है॥ 20॥

अन्वय — सः (वह) कर्मफलसङ्गं त्यक्त्वा (कर्म और फल की आसक्ति का त्याग करके) नित्यतृप्तः (नित्य निजानन्द में तृप्त) निराश्रयः (योगक्षेम के अभिप्राय से रहित होकर) कर्मणि (कर्म) अभिप्रवृत्तः अपि (करते हुए भी) किञ्चित् नैव करोति (कुछ भी नहीं करता है)॥ 20॥

टीका—'नित्यतृप्तो' नित्यं निजानन्देन तृप्तः। निराश्रयः स्वयोगक्षेमार्थं न कमप्याश्रयते।। 20।।

भावानुवाद - नित्यतृप्त - अर्थात् नित्य निजानन्द में तृप्त रहने वाले। 'निराश्रय' - अपने योगक्षेम के लिए किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करते ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 21॥

मर्मानुवाद — वह अपने शरीर और चित्त को बुद्धि के अधीन रखता है, फल की आशा और आवश्यकताओं से अधिक संग्रह करने के प्रयास का त्याग करके केवल मात्र शरीर के निर्वाह के लिए कर्म करता है, इससे उसके कर्म–जनित पाप और पुण्य कुछ नहीं होते॥ 21॥

अन्वय — निराशीः (जो निष्काम) यतचित्तात्मा (जिस का चित्त और देह संयत है) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (अधिक संग्रह त्याग कर) केवल शारीरं कर्म कुर्वन् (केवल शरीर की रक्षा के लिए असत् परिग्रहादि करने पर भी वह) किल्बिषम् (पाप से) न आप्नोति (ग्रस्त नहीं होता)॥ 21॥

टीका—'आत्मा'—स्थूलदेहः। शारीरं शरीरनिर्वाहार्थं कर्मासत्–प्रतिग्रहादिकम्। कुर्वन्नपि किल्बिषं पापं नाप्नोतीत्येतदपि विकर्मणश्च बोद्धव्यमित्यस्य विवरणम्।। 21।।

भावानुवाद – यहाँ पर 'आत्मा' का अर्थ है स्थूल देह। देह के निर्वाह के लिए सत्असत् परिग्रह कर्म करने पर भी उसको पाप नहीं लगता । इस के द्वारा भी विकर्म को ही समझाया गया है॥ 21॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ 22॥

मर्मानुवाद — उसे अनायास जो मिल जाता है उसी में संतुष्ट रहता है और सुख–दुःख, राग–द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों के वशीभूत नहीं होता, ईर्ष्यारहित होता है, सफलता और असफलता दोनों में समानभाव प्राप्त कर लेता है। इसलिए कोई कर्म भी करे, उसमें बंधता नहीं है।। 22॥

अन्वय — यदृच्छालाभसन्तुष्टः (अनायास प्राप्त वस्तु में संतुष्ट) द्वन्द्वातीतः (सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, सहनशील) विमत्सरः (दूसरों से द्वेष न करने वाला) सिद्धौ असिद्धौ च (कार्य की सफलता और असफलता दोनों में) समः (हर्ष और विषाद रहित व्यक्ति) कृत्वा अपि (कर्म करके भी) न निबध्यते (बन्धता नहीं है)॥ 22॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ 23॥

मर्मानुवाद — निःसंग, मुक्त, ज्ञान में अवस्थित चित्त वाले पुरुष द्वारा यज्ञ के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वह पूरी तरह से लय हो जाते हैं, किन्तु कर्ममीमांसक जिस कर्म को 'अपूर्व' कहते हैं, निष्काम कर्मयोगी के सभी कर्म उस अपूर्वता को प्राप्त नहीं करते। कर्ममीमांसक जैमिनि का मत है कि पुरुष के द्वारा किये गये कर्म 'अपूर्व' स्वरूप प्राप्त करते हुए जन्म-जन्मान्तर के फलों को प्रदान करते हैं, निष्काम-कर्मयोगी के सम्बन्ध में यह होना असम्भव है॥ 23॥

अवन्य — गतसंगस्य (आसक्ति रहित) मुक्तस्य (मुक्त) ज्ञानावस्थितचेतसः (ज्ञान में अवस्थित चित्त) यज्ञाय (यज्ञ अर्थात ब्रह्म के लिए) कर्म आचरतः (कर्माचरण करने वाले पुरुष के) कर्म (कर्म) समग्रम् (सम्पूर्ण रूप से) प्रविलीयते (लय हो जाते हैं अर्थात् फल जनक नहीं होते)॥ 23॥

टीका—यज्ञो वक्ष्यमाणलक्षणस्तदर्थं कर्माचरतस्तत् कर्म प्रविलीयते—अकर्मभावमापद्यत इत्यर्थः।। 23।।

भावानुवाद - यज्ञ के लक्षण अगले श्लोकों में कहे गये हैं, यज्ञ के लिए किया गया कर्म विलीन हो जाता है अर्थात् अकर्मता को प्राप्त होता है॥23॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥ 24॥

मर्मानुवाद — यज्ञरूपी कर्म से किस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसे श्रवण करो- यज्ञ कितने प्रकार के होते हैं, यह बाद में कहूँगा। अभी यज्ञ का मूलतत्त्व कहता हूँ, सुनो। मायाबद्ध जीव के लिए सांसारिक जड़कार्य अनिवार्य हैं। उन जड़कार्यों में जितनी मात्रा में चिद् वस्तु का अनुशीलन हो सके, उसे ही सुचारुरूप से करने का नाम यज्ञ है। जड़ में चिद्भाव के आविर्भूत होने से उसे ब्रह्म कहते हैं, वह 'ब्रह्म' मेरी ही ज्योति या किरणपुंज है। चित् तत्त्व सम्पूर्ण जड़ जगत् से विलक्षण है। अर्पण, हविः, अग्नि, होता और फल-इन पाँचों में जब ब्रह्म का अधिष्ठान होता है, तब यथार्थ 'यज्ञ' होता है। कर्म को ब्रह्मात्मक करते हुए जिसकी उसमें चित्त एकाग्रतारूप समाधि लग जाती

है वह अपने तमाम कर्मों का यज्ञरूप से अनुष्ठान करता है। उसका अर्पण, हविः, अग्नि, होता अर्थात् स्व सत्ता सभी ब्रह्मात्मक हैं, इसलिए उसकी गति भी ब्रह्म है॥ 24॥

अन्वय — अर्पणम् (स्रुक् स्रुवादि) ब्रह्म (ब्रह्म स्वरूप हैं) हविः ब्रह्म (घृत ब्रह्मस्वरूप है) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्म स्वरूप अग्नि में) ब्रह्मणः (हवन करने वाले ब्रह्मस्वरूप होता के द्वारा) हुतम् (आहुति दी जाती है) तेन (इस प्रकार विचारवान् उस व्यक्ति को) ब्रह्मकर्म समाधिना (ब्रह्मात्मक कर्म में चित्त की एकाग्रता द्वारा) ब्रह्म एव (ब्रह्म ही) गन्तव्यम् (प्राप्त होता है)

टीका—'यज्ञायाचरतः' इत्युक्तम्, स यज्ञ एव कीदृशः? इत्यपेक्षायामाह—ब्रह्मेति। अर्प्यते अनेनेत्यर्पणम्; जुह्वादि तदपि ब्रह्मै
हविरपि ब्रह्मै
हवनकर्त्तापि ब्रह्मै
फलान्तरम्। कुतः? ब्रह्मात्मकं यत् कर्म तत्रै
तेन।।24।।

भावानुवाद – पिछले श्लोक में भगवान् ने कहा कि यज्ञ के लिए कर्म का आचरण करो, यह सुनकर अर्जुन के मन में ऐसा प्रश्न हो सकता है– 'उस यज्ञका स्वरूप कैसा है?' – इसलिए श्रीभगवान् 'ब्रह्म' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'अर्पणम्' – जिसके द्वारा अर्पण किया जाता है, वह जुह्वा अर्थात् यज्ञ का चमचा, 'हवि' अर्थात् हवन सामग्री, 'ब्रह्माग्नि' अर्थात् हवन का अधिकरण स्थान अग्नि और 'ब्रह्मणा' अर्थात् हवनकर्ता – ये सभी ब्रह्मात्मक हैं। इस प्रकार विवेकवान् पुरुष के द्वारा ब्रह्म ही गन्तव्य अर्थात् प्राप्त किये जाने योग्य है, कोई और फल नहीं। यदि कहो क्यों? तो उत्तर है – जो कर्म ब्रह्मात्मक है, उससे ही समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है॥ 24॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ 25॥

मर्मानुवाद — जो इस प्रकार के यज्ञ का व्रत लेते हैं, वही योगी हैं। सभी

यज्ञों के प्रकार भेद से सभी योगियों में भी प्रकार भेद है, जितने प्रकार के यज्ञ हैं, योगी भी उतने ही प्रकार के हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में देखने से यज्ञ और योगी के अनेक प्रकार हैं। किन्तु विज्ञान सहित विभाग करने से सारे यज्ञ ही कर्मयज्ञ या द्रव्ययज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ या चिदालोचनारूपी यज्ञ, इन दो भागों में विभाजित हो जाते हैं, यह बाद में वर्णन करूँगा। अभी कुछ प्रकार के यज्ञ कहता हूँ, श्रवण करो। कर्मयोगी व्यक्ति दैवयज्ञ की उपासना करते हैं, उसी यज्ञ से इन्द्र, वरुणादिरूपी मायिक-सामर्थ्य विशिष्ट मेरे अधीन पुरुषों की पूजा हो जाती है। इस यज्ञ से भी वे क्रमशः निष्काम कर्मयोग को प्राप्त होते हैं। सभी ज्ञानयोगी केवल 'प्रणव' (ॐ) रूपी मंत्र द्वारा 'तत्त्वमसि', महावाक्य का अवलम्बन कर 'तत्'-पदार्थ ब्रह्म में 'त्वं'-पदार्थ जीव का होम करते हैं, इसकी श्रेष्ठता बाद में कही जायेगी॥ 25॥

अन्वय — अपरे योगिनः (दूसरे कर्मयोगी व्यक्ति) दैवं यज्ञम् एव (इन्द्रादि देवताओं के उद्‌देश्य से यज्ञ की) पर्युपासते (उपासना करते हैं) अपरे (ज्ञान योगी) ब्रह्माग्नौ (त्वत् पदार्थ परमात्मरूप अग्नि में) यज्ञम् (हविः स्थानीय त्वं पदार्थ जीवात्मा की) यज्ञेन (प्रणवरूप मंत्र द्वारा) उपजुह्वति (आहुति प्रदान करते हैं)॥ 25॥

टीका—यज्ञाः खलु भेदेनान्येऽपि बहवो वर्त्तन्ते, तांस्त्वं शृण्वित्याह—दै
इन्द्रादिषु ब्रह्मबुद्धिराहित्यं दर्शितम्— *"सास्य देवतेत्यण्"*। योगिनः कर्मयोगिनः, अपरे ज्ञानयोगिनस्तु ब्रह्म परमात्मै
त्वं-पदार्थं जीवं यज्ञेन प्रणवरूपेण मन्त्रेणै
स्तोष्यते। अत्र 'यज्ञं' 'यज्ञेन' इति शब्दौ
शुद्धजीवप्रणवावाहतुः।। 25।।

भावानुवाद - अर्जुन ! प्रकार भेद से यज्ञ बहुत प्रकार के हैं । उनके विषय में श्रवण करो । जिस यज्ञ में इन्द्र - वरुणादि देवताओं का यजन किया जाता है उसे 'देवयज्ञ' कहते हैं । इन्द्रादि देवता ब्रह्म नहीं हैं। यही बताते हुए कहते हैं 'सास्य देवतेति अण्' अर्थात् देव ही उन उपासकों के देवता हैं। यहाँ ब्रह्म की कोई बात नहीं की गई है । यहाँ 'योगिनः' का अर्थ है कर्मयोगी और 'अपरम्' का अर्थ है ज्ञानयोगी ।'ब्रह्माग्नौ' अर्थात् ब्रह्म या

परमात्मा ही अग्नि हैं । उस अग्नि में ही 'तत् पदार्थ' या ब्रह्म में हवन सामग्री के स्थान पर 'त्वं पदार्थ' जीव का प्रणव ॐ के साथ हवन करते हैं । इसी ज्ञानयज्ञ की आगे प्रशंसा की जायेगी। यहाँ 'यज्ञ' को और 'यज्ञ के द्वारा' ये दोनों शब्द क्रमशः कर्म और करण के रूप में प्रयोग हुए हैं अथवा प्रथम अतिशयोक्ति के द्वारा शुद्धजीव और प्रणव को निर्देश किया गया है॥ 25॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ 26॥

मर्मानुवाद — नैष्ठिकब्रह्मचारी मन संयम रूपी अग्नि में कान आदि सभी इन्द्रियों की आहुति देते हैं, सभी गृहस्थी शब्दादि विषयों की इन्द्रियरूपी अग्नि में आहुति देते हैं॥ 26॥

अन्वय — अन्ये (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) संयमाग्निषु (इन्द्रिय संयमरूपी अग्नि में अर्थात् संयत मन में) श्रोत्रादीनि (कान इत्यादि) इन्द्रियाणि (सभी इन्द्रियों की) जुह्वति (आहुति देते हैं) अन्ये (अन्यब्रह्मचारी) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूप अग्नि में)शब्दादीन् विषयान् (शब्दादि विषयों की) जुह्वति (आहुति देते हैं)॥ 26॥

टीका—अन्ये नै
जुह्वति, शुद्धे मनसीन्द्रियाणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः। अन्ये ततो न्यूना ब्रह्मचारिणः शब्दादीन् विषयानिन्द्रियाग्निष्विन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु जुह्वति–शब्दादीनीन्द्रियेषु प्रविलापयन्तीत्यर्थः।। 26।।

भावानुवाद – नैष्ठिक ब्रह्मचारी कर्णादि इन्द्रियों का संयतमनरूपी अग्नि में होम करते हैं। शुद्ध मन में इन्द्रियों को लीन कर देते हैं। उनकी अपेक्षा न्यून ब्रह्मचारी शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में लीन कर देते हैं॥26॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ 27॥

मर्मानुवाद — प्रत्यगात्मा का अनुसन्धान करने वाले कैवल्यवादी पतञ्जलि आदि तमाम योगी अपनी समस्त इन्द्रियों के कर्मों और दशविध प्राणों के कर्मों की 'त्वम्' पदार्थ स्वरूप शुद्धजीवात्मरूप अग्नि में आहुति देते हैं। विषय उन्मुख जीवात्मा का नाम ही 'परागात्मा' एवं विषय त्यागी आत्मा का नाम ही 'प्रत्यगात्मा' है। ये लोग ऐसा मानते है कि एक 'प्रत्यगात्मा' के बिना

मन इत्यादि कुछ भी नहीं है॥ 27॥

अन्वय — अपरे (शुद्ध त्वं पदार्थ को जानने वाले) ज्ञानदीपिते (ज्ञान द्वारा प्रदीप्त) आत्मसंयमयोगाग्नौ (त्वं पदार्थ की शुद्धिरूप अग्नि में) सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि (सारी इन्द्रियां और उनके कर्म श्रवण दर्शनादि एवं) प्राणकर्माणि च (दस प्राण और उनके कार्यों की) जुह्वति (आहुति प्रदान करते हैं)॥ 27॥

टीका—अपरे—शुद्ध-त्वंपदार्थविज्ञाः। सर्वाणीन्द्रियाणि तत्कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि च, प्राणकर्माणि दशप्राणास्तत्कर्माणि च, प्राणस्य बहिर्गमनमपानस्याधोगमनम् समानस्य भुक्तपीतादीनां समीकरणम्, उदानस्योच्चै *"उद्गारे नाग आख्यातः कुर्म उन्मीलने स्मृतः। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतञ्चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः"* इत्येवं दश प्राणास्तत्कर्माणि। आत्मनस्त्वंपदार्थस्य संयमः शुद्धिरेवाग्निस्तस्मिन् जुह्वति—मनोबुद्ध्यादीन्द्रियाणि दशप्राणांश्च प्रविलापयन्ति। एकः प्रत्यगात्मै भावयन्तीत्यर्थः।।27।।

भावानुवाद - अपरे अर्थात् शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ जीवात्मा को जानने वाले पुरुष अपनी कान, आँख आदि समस्त इन्द्रियों और उन के देखने और सुनने इत्यादि कर्मों को, दश प्रकार के प्राणों और उनके कर्मों को 'त्वम्' पदार्थ की संयम शुद्धिरूप अग्नि में होम करते हैं। वे मन बुद्धि आदि इन्द्रियों और दश प्राण सबको भलीभांति लीन कर देते हैं। भाव यह है कि एक मात्र प्रत्यगात्मा ही रहता है, मन आदि दूसरी कोई वस्तु नहीं रहती॥ 27॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ 28॥

मर्मानुवाद — सब यज्ञों को द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ एवं स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ इन चार भागों में भी विभाजित किया जा सकता है। द्रव्यमय यज्ञ को द्रव्ययज्ञ, कष्टसाध्य चान्द्रायण और चातुर्मास्य इत्यादि व्रत करने को तपोयज्ञ, अष्टांग योग को योगयज्ञ, एवं वेदार्थ विचारपूर्वक चिद्-अचिद् के विचार को ज्ञान यज्ञ कहा जाता है। इन चार प्रकार के यज्ञों को करने में यत्न-परायण व्यक्ति को 'तीक्ष्णव्रतयति' या तीक्ष्ण व्रतधारी संन्यासी कहा जाता है॥ 28॥

अन्वय — केचिद् द्रव्ययज्ञाः (कोई द्रव्यदानरूपी यज्ञ करते हैं) केचिद् तपोयज्ञाः (कुछ लोग कष्टसाध्य चान्द्रायणादिरूपी यज्ञ करते हैं) तथा अपरे योगयज्ञाः (एवं कोई–कोई अष्टांग योगरूपी यज्ञ करते हैं) केचन स्वध्याय–ज्ञानयज्ञाश्च (और कोई–कोई वेदपाठ और उनके अर्थ ज्ञानरूपी यज्ञ करने वाले हैं) एते सर्वे यतयः (ये सब यत्नशील) संशितव्रताः (तीक्ष्णव्रत करने वाले हैं) ॥ 28 ॥

टीका—द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते 'द्रव्ययज्ञाः' तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः, योगऽष्टाङ्ग एव यज्ञो येषां ते 'योगयज्ञाः', स्वाध्यायो वेदस्य पाठस्तदर्थस्य ज्ञानञ्च यज्ञो येषां ते, यतयो यत्नपराः—सर्व एते सम्यक् शितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते।। 28।।

भावानुवाद - जो द्रव्यदान करने वाले हैं, वे 'द्रव्ययज्ञ' हैं। अत्यन्त कठिन चान्द्रायणव्रत रूपी तपयज्ञ करने वाले 'तपोयज्ञाः' हैं, अष्टांग योग करने वाले 'योगयज्ञाः' हैं, स्वाध्याय और वेदपाठ एवं उसके अर्थ ज्ञानरूपी यज्ञ करने वाले हैं वे 'स्वध्यायज्ञानयज्ञाः' हैं, ये सभी व्यक्ति तीक्ष्णव्रतधारी हैं ॥ 28 ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥ 29 ॥

मर्मानुवाद — वेदशास्त्र और उनके अनुगत स्मृति शास्त्रों में जो चार प्रकार के यज्ञ देखने को मिलते हैं, उनके अतिरिक्त समयोचित वेदार्थ के विस्तृतरूप तन्त्रादि शास्त्रों में हठयोग एवं नानाविध संयमव्रतरूप सभी योगों का उपदेश दिया गया है। उनका अनुसरण करने वाले व्यक्ति प्राणायाम–निष्ठ होकर अपान वायु में प्राणवायु को एवं प्राणवायु में अपानवायु को अवरुद्ध करते हैं एवं क्रमशः प्राणापान वायु की गति का रोध करके कुम्भक का अभ्यास करते हैं। कोई–कोई मिताहार करते हुए सभी प्राणों का होम करते हैं ॥ 29 ॥

अन्वय — अपरे (अन्य कोई) अपाने (अधोवृत्ति वायु में) प्राणम् (प्राण वायु की) जुह्वति (पूरक के समय एकीभूत करते हैं) तथा प्राणे अपानं जुह्वति (एवं रेचक के समय अपान वायु का प्राण वायु में होम करते हैं) प्राणापानगती (कुम्भक के समय प्राण और अपान की गति को) रुद्ध्वा (निरोध करते हुए)

प्राणायाम-परायणाः [भवन्ति] (प्राणायाम परायण हो जाते हैं) अपरे (और दूसरे इन्द्रियों को जय करने की कामना करने वाले) नियताहाराः (आहार कम करते हुए) प्राणेषु (प्राणवायु में) प्राणान् (सभी इन्द्रियों की) जुह्वति (आहुति देते हैं) ॥ 29 ॥

टीका—अपरे प्राणायामनिष्ठाः—अपानेऽधोवृत्तौ
पूरककाले प्राणमपानेनै
कुम्भक-काले प्राणापानयोर्गती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा भवन्ति। अपरे इन्द्रियजयकामाः,नियताहाराःअल्पाहाराः,प्राणेष्वाहारसङ्कोचनेनै
प्राणानिन्द्रियाणि जुह्वति। इन्द्रियाणां प्राणाधीनवृत्तित्वात् प्राणदौ
स्वयमेव स्व-स्व-विषयग्रहणासमर्थानीन्द्रियाणि प्राणेष्वेवाल्पीयन्त इत्यर्थः।।29।।

भावानुवाद - 'अपरे' अर्थात् प्राणायामनिष्ठ योगी, 'अपाने' अर्थात् अपान में प्राण को होम करते हैं, अर्थात् पूरक करते समय प्राण का अपान के साथ एकीकरण करते हैं, उसी प्रकार रेचक करते समय अपान का प्राण में हवन करते हैं एवं कुम्भक करते समय प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम परायण हो जाते हैं।'अपरे' अर्थात् दूसरे इन्द्रियों पर जय करने की कामना वाले आहार संयमित करके जीवनमय प्राणों में इन्द्रियों का हवन करते हैं, क्योंकि इन्द्रियां प्राणों के अधीन हैं, इसलिए प्राणों के दुर्बल होने पर इन्द्रियां अपने आप ही दुर्बल हो जाती हैं। फलस्वरूप अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं, इसलिए सूक्ष्मरूप से प्राणों में ही अवस्थान करती हैं॥ 29॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ 30॥

मर्मानुवाद — ये सभी यज्ञतत्त्ववित् और यज्ञ द्वारा क्षीण-पाप होकर यज्ञ अवशेष अमृत का भोजन करते हुए अन्त में पूर्वोक्त सनातन ब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं॥ 30॥

अन्वय — यज्ञविदः (यज्ञविद्) यज्ञक्षयितकल्मषाः (यज्ञ के द्वारा क्षीण-पाप होकर) एते सर्वे अपि (ये सभी) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञ के बचे हुए अमृत अर्थात् भोग, ऐश्वर्य, सिद्धि इत्यादि का भोग करते हैं) सनातनं ब्रह्म च यान्ति

(एवं ज्ञान द्वारा सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं) ॥ 30 ॥

टीका—सर्वेऽप्येते यज्ञविद उक्तलक्षणान् यज्ञान् विन्दमानाः सन्तः ज्ञानद्वारा ब्रह्म यान्ति। अत्राननुसंहितं फलमाह—यज्ञशिष्टं यज्ञावशिष्टं यदमृतं भौ
यान्तीति।। 30।।

भावानुवाद - यज्ञ को जानने वाले उपरोक्त लक्षणों वाले यज्ञों को करते-करते ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। इन यज्ञों के गौण फल के रूप में भोग, ऐश्वर्य, सिद्धियां रूपी अमृत का उपभोग करते हैं और मुख्य फल के रूप में ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ॥ 30 ॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ 31 ॥

मर्मानुवाद — इसलिए हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! जिसने यज्ञ न किये हों ऐसे व्यक्ति के लिए अल्प सुख वाले इस लोक की प्राप्ति ही सम्भव नहीं, तब परलोक प्राप्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है? इसलिए यज्ञ ही कर्तव्यकर्म है - इससे ऐसा ही समझना होगा कि - स्मार्त्त वर्णाश्रम धर्म, अष्टांग योग एवं वैदिक योग आदि सब यज्ञ ही हैं, ब्रह्मज्ञान भी एक यज्ञविशेष है। यज्ञ के बिना जगत् में और कोई कर्म नहीं है, जो है वह 'विकर्म' है। ॥ 31 ॥

अन्वय — कुरुसत्तम! (हे कुरुश्रेष्ठ) अयज्ञस्य (यज्ञ रहित व्यक्ति का) अयं लोकः अपि (इस अल्पसुख वाले मनुष्य लोक में भी स्थान) नास्ति (नहीं है) अन्यलोकः (तब उसे अन्य देवादि लोक) कुतः (किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं) ॥ 31 ॥

टीका—तदकरणे प्रत्यवायमाह—नायमिति। अयमल्पसुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति, कुतोऽन्यो देवादिलोकस्तेन प्राप्तव्य इत्यर्थः।। 31।।

भावानुवाद - इन यज्ञों को न करने से दोष होता है जिस कारण यह अल्प सुखवाला मनुष्यलोक भी नहीं मिलता, फिर देव लोकादि कैसे प्राप्त हो सकते हैं? ॥ 31 ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ 32 ॥

मर्मानुवाद — ये सब प्रकार के यज्ञ ही वेदों में या वेदों के अनुगत शास्त्रों

में कहे गये हैं, ये सभी–काया–मन–वाणी के कर्मों से जनित हैं, इसलिए कर्मज हैं। इस प्रकार कर्मतत्त्व का विचार कर पाने पर तुम कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो ॥ 32 ॥

अन्वय — ब्रह्मणः मुखे (वेदरूप मुख में) एवं बहुविधा यज्ञाः वितताः (इस प्रकार के नानाविध यज्ञ स्पष्ट रूप से कहे गये हैं) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि (उन सब को वाक्–मन–शरीर के कर्मों से उत्पन्न जानो) एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे (इस प्रकार जानने से मुक्ति प्राप्त करोगे) ॥ 32 ॥

टीका—ब्रह्मणो वेदस्य मुखेन वेदेन स्वमुखेनै कर्मजान् वाङ्मनःकायकर्मजनितान्।। 32।।

भावानुवाद – वेदों द्वारा अपने मुख से स्पष्ट कहा गया है कि ये सभी यज्ञ काय, मन और वाणी के कर्मों से उत्पन्न हैं ॥ 32 ॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 33 ॥

मर्मानुवाद — यद्यपि इन सब यज्ञों के द्वारा क्रमशः ज्ञान की प्राप्ति तत्पश्चात् शान्तिलाभ एवं अन्त में मद्भक्ति लाभरूपी जीव का मंगल उदय होता है। तथापि इन यज्ञों के सम्बन्ध में एक गहन विचार है, वही जानने योग्य है। निष्ठा के भेद से कहे गये यज्ञ किसी समय केवल द्रव्यमय होते हैं और कभी ज्ञानमय यज्ञ होते हैं। द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। हे पार्थ! समस्त कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्ति प्राप्त करते हैं। ये सब यज्ञ जब चिदालोचना रहित हो जाते हैं, तब ये सब कुछ केवल द्रव्यमय ही होते हैं। जब चिद्–वस्तु की आलोचना होती रहती हैं तब वस्तुतः द्रव्यमय होते हुए भी ये चिन्मय या ज्ञानमय हो जाते हैं। यज्ञ की केवल द्रव्यमय अवस्था को ही 'कर्मकाण्ड' कहते हैं, और ज्ञानमय अवस्था को 'ज्ञानकाण्ड' कहते हैं। यज्ञ का अनुष्ठान करते समय 'होता' को विशेष सचेत रहना होता है ॥ 33 ॥

अन्वय — परन्तप! (हे शत्रु तापन) [तेषु अपि] [उनमें से] द्रव्यमयाद् यज्ञात् (ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः इत्यादि रूप द्रव्ययज्ञ से) ज्ञानयज्ञ (ब्रह्माग्नावपरे इत्यादि श्लोक में कहा ज्ञानयज्ञ) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) ज्ञाने सति (ज्ञान के बाद) सर्वं कर्म (सभी कर्म) अखिलं सत् (अव्यर्थ होकर) परिसमाप्यते (समाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान के बाद कर्म नहीं रहते) ॥ 33 ॥

टीका—तेष्वपि मध्ये ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति लक्षणादपि द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ब्रह्माग्नावित्यनेनोक्तो ज्ञानयज्ञः श्रेयान्; कुतः? ज्ञाने सति सर्वं कर्माखिलमव्यर्थं सत्परिसमाप्यते समाप्तीभवति—ज्ञानानन्तरं कर्म न तिष्ठतीत्यर्थः।। 33।।

भावानुवाद - उपरोक्त सभी यज्ञों में से इस अध्याय (गीता 4/24) में बताये गये लक्षणोंवाले द्रव्य यज्ञ से, इसी अध्याय के 25वें श्लोक में कहा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। यदि प्रश्न हो कि क्यों? तो उत्तर में कहते हैं कि ज्ञान होने पर सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान के पश्चात् कर्म नहीं रहते॥ 33॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ 34॥

मर्मानुवाद — यदि कहो कि इस द्रव्यमय और ज्ञानमय यज्ञ के भेद का विचार करना तुम्हारे लिए कठिन है तो इसके लिए मेरा उपदेश है कि तुम इस भेद विचार सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी गुरुओं का आश्रय ग्रहण करो। तुम तत्त्वदर्शी गुरु के शरणागत हो जाओ और निष्कपट सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करो और इस तत्त्व के विषय से सम्बन्धित प्रश्न पूछो। वे तुम्हें ज्ञान उपदेश प्रदान करेंगे॥ 34॥

अन्वय — प्रणिपातेन (दण्डवत् नमस्कार) परिप्रश्नेन (युक्ति संगत प्रश्न) सेवया (और अकपट सेवा के द्वारा) तत् ज्ञानम् (ऊपर कहे गये ज्ञान की बात) विद्धि (जाननी होगी) ज्ञानिनः (शास्त्रज्ञानी) तत्त्वदर्शिनः (परब्रह्म के विषय में अपरोक्ष अनुभूति सम्पन्न महात्मा) ते (तुझे) उपदेक्ष्यन्ति (उपदेश प्रदान करेंगे)॥ 34॥

टीका—तज्ज्ञानप्राप्तये प्रकारमाह—तदिति। प्रणिपातेन ज्ञानोपदेष्टरि गुरौ दण्डवन्नमस्कारेण, "भगवन्! कुतोऽयं मे संसारः, कथं निवर्त्तिष्यते" इति परिप्रश्नेन च, सेवया तत्परिचर्यया च, *"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुतेः*।। 34।।

भावानुवाद - तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की विधि बताते हुए कह रहे हैं - अर्जुन! ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरु के पास जाकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम करके जिज्ञासा करो, हे भगवन्! मैं संसार में क्यों फंसा हुआ हूँ? इससे किस प्रकार छुटकारा मिलेगा? इस प्रकार परिप्रश्न करने के पश्चात् सेवा पूजा के

द्वारा उन्हें प्रसन्न करो। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि ''भगवान् के सम्बन्ध में विशेष ज्ञानप्राप्ति के लिए हाथ में समिधा लेकर वेदों के तात्पर्य को जानने वाले गुरु की शरण में जाना चाहिए''॥ 34 ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ 35 ॥

मर्मानुवाद — इस समय तुम मोहवश युद्धरूपी अपने धर्म को त्याग करने के लिए तैयार हो, पर गुरु से तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त होने पर मोह तुम्हें कभी भी इस प्रकार नहीं पकड़ेगा। उसी तत्त्वज्ञान के द्वारा तुम समझ सकोगे कि मनुष्य तिर्यग् आदि सभी प्राणी एक जीवात्मरूप तत्त्व में अवस्थित हैं। उपाधिग्रस्त होने के कारण उनमें जड़ीय तारतम्य आ गये हैं। ये सभी जीव परमकारणरूप भगवत्स्वरूप मुझ में मेरी शक्ति के कार्य के रूप में अवस्थान करते हैं॥ 35 ॥

अन्वय — पाण्डव (हे पाण्डव) यत् ज्ञानम् (आत्मा शरीर आदि से भिन्न है, ऐसा ज्ञान) ज्ञात्वा (प्राप्त करके) एवं मोहम् (इस प्रकार मोह) न यास्यसि (नहीं होगा) येन (नित्यसिद्ध आत्मज्ञान हो जाने के कारण मोह नष्ट होने से) अशेषाणि भूतानि (देव, मनुष्य, पक्षी इत्यादि भूतसमुदाय को)आत्मनि (जीवात्मा में उपाधि के रूप से पृथक् अवस्थित) द्रक्ष्यसि (देखोगे) अथो मयि (एवं परम-कारण मुझ में कार्य रूप से अवस्थित) द्रक्ष्यसि (देखोगे)॥ 35 ॥

टीका—ज्ञानस्य फलमाह—यज्ज्ञात्वेति सार्द्धै एवात्मेति लक्षणं ज्ञात्वा एवं मोहमन्तःकरणधर्मं न प्राप्स्यसि येन च मोह-विगमेन स्वाभाविकनित्यसिद्धात्मज्ञानलाभादशेषाणि भूतानि मनुष्यतिर्यगादीन्यात्मनि जीवात्मन्युपाधित्वेन स्थितानि पृथक् द्रक्ष्यसि। अथो मयि परमकारणे च कार्यत्वेन स्थितानि द्रक्ष्यसि।। 35।।

भावानुवाद - ज्ञान का फल बता रहे हैं । आत्मा देह से अलग है । इस प्रकार ज्ञान होने से तुम्हारे अन्त:करण में मोह उत्पन्न नहीं होगा । मोह के दूर होने पर स्वाभाविक नित्यसिद्ध आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी फिर तुम मनुष्य-पशु-पक्षी सब भूतों को जीवात्मा में उपाधि के रूप से स्थित अलग-अलग दर्शन करोगे और उन्हें मुझ परम कारण में कार्यरूप से स्थित देखोगे॥35 ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ 36॥

मर्मानुवाद — यद्यपि तुमने अत्यन्त घोर पाप भी किये हों, तब भी ज्ञानरूपी जहाज पर चढ़कर तुम पूरे दुःख समुद्र को पार कर जाओगे॥ 36॥

अन्वय — अपि चेत् (यद्यपि) सर्वेभ्यः पापेभ्यः (सभी पापियों से) पापकृत्तमः असि (अधिक पापी हो) ज्ञानप्लवेन एव (ज्ञानरूपी जहाज द्वारा) सर्वं वृजिनम् (समस्त पाप और दुःखों से) सन्तरिष्यसि (सम्यक् रूप से पार हो जाओगे)॥ 36॥

टीका—ज्ञानस्य माहात्म्यमाह—अपि चेदिति। पापिभ्यः पापकृद्भ्योऽपि सकाशात् यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि, तथापि अत्रै कथमन्तःकरणशुद्धिः? तदभावे च कथं ज्ञानोत्पत्तिः? नाप्युत्पन्नज्ञानस्यै दुराचारत्वं सम्भवेदतोऽत्र व्याख्या श्रीमधुसूदनसरस्वती- पादानाम्—"अपि चेदित्यसम्भाविता- भ्युपगमप्रदर्शनाथौ तथापि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते" इत्येषा।। 36।।

भावानुवाद - इस श्लोक में ज्ञान की महिमा बताते हुए कह रहे हैं - ''हे अर्जुन, यदि तुम पापियों में महापापी हो तो भी तत्त्वज्ञान के द्वारा तुम उन पापों से मुक्त हो जाओगे''। वास्तव में पाप रहते हुए अन्तःकरण की शुद्धि सम्भव नहीं और अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और जिसे ज्ञान हो गया है वह दुराचार कैसे कर सकता है?

यहाँ पर श्रीमधुसूदन सरस्वती जी व्याख्या करते हैं - 'अपि-चेत्' यहाँ असम्भावित-अभ्युपगम रीति अपनाई गई है। यद्यपि यह अर्थ सम्भव नहीं है फिर भी ज्ञान का फल बताने के लिए यह प्रतिज्ञा के रूप में कहा गया अर्थात् असम्भव विषय का भी सम्भव के रूप में उल्लेख किया गया है॥ 36॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ 37॥

मर्मानुवाद — प्रचण्डरूप से प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठादि ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, हे अर्जुन! उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी सब कर्मों

को जला कर भस्म कर देती है ॥ 37 ॥

अन्वय — अर्जुन (हे अर्जुन) यथा (जिस प्रकार) समिधः अग्निः (सम्यक् रूप से प्रज्वलित अग्नि) एधांसि (काष्ठादि को) भस्मसात् कुरुते (भस्म कर देती है) तथा (उसी प्रकार) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूपी अग्नि) सर्वकर्माणि (वर्तमान देह के हेतु प्रारब्ध के अतिरिक्त सभी कर्मों को) भस्मसात् कुरुते (भस्म कर देती है) ॥ 37 ॥

टीका—शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नं ज्ञानं तु प्रारब्धभिन्नं कर्ममात्रं विनाशयतीति सदृष्टान्तमाह—यथेति। समिद्धः प्रज्वलितः।। 37।।

भावानुवाद - शुद्धान्तःकरण वाले व्यक्ति में उत्पन्न तत्त्वज्ञान प्रारब्ध को छोड़ अन्य सभी कर्मों का नाश कर देता है। जैसे कि प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि ईंधन को भस्म कर देती है ॥ 37 ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

मर्मानुवाद — ज्ञान अर्थात् चिन्मय तत्त्व के समान पवित्र पदार्थ इस जगत् में कोई और दूसरा नहीं है। तुम समय आने पर अपने निष्काम कर्मयोग के फलस्वरूप उसी ज्ञान को प्राप्त करोगे। इस वाक्य से ऐसा समझना होगा कि ज्ञान से श्रेष्ठ तत्त्व 'शान्ति' ही ज्ञान का फल है। 'ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है', ऐसा कहने से भावार्थ यह नहीं है कि ज्ञान से उत्कृष्ट कोई तत्त्व ही नहीं है ॥ 38 ॥

अन्वय— इह (नाना तपस्याओं में) ज्ञानेन सदृशम् (ज्ञान के समान) पवित्रं न विद्यते (पवित्र कुछ नहीं है) तत् ज्ञानम् (उस ज्ञान को) योगसंसिद्धः (निष्काम कर्म योग में पूरी तरह सिद्ध व्यक्ति) कालेन (बहुत समय पश्चात्) आत्मनि (अपने हृदय में) [स्वयं प्राप्तम्] [स्वतः ही] विन्दति (प्राप्त करते हैं) ॥ 38 ॥

टीका—इह तपोयोगादियुक्तेषु मध्ये ज्ञानेन सदृशं पवित्रं किमपि नास्ति। तज्ज्ञानं न सर्वसुलभं; किन्तु योगेन निष्कामकर्मयोगेन सम्यक् सिद्ध एव, न त्वपरिपक्वः, सोऽपि कालेनै
विन्दति, न तु संन्यासग्रहणमात्रेणै

भावानुवाद - यहाँ कहे गये तपस्या योग आदि में से ज्ञान के समान पवित्र कोई भी नहीं है, किन्तु वह ज्ञान प्राप्त करना सब के लिए आसान नहीं है। निष्काम कर्मयोग में परिपक्वता आ जाने पर वह ज्ञान प्राप्त होता है - एक दम प्राप्त नहीं होता। वह भी आत्मा में स्वयं ही प्राप्त होता है। केवल संन्यास लेने मात्र से इस की प्राप्ति नहीं होती॥ 38॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ 39॥

मर्मानुवाद — संयत इन्द्रिय और तत्परायण होकर श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जिसकी निष्काम कर्मयोग में श्रद्धा नहीं हैं, वह व्यक्ति इस ज्ञान का अधिकारी नहीं है। श्रद्धा के साथ निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करते हुए वह अति शीघ्र ही परा शान्ति को प्राप्त करता है। परा शान्ति किसे कहते हैं, वह कहता हूँ॥ 39॥

अन्वय — श्रद्धावान् (निष्काम कर्म के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण साफ हो जाने से ज्ञान होता है। इसी शास्त्रीय अर्थ में आस्तिक बुद्धिमान् व्यक्ति) तत्परः (निष्काम कर्म के अनुष्ठान में तत्पर) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय व्यक्ति) ज्ञानम् (ज्ञान) लभते (प्राप्त करते हैं) ज्ञानं लब्ध्वा (ज्ञान प्राप्त करके) अचिरेण (शीघ्र) परां शान्तिम् (संसारक्षयरूप शान्ति) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)॥ 39॥

टीका—तर्हि कीदृशः सन् कदा प्राप्नोतीत्यत आह—'श्रद्धा' निष्कामकर्मणै
आस्तिक्यबुद्धिस्तद्वानेव; तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठः, तादृशोऽपि यदा संयतेन्द्रियः स्यात्तदा परां शान्तिं संसार-नाशम्।। 39।।

भावानुवाद - किस प्रकार और किस समय यह ज्ञान प्राप्त होता है? उत्तर में कहते हैं-श्रद्धावान् होने के पश्चात् अर्थात् निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर वह ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी शास्त्र वचनों में विश्वास होने पर। 'तत्परः' अर्थात् निष्काम कर्म करने में निष्ठा हो और साथ ही साथ वह जितेन्द्रिय भी हो तभी परा शान्ति प्राप्त करता है अर्थात् उसका संसार-बन्धन कट जाता है॥ 39॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ 40 ॥

मर्मानुवाद — कर्मतत्त्व को न जानने वाले एवं श्रद्धारहित व्यक्ति सदा ही संशय में रहते हैं, इस प्रकार के लोगों का कभी मंगल नहीं होता। उनको इस लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संशयरूपी दु:ख ही उनकी शान्ति का नाश करता है॥ 40 ॥

अन्वय — अज्ञः (पशुओं की तरह मूढ़) अश्रद्धधानः (शास्त्रज्ञान होने पर भी नाना मतवादों के अध्ययन के कारण अविश्वस्त) संशयात्मा (श्रद्धा रहने पर भी मेरी इस विषय में सिद्धि होगी कि नहीं इस सन्देह से व्याकुल चित्त व्यक्ति) विनश्यति (विनष्ट हो जाता है अर्थात् मंगल से वंचित हो जाता है) संशयात्मनः (संशयचित्त वाले व्यक्ति को) अयं लोकः (इस मनुष्य लोक में) परो लोकः (और परलोक में) सुखम् (सुख) नास्ति (नहीं हैं) ॥ 40 ॥

टीका—ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीताधिकारिणमाह—'अज्ञः' पश्वादिवन्मूढः; अश्रद्दधाना शास्त्रज्ञानवत्त्वेऽपि नानावादिनां परस्परविप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा न क्वापि विश्वस्तः; श्रद्धावत्त्वेऽपि संशयात्मा—ममै सन्देहाक्रान्तमतिः; तेष्वपि मध्ये संशयात्मानं विशेषतो निन्दति—नायमिति।।40।।

भावानुवाद - ज्ञान के अधिकारी के बाद अनधिकारी के बारे में बता रहे हैं कि 'अज्ञ' अर्थात् पशु आदि के समान मूढ़। 'अश्रद्धावान्' अर्थात् शास्त्रज्ञान होने पर भी अनेक मतों में परस्पर विरोध दिखने पर किसी भी मत के प्रति विश्वास न करने वाला, यदि श्रद्धा हो भी जाय तो 'सिद्धि होगी कि नहीं' इस प्रकार संशय से भयभीत रहने वाला, ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उन सब में से संशयात्मा की ही विशेष निन्दा की गई है। उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती॥ 40 ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ 41 ॥

मर्मानुवाद — इसलिए, हे धनञ्जय ! जो निष्काम कर्मयोग के द्वारा कर्म-संन्यास लेता है, ज्ञान के द्वारा संशय का नाश करता है एवं आत्मा के

चिन्मय स्वरूप से परिचित है, उसे कोई कर्म बाँध नहीं सकता॥ 41॥

अन्वय — योगसंन्यस्तकर्माणं (निष्काम कर्मयोग के पश्चात् ही जिसने संन्यास-विधि से कर्मत्याग किया है) ज्ञान संछिन्न-संशयम् (तत्पश्चात् ज्ञान अभ्यास से संशय नाश कर लिए हैं) आत्मवन्तम् (और आत्मा के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लिया है) धनञ्जय (हे धनञ्जय) कर्माणि (कर्म) तम् (उसे) न निबध्नन्ति (बाँध नहीं सकते हैं)॥ 41॥

टीका—नै

योगानन्तरमेव संन्यस्तकर्माणं संन्यासेन त्यक्तकर्माणम्, ततश्च ज्ञानाभ्यासानन्तरं छिन्नसंशयम् आत्मवन्तं प्राप्तं प्रत्यगात्मानं कर्माणि न निबध्नन्ति।। 41।।

भावानुवाद - जिन्होंने निष्काम कर्मयोग के बाद संन्यास ग्रहण कर कर्मों का त्याग करने के कारण नैष्कर्म्य प्राप्त किया है तत्पश्चात् ज्ञानाभ्यास से अपने तमाम संशयों का छेदन कर लिया है, ऐसे आत्मवान् पुरुष को कर्म बांधते नहीं हैं॥ 41॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ 42॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञान-विभागयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

मर्मानुवाद — इसलिए हे भारत! तुम्हारा जो निष्काम कर्मयोग के विषय में संशय उत्पन्न हुआ है, वह अज्ञान से उत्पन्न है। उसे ज्ञानरूपी तलवार से छेदन करो एवं निष्काम कर्मयोग का आश्रय करते हुए युद्ध करो॥ 42॥

चौथे अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय — तस्मात् (इसलिए) भारत (हे भारत) आत्मनः (अपने) अज्ञानसम्भूतम् (अज्ञान से उत्पन्न) हृत्स्थम् (हृदय में स्थित) एनं संशयम् (इस संशय का) ज्ञानासिना (ज्ञानरूपी तलवार से) छित्त्वा (छेदन करके) योगम् (निष्काम कर्मयोग का) आतिष्ठ (आश्रय कर) उत्तिष्ठ (और युद्ध के लिए खड़े होओ)॥ 42॥

टीका—उपसंहरति—तस्मादिति। हृत्स्थं हृद्गतं संशयं छित्त्वा योगं निष्कामकर्मयोगमातिष्ठाश्रय, उत्तिष्ठ युद्धं कर्त्तुमिति भावः।। 42।।

उक्तेषु मुक्त्युपायेषु ज्ञानमत्र प्रशस्यते।

ज्ञानोपायन्तु कर्मै

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वयं चतुर्थो हि सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद – हृदय के तमाम संशयों को छेदन कर निष्काम कर्मयोग का आश्रय लो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ यही भाव है॥ 42॥

इस अध्याय में मुक्ति के सभी उपायों में से ज्ञान की प्रशंसा एवं निष्काम कर्म ही ज्ञान प्राप्ति के उपाय के रूप में निरूपित हुआ है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

चौथे अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

चौथा अध्याय समाप्त

पाँचवाँ अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच -

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ 1॥

मर्मानुवाद — अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! आपने कहा कि 'योग द्वारा कर्म त्याग करो' और फिर कहा कि 'ज्ञान के द्वारा संशय का छेदन करके युद्धरूपी कर्म करो', इसलिए मुझे निश्चय करके कहें, कि कर्मत्याग और कर्मयोग दोनों में से कौन सा करूँ?॥ 1॥

अन्वय — अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) कर्मणां संन्यासम् (कर्मों का त्याग) पुनः योगं च (उसके बाद निष्काम कर्मयोग भी)

शंससि (कहा) एतयोः [मध्ये] (इन दोनों के बीच में) यत् (जो) मे (मेरे लिए) श्रेयः (मंगलकर हो) तत् एकम् (वह एक ही) सुनिश्चितम् (निश्चय करके) ब्रूहि (कहिये)॥ 1॥

टीका— *प्रोक्तं ज्ञानादपि श्रेष्ठं कर्म तद्दार्ढ्यसिद्धये।*
तत्पदार्थस्य च ज्ञानं साम्याद्या अपि पञ्चमे।।

पूर्वाध्यायान्ते श्रुतेन वाक्यद्वयेन विरोधमाशङ्कमानः पृच्छति—सन्यासमिति। *"योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।"* इति वाक्येन त्वं कर्मयोगेनोत्पन्नज्ञानस्य कर्मसन्न्यासं ब्रूषे; *"तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वै*
भारत।।" इत्यनेन पुनस्तस्यै
कर्मयोगश्चै
कर्मसंन्यासं कुर्यात् कर्मयोगं वा कुर्यादिति त्वदभिप्रायमनवगतोऽहं पृच्छामि—एतयोर्मध्ये यदेकं श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तन्मे ब्रूहि।। 1।।

भावानुवाद – चतुर्थ अध्याय में कर्म के सम्बन्ध में दृढ़ता सिद्ध करने के लिए कर्म को ज्ञान से भी श्रेष्ठ कहा गया है। अब इस पञ्चम अध्याय में 'तत्' पदार्थ का ज्ञान और साम्य आदि का वर्णन किया जा रहा है।

पिछले अध्याय के अंतिम दो वाक्यों को श्रवण कर उनके परस्पर विरोधाभास की आशंका से अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं। चौथे अध्याय के 41 वें श्लोक में आपने कहा कि जो निष्काम कर्मयोग से उत्पन्न ज्ञान से कर्मसंन्यास ले लेते हैं उनके संशय ज्ञान द्वारा छेदन हो जाते हैं, वे आत्मा के चिन्मय स्वरूप को जान लेते हैं। किन्तु उसके ही अगले श्लोक में आपने कहा – 'हे अर्जुन निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर तू युद्ध के लिए खड़ा हो'। उन दोनों वचनों को सुनकर अर्जुन को दोनों में विरोध की शंका हुई, क्योंकि 'खड़ा रहना' और 'चलना' जिस तरह एक दूसरे के विरोधी हैं, उसी प्रकार 'कर्मसंन्यास' और 'कर्मयोग' परस्पर विरोधी हैं। इसलिए व्यक्ति के लिए एक ही समय में एकसाथ दोनों कार्य सम्भव नहीं हैं। इसलिए इसका अभिप्राय न समझ पाने के कारण मेरी आपसे प्रार्थना है कि इन दोनों में से किसी एक निश्चित कल्याणकारी मार्ग को कहिये॥ 1॥

श्रीभगवानुवाच–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ 2॥

मर्मानुवाद — भगवान् ने कहा – संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मंगल करने वाले हैं, इनमें से कर्मत्याग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। कर्म में आसक्ति के त्याग को ही संन्यास कहा जाता है। वस्तुतः मैंने कर्मत्याग का उपदेश नहीं दिया है॥ 2॥

अन्वय — श्री भगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा) संन्यासः कर्मयोगश्च उभौ निःश्रेयसकरौ (संन्यास एवं कर्मयोग दोनों ही कल्याणकर हैं) तु तयोः (किन्तु दोनों में से) कर्मसंन्यासात् (कर्मत्याग की अपेक्षा) कर्मयोगः (निष्काम कर्मयोग) विशिष्यते [कभी कभी चित्त के विकारों को शान्त करता है इसलिए (विशिष्ट है)॥ 2॥

टीका—कर्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानिनः कर्मकरणे न कोऽपि दोषः; प्रत्युत निष्कामकर्मणा चित्तशुद्धिदार्ढ्यज्ज्ञानदार्ढ्यमेव स्यात्; संन्यासिनस्तु कदाचिच्चित्तवै
ज्ञानाभ्यासप्रतिबन्धकन्तु चित्तवै
भावः।।2।।

भावानुवाद – भगवान् ने कहा – कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति कर्म करते हैं तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता, बल्कि निष्काम कर्म करने से चित्तशुद्धि दृढ़ होती है जिससे ज्ञान में भी दृढ़ता आती है, किन्तु यदि कभी संन्यासी के चित्त में विकार उत्पन्न हो जाय, तो उसे शान्त करने के लिए क्या कर्म करना मना है? इसके उत्तर में कहते हैं कि ज्ञानाभ्यास में चित्त में विकार ही सब से बड़ा बाधक है, इस अवस्था में जबकि वह कर्म का त्यागकर चुका है फिर से कर्म करेगा तो वह वमन करके उसके दुबारा खाने के समान हो जायेगा अर्थात् वह 'वान्ताशी' बन जायेगा। इसलिए कर्मसंन्यास से निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है॥ 2॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ 3॥

मर्मानुवाद — हे महाबाहो! जो निर्द्वन्द्व है एवं कर्मफल की आकांक्षा या

द्वेष नहीं करता है, वही नित्यसंन्यासी है। वही परमसुखपूर्वक कर्मबन्धन से मुक्ति पा लेता है॥ 3॥

अन्वय — महाबाहो (हे महाबाहो) यः (जो) न द्वेष्टि (द्वेष नहीँ करता है) न कांक्षति (और आकांक्षा भी नहीं करता) सः (उसे) नित्यसंन्यासी (नित्य अर्थात् कर्म करते हुए भी संन्यासी) ज्ञेयः (जानना) सः निर्द्वन्द्वः हि (वह द्वन्द्व रहित पुरुष ही) सुखम् (अनायास ही) बन्धात् (बन्धन से) प्रमुच्यते (मुक्त हो जाता है)॥ 3॥

टीका—न च सन्न्यासप्राप्यो मोक्षोऽकृतसन्न्यासेनै वाच्यमित्याह—ज्ञेय इति। स तु शुद्धचित्तः कर्मी नित्यसन्न्यासी एव ज्ञेयः। 'हे महाबाहो' इति मुक्तिनगरीं जेतुं स एव महावीर इति भावः।। 3।।

भावानुवाद— ऐसा नहीं कहा जा सकता कि संन्यास से प्राप्त होने वाला मोक्ष संन्यास के बिना मिलता ही नहीं है, इसलिए हे महाबाहो! तुम शुद्ध चित्त कर्मयोगी को नित्यसंन्यासी ही जानो । यहां पर 'महाबाहो' सम्बोधन का भाव है कि जो मुक्ति की नगरी को जीतने में समर्थ है, वही महावीर है॥ 3॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ 4॥

मर्मानुवाद — तुम्हें संन्यास और कर्मयोग के मूल तत्त्व के विषय में कहता हूँ, श्रवण करो । अपण्डित और मूढ़ मीमांसक ही सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों को अलग-अलग पद्धतियों के रूप में बतलाते हैं, जबकि पण्डित ऐसा नहीं कहते। साँख्ययोग या कर्मयोग जिसे भी भलीभाँति रूप से आचरण करो उसी से दोनों का फल प्राप्त करोगे॥ 4॥

अन्वय — बालाः(अज्ञ व्यक्ति) साँख्ययोगौ (संन्यास एवं कर्मयोग) पृथक् (अलग-अलग हैं) [इति] [ऐसा] प्रवदन्ति (कहते हैं) पण्डिताः न [वदन्ति] (पण्डित ऐसा नहीं कहते हैं) एकम् अपि सम्यक् आस्थितः (किसी एक को उत्तम रूप से करने से) उभयोः (दोनों का ही) फलम् (फल) विन्दते (प्राप्त करते हैं)॥ 4॥

टीका—तस्मात् यच्छ्रेय एवै विवेकिभिरुभयोः पार्थक्याभावस्य दृष्टत्वादित्याह—सांख्ययोगाविति। सांख्य-

शब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना तदङ्गः संन्यासो लक्ष्यते। संन्यास–कर्मयोगौ स्वतन्त्राविति बाला वदन्ति न तु विज्ञाः,— '*ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी*' इति पूर्वोक्तेः, अत एकमपीत्यादि।। 4।।

भावानुवाद— भगवान् ने कहा अर्जुन! तुम जो कहते हो कि–'दोनों में से जो कल्याणकारी हो' उसे कहिये, किन्तु यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि विवेकी पुरुष इन दोनों में कोई भिन्नता नहीं देखते हैं। यहाँ ज्ञाननिष्ठावाले 'सांख्य' शब्दसे उसके अंग संन्यास को ही लक्ष्य किया गया है। शिशु या मूर्ख ही संन्यास और कर्मयोग को अलग–अलग बताते हैं, विद्वान् नहीं, क्योंकि 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी' यह पूर्व (गीता 5/3) श्लोंक में ही बताया गया है, इसलिए किसी एक के आश्रय से दोनों का फल प्राप्त हो जाता है॥ 4॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥ 5॥

मर्मानुवाद — इसलिए उपरोक्त दोनों पद्धतियां एक ही हैं केवल उनके नाम ही भिन्न हैं, जो सांख्य और योग दोनों को 'एक' ही जानते हैं वही उनके तत्त्व को जानते हैं॥ 5॥

अन्वय — सांख्यैः (संन्यास के द्वारा) यत् स्थानम् (जो स्थान) प्राप्यते (प्राप्त होता है) योगैः अपि (निष्काम कर्मयोग द्वारा भी) तत् स्थानं गम्यते (उसी स्थान की प्राप्ति होती है) सांख्यं योगञ्च (संन्यास और कर्मयोग को) यः (जो) [विवेकेन] [विचारपूर्वक] एकं पश्यति (एक ही जान पाते हैं) सः पश्यति (वही तत्त्वदर्शी हैं)॥ 5॥

टीका—एतदेव स्पष्टयति—यदिति। साङ्ख्यै
निर्ष्कामकर्मणा, बहुवचनं गौ
विवेकेनै

भावानुवाद— इस श्लोक में ऊपर कही बात को ही स्पष्ट कर रहे हैं– 'सांख्यों एवं निष्काम कर्मों' ऐसा कह कर यहाँ बहुवचन का प्रयोग करके गौरव प्रकाशित किया गया है। पृथक् होने पर भी जो व्यक्ति विवेक द्वारा इन दोनों को एक ही देखते हैं, वही वास्तविक द्रष्टा हैं, अर्थात् वही नेत्रवान् पण्डित हैं॥ 5॥

संन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥6॥

मर्मानुवाद— हे महाबाहो, कर्मयोग के बिना केवल कर्मत्यागरूपी संन्यास दु:खजनक है, निष्काम कर्मयोगी बिना कष्ट के ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। ॥6॥

अन्वय — महाबाहो (हे महाबाहो)अयोगतः (निष्काम कर्मयोग के बिना) संन्यासः [चित्त के चंचल रहते] (संन्यास) दु:खमेव प्राप्तुम् [भवति] (दु:ख प्राप्ति का कारण होता है) योगयुक्त : (निष्काम कर्म करने वाला) मुनि (ज्ञानी होकर) न चिरेण (शीघ्र) ब्रह्म अधिगच्छति (ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं) ॥ 6 ॥

टीका—किन्तु सम्यक् चित्तशुद्धिमनिर्द्धारयतो ज्ञानिनः संन्यासो दु:खदः कर्मयोगस्तु सुखद एवेति पूर्वव्यञ्जितमर्थं स्पष्टमेवाह—संन्यासस्त्विति। चित्तवै
वै
दु:खमेव प्राप्तुं भवति। तदुक्तं वार्त्तिककृद्भिः—*"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दै* इति, श्रुतिरपि—*"यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः"* इति, भगवतापि—*"यस्त्वसंयतषड्वर्गः"* (श्रीमद्भा॰ 11/18/40) इत्याद्युक्तम्। तस्माद् यो युक्तः निष्कामकर्मवान् मुनिर्ज्ञानी सन् ब्रह्म शीघ्रं प्राप्नोति।।6।।

भावानुवाद—पूरी तरह चित्तशुद्धि हुए बिना ज्ञानी का संन्यासग्रहण दु:खदायी होता है, किन्तु कर्मयोग सुखद है। चित्त चंचल होने पर संन्यास को दु:खदायी कहा गया है, जबकि कर्मयोग चित्त-विकार को शान्त करने वाला है। अतः 'अयोगतः' अर्थात् चित्त चंचलता के शमनकारी कर्मयोग का अभाव होने पर अर्थात् संन्यास में अधिकार नहीं होने से, संन्यास दु:ख प्राप्ति का कारण बन जाता है। वार्तिककार ने कहा है कि – प्रमादी, अस्थिरचित्त, दुष्ट तथा कलह में उत्सुक संन्यासी दैव से ही दूषित अन्तःकरण वाले होते हैं। श्रीमद्भागवत (11/18/40) में भी कहा गया है – "जिन्होंने पाँचों इन्द्रियों तथा मन को वश में नहीं किया, जिनमें न तो ज्ञान है और न वैराग्य, वे संन्यासी दोनों लोकों से हाथ धो बैठते हैं " जबकि निष्काम कर्मयोगी

ज्ञानी होकर शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त करते हैं॥ 6॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 7॥

मर्मानुवाद — योगयुक्त ज्ञानी तीन प्रकार के होते हैं – विशुद्धबुद्धि, विशुद्ध चित्त और जितेन्द्रिय। ये क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। ये सभी जीवों के अनुराग के भाजन होकर कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होते॥ 7॥

अन्वय — योगयुक्तः (पहले कहे गये योग से युक्त) विशुद्धात्मा (विजित बुद्धि) विजितात्मा (विशुद्ध चित्त) जितेन्द्रियः (और जितेन्द्रिय यही तीन प्रकार के ज्ञानी गृहस्थ हैं) सर्वभूतात्मभूतात्मा (सभी प्राणियों के प्रेमास्पद होने के कारण) कुर्वन् अपि (कर्म करने पर भी) न लिप्यते (लिप्त नहीं होते) ॥7॥

टीका—कृतेनापि कर्मणा ज्ञानिनस्तस्य न लेप इत्याह—योगेति। योगयुक्तो ज्ञानी त्रिविधः—'विशुद्धात्मा' विजितबुद्धिरेकः, 'विजितात्मा' विशुद्धचित्तो द्वितीयः,'जितेन्द्रियः' तृतीय इति पूर्वपूर्वेषां साधन- तारतम्यादुत्कर्षः। एतादृशे गृहस्थे तु सर्वेऽपि जीवा अनुरज्यन्तीत्याह—सर्वेषामपि भूतानामात्मभूतः प्रेमास्पदीभूत आत्मा देहो यस्य सः।। 7।।

भावानुवाद— 'योगयुक्त' श्लोक से भगवान् बता रहे हैं कि ज्ञानी कर्म करने पर भी उस में लिप्त नहीं होता। योगयुक्त ज्ञानी तीन प्रकार के होते हैं (1) विशुद्धात्मा अर्थात् विजित बुद्धि (2) विजितात्मा या विशुद्धचित्त (3) जितेन्द्रिय। साधना के तारतम्य के अनुसार ये क्रमशः श्रेष्ठ हैं। ऐसे गृहस्थ के प्रति सभी जीव अनुरक्त रहते हैं और सभी को आत्मा के समान प्रिय होते हैं ॥7॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ 8॥

मर्मानुवाद — कर्मयोगी देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता हुआ तत्त्वज्ञान होने के कारण ऐसा समझता है कि 'मैंने कुछ नहीं किया है'। बोलते, देते, लेते तथा आँखों को खोलते-मीचते इत्यादि, सब कुछ करते हुए भी यह सोचता है कि जिस जड़ शरीर में 'मैं हूँ' वही यह सब कर रहा है अर्थात् शरीर की इन्द्रियां अपने-अपने विषयों

में वर्त रही हैं; वस्तुतः मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ॥ 8 ॥

अन्वय — तत्त्ववित् (तत्त्वज्ञ) युक्तः (कर्मयोगी) पश्यन् (देखते) शृण्वन् (सुनते) स्पृशन् (स्पर्श करते) जिघ्रन् (सूंघते हुए) अश्नन् (भोजन करते हुए) गच्छन् (चलते हुए) स्वपन् (सोते हुए) श्वसन् (श्वास लेते हुऐ) प्रलपन् (प्रलाप करते हुए) विसृजन् (मूत्र, विष्ठा त्याग करते हुए) गृह्णन् (ग्रहण करते हुए) उन्मिषन् (आंखे खोलते हुए) निमिषन् अपि (और आंखे बन्द करते हुए भी) इन्द्रियाणि (चक्षु आदि इन्द्रियां) इन्द्रियार्थेषु (रूप, रसगन्धादि विषयों में) (वर्तन्ते मेरी वासना के अनुकूल परमात्मा की प्रेरणा से दर्शनादि कार्य करती हैं) इति धारयन् (यह निश्चय करके) [अहम्] किञ्चित् नैव करोमि (मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ) इति मन्यते (ऐसा मानता है) ॥8 ॥

टीका—येन कर्मणा लेपस्तं प्रकारं शिक्षयति—नै
दर्शनादीनि कुर्वन्नपि, इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् बुद्ध्या निश्चिन्वन् निरभिमानः किञ्चिदप्यहं नै

भावानुवाद— इस श्लोक से उन कर्मों के सम्बन्ध में शिक्षा दे रहे हैं जिनमें लिप्त होने की सम्भावना है और लिप्तता से बचने का उपाय भी बता रहे हैं – युक्तकर्मयोगी व्यक्ति देखते, बोलते, सुनते और सब काम करते हुए भी यही सोचे कि इन्द्रियां ही अपने विषयों में कार्य कर रही हैं और बुद्धि द्वारा निश्चय पूर्वक निरभिमान होकर मन में ऐसी भावना करें कि 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ' ॥ 8 ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ 9 ॥

मर्मानुवाद — जो फल में आसक्ति को त्याग कर ब्रह्म में अर्पण करते हुए कर्म करता है, कमल–पत्र जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी उस में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार वह भी पाप कर्म में लिप्त नहीं होता॥ 9 ॥

अन्वय — यः (जो) ब्रह्मणि (परमेश्वर में) कर्माणि (कर्मों को) आधाय (समर्पण करके) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्ति का त्याग कर) करोति (कर्म करता है) अम्भसा (जल के द्वारा) पद्मपत्रमिव (कमल–पत्र की तरह) पापेन (पाप के द्वारा) सः (वह) न लिप्यते (लिप्त नहीं होता है) ॥ 9 ॥

टीका—किञ्च, ब्रह्मणि परमेश्वरे मयि कर्माणि समर्प्य सङ्गं त्यक्त्वा साभिमानोऽपि कर्मासक्तिं विहाय यः कर्माणि करोति। पापेनेत्युपलक्षणम्। सोऽपि कर्ममात्रेणै ॥ 9 ॥

भावानुवाद—जो कर्मों को मुझ परमेश्वर में अर्पण कर आसक्ति का त्याग करते हुए अर्थात् अभिमान होते हुए भी कर्मासक्ति त्यागकर कर्म करते हैं, वे कर्म करने पर भी उनसे लिप्त नहीं होते॥ 9 ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ 10 ॥

मर्मानुवाद — सभी योगी चित्तशुद्धि के लिए कर्मफल में आसक्ति का त्याग कर शरीर–मन–बुद्धि द्वारा और कभी केवल इन्द्रियों द्वारा कर्म का आचरण करते हैं॥ 10 ॥

अन्वय — योगिनः (योगी) आत्मशुद्धये (मन की शुद्धि के लिए) सङ्गं त्यक्त्वा (आसक्ति त्याग करते हुए) कायेन (शरीर) मनसा (मन) बुद्ध्या (बुद्धि) केवलैः अपि इन्द्रियैः (और मनः संयोग रहित केवल इन्द्रियों के द्वारा भी) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करते हैं)॥ 10 ॥

टीका—कै

काले यद्यपि मनःक्वाऽप्यन्यत्र तदपीत्यर्थः। आत्मशुद्धये मनःशुद्ध्यर्थम्॥10॥

भावानुवाद - केवल इन्द्रियों से कर्म करते हैं ।उदाहरण के लिए जैसे - 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि बोलते हुए आहुति दी जाती है। उस समय यदि मन कहीं और भी हो, तब भी कार्य चलता ही रहता है। 'आत्मशुद्धये' अर्थात् कर्मयोगी मन की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं॥ 10 ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ 11 ॥

मर्मानुवाद — योगीलोग कर्मफल त्यागपूर्वक नैष्ठिकी शान्ति अर्थात् कर्म–मोक्ष प्राप्त करते हैं, जबकि दूसरी तरफ अयुक्त पुरुष अर्थात् सकाम कर्मी फलासक्त होने के कारण कर्मबन्धन से बन्ध जाते हैं॥ 11 ॥

अन्वय — युक्तः (निष्काम कर्मयोगी) कर्मफलम् (कर्मफल) त्यक्त्वा (त्याग करके) नैष्ठिकीं शान्तिम् (निष्ठा प्राप्त शान्ति अर्थात मोक्ष को) प्राप्नोति

(प्राप्त करते हैं) अयुक्तः (सकाम कर्मी) कामकारेण (सकाम कर्म में लगे होने के कारण) फले सक्तः (कर्मफल में आसक्त होकर) निबध्यते (बन्ध जाते हैं) ॥ 11 ॥

टीका—कर्मकरणे अनासक्त्यासक्ती एव मोक्षबन्धहेतु इत्याह—युक्तो योगी निष्कामकर्मीत्यर्थः। नै
सकाम–कर्मीत्यर्थः। कामकारेण कामप्रवृत्त्या।। 11।।

भावानुवाद – कर्म में अनासक्ति और आसक्ति ही क्रमशः मोक्ष और बन्धन का कारण है! युक्तयोगी अर्थात् निष्ठाप्राप्त निष्काम कर्मी शान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं और अयुक्त अर्थात् सकाम कर्मी कामप्रवृत्तिवश संसार में फंसते हैं। कामप्रवृत्ति ही उनके बन्धन का कारण होती है ॥ 11 ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ 12॥

मर्मानुवाद — बाह्य सभी कर्म करते हुए भी पहले कही गई रीति के अनुसार मन के द्वारा सभी कर्मों का संन्यास करके नव द्वारों वाले शरीररूपी घर में जीव परमसुख से वास करता है, वह न स्वयं कुछ करता है एवं न किसी से कुछ करवाता है॥ 12 ॥

अन्वय — वशी (जितेन्द्रिय) देही (जीव) मनसा (मन के द्वारा) सर्वकर्माणि संन्यस्य (सभी कर्मों का परित्याग कर के) नवद्वारे पुरे (नवद्वार वाले शहर की तरह) देहे (अहंभावशून्य शरीर में) [कुर्वन् अपि] न एव कुर्वन् (कर्म करते हुए भी कर्त्ता के अभिमान से रहित) [कारयन् अपि] न कारयन् (दूसरे के द्वारा करवा कर भी 'मैं करवाने वाला हूँ' इस अभिमान से रहित होकर) सुखम् आस्ते (सुख से रहता है) ॥ 12 ॥

टीका—अतोऽनासक्तः कर्माणि कुर्वन्नपि *"ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी"* इति पूर्वोक्तवत् वस्तुतः संन्यासी एवोच्यते इत्याह—सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य कायादिव्यापारेण बहिष्कुर्वन्नपि वशी जितेन्द्रियः सुखमास्ते। कुत्र ?—नवद्वारे पुरे पुरवदहंभावशून्ये देहे देही उत्पन्नज्ञानो जीवः नै
वस्तुतः कर्त्तृत्वं नै
प्रयोजनकत्वमित्यपि जानन्नित्यर्थः।। 12।।

भावानुवाद – इसलिए 'ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी' अर्थात् अनासक्तभाव से कर्म करने वाला ही संन्यासी कहलाता है। वह समस्त कर्मों को मन से त्याग कर शरीर द्वारा बाहरी रूप से कर्म करता हुआ भी जितेन्द्रिय होता है और सुखी रहता है। वह रहता कहाँ है? इसके उत्तर में कहते हैं कि – वह नवद्वार वाले पुरवत् अर्थात् अहंभावशून्य शरीर में रहता है। देही का तात्पर्य उस जीव से है, जिसे ज्ञान उत्पन्न हो चुका है। ऐसा जीव यह जान कर कि कर्मसुख का कर्ता मैं नहीं हूँ कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता है और यह जानकर कि उस कर्म में मेरा कोई स्वार्थ भी नहीं है, वह कर्म करवाते हुए भी कर्म नहीं करवाता है॥ 12॥

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 13॥

मर्मानुवाद — जीव का कर्त्तापन नहीं है इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि परमेश्वर के द्वारा ही कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। जीवों के कर्तापन और कर्मों को परमेश्वर के द्वारा कहे जाने से परमेश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष स्वीकार करना होगा। कर्मफल संयोग भी उनके द्वारा नहीं होता है। जीव के अनादि 'अविद्या' रूपी स्वभाव से ही यह सब होता है।। 13॥

अन्वय — प्रभुः (परमेश्वर) लोकस्य (जीवों के) कर्तृत्वम् (कर्तापन और भोक्तापन) कर्माणि (कर्म) कर्मफलसंयोगम् (और कर्मफल में संयोग) न सृजति (सृजन नहीं करते हैं) तु (किन्तु) स्वभावः (जीवों का स्वभाव अनादि अविद्या ही) [जीव को कर्तापन के अभिमान पर आरूढ] प्रवर्तते (कराती है)॥ 13॥

टीका—ननु च यदि जीवस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वादिकं नै
परमेश्वरसृष्टे जगति सर्वत्र जीवस्य कर्त्तृत्वभोक्तृत्त्वादि-दर्शनान्मन्ये परमेश्वरेणै
प्रसक्ते, तत्र न हि न हीत्याह—न कर्त्तृत्वमिति। नापि तत्कर्त्तव्यत्वेन कर्माण्यपि, न च कर्मफलै
तं जीवं कर्त्तृत्वाद्यभिमानमारोहयितुमिति भावः॥ 13॥

भावानुवाद—यदि ऐसा मान लिया जाय कि जीव में कर्तापन नहीं हैं किन्तु परमेश्वरसृष्ट संसार में जीव को कर्ता, भोक्ता के रूप में देख कर

क्या ऐसा नहीं लगता है कि ईश्वर ने बलपूर्वक उनके कर्तापन के भाव का सृजन किया है, इसके उत्तर में कहते हैं नहीं यदि ऐसा है तो परमात्मा में विषमता और निर्दयता के दोष होने का संदेह होता है, क्योंकि वह किसी को सुख दे रहा है तो किसी को दुःख दे रहा है किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि परमात्मा में कभी भी विषमता और निर्दयता आदि दोष सम्भव नहीं है। इसलिए श्लोक में तीन-बार 'न' का प्रयोग किया गया है। कर्तव्यरूप से कहे गये कर्म और उनके फल और उन का भोग से संयोग- इन तीनों में से परमात्मा ने किसी का सृजन नहीं किया है। बल्कि इन के कर्ता हैं जीव का स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या। यह अनादि अविद्या ही जीव को कर्तापन का अभिमान करवाती है॥ 13॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ 14 ॥

मर्मानुवाद — ईश्वर जीव के पाप और पुण्य दोनों को ही ग्रहण नहीं करते हैं। जीव स्वभावतः ज्ञानस्वरूप है किन्तु अविद्या शक्ति के द्वारा उस स्वरूप के ढक जाने के कारण बद्ध दशा को प्राप्त जीव अपने आप को शरीर समझ बैठता है और मोह वश 'मैं करने वाला हूँ' इस प्रकार कर्ता होने का अभिमान करता है॥ 14॥

अन्वय — विभुः (ईश्वर) कस्यचित् (किसी के भी) पापम् (पाप) न आदत्ते (ग्रहण नहीं करते) सुकृतं च न (और पुण्य भी ग्रहण नहीं करते हैं अर्थात् पाप पुण्य करवाने वाले नहीं है) अज्ञानेन (अज्ञान अर्थात् उनकी अविद्या शक्ति द्वारा ज्ञानम् आवृतम् (ज्ञानस्वरूप जीव का ज्ञान आवृत हो जाता है) तेन (इसलिए) जन्तवः (जीव) मुह्यन्ति (मोहित हो जाते हैं)॥ 14॥

टीका—यस्मादसाधु-साधुकर्मणामीश्वरो न कारयिता, तस्मादेव न पापपुण्यभागित्वमित्याह—नादत्ते न गृह्णाति, किन्तु तदीया खलु या शक्तिरविद्या, सै

तेन हेतुना॥ 14॥

भावानुवाद - क्योंकि अच्छे और बुरे कर्म करवानेवाला ईश्वर नहीं है, इसलिए वह पाप-पुण्य का भी भागी नहीं है। न वह देता है, न ग्रहण करता है, किन्तु उसकी जो अविद्या शक्ति है, वही जीव के स्वाभाविक ज्ञान को आवृत

करती है (अविद्या जीव के ज्ञान को आवृत इसलिए करती है, क्योंकि वह वासनाओं के पीछे भगवान् से बहिर्मुख हो जाता है) इस तरह उसका स्वाभाविक ज्ञान आवृत हो जाता है और वह मोह अवस्था को प्राप्त हो जाता है ॥ 14 ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ 15 ॥

मर्मानुवाद — ज्ञान 'प्राकृत' और 'अप्राकृत' दो प्रकार का होता है। जिसे प्राकृत ज्ञान कहते हैं वही जीव का 'अज्ञान' या अविद्या है, और अप्राकृत ज्ञान ही 'विद्या' है। जिन जीवों के हृदय में अप्राकृत ज्ञान उदय और प्राकृत ज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके हृदय में अप्राकृत परमतत्त्व प्रकाशित होता है ॥ 15 ॥

अन्वय — तु (किन्तु) आत्मनः (जीव विषयक) ज्ञानेन (ज्ञान के द्वारा अर्थात् तदीय विद्या शक्ति के द्वारा) येषाम् (जिनका) तत् अज्ञानम् (वह अज्ञान अर्थात् अविद्या) नाशितम् (नाश हो गया है) तेषाम् (उन समस्त जीवों का) तद् ज्ञानम् (वही ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्य की तरह) [जिस प्रकार अन्धकार का नाश कर घटपटादि वस्तु प्रकाशित करता है उसी प्रकार जीव के अज्ञान का नाश करके] परम् (अप्राकृत स्वरूप को) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है) ॥15 ॥

टीका—यथा अविद्या तस्य ज्ञानमावृणोति, तथै
विनाश्य ज्ञानं प्रकाशयतीत्यर्थः। ज्ञानेन विद्याशक्त्याऽज्ञानमविद्याम्। तेषां जीवानां ज्ञानमेव कर्त्तृ, आदित्यवदिति। आदित्यप्रभा यथान्धकारं विनाश्य घटपटादिकं प्रकाशयति, तथै
अप्राकृतं प्रकाशयति। तेन परमेश्वरो न कमपि बध्नाति, नापि कमपि मोचयति। किन्तु अज्ञानज्ञाने प्रकृतेरेव धर्मे क्रमेण बध्नाति मोचयति च। कर्त्तृत्वभोक्तृत्व-तत्प्रयोजकत्वादयो बन्धकाः, अनासक्तिशान्त्यादयो मोचकाश्च प्रकृतेरेव धर्माः। किन्तु परमेश्वरस्यान्तर्यामित्व एव प्रकृतेस्ते ते धर्मा उद्बुध्यन्ते इत्येतदंशेनै ॥ 15 ॥

भावानुवाद - हे अर्जुन! अविद्या शक्ति जीवों के ज्ञान को आवृत करती है, और विद्याशक्ति अज्ञान अर्थात् अविद्या को नष्टकर ज्ञान को प्रकाशित करती है। ज्ञान द्वारा अज्ञान नष्ट किया जाता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्धकार का विनाश कर घट-पटादि को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार विद्या अविद्या

का नाश कर जीव के हृदय में परम अप्राकृत ज्ञान का प्रकाश करती है। इसलिए परमेश्वर न किसी को बाँधते हैं और न ही किसी को मुक्त करते हैं बल्कि प्रकृति के धर्मानुसार अज्ञान और ज्ञान ही क्रमशः बाँधते और मुक्त करते हैं। कर्तापन, भोक्तापन और कर्म में लगाने वाले वासनादि बन्धनकारी हैं, एवं अनासक्ति, शान्ति आदि मोचनकारी हैं– ये प्रकृति के ही धर्म हैं। परमेश्वर के अन्तर्यामी होने के कारण ही प्रकृति के ये सब धर्म उद्बुद्ध होते हैं, बस इतने अंश में ही परमेश्वर का प्रयोजकत्व है। इसलिए उनमें विषमता और निर्दयता आदि दोषों का स्थान ही नहीं रहता ॥ 15 ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 16 ॥

मर्मानुवाद — उन्हीं अप्राकृतस्वरूप विशिष्ट परमेश्वर में जिनकी बुद्धि, मन और निष्ठा एकाग्र हो गयी है अर्थात् जो उन्हीं परमेश्वर के परायण हो चुके हैं वे विद्या के द्वारा अविद्यारूपी कल्मष को साफ करते हुए अपुनरावृत्तिरूपी मोक्ष प्राप्त करते हैं। जिनकी मुझ में ही अप्राकृत रति है उनकी संसार में रति नहीं होती। वे तो मेरे ही श्रवण-कीर्त्तन के प्रेमी हो जाते हैं ॥ 16 ॥

अन्वय — ज्ञाननिर्धूतकल्मषा : (ज्ञान के द्वारा जिनका सारा कल्मष अर्थात् अविद्या नष्ट हो गयी है वे) तद्बुद्धयः (परमेश्वर मनन परायण) तदात्मानः (तन्मनस्क) तन्निष्ठः (एकमात्र उनमें ही निष्ठा सम्पन्न हैं) तत्परायणाः (एवं उनके श्रवण कीर्तन परायण होकर) अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति (मोक्ष प्राप्त करते हैं) ॥ 16 ॥

टीका—किन्तु विद्या जीवात्मज्ञानमेव प्रकाशयति, न तु परमात्मज्ञानम्— *"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इति भगवदुक्तेः। तस्मात् परमात्मज्ञानार्थं ज्ञानिभिरपि पुनर्विशेषतो भक्तिः कार्या इत्यत आह तद्बुद्धय इति। तत्पदेन पूर्वोपक्रान्तो विभुः परामृश्यते। तस्मिन् परमेश्वर एव बुद्धिर्येषां ते, तन्मननपरा इत्यर्थः। तदात्मानस्तन्मनस्कास्तमेव ध्यायन्त इत्यर्थः। तन्निष्ठाः *"ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्"* इति भगवदुक्तेः। देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानेऽपि सात्त्विके निष्ठां परित्यज्य तदेकनिष्ठास्तत्परायणास्तदीयश्रवणकीर्त्तनपराः। यद्वक्ष्यते— *"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।"* इति। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' ज्ञानेन विद्ययै

ध्वस्तसमस्ताविद्याः॥ 16 ॥

भावानुवाद— ध्यान देने की बात है कि विद्यामात्र जीवात्मज्ञान को ही प्रकाशित करती है । परमात्मज्ञान को नहीं क्योंकि श्रीमद्भागवत (11/14/21) में कहा गया है– 'मैं केवल भक्ति से ही प्राप्त होता हूँ'? इसलिए परमात्मज्ञान के लिए ज्ञानियों को भक्ति का सहारा लेना पड़ता है।

पहले वर्णित विभु परमेश्वर का ही यहाँ 'तत्' पद से विवेचन किया गया है। उन परमात्मा में ही जिनकी बुद्धि है, जो मन में उनके ही चिन्तन में मग्न रहते हैं, उन्हें 'तद्बुद्धयः' कहा गया है। जो उनका ही ध्यान करने वाले हैं उन्हें 'तदात्मानः' कहा है। जो 'ज्ञानं च मयि संन्यसते' (भाः 11/19/1) ज्ञान भी मुझमें संन्यस्त करें, इस कथन के अनुसार देहादि से भिन्न आत्म–ज्ञान रहने पर भी जो सात्त्विकभाव में निष्ठा का परित्याग कर एकमात्र भगवन्निष्ठ हैं – वे ही 'तन्निष्ठ' हैं। 'तत्परायणाः' का तात्पर्य है – जो उनके विषय में श्रवण–कीर्तन परायण हैं। आगे गीता (18/55) में भी कहा जायगा – कि भक्ति से ही मुझे यथार्थ रूप में जाना जा सकता है और तभी मुझे प्राप्त किया जा सकता है। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' अर्थात् विद्या द्वारा जिनकी समस्त अविद्या पहले ही ध्वस्त हो गई है, उन्हें ही परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ 16 ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ 17 ॥

मर्मानुवाद — प्राकृत गुणों के कारण प्राणियों में उत्तम, मध्यम और अधम का जो भेद है, अप्राकृतगुणप्राप्त ज्ञानी लोग उसकी ओर ध्यान न देते हुए विद्या और विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल – सब में समान दृष्टि रखने वाले होते हैं इसलिए वे 'पंडित' कहलाते हैं ॥ 17 ॥

अन्वय — विद्याविनयसम्पन्ने (विद्या और विनय युक्त) ब्राह्मणे (ब्राह्मण) गवि (गाय) हस्तिनि (हाथी) शुनि (कुत्ता) श्वपाके च (एवं चाण्डाल इत्यादि विषम स्वभाव के पदार्थों में) समदर्शिनः (गुणातीत ब्रह्म का दर्शन करने वाले) पण्डिताः (पण्डित कहे जाते हैं) ॥ 17 ॥

टीका— ततश्च गुणातीतानां तेषां गुणमये वस्तुमात्र एवं तारतम्यमयं

विशेषमजिघृक्षूणां समबुद्धिरेव स्यादित्याह विद्येति। ब्राह्मणे गवीति, सात्त्विकजातित्वात्, हस्तिनि मध्यमे शुनि च श्वपाके चेति तामस-जातित्वादधमेऽपि तत्तद्विशेषाग्रहणात् समदर्शिनः पण्डिता गुणतीताः, विशेषाग्रहणमेव समं गुणातीतं ब्रह्म तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते॥ 17 ॥

भावानुवाद - तत्पश्चात् वे गुणातीत हो जाते हैं। वे संसारिक वस्तुओं में जो विषमता अर्थात् ऊँच-नीच का भेद विशेष है, उसे ग्रहण नहीं करते। सात्त्विक होने से ब्राह्मण और गाय उत्तम जाति, राजसिक होने के कारण हाथी मध्यम जाति तथा तामसिक होने के कारण कुत्ता और चाण्डाल अधम जाति मानी जाती है। ज्ञानवान् पण्डितगण इन भेदों को ग्रहण नहीं करते हैं। गुणातीत 'ब्रह्म' को ही सर्वत्र दर्शन करने के कारण उन्हें समदर्शी कहा जाता है ॥ 17 ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ 18 ॥

मर्मानुवाद — जिनका मन समभाव में स्थित हो गया है उन्होंने इस लोक में रहते हुए ही संसार को जीत लिया है, वे ब्रह्म के समान निर्दोष हैं इसलिए वे ब्रह्म में ही अवस्थित हैं॥ 18 ॥

अन्वय — येषाम् (जिनका) मनः (मन) साम्ये (ब्रह्मधर्म में) स्थितम् (अवस्थित है) तैः (उनके द्वारा) इह एव (इस लोक में ही) सर्गः (संसार) जितः (पराभूत हो गया है) हि (क्योंकि वे) ब्रह्म (ब्रह्म के समान) निर्दोषम् (रागद्वेष से रहित है) समम् (अविषम हैं) तस्मात् (इसीलिए) ते (वे) ब्रह्मणि स्थिताः [वर्तमान में प्रपंच में रहते हुए भी] (ब्रह्म में अवस्थित हैं)॥ 18 ॥

टीका—समदृष्टित्वं स्तौ
संसारो जितः पराभूतः॥ 18 ॥

भावानुवाद - श्रीभगवान् समदर्शन की प्रशंसा कर रहे हैं । इस लोकमें ही जिसकी सृष्टि हुई है, उसे 'सर्ग' कहते हैं। 'जितः' का तात्पर्य है उन्होंने संसार को पराभूत कर दिया है या संसारबन्धन से मुक्त हो गये हैं॥ 18 ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ 19 ॥

मर्मानुवाद — ब्रह्म को जानने वाला पुरुष ब्रह्म में अवस्थिति प्राप्त कर लेता है और बाहर के विषयों में आसक्ति रहित होकर स्थिर बुद्धि हो जाता है। वह जड़ संसार की प्रिय वस्तु की प्राप्ति में हर्षित एवं अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में दु:खी नहीं होता है॥ 19॥

अन्वय — ब्रह्मणि स्थित: (ब्रह्मनिष्ठ) स्थिरबुद्धि: (स्थिर बुद्धि सम्पन्न) असंमूढ: (शरीर में 'मैं' बुद्धि से रहित) ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञानी) प्रियं प्राप्य (प्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर) न प्रहृष्येत् (खुशी से फूलता नहीं है) अप्रियं प्राप्य (अप्रिय वस्तु की प्राप्ति से) न उद्विजेत् (विचलित नहीं होता)॥ 19॥

टीका—एवं लौ

न प्रहृष्येत् न प्रहृष्यति, नोद्विजेत् नोद्विजते। साधनदशायामेवमभ्यसेदिति विवक्षया वा लिङ्। असंमूढ़: हर्षशोकादीनामभिमाननिबन्धनत्वेन सम्मोहमात्रत्वात्॥ 19॥

भावानुवाद – सांसारिक प्रिय और अप्रिय वस्तुमात्र में उसकी अवस्था समान रहती है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति से आनन्दित नहीं होता, और अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर अप्रसन्न नहीं होता। साधन अवस्था से ही इसका अभ्यास करना उचित है – इसी इच्छा से यहां विधिलिङ् क्रिया का प्रयोग हुआ है। असंमूढ़ अर्थात् हर्ष शोकादि न होने के कारण मोह रहित होते हैं॥ 19॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ 20॥

मर्मानुवाद — वह ब्रह्मविद् पुरुष चिन्मय सुख को प्राप्त करता है, ब्रह्मयोग करता हुआ वह अक्षय सुख को भोगता है॥ 20॥

अन्वय — बाह्यस्पर्शेषु (विषय सुखों में) असक्तात्मा (अनासक्त चित्त है) स: (वही पुरुष) आत्मनि (अपने स्वरूप के अनुभव में) यत् सुखम् (जो सुख) [तत्] [वह] [आदौ] [पहले] विन्दति (प्राप्त करता है) [तदुत्तरम्] [बाद में] ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्म में योगयुक्त हुआ वह) अक्षयं सुखम् (अक्षय सुख) अश्नुते (भोग करता है)॥ 20॥

टीका—स च बाह्यस्पर्शेषु विषयसुखेषु असक्तात्मा अनासक्तमनास्तत्र।

हेतुः—आत्मनि जीवात्मनि परमात्मनं विन्दति सति प्राप्ते, यत् सुखं तदक्षयं सुखम्। स एवाश्नुते प्राप्नोति, न हि निरन्तरममृतास्वादिने मृत्तिका रोचत इति भावः॥ 20॥

भावानुवाद – विषयसुख में अनासक्त मन वाले होने का कारण यह है कि परमात्मा की प्राप्ति होने पर जीवात्मा को जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख अक्षय होता है, इसलिए निरन्तर अमृत का आस्वादन करने वालों की भला मिट्टी खाने में रुचि कैसे हो सकती है?॥ 20॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 21॥

मर्मानुवाद — इस प्रकार विवेकवान् पुरुष इन्द्रियों के विषयों के सुख में आसक्त नहीं होते। इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सभी सुख केवल दुःख को ही प्रसव करते हैं, जो केवल विषयों के संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, आदि और अन्त वाले होने के कारण वे 'नित्य' नहीं है। हे कौन्तेय! पूर्वोक्त पण्डित व्यक्ति उन सब अनित्य सुखों में किसी भी प्रकार आसक्त नहीं होते। केवल शरीर-यात्रा के निर्वाह के लिए निष्कामरूप से कर्म करते हैं॥ 21॥

अन्वय— कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) ये भोगाः (जो सुख) संस्पर्शजाः (विषय इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हैं) ते (वे) दुःखयोनयः एव (दुःख ही देने वाले हैं) हि (क्योंकि) आद्यन्तवन्तः (उत्पत्ति और विनाशशील हैं) [अतः] इसलिए बुधः (विवेकी व्यक्ति) तेषु (उन सुखों में) न रमते (आसक्त नहीं होते)॥ 21॥

टीका—विवेकवानेव वस्तुतो विषयसुखे नै ॥ 21॥

भावानुवाद – इस श्लोक में बताया गया है कि वास्तव में विवेकवान् पुरुष विषय सुख में आसक्त नहीं होते हैं ॥ 21॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 22॥

मर्मानुवाद — शरीर त्यागने तक विषयों को स्वीकार करना होगा ऐसा जानकर, जो निष्काम कर्मयोग द्वारा काम और क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ होते हैं वे ही वास्तविक सुखी हैं॥ 22॥

अन्वय — यः (जो व्यक्ति) शरीरविमोक्षणात् (शरीर त्यागने) प्राक् (से पहले तक) कामक्रोधोद्भवम् वेगम् (काम क्रोध से उत्पन्न वेग को) इह (उत्पन्न होते ही) सोढुम् (रोक) शक्नोति (सकते हैं) सः (वे) युक्तः (आत्मसमाहित हैं) स सुखी (वही सुखी हैं) ॥ 22 ॥

टीका—संसारसिन्धौ
शक्नोतीति ॥ 22 ॥

भावानुवाद — इस श्लोक में बताया गया है कि ऐसे विवेकवान् पुरुष ही संसारसिन्धु में होने पर भी योगी हैं और सुखी हैं ॥ 22 ॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ 23 ॥

मर्मानुवाद — जो बाह्य जगत् के सुख, आराम और ज्योति को अनित्य जानकर अन्तर्जगत् के सुख, आराम और ज्योतिरूप साविद्यक ज्ञान को स्वीकार करते हुए ब्रह्मभूत हो जाते हैं, वही योगी हैं एवं वही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ 23 ॥

अन्वय — यः (जो) अन्तः सुखः (आत्मा में ही सुख का अनुभव करते हैं) अन्तरारामः (मुझ परमात्मा में ही रमण करते हैं) तथा अन्तर्ज्योतिः एव (अन्तर्यामी मुझ परमात्मा में ही दृष्टियुक्त हैं) स योगी (वही निष्काम कर्मयोगी) ब्रह्मभूतः (शुद्ध जीव स्वरूप प्राप्त करके) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मानन्द को) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं) ॥ 23 ॥

टीका—यस्तु संसारातीतस्तस्य तु ब्रह्मानुभव एव सुखमित्याह—य इति। अन्तरात्मन्येव सुखं यस्य सः—यतोऽन्तरात्मन्येव रमते, अतोऽन्तरात्मन्येव ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः ॥ 23 ॥

भावानुवाद – जो संसार से अतीत हैं, उनके लिए ब्रह्मानुभव ही सुख है, वे आत्मा में ही रमण करते हैं। उनका ध्यान सर्वदा अन्तरात्मा पर ही केन्द्रित रहता है ॥ 23 ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ 24 ॥

मर्मानुवाद — चित्त जिनके वश में है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में लगे

हुए और संशयरहित क्षीणपाप हैं। वे सभी ऋषि ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं॥ 24॥

अन्वय — क्षीणकल्मषा: (निष्पाप) छिन्नद्वैधा: (नष्टसंशय) यतात्मान: (संयमचित्त) सर्वभूतहिते रता: (सब प्राणियों के हित में लगे हुए) ऋषय: (सभी तत्त्वदर्शी) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाण को) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)

टीका—एवं बहव एव साधनसिद्धा भवन्तीत्याह—लभन्त इति॥ 24॥

भावानुवाद - बहुत से व्यक्ति इस प्रकार साधन से ही ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं॥ 24॥

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 25॥

मर्मानुवाद — काम और क्रोधहीन, जितमना, आत्मतत्त्वज्ञ यतियों के लिए ब्रह्मनिर्वाण सर्वतोभाव से अतिशीघ्र उपस्थित हो जाता है। संसार में स्थित निष्काम कर्मयोगी सद्-असद् का विचार करते हुए प्रकृति से अतीत सद्वस्तु जो ब्रह्म है, उसमें अवस्थान करते हैं, उससे जड़ीय दु:खरूपी क्लेशनिवारण होता है - इसे ही ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं॥ 25॥

अन्वय — कामक्रोधविमुक्तानाम् (कामक्रोधहीन) विदितात्मनाम् (आत्मतत्त्व को जानने वाले) यतीनाम् (संन्यासियों के) यतचेतसाम् [सताम्] (चित्तोपलक्षित लिंगशरीर के नाश होने से) अभित: (जीवन और मरण दोनों में हर प्रकार से) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाण) वर्त्तते (उपस्थित होता है) ॥25॥

टीका—ज्ञात-'त्वं'-पदार्थानामप्राप्तपरमात्मज्ञानानां कियता कालेन ब्रह्मनिर्वाणसुखं स्यादित्यपेक्षायामाह—कामेति, यतचेतसामुपरतमनसां क्षीणलिङ्गशरीराणामिति यावत्, अभित: सर्वतोभावेनै
तस्य नै ॥ 25॥

भावानुवाद - जिन्होंने 'त्वम्' पदार्थ जीवात्मा का ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है किन्तु परमात्मज्ञान से वञ्चित हैं, उन्हें कितने समय के पश्चात् ब्रह्मनिर्वाण-सुख प्राप्त होता है? इस के उत्तर में ही यह श्लोक कहा गया है।

जिनका मन स्थिर हो चुका है, लिंगशरीर भी नष्ट हो गया है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति में अधिक देर नहीं लगती ॥ 25 ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ 26 ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ 27 ॥

मर्मानुवाद — हे अर्जुन ! ईश्वर अर्पित कर्मयोग द्वारा ही अन्तःकरणशुद्धि, अन्तःकरण शुद्धि से 'त्वम्' पदार्थ अर्थात् जीवात्मानिरूपक ज्ञान होता है। उसी ज्ञान से उत्पन्न तत्-पदार्थ ज्ञानस्वरूपा भक्ति; एवं उस गुणातीत-ज्ञान द्वारा भक्तिजनित ब्रह्मानुभव होता है- यह सारा क्रम मैंने, तुम्हें बताया। अब मैं शुद्धान्तःकरण व्यक्ति के ब्रह्मानुभव के साधनरूपी अष्टांगयोग के विषय में कहूँगा। उस के आभासरूपी कुछ बातें कहता हूँ, श्रवण करो- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इत्यादि बाहरी सभी-स्पर्शों को मन से निकाल कर अर्थात् प्रत्याहार करते हुए नेत्रों को दोनों भृकुटियों के बीच में स्थिर करके, नासिका के अग्र भाग में देखते हुए, सम्पूर्ण आँखें बन्द करने से निद्रा आने की आशंका एवं सम्पूर्ण खुली रखने से बाहरी ध्यान की आशंका रहने के कारण आधी आँखे बन्द करके दोनों नेत्रों को इस प्रकार नियमित करना कि भृकुटियों के मध्य नासिका के अग्र भाग में दृष्टिपात हो। उच्छ्वास तथा निःश्वास के रूप में दोनों नासिकाओं के बीच में घूमने वाले प्राण तथा अपान वायु की ऊपर एवं नीचे की गति को रोक कर समान करना। इस प्रकार आसीन और मुद्रा में बैठकर, जितेन्द्रिय, जितमना और जितबुद्धि मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध का त्याग कर ब्रह्मानुभव का अभ्यास करने से गुणातीत धर्मरूपी जड़मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए निष्काम कर्मयोगसाधन करते समय अष्टांगयोग का भी उसके अंग के रूप में साधन करना होता है ॥ 26-27 ॥

अन्वय — यः (जो पुरुष) [मनः प्रविष्टान्] बाह्यान् स्पर्शान् (मन में प्रविष्ट बाह्य शब्दादि विषयों को) बहिःकृत्वा [प्रत्याहार द्वारा] (मन से बाहर निकाल कर) चक्षुः च (नेत्रों को भी) भ्रुवोः अन्तरे (भृकुटियों के मध्य में) [कृत्वा] [स्थापन पूर्वक] नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ (नासिका के बीच में विचरण करने वाले प्राण और अपान वायु की) समौ कृत्वा (ऊपर एवं नीचे

की गति को रोक कर अर्थात् कुम्भक द्वारा समता विधान करके) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जय करके) मोक्षपरायणः (मोक्षपरायण) मुनिः (आत्ममननशील) विगतेच्छाभयक्रोधः (इच्छा भय और क्रोध रहित) सः (वह पुरुष) सदा (हमेशा) मुक्त एव (मुक्त ही है) ॥ 26–27 ॥

टीका—तदेवमीश्वरार्पितनिष्कामकर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिः, ततो ज्ञानं 'त्वं'—पदार्थविषयकम्, ततः 'तत्'—पदार्थज्ञानार्थं भक्तिः, तदुत्थज्ञानेन गुणातीतेन ब्रह्मानुभव इत्युक्तम्। इदानीं निष्कामकर्मयोगेन शुद्धान्तःकरणस्याष्टाङ्गयोगं ब्रह्मानुभवसाधनं ज्ञानयोगादप्युत्कृष्टत्वेन षष्ठाध्याये वक्तुं तत्सूत्ररूपं श्लोकत्रयमाह—स्पर्शानिति। बाह्या एव शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्पर्शशब्दवाच्याः। मनसि प्रविश्य ये वर्त्तन्ते तान्, तस्मान्मनसः सकाशाद् बहिष्कृत्य विषयेभ्यो मनःप्रत्याहृत्येत्यर्थः। चक्षुश्च भ्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा नेत्रयोः सम्पूर्णनिमीलने निद्रया मनोलीयते उन्मीलनेन बहिः प्रसरति। तदुभयदोषपरिहारार्थमर्द्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निधायोच्छ्वास-निश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावूर्द्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ
येन सः॥ 26–27 ॥

भावानुवाद –भगवान् बोले–हे अर्जुन! ईश्वर अर्पित निष्काम कर्मयोग द्वारा जब अन्तःकरण की शुद्धि होती है तत्पश्चात् 'त्वम्' पदार्थ जीवसम्बन्धी ज्ञान, तत्पश्चात् 'तत्' पदार्थ अर्थात् परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान के लिए भक्ति होती है। उसी भक्ति से उत्पन्न गुणातीत ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होता है, ऐसा कहा गया है। अब निष्काम कर्मयोग द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति के लिए अष्टांगयोग ब्रह्मानुभव का साधन ज्ञानयोग से भी श्रेष्ठ है। यह बताने के लिए ही छठे अध्याय के उपक्रम स्वरूप 'स्पर्शान्' इत्यादि तीन श्लोकों की अवतारणा की गई है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँचों बाह्य विषय कहे गये हैं। ये सभी मन में प्रवेश करते हैं, अतः उन्हें मन से निकाल कर अर्थात् विषयों से मन को हटा कर दोनों नेत्रों को भृकुटी के मध्य स्थित करना चाहिए, क्योंकि नेत्रों को पूरा बन्द करने से निद्रा की सम्भावना तथा पूरा खोल कर रखने से विषयों में घूमने की सम्भावना है। अतः इन दोनों को दूर

करने के लिए दोनों आधे खुले नेत्रों से भृकुटियों में दृष्टि स्थापित करके नासिका में घूमने वाले उच्छ्वास तथा निःश्वासरूप प्राण और अपान की ऊर्ध्वगति और अधोगति को रोक कर इन्हें समान करना चाहिए । जो इस प्रकार अपने इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वशीभूत करते हैं – उन्हें मुक्त ही जानना चाहिये ॥ 26–27 ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ 28 ॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पन्चमोऽध्यायः ।

मर्मानुवाद — इस प्रकार कर्मयोगी भी भक्तिजनित परमात्मा के ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। कर्मियों द्वारा किया यज्ञ एवं ज्ञानियों के द्वारा की गयी तपस्याओं के भोक्ता अर्थात् पालक मुझे ही जानना, योगियों का उपास्य अन्तर्यामी पुरुष मैं सब प्राणियों का सुहृद् हूँ। मैं ही कृपा करके अपने भक्तों के द्वारा अपनी भक्ति का उपदेश दिलवाकर जीवों का हित करता हूँ। योगी अपने उपास्य परमात्मा के चिन्तन द्वारा निर्गुणता प्राप्त कर लेने पर भगवत् स्वरूप मुझे जान सकते हैं। मैं ही सर्वलोक महेश्वर हूँ, मुझे भगवत् स्वरूप जान लेने पर ही योगिजन मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥28 ॥

पाँचवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त ।

अन्वय — यज्ञतपसाम् (कर्मियों द्वारा किये गये यज्ञ और ज्ञानियों द्वारा की गई तपस्या का) भोक्तारम् (पालक अर्थात् उनका उपास्य) सर्वलोक महेश्वरम् (सब लोगों के नियन्ता अर्थात योगियों के उपास्य) सर्वभूतानाम् (समस्त जीवों को) सुहृदम् (कृपापूर्वक अपने भक्त द्वारा अपनी भक्ति का उपदेश देकर जीवों का हितकारी अर्थात् भक्तों के उपास्य) मां ज्ञात्वा (मुझे जानकर) शान्तिम् ऋच्छति (जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं) ॥ 28 ॥

टीका—एवम्भूतस्य योगिनोऽपि ज्ञानिन इव भक्त्युत्थेन परमात्मज्ञानेनै मोक्ष इत्याह— भोक्तारमिति। यज्ञानां कर्मिकृतानां तपसाञ्च ज्ञानिकृतानां भोक्तारं पालयितारमिति कर्मिणां ज्ञानिनां चोपास्यम्, सर्वलोकानां महेश्वरं महानियन्तारमन्तर्यामिनं योगिनामुपास्यम्, सर्वभूतानां सुहृदं कृपया स्वभक्तद्वारा स्वभक्त्युपदेशेन हितकारिणमिति भक्तानामुपास्यं मां ज्ञात्वेति सत्त्वगुणमयज्ञानेन

निर्गुणस्य ममानुभवासम्भवात् *"भक्त्याहमेकया ग्राह्य:"*इति मदुक्ते:। निर्गुणया भक्त्यै
मोक्षमृच्छति प्राप्नोति॥ 28॥

निष्कामकर्मणा ज्ञानी योगी चात्र विमुच्यते।
ज्ञात्वात्मपरमात्मानावित्यध्यायार्थ ईरित:।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु पञ्चमोऽध्याय: सङ्गत: सङ्गत: सताम्।।

भावानुवाद – योगी को भी ज्ञानी के समान भक्ति से उत्पन्न परमात्मज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है – इस श्लोक में यही बताया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि कर्मी के द्वारा किए गए यज्ञों और ज्ञानी के द्वारा की गयी तपस्याओं का भोक्ता अर्थात् पालनकर्ता मैं हूँ। कर्मियों, ज्ञानियों और योगियों के उपास्य, सभी लोकों का महेश्वर अर्थात् महानियन्ता अन्तर्यामी, सभी जीवों का सुहृद् अर्थात् कृपापूर्वक अपने भक्तों के द्वारा अपनी भक्ति का उपदेश दिलवाकर उनका हित करने वाला मैं ही हूँ। अतएव भक्तों का उपास्य भी मुझे ही जानना चाहिए। मैं निर्गुण हूँ। सत्त्वगुणमय ज्ञान द्वारा मेरा ऐसा अनुभव असम्भव है। मेरे ही वचन हैं – भक्त्याहमेकया ग्राह्य: (भा: 22/14/21) अर्थात् मैं एकमात्र भक्ति द्वारा ही ग्रहणीय हूँ। निर्गुण भक्ति के द्वारा ही योगी अपने उपास्य मुझ परमात्मा को अपरोक्षरूप में अनुभव कर शान्ति या मोक्ष प्राप्त करते हैं।

ज्ञानी और योगी (भक्तिमूलक) निष्काम कर्म द्वारा आत्मा (ब्रह्म) और परमात्मा के तत्त्व से अवगत होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं – यही इस अध्याय का अर्थ है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पाँचवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

पाँचवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

छठा अध्याय

ध्यानयोग

श्रीभगवानुवाच–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ 1॥

मर्मानुवाद – ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'निरग्नि' अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग करने मात्र से ही संन्यासी होता है और ऐसा भी नहीं है कि आधे नेत्र बन्द कर के दैहिक क्रियाशून्य होकर ही अष्टांगयोगी बना जाता है, वास्तव में जो कर्म फल का त्याग करता हुआ सभी कर्त्तव्य कर्म करता है, उसके लिए ही संन्यासी एवं योगी, दोनों नामों का प्रयोग किया जा सकता

है ॥1 ॥

अन्वय – श्री भगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा) यः (जो व्यक्ति) कर्मफल अनाश्रितः (कर्मफल की अपेक्षा न कर) कार्यं कर्म (अवश्य करणीय शास्त्रविहित कर्म) करोति (करता है) स संन्यासी (वही संन्यासी है) योगी च (और योगी है) निरग्निः (अग्निहोत्रादि कर्ममात्र का त्याग करने वाला [संन्यासी न] (संन्यासी नहीं है) अक्रियः (और शारीरिक कर्ममात्र का त्याग करने वाला भी योगी नहीं है) ॥1 ॥

टीका— षष्ठेषु योगिनो योगप्रकारो विजितात्मनः।
मनसश्चञ्चलस्यापि नै

अष्टाङ्गयोगाभ्यासे प्रवृत्तेनापि चित्तशोधकं निष्कामकर्म सहसा न त्याज्यमित्याह—कर्मफलमनाश्रितोऽनपेक्ष्यमाणः कार्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन शास्त्रविहितं कर्म यः करोति, स एव कर्मफलसंन्यासात् संन्यासी, स एव विषयभोगेषु चित्ताभावात् योगी चोच्यते। न च निरग्निरग्निहोत्रादि–कर्ममात्रत्यागवानेव संन्यास्युच्यते। न चाक्रियःदै

भावानुवाद – इस छठे अध्याय में मनोजयी योगी के योग प्रकार एवं चंचल मन को स्थिर करने के उपाय कहे गये हैं।

अष्टांगयोग के अभ्यास में लगे व्यक्ति को भी चित्तशोधक निष्काम कर्मों को सहसा त्यागना नहीं चाहिए। इसलिए कहते हैं – जो कर्मफल की ओर ध्यान दिए बिना शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों को करते हैं, वे संन्यासी हैं, क्योंकि उन्होंने कर्मफल का त्याग कर दिया है। चित्त में विषय भोगों में आसक्ति न होने के कारण, वे ही योगी कहलाते हैं, किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म का त्याग करने मात्र से कोई संन्यासी नहीं कहलाता है। 'अक्रियः' अर्थात् दैहिक चेष्टा शून्य आधे खुले नेत्र वाला व्यक्ति भी योगी नहीं कहलाता ॥1 ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥2 ॥

मर्मानुवाद – हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहा जाता है उसे ही 'योग' कहा जाता है। क्योंकि काम संकल्प का त्याग किये बिना जीव कभी भी 'योगी' नहीं कहला सकता। पहले मैंने जिस प्रकार साँख्य और कर्मयोग की एकता

दिखाई है, अब उसी प्रकार अष्टांगयोग और कर्मयोग की एकता दिखाऊँगा। वास्तविक विचार में साँख्य, कर्मयोग, अष्टांगयोग ये कोई भी अलग नहीं है। मूर्ख लोग ही इनको अलग-अलग पद्धतियों के रूप में जानते हैं ॥2॥

अन्वय- पाण्डव! (हे पाण्डव) [सुधियः] [ज्ञानी] यम् (जिस निष्काम कर्मयोग को) संन्यासमिति प्राहुः (संन्यास कहते हैं) तम् (उसे ही) योगम् (अष्टांगयोग) विद्धि (जानना) हि (क्योंकि) असंन्यस्तसंकल्पः (फल की इच्छा और विषयभोगों की इच्छा का त्याग किए बिना) कश्चन (कोई) योगी (ज्ञानयोगी या अष्टांगयोगी नहीं होता) ॥2॥

टीका—कर्मफलत्याग एव संन्यास-शब्दार्थः, वस्तुतस्तथा विषयेभ्यश्चित्तनै
संन्यास-योग-शब्दयोरै
संन्यस्तस्त्यक्तः संकल्पः फलाकाङ्क्षा विषयभोगस्पृहा येन सः।।2।।

भावानुवाद - वास्तव में 'संन्यास' शब्द का अर्थ है कर्मफल का त्याग और 'योग' शब्द का अर्थ है विषयों से चित्त की निश्चलता। इसलिए संन्यास और योग इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। जिसने फलाकांक्षा और विषयभोग की स्पृहा का त्याग नहीं किया है, उसे 'संन्यासी' या 'योगी' नहीं कहा जा सकता॥2॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥3॥

मर्मानुवाद - 'योग' एक सोपान विशेष है। जीव की सब से निम्न अवस्था जड़वत् है। जड़ विषयों में आविष्ट अवस्था से लेकर विशुद्ध चिद् अवस्था तक पहुँचने का एक सोपान है, उसी सोपान के हरेक भाग का एक-एक नाम है, किन्तु पूरे सोपान का नाम योग है। योगरूपी सोपान के दो स्थूल भाग हैं- योगारुरुक्षु तमाम मुनि, जिन्होंने केवल आरोहण कार्य शुरू कर दिया है, 'कर्म' ही उनका 'कारण' या 'लक्ष्य' है। 'शम' या 'शान्ति' ही आरूढ पुरुषों का 'कारण' या 'लक्ष्य' है। इसलिए 'कर्म और शान्ति' योगरूपी सोपान के दो स्थूल विभागों का नाम है॥ 3॥

अन्वय - योगम् (निश्चल ध्यान योग में) आरुरुक्षोः (आरोहण के

इच्छुक) मुनेः (योगाभ्यास करने वाले के) [तदारोहे] [योगारोहण में] कर्म (कर्म ही) कारणम् (कारण) उच्यते (कहा जाता है) तस्यैव योगारूढस्य (उस व्यक्ति द्वारा योगारूढ अर्थात् ध्याननिष्ठ हो जाने पर) शमः (सब कर्म त्याग ही) कारणम् उच्यते (कारण कहा जाता है) ॥3॥

टीका—ननु तर्ह्यष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवमेव निष्कामकर्मयोगः प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—आरुरुक्षोरिति। मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं निश्चलध्यानयोगमारोढुमिच्छोः, तदारोहे कारणं कर्म चोच्यते, चित्तशुद्धिकरत्वात्। ततस्तस्य योगं ध्यानयोगमारूढस्य ध्याननिष्ठाप्राप्तः शमः विक्षेपकः सर्वकर्मोपरमः कारणम्। तदेवं सम्यक् चित्तशुद्धिरहितो योगारुरुक्षुः।।3।।

भावानुवाद - तो क्या अष्टांगयोगी को सम्पूर्ण जीवन ही निष्काम कर्म करना पड़ेगा? इस के उत्तर में भगवान् निष्काम कर्म की अवधि निर्धारित करते हुए कह रहे हैं कि जो लोग योगाभ्यास के इच्छुक हैं, उन्हें निश्चल ध्यानयोग के लिए चित्त को शुद्ध करने वाला निष्काम कर्म करना होगा, क्योंकि इसके बिना चित्तशुद्धि नहीं होगी। जब वे निश्चलरूप से योग में अवस्थित हो जाते हैं, तव उन्हें चित्त में विक्षेप पैदा करने वाले कर्मों का त्याग करना होता है। तात्पर्य यही है कि योग करने के इच्छुक व्यक्ति को ध्यान में अवस्थित होने तक निष्काम-कर्म करना होगा॥ 3॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 4॥

मर्मानुवाद - जिस समय इन्द्रियों के विषयों में एवं कर्म में आसक्ति समाप्त हो जाती है एवं योगी व्यक्ति सब संकल्पों का पूर्णरूप से परित्याग कर देते हैं, उसी समय उन्हें 'योगारूढ' कहा जाता है॥ 4॥

अन्वय - यदा हि (जिस समय) [योगी] [योगी] इन्द्रियार्थेषु (शब्दादि विषयों में) कर्मसु च (एवं कर्मों में) न अनुसज्जते (आसक्ति नहीं करते) सर्वसंकल्पसंन्यासी (एवं सब संकल्पों का परित्याग कर देते हैं) तदा (उस समय) योगारूढ उच्यते (योगारूढ़ कहे जाते हैं)॥ 4॥

टीका—सम्यक् शुद्धचित्तस्तु योगारूढस्तज्ज्ञापकं लक्षणमाह—यदेति। इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु, तत्साधनेषु।। 4।।

भावानुवाद – जिनका सम्पूर्णरूप से चित्त शुद्ध हो चुका है वे ही 'योगारूढ़' हैं। ऐसे पुरुष 'न इन्द्रियार्थेषु' अर्थात् न तो शब्दादि विषयों में और न ही उनके साधन कर्मों में आसक्त होते हैं॥ 4॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ 5॥

मर्मानुवाद – विषयासक्ति रहित मन के द्वारा ही आत्मा अर्थात् संसाररूपी कूप में गिरे जीव का उद्धार करें। विषयासक्त मन से आत्मा को संसारसागर में न गिरायें। अवस्थाभेद से मन ही आत्मा का बन्धु एवं मन ही शत्रु हो जाता है॥ 5॥

अन्वय – आत्मना (आसक्ति रहित मन से) आत्मानम् (जीवात्मा का) उद्धरेत् (संसार से उद्धार करो) [आत्मना] (विषयासक्त मन द्वारा) आत्मानम् (आत्मा को) न अवसादयेत् (संसार में पतित न करो) हि (क्योंकि) आत्मा एव (मन ही) आत्मनः (जीव का) बन्धुः (बन्धु) आत्मा एव (मन ही) आत्मनः (जीव का) रिपुः (शत्रु है)॥ 5॥

टीका – यस्मादिन्द्रियार्थासक्त्यै यत्नेनोद्धरेदिति। आत्मना विषयासक्तिरहितेन मनसाऽत्मानं जीवमुद्धरेत्। विषयासक्तिसहितेन मनसा 'त्वात्मानं नावसादयेत्' न संसारकूपे पातयेत्। तस्मादात्मा मन एव बन्धुर्मन एव रिपुः।। 5।।

भावानुवाद – क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति ने ही आत्मा अर्थात् जीव को संसारसागर में गिराया है, इसलिए 'आत्मना' अर्थात् विषयासक्ति से रहित मनके द्वारा उसका उद्धार करना कर्त्तव्य है। विषयों में आसक्त मनके द्वारा आत्मा अर्थात् अपने आप को संसारसागर में न गिरायें। क्योंकि आसक्ति और अनासक्ति मन से ही होती है इसलिए मन ही बन्धु है और मन ही शत्रु है॥ 5॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6॥

मर्मानुवाद – जिन्होंने मन को जीत लिया है, उनका मन ही उनका बन्धु है, जिन्होंने मन नहीं जीता है ऐसे अजितमना व्यक्तियों के लिए मन ही उनका

शत्रु है ॥ 6 ॥

अन्वय – येन आत्मना (जिस जीवात्मा द्वारा) आत्मा एव जित: (मन जीत लिया गया है) तस्य आत्मन: (उस जीवात्मा का) आत्मा बन्धु: (मन ही बन्धु है) तु (किन्तु) अनात्मन: (जिस ने मन को नहीं जीता है उसका) आत्मा एव (मन ही) शत्रुवत् (शत्रु के समान) शत्रुत्वे (अपकार करने में) वर्त्तते (प्रवृत्त होता है) ॥ 6 ॥

टीका—कस्य स बन्धुः, कस्य स रिपुरित्यपेक्षायामाह—बन्धुरिति। येनात्मना जीवेनात्मा मनो जितः तस्य जीवस्य स आत्मा मनो बन्धुः, अनात्मनोऽजितमनसस्त्वात्मै

भावानुवाद –मन किसका बन्धु और किसका शत्रु है – इसके उत्तर में भगवान् यह श्लोक कह रहे हैं । जिन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है उनका मन तो उनका बन्धु है, किन्तु जिन्होंने अपने मन को वश में नहीं किया है, उनका मन ही उनका शत्रु है अर्थात् शत्रु जैसा व्यवहार करता है ॥ 6 ॥

जितात्मन: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित: ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो: ॥ 7 ॥

मर्मानुवाद – योगारूढ पुरुषों के लक्षण ये हैं कि उन्होंने मन को जीत लिया है, वे राग–द्वेष आदि से रहित हैं, समाधि में स्थित एवं सर्दी–गर्मी, सुख–दु:ख और मान–अपमान किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होते हैं ॥7 ॥

अन्वय – शीतोष्णसुखदु:खेषु (सर्दी–गर्मी, सुख–दु:ख में) तथा मानापमानयो: (एवं मान और अपमान में) प्रशान्तस्य (रागद्वेषरहित) जीवात्मन: (जितमना योगी का) आत्मा (आत्मा) परम् (अतिशय) समाहित: [भवेत्] (समाधिस्थ होता है) ॥ 7 ॥

टीका—अथ योगारूढस्य चिह्नानि दर्शयति त्रिभिः। जितात्मनो जितमनसः प्रशान्तस्य रागादिरहितस्य योगिनः परमतिशयेन समाहितः समाधिस्थ आत्मा भवेत्। शीतादिषु सत्स्वपि मानापमानयोः प्राप्तयोरपि।।7।।

भावानुवाद –तीन श्लोकों में योगारूढ़ पुरुषों के लक्षण बताते हुए कहते हैं– जिन्होंने अपने मनको वश में कर लिया है, जो प्रशान्त हैं या राग–

द्वेषादि से रहित हैं, वे पूरी तरह समाधिस्थ आत्मा होते हैं। वे सर्दी–गर्मी और मान–अपमान के आने पर विचलित नहीं होते॥ 7॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः॥ 8॥

मर्मानुवाद – वे उपदिष्ट ज्ञान एवं अपरोक्षानुभूतिरूप विज्ञान से परितृप्त, चित्स्वभाव में स्थित, जितेन्द्रिय होते हैं एवं मिट्टी, पत्थर और सोने में समानभाव रखते हैं॥ 8॥

अन्वय – ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (शास्त्रीय ज्ञान और अपरोक्षानुभूति द्वारा सन्तुष्टचित्त) कूटस्थः (हमेशा एक भाव में अवस्थित) विजितेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टि) योगी (योगी को) युक्त इति उच्यते (आत्म दर्शन के योग्य कहा गया है)॥ 8॥

टीका—ज्ञानमौ
आत्मा चित्तं यस्य सः। कूटस्थः एकेनै
सर्ववस्तुष्वनासक्तत्वात्। समानि लोष्टादीनि यस्य सः। लोष्टं मृत्पिण्डः।।8।।

भावानुवाद – शास्त्रउपदिष्ट 'ज्ञान' और अपरोक्षानुभवरूपी 'विज्ञान' से जिनका चित्त आकांक्षारहित हो चुका है। 'वे कूटस्थ' अर्थात् सदा एक ही स्वभाव में स्थित रहतें हैं, और किसी भी वस्तु में आसक्ति न होने के कारण उनके लिए सोना–मिट्टी दोनों एक समान होते हैं॥ 8॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 9॥

मर्मानुवाद – सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बन्धु, धार्मिक और पापी सब में समभाव रखने के कारण उन्होंने श्रेष्ठता प्राप्त की है॥ 9॥

अन्वय – सुहृद्–मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु (स्वभावतः स्नेहपूर्ण–हितेषु, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में) साधुषु पापेषु अपि (साधुओं और पापियों में) समबुद्धिः (समानभाव रखने वाला योगी) विशिष्यते (समलोष्टाश्मकाञ्चन अर्थात् मिट्टी, पत्थर, और स्वर्ण में

समानभाव रखने वाले योगी से श्रेष्ठ योगी है) ॥ 9 ॥

टीका – सुहृत्स्वभावेन हिताशंसी, मित्रं केनापि स्नेहेन हितकारी, अरिर्घातकः, उदासीनो विवदमानयोरुपेक्षकः, मध्यस्थो विवदमानयोर्विवादापहारार्थी, द्वेष्योऽपकारकत्वात् द्वेषार्हः, बन्धुः सम्बन्धी, साधवो धार्मिकाः, पापा अधार्मिकाः, एतेषु समबुद्धिस्तु विशिष्यते। समलोष्ट्राश्मकाञ्चनात् सकाशादपि श्रेष्ठः ॥ 9 ॥

भावानुवाद – 'सहृद्' अर्थात् स्वाभाविक हितैषी, 'मित्र' अर्थात् स्नेहवश हितकारी, 'अरि' अर्थात् शत्रु, 'उदासीन' अर्थात् झगड़ालू विषयों की उपेक्षा करनेवाला, 'मध्यस्थ' अर्थात् झगड़ा सुलझाने वाला, द्वेष्य अर्थात् द्वेष करने योग्य, 'बन्धु' अर्थात् सम्बन्धी, 'साधु' अर्थात् धार्मिक, 'पापी' अर्थात् अधार्मिक – इन सबमें समान बुद्धि रखने वाले पुरुष विशिष्ट होते हैं। ये मिट्टी, पत्थर, सोनादि में समभावयुक्त पुरुषों से भी श्रेष्ठ होते हैं ॥ 9 ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ 10 ॥

मर्मानुवाद – योगारूढ व्यक्ति हमेशा एकान्त में रहकर मन को समाधि में लगायें। वे शरीरनिर्वाह के लिए जो भी कर्म करें, वह असत् परिग्रह वर्जित और फल की कामना से रहित होकर करें॥ 10 ॥

अन्वय – योगी (योगारूढ़ व्यक्ति) सततम् (निरन्तर) रहसि (निर्जन स्थान में) स्थितः (रहते हुए) एकाकी (संगरहित) यतचित्तात्मा (संयतचित्त) निराशीः (निःस्पृह) अपरिग्रहः (विषय संग्रहरहित होकर) आत्मानम् (मन को) युञ्जीत (समाधि में लगाये) ॥ 10 ॥

टीका—अथ साङ्गं योगं विधत्ते—'योगी' इत्यादिना, स योगी परमो मत इत्यन्तेन। योगी योगारूढ आत्मानं मनो युञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात्। ।10। ।

भावानुवाद – अब इस श्लोक से लेकर 32 वें श्लोक तक अङ्गों सहित योग के नियम बता रहे हैं। योगारूढ़ व्यक्ति मन को समाधि में लगायें ॥ 10 ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्॥ 11 ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ 12॥

मर्मानुवाद - एकान्त में योगाभ्यास का नियम यह है कि विशुद्ध भूमि पर कुशासन के ऊपर मृग चर्म का आसन बिछाकर, फिर उसके ऊपर वस्त्र का आसन विछा दे। यह आसन न तो अति ऊँचा हो और न अति नीचा। तत्पश्चात् उस पर बैठ कर चित्त, इन्द्रिय और क्रियाओं को नियमित करते हुए चित्त शुद्धि के लिए मन को एकाग्र करके योगाभ्यास करें॥ 11-12॥

अन्वय - शुचौ (पवित्र) देशे (स्थान पर) स्थिरम् (स्थिर) न अत्युच्छ्रितम् (न अधिक ऊँचा) न अतिनीचम् (न अधिक नीचा) चेलाजिनकुशोत्तरम् (क्रमशः कुशा, मृग चर्म और वस्त्रनिर्मित) आत्मनः (अपने) आसनम् (आसन को) संस्थाप्य (बिछाकर) तत्र (उस आसन पर) उपविश्य (बैठकर) यतचित्तेन्द्रियक्रियः (चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयमित करके) मनः (मन को) एकाग्रं कृत्वा (एक वस्तु पर केन्द्रित करके) आत्मविशुद्धये (अन्तःकरण शुद्धि के अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार की योग्यता प्राप्ति के लिए) योगम् (समाधि का) युञ्ज्यात् (अभ्यास करें)॥11-12॥

टीका—प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा। चेलाजिनकुशोत्तरमिति कुशासनोपरि मृगचर्मासनम्, तदुपरि वस्त्रासनं निधायेत्यर्थः। आत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये विक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै
बुद्ध्या" इति श्रुतेः।। 11-12।।

भावानुवाद - 'प्रतिष्ठाप्य' का अर्थ है-स्थापित कर या बिछाकर। पवित्र स्थान पर कुशासन बिछाकर उस पर मृग-चर्मासन एवं उसके ऊपर वस्त्र का आसन बिछाकर उस पर बैठकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए विक्षेपशून्य होकर अति सूक्ष्मतापूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता के लिए प्रयास करें॥ 11-12॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ 13॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ 14॥

मर्मानुवाद – शरीर, मस्तक और ग्रीवा को समान अचल रख कर, इधर-उधर ध्यान न जाये इसलिए नासिका के अग्र भाग को देखते हुए प्रशान्तात्मा, भयशून्य और ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित व्यक्ति अपने मन को तमाम जड़ीय विषयों से वश में करके चतुर्भुजस्वरूप मेरी विष्णुमूर्ति में परमात्मपरायण होकर योगाभ्यास करें॥ 14 ॥

अन्वय – कायशिरोग्रीवम् (शरीर, मस्तक और गर्दन) समम् (सरल) अचलम् (स्थिर) धारयन् (रख) स्थिरः (स्थिर होकर) स्वम् (अपनी) नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य (नासिका के अग्र भाग को देखते हुए या दोनों चक्षुओं के बीच में दृष्टि स्थापन करते हुए) दिशः च (अन्य किसी दिशा को ओर) अनवलोकयन् (न देखते हुऐ) [आसीत] [बैठे] ॥ 13 ॥

प्रशान्तात्मा (प्रशान्तात्मा) विगतभीः (निर्भय) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (ब्रह्मचर्य परायण) मनः संयम्य (मन को संयम करते हुए) मच्चित्तः (चतुर्भुज सुन्दर रूप वाले मेरा चिन्तन करते-करते) मत्परः (मेरी भक्ति के परायण) युक्तः (योगी) आसीत (बैठें) ॥ 14 ॥

टीका—कायो देहमध्यभागः, समम् अवक्रम्, अचलं निश्चलं धारयन् कुर्वन्, मनः संयम्य प्रत्याहृत्य मच्चित्तो मां चतुर्भुजं सुन्दराकारं चिन्तयन्, मत्परः मद्भक्तिपरायणः।। 13-14।।

भावानुवाद – देह के मध्यभाग को 'काय' कहते हैं। 'समम्' का तात्पर्य है – अवक्र अर्थात् सीधा और 'अचलम्' का तात्पर्य है – निश्चल। काय आदि को सीधा और स्थिर रखते हुए, मन को विषयों से हटाकर चतुर्भुज सुन्दराकार मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भक्ति के परायण हो जाओ॥ 13-14 ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ 15॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार योग अभ्यास करते-करते योगी की जड़विषय सम्बन्धी चित्तवृत्ति नियन्त्रित हो जाती है। यदि भक्तिपरायणता का अभाव न हो तो वे योगी धीरे-धीरे क्रमशः मेरे ज्योतिः स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म के अधीन निर्वाणपरा शान्ति अर्थात् जड़-मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥ 15 ॥

अन्वय – एवम् (उपरोक्त प्रकार से) नियतमानसः (विषयों से निवृत्त

चित्त) योगी (योगी) आत्मानम् (मन को) युञ्जन् (ध्यान योग में लगाकर) मत्संस्थाम् (मेरे ज्योतिः स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म के अधीन) निर्वाणपरमाम् (निर्वाण प्रधान) शान्तिम् (संसार से उपरति को) अधिगच्छति (प्राप्त होता है) ॥ 15 ॥

टीका—आत्मानं मनो युञ्जन्, ध्यानयोगयुक्तं कुर्वन्, यतो नियतमानसः विषयोपरतचित्तः। निर्वाणो मोक्ष एव परमः प्राप्यो यस्यां, मय्येव निर्विशेषब्रह्मणि सम्यक् स्था स्थितिर्यस्यां तां शान्तिं संसारोपरतिं प्राप्नोति।। 15।।

भावानुवाद – जिनका चित्त विषय चिन्तन से ऊपर उठ चुका है, वे संयतचित्त योगी मन को ध्यानयोग में लगा परम प्राप्य निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मुझ में ही अर्थात् मेरे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप में भलीभाँति स्थित होने के कारण उन्हें शान्ति अर्थात् संसारसे विरक्ति प्राप्त होती है ॥ 15 ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ 16 ॥

मर्मानुवाद – अधिक भोजन करने वाले, बिल्कुल कम खाने वाले, अधिक निद्राप्रिय एवं बिल्कुल न सोने वाले व्यक्ति के लिए योग सम्भव नहीं है ॥ 16 ॥

अन्वय – अर्जुन (हे अर्जुन) अति अश्नतः तु (अधिक भोजन करने वाले का) योगः (योग) न अस्ति (नहीं होता) एकान्तम् (अत्यन्त) अनश्नतः (और न खाने वाले का भी) न च (नहीं होता) अतिस्वप्नशीलस्य (अधिक सोने वाले का भी योग नहीं होता) जाग्रतः एव च न (और न ही अधिक जागरण करने वाले का) ॥ 16 ॥

टीका—योगाभ्यासनिष्ठस्य नियममाह द्वाभ्याम्। अत्यश्नतः अधिकं भुञ्जानस्य; यदुक्तम्—"पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्।।" इति।। 16।।

भावानुवाद – दो श्लोकों में योगाभ्यास में निष्ठावान् पुरुषके नियम बता रहे हैं। 'अत्यश्नतः' का तात्पर्य है – अधिक भोजन करनेवाला। जैसा कि शास्त्र में कहा गया है – '**पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥**' अर्थात् योगाभ्यास के इच्छुक पुरुष को उदरका आधा भाग अन्नके द्वारा और तृतीय भाग जलके द्वारा भरकर चौथा

भाग वायु के संचरण के लिए खाली रखना चाहिये ॥16 ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ 17 ॥

मर्मानुवाद – यथावश्यक आहार, यथावश्यक विहार, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा, यथावश्यक निद्रा, यथावश्यकजागरण करने वाले व्यक्तियों की चेष्टा द्वारा ही संसारदुःखनाशक योग सम्भव हो सकता है ॥ 17 ॥

अन्वय – युक्ताहारस्य (नियमित आहार करने वाले) कर्मसु युक्तचेष्टस्य (कर्मों में यथार्थ चेष्टा करने वाले) युक्तस्वप्नावबोधस्य (यथा आवश्यक निद्रा और जागरण करने वाले व्यक्ति का) योगः (योग ही) दुःखहा (दुःखों को हरने वाला) भवति (होता है) ॥ 17 ॥

टीका—युक्तो नियत एव आहारो भोजनं विहारो गमनञ्च यस्य तस्य कर्मसू व्यावहारिक-पारमार्थिक-कृत्येषु युक्ता नियता एव चेष्टा वाग्व्यापाराद्या यस्य तस्य।। 17।।

भावानुवाद – जिनका आहार एवं विहार नियमित है, उनके व्यावहारिक और पारमार्थिक कार्य यथावश्यक चेष्टा वाले होते हैं ॥ 17 ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ 18 ॥

मर्मानुवाद – जब पुरुष की चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है अर्थात् जड़ाविष्टता का परित्याग करके अप्राकृत विषयों में, या यूँ कहें आत्मतत्त्व में परिनिष्ठित हो जाती है, तब पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं की स्पृहा से रहित होकर 'योगी' हो जाता है ॥ 18 ॥

अन्वय- यदा (जब) विनियतम् (निरुद्ध) चित्तम् (चित्त) आत्मनि एव (आत्मा में ही) अवतिष्ठते (अवस्थान करता है) तदा (तब) सर्वकामेभ्यः (समस्त कामनाओं से) निःस्पृह (निःस्पृह) [पुरुष] युक्तः इति (योगी) उच्यते (कहा जाता है) ॥18 ॥

टीका—योगी निष्पन्नयोगः कदा भवेदित्याकाङ्क्षयामाह—यदेति। विनियतं निरुद्धं चित्तम् आत्मनि स्वस्मिन्नेव अवतिष्ठते निश्चलीभवतीत्यर्थः।।18।।

भावानुवाद – योगी का योग कब पूर्ण होता है ? इसके उत्तर में कहते

हैं – जब वे पूरी तरह संयमित चित्तको अपने में ही निश्चल भावसे अवस्थित कर लेते हैं, तब वे सफलयोग हो जाते हैं ॥ 18 ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ 19 ॥

मर्मानुवाद – वायुशून्य घर में दीपक जिस प्रकार हिलता–डुलता नहीं, स्थिर रहता है, एकाग्रचित्त योगी का मन भी उसी प्रकार अचल रहता है ॥ 19 ॥

अन्वय – यथा (जिस तरह) निवातस्थः (वायु रहित स्थान पर रखा) दीपः (प्रदीप) न इङ्गते (हिलता–डुलता नहीं) आत्मनः (आत्मविषयक) योगम् (योग का) युञ्जतः (अभ्यास करने वाले) यतचित्तस्य (एकाग्रचित्त) योगिनः (योगी की) स उपमा (उस प्रदीप से तुलना) स्मृता (मानी जाती है) ॥ 19 ॥

टीका—निवातस्थो निर्वातदेशस्थितो दीपो नेङ्गते न चलति यः स दीप उपमा यथा यथावदित्यर्थः। सोऽपि लोपे चेत् पादपूरणमिति सन्धिः, कस्योपमा इत्यत आह—योगिन इति।। 19।।

भावानुवाद – वायुशून्य गृहमें दीप हिलता–डुलता नहीं है। संयतचित्त योगी के चित्त की तुलना उसी दीप से की गयी है। यदि 'सः' के विसर्ग का लोप होकर पादपूर्ण के लिए सन्धि हो तो 'सोपमा' होगा । साधारण व्याकरण के अनुसार यहाँ 'स उपमा' होना चाहिए। किसकी तुलना ? इसके उत्तर में कह रहे हैं, ॥ 19 ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ 20 ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ 21 ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ 22 ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ 23 ॥
सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ 24 ॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ 25 ॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा विषयों से विरक्त चित्त सांसारिक विषयों से हट जाता है , तब समाधि की अवस्था आती है। उस अवस्था में परमात्माकार अन्तःकरण के द्वारा परमात्मा का दर्शन करते हुए उससे उत्पन्न सुख का अनुभव करता है। पतञ्जलि मुनि ने जो दर्शन शास्त्र लिखा है, वही शुद्ध अष्टांगयोगविषयक शास्त्र है, किन्तु उसका सही अर्थ न समझ पाने के कारण टीकाकार ऐसा कहते हैं कि "वेदान्तवादी लोग आत्मा के चिदानन्दमयत्व को ही 'मोक्ष' कहते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि कैवल्य अवस्था में यदि आनन्द को स्वीकार किया जाए तो संवेद्य-संवेदन स्वीकाररूप द्वैतभाव से कैवल्य हानि होगी" किन्तु पतञ्जलि जी ने ऐसा नहीं कहा। उन्होंने अपने अन्तिम सूत्र में मात्र यह कहा है कि –

"पुरुषार्थशून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" (पातन्जल योग सूत्र 4/34) धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थों की माँग शून्य हो जाने पर त्रिगुण मन में क्षणिक भी विकार उत्पन्न न करें तब चिद्धर्म का 'कैवल्य' होता है। इससे उसके स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है। तभी उसे 'चितिशक्ति' कहते हैं।

गहराई से देखने से जाना जाता है कि पतञ्जलि ने चरम अवस्था में आत्मा के गुणों का ध्वंस होना स्वीकार नहीं किया है, केवल गुणों के अविकारित्व को स्वीकार किया है।'चिति-शक्ति' शब्द का अर्थ है चिद्धर्म। विकारों के चले जाने पर स्वरूपधर्म उदय होता है। प्राकृत सम्बन्ध योग में जो आत्मा की दशा होती है उसी का नाम है 'आत्मगुणविकार'। इसके चले जाने से आत्मशक्ति, आत्मगुण या आत्मधर्म में जो आनन्द है वह लोप हो जायेगा – ऐसी शिक्षा पतञ्जलि की नहीं है।

प्रकृतिविकार शून्य आनन्द ही प्रतिबुद्ध होता है, वह आनन्द ही सुख स्वरूप है और योग का चरम फल है, उसे ही 'भक्ति' कहते हैं यह बाद में बतायेंगे। समाधि दो प्रकार की होती है सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सवितर्क और सविचारादि भेद से सम्प्रज्ञात समाधि अनेक प्रकार की है। जबकि असम्प्रज्ञात समाधि एक ही प्रकार की होती है। उस असम्प्रज्ञात समाधि में विषय इन्द्रिय

के सम्पर्क से रहित, आत्माकार बुद्धि के ग्रहण योग्य आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है। उस विशुद्ध आत्म–सुख में अवस्थित योगी का चित्त फिर कभी तत्त्व से विचलित नहीं होता। इस अवस्था को प्राप्त किये बिना अष्टांगयोग में जीव का मंगल नहीं होता, क्योंकि उसमें तमाम विभूतिरूप अवाञ्छित लाभ हैं। उनकी तरफ आकृष्ट हो जाने से योगी का चित्त चरम उद्देश्यरूप समाधि के सुख से विचलित हो जाता है। इन सब विघ्नों से योगसाधना के समय अनेक प्रकार के अमंगल होने का भय है, किन्तु भक्तियोग में ऐसी आशंका नहीं है। वह बाद में कहा जायेगा। समाधि में जो सुख प्राप्त होता है, योगी उससे श्रेष्ठ किसी और सुख को नहीं मानते अर्थात् देहयात्रा निर्वाह के समय अनेक विषयों के साथ इन्द्रियों के स्पर्श होने से जिन सब क्षणिक सुखों की उत्पत्ति होती है उन सबको वे तुच्छ ही समझते हैं। दुर्घटना, पीड़ा, अभाव और मृत्युकाल तक बड़े–बड़े सभी दुःखों को सहन करके अपने अन्वेषणीय समाधि सुख को भोगते हैं। विषय सुख द्वारा विचलित होकर वे परम सुख का परित्याग नहीं करते हैं। सब दुःख आ गये हैं, अधिक देर नहीं रहेंगे, ये जल्दी ही चले जायेंगे, इस प्रकार निश्चय के साथ योग का अनुष्ठान करते हैं। योग के फल मिलने में देरी हो रही है, अड़चन आ रही है, इस प्रकार ऊब कर योगाभ्यास को नहीं छोड़ें अर्थात् योगफल मिलने तक विशेषरूप से अभ्यास करें। योग के सम्बन्ध में प्रथम कार्य यह है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, सिद्धफलसंकल्पजनित कामनाओं को हर प्रकार से दूर करते हुए मन के द्वारा तमाम इन्द्रियों को पूरी तरह नियमित करें। धारणारूप अंग से प्राप्त बुद्धि द्वारा धीरे–धीरे उपरत होना सीखें, इसी का नाम प्रत्याहार है। मन को ध्यान, धारणा और प्रत्याहार के द्वारा पूरी तरह वशीभूत करके 'आत्मसमाधि' लगायें। तब अन्य किन्हीं विषयों की चिन्ता मत करें एवं देह निर्वाह के लिए विषयों का चिन्तन करने पर भी उनमें आसक्त न हों, यही उपदिष्ट फल है, – यही योग का अन्तिम कृत्य है॥ 20–25॥

अन्वय – यत्र (जिस समाधि में) योगसेवया (योगाभ्यास द्वारा) निरुद्धम् (संयमित) चित्तम् (चित्त) उपरमते (वस्तुमात्र से उपरत हो जाता है) आत्मना (परमात्माकार अन्तःकरण द्वारा) आत्मानम् (परमात्मा को) पश्यन् (देखकर) आत्मनि (उसमें ही) तुष्यति (तुष्ट होता है)।। 20॥

यत्र च (और जिस समाधि में) अयम् (यह योगी) बुद्धि-ग्राह्यम् (आत्माकार बुद्धि द्वारा ग्रहणीय) अतीन्द्रियम् (विषयेन्द्रियों से सम्पर्क रहित) आत्यन्तिकम् (नित्य) यत् सुखम् (जिस सुख का) तत् वेत्ति (अनुभव करता है) स्थितश्च (एवं जिस समाधि में स्थित होकर) तत्त्वतः (आत्म स्वरूप से) न चलति (विचलित नहीं होता)।। 21 ॥

यं लब्ध्वा च (जिसे प्राप्त करके) अपरं लाभम् (अन्य किसी वस्तु की प्राप्ति को) ततः (उससे) अधिकं न मन्यते (अधिक नहीं मानता) यस्मिन् स्थितः (जिसमें अवस्थित होकर) गुरुणा दुःखेन अपि (दुःसह दुःख द्वारा भी) न विचाल्यते (विचलित नहीं होता)।। 22 ॥

दुःखसंयोगवियोगम् (जिस में दुःख के संयोग मात्र से वियोग हो जाता है) तम् (उसे) योगसंज्ञितम् (योग संज्ञा प्राप्त समाधि) विद्यात् (जानना) अनिर्विण्णचेतसा (उत्साह और धैर्यपूर्ण अथक चित्त से) सःयोगः (वह योग) निश्चयेन (दृढ प्रयत्न से) योक्तव्यः (अभ्यास करना कर्त्तव्य है)।। 23 ॥

संकल्पप्रभवान् (संकल्प से उत्पन्न) कामान् (विषयों को) अशेषतः (सम्पूर्ण रूप से वासना सहित) त्यक्त्वा (त्याग कर) मनसा एव (विषयदोषदर्शी मन के द्वारा) इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियों को) समन्ततः (सब विषयों से) विनियम्य (हटा कर) [योग अभ्यास करना कर्त्तव्य है]।। 24 ॥

धृतिगृहीतया (धारणा के द्वारा वश में की हुई) बुद्ध्या (बुद्धि द्वारा) मनः (मन को) आत्मसंस्थम् (आत्मा में स्थिर करते हुए) शनैःशनैः (धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए) उपरमेत् (बाह्य विषयों से हटाकर) [समाधि में लगाता है] न किञ्चित् अपि चिन्तयेत् (और कुछ नहीं सोचता)।।25 ॥

टीका—"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति" इत्यादौ
समाधिरुक्तः। स च संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च। सवितर्कसविचारादिभेदात् संप्रज्ञातो बहुविधः। असंप्रज्ञातसमाधिरूपो योगः कीदृश इत्यपेक्षायामाह—यत्रेत्यादि साद्धै
तत्र हेतुः—निरुद्धमिति। तथा च पातञ्जलसूत्रम्—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (1/2)" इति। यत्रेत्यादिपदानां योगसंज्ञितं विद्यादिति चतुर्थेनान्वयः। आत्मना परमात्माकारान्तःकरणेनात्मानं परमात्मानं पश्यन् तस्मिन् तुष्यति, तत्रत्यं सुखं प्राप्नोति। यदात्यन्तिकं सुखं प्रसिद्धम्, तदेव यत्र समाधौ

बुद्ध्यात्माकारयै
स्थितः सन् तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नै
सकाशादपरं लाभमधिकं न मन्यते। दुःखस्य संयोगेन स्पर्शमात्रेणापि वियोगो यस्मिन् तं योगसञ्ज्ञितं योगसंज्ञां प्राप्तं समाधिं विद्यात्। यद्यपि शीघ्रं न सिध्यति तदप्ययं मे योगः संसेत्स्यत्येवेति यो निश्चयस्तेन। अनिर्विण्णचेतसै
कालेन योगो न सिद्धः, किमतःपरं कष्टेनेत्यनुतापो निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा। इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सिध्यतु, किं मे त्वरयेति धै
तदेतद्गौ
निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः।।" इति;—उत्सेक उत्सेचनम्, शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत्। अत्र काचिदाख्यायिकास्ति—"कस्यचित् किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थितानि तरङ्गवेगेन समुद्रो जहार। स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञाय स्वमुखाग्रेणै
स बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुभिर्युक्त्या वार्यमाणोऽपि नै
तत्रागतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति तदग्रेऽपि पुनः प्रतिजज्ञे। ततश्च दै
प्रेषयामास। समुद्रस्त्वदीयज्ञातिद्रोहेन त्वामवमन्यत इति वाक्येन। ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन् समुद्रोऽतिभीतस्तान्यण्डानि तस्मै
एवमेव शास्त्रवचनास्तिक्येन योगे ज्ञाने भक्तौ
जनं भगवानेवानुगृह्णातीति निश्चेतव्यम्। एतादृशयोगाभ्यासे प्रवृत्तस्य प्राथमिकं कृत्यमन्त्यञ्च कृत्यमाह—संकल्पेति द्वाभ्याम्। कामांस्त्यक्त्वेति प्राथमिकं कृत्यम्। न किञ्चिदपि चिन्तयेदित्यन्त्यं कृत्यम्।। 20–25।।

भावानुवाद – 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति' (गीता 6/16) यहां 'योग' शब्द का अर्थ समाधि किया गया है। वह समाधि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की होती है – सवितर्क और सविचार आदि के भेद से सम्प्रज्ञात समाधि अनेक प्रकार की है। असम्प्रज्ञातसमाधिरूपी योग कैसा है, साढ़े तीन श्लोकों में उसकी पहचान बता रहें हैं। समाधि होने पर चित्त विषयों से विरक्त हो जाता है अर्थात् वस्तुमात्र को स्पर्श तक नहीं करता है। उसका कारण है – 'निरुद्ध'। जैसा कि पातञ्जल सूत्र में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहा गया है – उपर्युक्त श्लोकों के 'यत्रोपरमते' इत्यादि पदों का अन्वय 23

वें श्लोक के 'योगसंज्ञितम्' से हैं ।'आत्मना' अर्थात् परमात्माकार अन्तःकरण के द्वारा परमात्मा का दर्शन कर उसी से संतुष्ट हो जाते हैं। वही सुख आत्यन्तिक सुख के नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही समाधि भी जानो। वह सुख आत्माकार बुद्धि द्वारा ही ग्रहणीय है। वह सुख विषयेन्द्रियों के सम्पर्क से रहित हैं अतएव उस सुख में अवस्थित योगी जहाँ – कहीं भी क्यों न रहें, अपने आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होते हैं। उस सुख की प्राप्ति के पश्चात् अन्य किसी लाभ को वे उससे अधिक नहीं मानते। दुःख के संयोग अर्थात् स्पर्श तक का जहाँ वियोग है, उसी को 'योगसंज्ञितम' या 'योग' नामक समाधि जानना चाहिए। यद्यपि यह योग इतनी जल्दी सफल नहीं होता, इसलिए यह सोचकर कि इतना समय हो गया अब और करने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार अनुताप करना ठीक नहीं है। इस प्रकार के अनुताप को 'निर्वेद' कहते हैं। इस निर्वेद से रहित चित्त के द्वारा ही योग सिद्ध होता है। मन में ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि मैं इससे सफलता प्राप्त करके ही रहूँगा। इस विषय में गौड़पाद ने एक उदाहरण दिया है– 'कुशा के अग्रभाग पर एक एक बूँद जल लेकर समुद्र को सुखाने का सङ्कल्प करना', ऐसे अक्लान्त परिश्रमी का मन ही वशीभूत हो सकता है। इस सम्बन्ध में एक कथा है– ''किसी पक्षी ने समुद्रतट पर अण्डे दिए और समुद्र अपनी तरंगों से अण्डों को बहा ले गया। उस पक्षी ने समुद्र को सुखाने की प्रतिज्ञा की और चोंच में समुद्र का जल भर-भर कर सूखे स्थान पर डालने लगा। अपने स्वजातीय बन्धुओं द्वारा समझाने पर भी उसने अपना कार्य बन्द नहीं किया। संयोगवश श्रीनारद जी वहाँ आए और उन्होंने भी उस पक्षीको समझाया, परन्तु उस पक्षी ने उनके सम्मुख भी पुनः यही प्रतिज्ञा की कि यही नहीं, चाहे जितने भी जन्म लग जायें तब भी मैं इसे सुखाकर ही दम लूँगा। तत्पश्चात् कृपालु श्रीनारद जी ने गरुड़ जी को उसकी सहायता के लिए भेजा। समुद्र मेरे स्वजातीय पक्षी के अण्डों को बहा ले गया – ऐसा जानकर उन्होंने अपने पंख से हवा के द्वारा समुद्र को सुखाना प्रारम्भकर दिया। इससे अत्यन्त भयभीत होकर समुद्र ने अण्डों को लौटा दिया।'' इसी प्रकार शास्त्र के वचनों में विश्वासयुक्त होकर योग, ज्ञान या भक्ति में यत्नशील उत्साही व्यक्ति के ऊपर भगवान् अवश्य ही कृपा करते हैं – इस प्रकार योगाभ्यास में लगे

व्यक्ति के प्राथमिक और अन्तिम कृत्य को बता रहे हैं। 'कामनाओं का त्याग'- यह प्राथमिक कृत्य है तथा 'अन्य कुछ भी चिन्तन न करना' - यह अन्तिम कृत्य है ॥ 20-25 ॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ 26 ॥

मर्मानुवाद - मन स्वाभाविक ही चंचल और अस्थिर है कभी-कभी विचलित होने पर उसे यत्नपूर्वक नियंत्रित करके अपने वश में लाना चाहिए ॥26 ॥

अन्वय - चञ्चलम् (चञ्चल) अस्थिरम् (अस्थिर) मनः (मन) यत:यत: (जिस-जिस विषय की ओर) निश्चलति (धावित होता है) ततः (उस-उस विषय से) नियम्य (रोककर) आत्मनि एव (आत्मा में ही) वशं नयेत् (वशीभूत करना) ।। 26 ॥

टीका—यदि च प्राक्तनदोषोद्गमवशात् रजोगुणस्पृष्टं मनश्चञ्चलं स्यात्, तदा पुनर्योगमभ्यसेदित्याह—यतो यत इति।। 26।।

भावानुवाद - पूर्व जन्मों के संस्कारवश रजोगुण के स्पर्श से मन चञ्चल हो भी जाय, तो पुनः योगाभ्यास करे। यही इस श्लोक में बताया गया है ॥ 26 ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ 27 ॥

मर्मानुवाद - इस प्रकार अभ्यास और विघ्न विनाश होने के कारण जिसका मन प्रशान्त हो गया है, वही ब्रह्मभूत, पापशून्य, रजोगुण मुक्त योगी ही ऊपर कहे गये उत्तम सुख का अनुभव करते हैं ॥ 27 ॥

अन्वय - शान्तरजसम् (राजसिक वृत्तिरहित) प्रशान्तमनसम् (प्रशान्तचित्त) अकल्मषम् (राग आदि दोषशून्य) ब्रह्मभूतम् (ब्रह्मभावसम्पन्न) एनम् हि योगिनम् (योगी) उत्तमं सुखम् (आत्म अनुभव रूप महत् सुख) उपैति (प्राप्त करता है) ।। 27 ॥

टीका—ततश्च पूर्ववदेव तस्य समाधिसुखं स्यादित्याह—प्रशान्तेति। सुखं कर्त्तृ, योगिनमुपै

भावानुवाद – उसके बाद योगी को पूर्वोक्त समाधिसुख प्राप्त होता है।। 27 ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ 28 ॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार आत्मसंयमी योगी कल्मष रहित होकर ब्रह्म संस्पर्शरूपी अत्यन्त सुख का भोग करते हैं अर्थात् चित्स्वरूप परमब्रह्मतत्त्वानुशीलन रूपी आनन्द प्राप्त करते हैं। यही भक्ति है।। 28 ॥

अन्वय – एवं (इस प्रकार) आत्मानम् (स्व–स्वरूप को) सदा (हमेशा) युञ्जन् (योग के द्वारा अनुभव करते हुये) विगतकल्मषः (सर्वदोषरहित) योगी (योगी) सुखेन (अनायास ही) ब्रह्मसंस्पर्शम् (परमात्मा अनुभवरूपी) अत्यन्तं सुखम् (असीम सुख) अश्नुते (प्राप्त करता है अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है)।। 28 ॥

टीका—ततश्च कृतार्थ एव भवतीत्याह—युञ्जन्निति। 'सुखमश्नुते' जीवन्मुक्त एव भवतीत्यर्थः।। 28।।

भावानुवाद – तत्पश्चात् वे योगी कृतार्थ हो जाते हैं। 'सुखमश्नुते' का तात्पर्य है जीवन्मुक्त हो जाते हैं॥ 28 ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ 29 ॥

मर्मानुवाद – वह ब्रह्मसंस्पर्श–सुख कैसा है, संक्षेप में कहता हूँ – समाधिप्राप्त योगी के दो प्रकार के व्यवहार हैं – भावात्मक और क्रियात्मक। वे सभी प्राणियों में आत्मा को एवं आत्मा में सब प्राणियों का दर्शन करते हैं– यही उनका भाव–व्यवहार है। क्रियाव्यवहार में भी वे सर्वत्र समदर्शी हैं। अगले दो श्लोकों में भाव और एक श्लोक में क्रिया की व्याख्या कर रहा हूँ॥ 29 ॥

अन्वय – सर्वत्र समदर्शनः (सब जीवों में समदर्शी) योगयुक्तात्मा (ब्रह्माकार अन्तःकरण पुरुष) आत्मानम् (परमात्मा को) सर्वभूतस्थम् (सब प्राणियों में अवस्थित) ईक्षते (दर्शन करता है) सर्वभूतानि च (एवं सब प्राणियों को) आत्मनि (परमात्मा में)॥ 29 ॥

टीका—जीवन्मुक्तस्य तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारंदर्शयति—सर्वभूतस्थमात्मानम्

इति। परमात्मनः सर्वभूताधिष्ठातृत्वम्, आत्मनीति परमात्मनः सर्व-भूताधिष्ठानञ्च। 'ईक्षते' अपरोक्षतयाऽनुभवति। 'योगयुक्तात्मा' ब्रह्माकारान्तःकरणः, समं ब्रह्मै

भावानुवाद – उन जीवन्मुक्त पुरुषों के ब्रह्मसाक्षात्कार को दर्शाने हेतु 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इत्यादि कह रहे हैं। जीवनमुक्त पुरुष प्रत्यक्षभाव से ऐसा अनुभव करते हैं कि "सभी प्राणियों में परमात्मा का अधिष्ठान है और परमात्मा में सभी प्राणी अधिष्ठित हैं"। वे ब्रह्माकार अन्तःकरण वाले ऐसे पुरुष समदर्शी अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करने वाले होते हैं॥ 29॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ 30॥

मर्मानुवाद – जो सर्वत्र मेरा दर्शन करते हैं और तमाम वस्तुओं का मुझमें ही दर्शन करते हैं, मैं उनका ही हो जाता हूँ, अर्थात् शान्तरति का अतिक्रमण कर हमारे बीच में, 'मैं उनका हूँ', और 'वे मेरे हैं', इस प्रकार का सम्बन्धयुक्त प्रेम उत्पन्न होता है। इस प्रकार का सम्बन्ध बन जाने से फिर मैं उन्हें शुष्क निर्वाणरूप सर्वनाश प्रदान नहीं करता हूँ। मेरा दास बन जाने के कारण उनका कभी पतन नहीं हो सकता॥ 30॥

अन्वय – यः (जो पुरुष) सर्वत्र (सभी पदार्थों में)माम् (मुझे देखते हैं) मयि च (एवं मुझ में) सर्वं पश्यति (सारे संसार को देखते हैं) तस्य (उनके लिए) अहम् (मैं) न प्रणश्यामि (अप्रत्यक्ष नहीं होता) स च (वे भी) मे (मेरे लिए) न प्रणश्यति (अदृश्य नहीं होते अर्थात् कभी भ्रष्ट नहीं होते) ॥30॥

टीका—एवमपरोक्षानुभविनः फलमाह—यो मामिति। तस्याहं ब्रह्म न प्रणश्यामि नाप्रत्यक्षीभवामि। तथा मत्प्रत्यक्षतायां शाश्वतिक्यां सत्यां स योगी मे मदुपासकः न प्रणश्यति, न कदाचिदपि भ्रश्यति।। 30।।

भावानुवाद – उस अपरोक्ष अनुभव का फल यह होता है कि उनके लिए मैं 'ब्रह्म' कभी अदृश्य नहीं होता हूँ। इस प्रकार उस योगी के लिए मेरी प्रत्यक्षता नित्य हो जाने के कारण मेरे उन योगी उपासकों का कभी पतन नहीं होता॥ 30॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ 31॥

मर्मानुवाद – साधनकाल में योगी को अपने अन्तः करण में जिस चतुर्भुजाकार ईश्वर के ध्यान का उपदेश दिया गया है, वह समाधि के समय निर्विकल्प –अवस्था में परमतत्त्व के 'साधन' और 'सिद्ध' कालगत द्वैतबुद्धि रहित होने पर सच्चिदानन्द श्यामसुन्दर मूर्ति में एकत्व–बुद्धि हो जाता है। जो योगी सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित मेरा भजन करते हैं अर्थात् श्रवण–कीर्तन द्वारा मेरी भक्ति करते हैं, वे कार्य काल में कर्म, विचार काल में ज्ञान एवं योग के समय समाधि का अनुष्ठान करने पर भी मुझ में वर्तमान रहते हैं। श्री नारद पञ्चरात्र में योग का उपदेश देते हुए कहा गया है –"दिक् कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च। तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत् ॥" अर्थात् "दिशा और काल की सीमा से अतीत जो श्रीकृष्ण की मूर्ति है उसमें चित्त लगाने से तन्मयता द्वारा जीव के हृदय में श्रीकृष्ण रूप संस्पर्श सुख उदित होता है। कृष्ण भक्ति ही योगसमाधि की चरम सीमा है" ॥ 31॥

अन्वय - यः (जो योगी) सर्वभूतस्थितम् (सम्पूर्ण जीवों के हृदय में चतुर्भुजरूप में पृथक्–पृथक् अवस्थित) माम् (मुझे) एकत्वम् (अभिन्न रूप में) आस्थितः (आश्रय करके) भजति (श्रवण, स्मरण आदि भजन करते हैं) सः योगी (वही योगी) सर्वथा वर्तमानः अपि (हर प्रकार की अवस्था में अर्थात् कर्म करते हुए और न करते हुए भी) मयि [एव] (मुझ में ही) वर्तते (अवस्थित रहते हैं) ॥ 31॥

टीका—एवं मदपरोक्षानुभवात् पूर्वदशायामपि सर्वत्र परात्मभावनया भजतो योगिनो न विधि–कै
देकोऽस्तीत्येकत्वमास्थितः सन् भजति, श्रवणस्मरणादिभजनयुक्तो भवति, स सर्वथा शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वन्नकुर्वन् वा वर्त्तमानो मयि वर्त्तते, न तु संसारे।।31।।

भावानुवाद – इस प्रकार मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति होने से पहली अवस्था में भी सर्वत्र परमात्मभावना से भजन करने वाले योगी के लिए विधिदासता अर्थात् कर्मकाण्ड की पराधीनता नहीं है। सब कारणों के एकमात्र 'कारण' होने के कारण परमात्मा एक ही है, इस प्रकार एकत्व में स्थित होकर जो श्रवण स्मरणादि द्वारा मेरा भजन करते हैं, वे शास्त्रविहित कर्म करें या न करें,

सर्वप्रकार से मुझ में ही अवस्थान करते हैं, संसार में नहीं॥ 31॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ 32॥

मर्मानुवाद – योगी की क्रिया – व्यवहार कैसा होता है, वह कहता हूँ, श्रवण करो। जो सब को समान दृष्टि से देखते हैं , वही परम योगी हैं। सम-दृष्टि शब्द का अर्थ है कि वे व्यवहार में अन्य सब जीवों को अपने समान ही समझते हैं अर्थात् दूसरे जीवों के सुख को अपने सुख के समान सुखकर और दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान दुःखजनक समझते हैं। इसलिए समस्त प्राणियों के सुख की ही निरन्तर कामना करते हैं एवं उसके अनुरूप ही कार्य करते हैं, इसे ही समदर्शन कहते हैं॥ 32॥

अन्वय – अर्जुन (हे अर्जुन) यः (जो योगी) सर्वत्र (सब भूतों में) आत्मौपम्येन (अपनी भाँति) [अन्यस्य] (दूसरों के) सुखं वा यदि दुःखम् (सुख और दुःख को) समं पश्यति (समान देखता है) सः योगी (वही योगी) परमः (सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है) मतः (निश्चित मत है)॥ 32॥

टीका—किञ्च, साधनदशायां योगी सर्वत्र समः स्यादित्युक्तम्। तत्र मुख्यं साम्यं व्याचष्टे—आत्मौ
दुःखमप्रियम्, तथै
न तु कस्यापि दुःखम्, स योगी श्रेष्ठो ममाभिमतः।। 32।।

भावानुवाद – साधन अवस्था में योगी की सर्वत्र समता रहती है, यह पहले कहा जा चुका है अब उसमें मुख्य साम्यभाव को विशेषरूप से बताया जा रहा है। जिन योगियों का विचार ऐसा है कि जिस प्रकार हमें सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, दूसरों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, इस प्रकार सर्वत्र समभाव से देखते हुए वे योगी सभी के सुख की ही अभिलाषा करते हैं, किसी के दुःख की नहीं। मेरे मत में ऐसे योगी ही श्रेष्ठ हैं॥ 32॥

अर्जुन उवाच–

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ 33॥

मर्मानुवाद – अर्जुन ने कहा – हे मधुसूदन, आप ने जिस योग का उपदेश

दिया है, उसे समबुद्धि के साथ किस प्रकार स्थिर रखा जा सकता है, वह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। विशेषतः शत्रु और मित्र में समबुद्धि केवल दो-चार दिन तो सम्भव हो सकती है, किन्तु हमेशा उसी भाव में भावित होकर योग किस प्रकार सम्भव है, यह समझ पाने में मैं अक्षम हूँ ॥ 33 ॥

अन्वय - अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) मधुसूदन (हे मधुसूदन) त्वया (आपके द्वारा) साम्येन (अपने और दूसरों के दुःख को समान दर्शनरूप) यः अयं योगः (जो योग) प्रोक्तः (कहा गया है) [मनसः] चञ्चलत्वात् (मन की चंचलतावश यह) अहम् (मैं) एतस्य (इस योग की) स्थिरां स्थितिम् (स्थायी स्थिति) न पश्यामि (नहीं देख रहा हूँ) ॥ 33 ॥

टीका—भगवदुक्तलक्षणस्य साम्यस्य दुष्करत्वमालक्ष्योवाच—योऽयमिति। एतस्य साम्येन प्राप्तस्य योगस्य स्थिरां सार्वदिकीं स्थितिं न पश्यामि। एष योगः सर्वदा न तिष्ठति, किन्तु त्रिचतुरदिनान्येवेत्यर्थः। कुतः?—चञ्चलत्वात्। तथा ह्यात्मसुखदुःखसममेव सर्वजगद्वर्त्तिजनानां सुखदुःखे पश्येदिति साम्यमुक्तम्। तत्र ये बन्धवस्तटस्थाश्च तेषु साम्यं भवेदपि, ये रिपवो घातकाः द्वेष्टारो निन्दकाश्च तेषु न सम्भवेदेव। न हि मया स्वस्य युधिष्ठिरस्य दुर्योधनस्य च सुखदुःखे सर्वथा तुल्ये द्रष्टुं शक्यते। यदि च स्वस्य स्वरिपूणाञ्च जीवात्मपरमात्मप्राणेन्द्रियदै
पश्येत्, तदा तत् खलु द्वित्रिदिनान्येव स्यात्, विवेकेनातिप्रबलस्यातिचञ्चलस्य मनसो निग्रहणाशक्यत्वात् प्रत्युत विषयासक्तेन तेन मनसै
ग्रस्यमानत्वदर्शनादिति।। 33।।

भावानुवाद - भगवान् द्वारा कहे गये लक्षणों वाले साम्यभाव को दुष्कर जानकर अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण! मुझे इस प्रकार साम्यप्राप्त योग अधिक दिन तक ठहरने वाला नहीं लगता। दो-चार दिन की बात और है किन्तु हमेशा के लिए असम्भव है। कारण, मन बड़ा चंचल है। अपने सुख-दुःख के समान ही दूसरों के सुख-दुःख को समझने को ही आपने साम्य कहा है। लेकिन मेरा कहना हैं कि अपने मित्रों अथवा तटस्थ व्यक्तियों के प्रति तो साम्यभाव हो भी सकता है, किन्तु शत्रु, घातक, द्वेषी एवं निन्दकों के प्रति ऐसा समभाव असम्भव है। मैं तो अपने, युधिष्ठिर और दुर्योधन के सुख-दुःख को सम्पूर्णरूप से एक समान देखने में असमर्थ हूँ। अर्जुन ने

आगे कहा–हे कृष्ण! आप के कहे अनुसार सभी देहधारी जीवों को विवेक द्वारा एक समान देख भी लिया जाए तो भी वह दो–चार दिनों के लिए ही हो सकता है, क्योंकि विवेक द्वारा अतिप्रबल और चंचल मन को वशीभूत करना सम्भव नहीं है और, तो और विषयासक्त मन ही विवेक को निगल लेता है॥ 33॥

चञ्चलं हि मनःकृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ 34॥

मर्मानुवाद – हे कृष्ण! आपने कहा कि विवेकवती बुद्धि द्वारा चञ्चल मन को नियमित करना चाहिये, किन्तु मैं देख रहा हूँ कि मन में विवेकवती बुद्धि को भी मन्थन करने की ताकत है, इसलिए इस वायु के समान चंचल मन को निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर लग रहा है॥ 34॥

अन्वय – कृष्ण (हे कृष्ण) हि (क्योंकि)मनः (मन) चञ्चलम् (चञ्चल) प्रमाथि (बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों में विक्षेप उत्पन्न करने वाला है) बलवत् (विचार द्वारा भी नियमित न होने वाला) दृढम् (दुराग्रही है) [इसलिए] अहम् (मैं) तस्य (उसको) निग्रहम् (निग्रह करना) वायोः इव (वायु को वश में करने के समान) दुष्करम् (कठिन) मन्ये (समझता हूँ)॥ 34॥

टीका—एतदेवाह—चञ्चलमिति। ननु "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च" इत्यादि श्रुतेः, "प्राहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून्। मन इन्द्रियेशम् वर्त्मानि मात्रा धिषणाञ्च सूतम्" इति स्मृतेश्च बुद्धेर्मनोनियन्तृत्वदर्शनाद्विवेकवत्या बुद्ध्या मनो वशीकर्त्तुं शक्यमेवेति चेदत आह—'प्रमाथि' बुद्धिमपि प्रकर्षेण मथ्नातीति। तत् कुतः? इति चेदत आह—बलवत्। स्वप्रशमकमौ
स्वभावादेव बलिष्ठं मनो विवेकवतीमपि बुद्धिम्। किञ्च, दृढ़मतिसूक्ष्मबुद्धिसूच्यापि लोहमिव सहसा भेत्तुमशक्यम्। वायोरित्याकाशे दोधूयमानस्य वायोर्निग्रहं कुम्भकादिना निरोधमिव योगेनाष्टाङ्गेन मनसोऽपि निरोधं दुष्करं मन्ये।। 34।।

भावानुवाद – इस श्लोक द्वारा चंचल मन की स्थिरता को दुष्कर बताया है। कठोपनिषद् (1/3/3) में कहा गया है – 'आत्मानं रथिनं विद्धि,

शरीरं रथमेव तु' अर्थात् शरीरको रथ और आत्मा को रथी समझो। श्रुति में कहा गया है कि पण्डितगण शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े, मनको इन्द्रियों का ईश अथवा लगाम, शब्द – रूप – रस – स्पर्श – गन्धादि मात्राओं को मार्ग एवं बुद्धिको सारथि कहते हैं। इस श्रुति प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि बुद्धि मन को नियन्त्रित करने वाली है, परन्तु अर्जुन इसका खण्डन करते हुए कहते है कि मतवाला मन बुद्धि का भी भलीभाँति मन्थन कर देता है, यदि कहो कि कैसे? तो कहते हैं – जिस प्रकार बलवान् रोग अपने को शान्त करनेवाली औषधि को कुछ भी नहीं समझता, उसी प्रकार स्वभावतः बलिष्ठ मन विवेकवती बुद्धि को किसी गिनती में नहीं लेता, मन अति दृढ़ है। जैसे कि छोटी सुई के द्वारा लोहे को सहजता से नहीं भेदा जा सकता है, वैसे ही अतिसूक्ष्म बुद्धि भी मन को सहजता से भेद नहीं सकती। यह मन वायु के समान है जिस प्रकार गगन में प्रवाहित वायु को रोकना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार कुम्भक आदि अष्टाङ्गयोग के द्वारा भी मन को वश में करना अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ ॥ 34 ॥

श्रीभगवानुवाच-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ 35॥

मर्मानुवाद – भगवान् ने कहा – हे महाबाहो ! तुमने जो कहा वह सत्य है, किन्तु योगशास्त्र विशेषरूप से यही उपदेश देते हैं कि, दुर्निग्रह चंचल मन को क्रमशः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वशीभूत किया जाता है ॥35॥

अन्वय – श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् ने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो) मनः (मन) दुर्निग्रहम् (कष्ट से वश में होने वाला) चलम् (चंचल है) [इत्यत्र] [इस विषय में] असंशयम् (संन्देह नहीं है) तु (किन्तु) अभ्यासेन (सद्गुरु के द्वारा बताये गये उपाय से परमेश्वर के ध्यानयोग का बार-बार अनुशीलन) वैराग्येण च (और वैराग्य के द्वारा) गृह्यते (वशीभूत होता है) ॥ 35 ॥

टीका—उक्तमर्थमङ्गीकृत्य समादधाति—असंशयमिति। त्वयोक्तं सत्यमेव, किन्तु बलवानपि रोगस्तत्प्रशमकौ
मुहुरभ्यस्तया यथा चिरकालेन शाम्यत्येव, तथा दुर्निग्रहमपि मनोऽभ्यासेन सद्गुरूपदिष्टप्रकारेण परमेश्वरध्यानयोगस्य मुहुरनुशीलनेन वै

विषयेष्वनासङ्गेन च गृह्यते स्वहस्तवशीकर्त्तुं शक्यत इत्यर्थः। तथा च पातञ्जलसूत्रम्– "अभ्यासवै
त्वया यन्महावीरा अपि विजीयन्ते, स च पिनाकपाणिरपि वशीकृतस्तेनापि किम्?—यदि महावीरशिरोमणिर्मनोनामा प्राधानिको भटो महायोगास्त्रप्रयोगेण जेतुं शक्यते, तदै
स्वसुः कुन्त्याः पुत्रे त्वयि मया साहाय्यं विधेयमिति भावः।। 35।।

भावानुवाद - अर्जुन की बात को स्वीकार कर श्रीभगवान् उनके संशय का समाधान करते हुए कहते हैं कि - हे अर्जुन ! तुमने सत्य ही कहा है, किन्तु बलवान् रोग भी अच्छे वैद्य के द्वारा दी गयी औषधि का निर्दिष्टरूप से नियमित सेवन करने पर देर से ही सही, पर समाप्त तो हो ही जाता है। उसी प्रकार सद्गुरु के उपदेशानुसार परमेश्वर के ध्यानयोग का बार-बार नियमित अनुशीलन और वैराग्य से दुर्निग्रह मन को वशीभूत किया जा सकता है। पातञ्जलसूत्र में कहा गया है - 'अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध हो सकता है'। हे महाबाहो! यहां 'महाबाहो' कहने का भाव है कि, युद्ध में तुमने महावीरों को ही पराजित किया है। यहाँ तक कि पिनाकपाणि शिवजी तक को युद्ध कला से प्रसन्न किया है। परन्तु इससे क्या? यदि तुम 'मन' नामक महावीर शिरोमणि को महायोगरूप अस्त्र के प्रयोग से पराजित करोगे, तभी तुम्हारा 'महाबाहु' नाम सार्थक होगा। हे कौन्तेय ! तुम भय मत करो। मेरे बुआ के पुत्र हो, इसलिए तुम्हारी सहायता तो मुझे करनी ही है॥ 35॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ 36॥

मर्मानुवाद - मेरा उपदेश यह है कि जो मन को वैराग्य और अभ्यास के द्वारा संयत करने का प्रयास नहीं करते, उनके लिए उपरोक्त योग कभी भी सम्भव नहीं है, किन्तु जो यथार्थ उपाय से मन को वश में करने का यत्न करते हैं वे अवश्य ही योगसिद्ध हो जाते हैं। यथार्थ उपाय के सम्बन्ध में मात्र इतना कहना है कि जो भगवान् में अर्पित निष्काम कर्मयोग के द्वारा एवं उस योग के अन्तर्गत ध्यानादि के द्वारा नियतचित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं एवं उसके साथ ही साथ शरीरनिर्वाह के लिए वैराग्य के साथ विषय स्वीकार

करते हैं, वे उत्तरोत्तर योग में सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥ 36 ॥

अन्वय – असंयतात्मना (असंयत चित्त पुरुष के द्वारा) योगः (चित्तवृत्ति निरोधरूपी योग) दुष्प्रापः (होना कठिन है) इति (यह) मे (मेरा) मतिः (मत है) तु (किन्तु) यतता (यत्नशील) वश्यात्मना (वशीभूतचित्त वाले पुरुष द्वारा) उपायतः (साधन से) अवाप्तुं शक्यः (प्राप्त किया जा सकता है) ॥ 36 ॥

टीका—अत्रायं परामर्श इत्यत आह—असंयतात्मनाभ्यासवै
संयतं मनो यस्य तेन। ताभ्यां तु वश्यात्मना वशीभूतमनसापि पुंसा यतता चिरं यत्नवतै
शक्यः।। 36।।

भावानुवाद – इस श्लोक में योगप्राप्ति के विषय में भगवान् परामर्श देते हुए कह रहे हैं कि जिन्होंने अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मन को वशीभूत नहीं किया, उनका योग सम्भव नहीं है। किन्तु जिन्होंने अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मन को वश में कर लिया है, वे यदि दीर्घकाल तक पुनः पुनः साधना का अभ्यास करें तो उन्हें योग अर्थात् मन निरोधलक्षणरूपी समाधि प्राप्त हो सकती है ॥ 36 ॥

अर्जुन उवाच–

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ 37 ॥

मर्मानुवाद – इतना श्रवण करने के पश्चात् अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! आपने कहा कि सम्यक् रूप से अभ्यास और वैराग्य से योगसिद्धि होती है किन्तु जो लोग उपदेश के प्रति श्रद्धा करते हुए थोड़ा बहुत योगाभ्यास करते हैं, किन्तु वे यति नहीं बन सके। ऐसे व्यक्तियों का मन यदि अभ्यास और वैराग्य के अभाव में विषय में आसक्त होकर योग से विचलित हो जाये तो उनकी क्या गति होगी? ॥ 37 ॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण) श्रद्धयोपेतः (योगशास्त्र में विश्वासवश योगाभ्यास में लगे) अयतिः (कम यत्नशील पुरुष) योगात् चलितमानसः [अभ्यास और वैराग्य के अभाव में] योग से भ्रष्टचित्त व्यक्ति) योगसंसिद्धिम् (योग का सम्यक् फल) अप्राप्य (न पाकर) कां गतिम् (किस गति को) गच्छति (प्राप्त होते हैं) ॥ 37 ॥

टीका—ननु अभ्यास-वै
त्वयोच्यते। यस्यै
अयतिरल्पयत्नः, अनवर्णाय वागुरितिवदल्पार्थे नञ्। अथ च श्रद्धयोपेतः योगशास्त्रास्तिक्येन तत्र श्रद्धयोपेतो योगाभ्यास प्रवृत्त एव, न तु लोकवञ्चकत्वेन मिथ्याचारः। किन्त्वभ्यास वै
मानसं यस्य सः। अतएव योगस्य संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिमप्राप्येति यत् किञ्चित् सिद्धिन्तु प्राप्त एवेति योगारुरुक्षा-भूमिकातोऽग्रिमां योगारोहभूमिकायाः प्रथमां कक्षां गत इति भावः।। 37।।

भावानुवाद – अर्जुन प्रश्न करता है – हे कृष्ण ! आपने कहा कि अभ्यास, वैराग्य और प्रयत्न कर रहे पुरुष को ही योग प्राप्त होता है, किन्तु जिन पुरुषों में इन तीनों का अभाव हो उनकी क्या गति होगी? मान लीजिए एक व्यक्ति की योगशास्त्र के प्रति आस्तिक बुद्धि हो और वह श्रद्धा से योगाभ्यास में लग जाये, वह मिथ्याचारी भी नहीं है, किन्तु अभ्यास वैराग्य की कमी के कारण उसका मन विचलित हो गया और विषयों में फँस गया। यह ठीक है कि वह योग में पूरी तरह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु थोड़ी बहुत सिद्धि तो प्राप्त करता ही है- ऐसे व्यक्ति के विषय में अर्जुन ने पूछा है कि योगाभ्यास के इच्छुक व्यक्ति की अवस्था से ऊपर उठे योगाभ्यास की प्रथम कक्षा के उस विद्यार्थी की क्या गति होगी?॥ 37॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ 38॥

मर्मानुवाद – सकामकर्म को त्यागे बिना योग नहीं होता। मूढ़ लोगों के लिए तो सकाम कर्म ही शुभकर हैं, क्योंकि सकाम कर्मों से ही इस लोक में सुख और पुण्यों से परलोक स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। इधर योगमार्ग में प्रवेश करने से जीव के सकाम कर्म तो दूर हो गए इसलिए स्वर्गादि तो उसको मिलेंगे नहीं, उधर वैराग्य और अभ्यास के अभाव एवं विषयासक्त होने के कारण योग से विचलित भी हो गया और उसकी सिद्धि भी नहीं हुई, इस प्रकार दोनों मार्गों से भ्रष्ट हुआ आश्रयरहित वह पुरुष कहीं छिन्न-भिन्न बादलों की तरह बिल्कुल नष्ट ही तो नहीं हो जाता?॥ 38॥

अन्वय – महाबाहो (हे महाबाहो) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में)

विमूढः (विमूढ़ हुआ) अप्रतिष्ठः (आश्रय रहित) उभयविभ्रष्टः (कर्ममार्ग और योगमार्ग दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर) छिन्नाभ्रम् इव (छिन्न-भिन्न मेघों के समान) कच्चित्(क्या) [से] (वह पुरुष) न नश्यति (नष्ट तो नहीं हो जाता है) ॥38॥

टीका—कच्चिदिति प्रश्ने उभयविभ्रष्टः। कर्ममार्गाच्युतः योगमार्गञ्च सम्यक् प्राप्त इत्यर्थः। छिन्नाभ्रमिवेति यथा छिन्नमभ्रं मेघः पूर्वस्मादभ्राद्-विश्लिष्टमभ्रान्तरं चाप्राप्तं सत् मध्ये विलीयते। तेनास्य इहलोके योगमार्गेऽप्रवेशाद्विषय-भोगत्यागेच्छा सम्यग्वै
कष्टम्। परलोके च स्वर्गसाधनस्य कर्मणोऽभावात् मोक्षसाधनस्य योगस्याप्यपरिपाकात् न स्वर्गमोक्षावित्युभयलोके एवास्य विनाश इति द्योतितम्। अतो ब्रह्मप्राप्त्युपाये पथि मार्गे विमूढोऽयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठामास्पदमप्राप्तः सन् कच्चित् किं नश्यति न नश्यति वेति त्वं पृच्छ्यसे।। 38।।

भावानुवाद - अर्जुन ने आगे पूछा- हे कृष्ण! - अभ्यास और वैराग्य के अभाव से योग को प्राप्त करने में असमर्थ वह पुरुष क्या कर्ममार्ग और योगमार्ग दोनों से ही भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? जैसे मेघों से अलग हुआ मेघ दूसरें मेघों को भी प्राप्त न कर पाने के कारण, वायु में विलीन हो जाता है, वैसे ही कहीं उस योगी की भी गति तो नहीं होती? योगमार्ग में प्रवेश करने पर उस व्यक्ति में विषयभोगों के त्याग की इच्छा रहती है, परन्तु पूर्ण वैराग्य न होने से उसकी भोगों की इच्छा भी बनी रहती है। कर्मकाण्ड का वह पहले ही त्याग कर चुका होता है इससे परलोक में स्वर्गसुख की उसकी आशा तो समाप्त हो ही जाती है, किन्तु दूसरी ओर इस योग में भी सिद्धि न होने के कारण मोक्ष भी नष्ट हो जाता है, इस प्रकार वह स्वर्ग और मोक्ष दोनों से ही भ्रष्ट तो नहीं हो जाता ? अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि ब्रह्मप्राप्ति के साधन पर चलने वाले विमूढ़ और निराश्रय व्यक्ति का पतन होता है अथवा नहीं?॥38॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ 39॥

मर्मानुवाद – शास्त्रकार सर्वज्ञ नहीं है, किन्तु आप तो परमेश्वर हैं इसलिए सर्वज्ञ हैं। आपको छोड़कर और कोई इस संशय को छेदन करने में समर्थ नहीं होगा। इसलिए कृपापूर्वक मेरे इस संशय का सम्पूर्णरूप से छेदन कीजिए।

अन्वय – कृष्ण (हे कृष्ण) मे (मेरे) एतत् संशयम् (इस संशय को) अशेषतः (पूरी तरह से) छेत्तुम् (छेदन करने में) अर्हसि (आप ही समर्थ हैं) त्वदन्यः (आपके बिना दूसरा) अस्य (इस) संशस्य (संशय का) छेत्ता (छेदन करने वाला) न उपपद्यते (मिलना असम्भव है) ॥ 39 ॥

टीका—एतत् एतम्।। 39।।

भावानुवाद – संशय के लिए प्रयोग हुआ विशेषण 'एतत्' क्लीब लिंग है इसलिए 'एतत्' के स्थान पर एतम् समझना चाहिए॥ 39 ॥

श्रीभगवानुवाच–

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ 40 ॥

मर्मानुवाद – श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! इह काल में या परकाल में कभी भी किसी योग करने वाले का विनाश नहीं होता। कल्याण के इच्छुक योगी की कभी भी दुर्गति नहीं होती। मूल बात यह है कि सम्पूर्ण मानव दो भागों में विभक्त हैं – 'अवैध' और 'वैध'। जो व्यक्ति केवल इन्द्रियतर्पण में ही लगे रहते हैं, किसी विधि को नहीं मानते वे पशुओं की तरह विधिशून्य हैं। सभ्य हो या असभ्य, मूर्ख हो या विद्वान्, दुर्बल हो या बलवान् कोई भी क्यों न हो, अवैध व्यक्ति का आचरण सदैव पशु के समान ही है। उनके कार्यों में किसी प्रकार के कल्याणप्राप्ति की संभावना नहीं रहती।

वैध मनुष्यों को भी 'कर्मी', 'ज्ञानी' और 'भक्त' इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। आगे कर्मियों को भी 'सकामकर्मी' और 'निष्कामकर्मी' दो भागों में विभाजित किया गया है। सकाम कर्मी अत्यन्त क्षुद्र सुख के खोजी अर्थात् अनित्य सुख के अभिलाषी होते हैं। उन्हें स्वर्गादि की प्राप्ति और सांसारिक उन्नति तो प्राप्त होती है, किन्तु ये सब सुख अनित्य हैं, इसलिए जिससे जीवों का वास्तविक 'कल्याण' कहा जाता है, वह उन्हें प्राप्त नहीं होता। जड़ संसार से छुटकारा पाने के पश्चात् नित्यानन्द की प्राप्ति ही जीव का 'कल्याण' है। जिस पर्व में उस नित्यानन्द की प्राप्ति नहीं है, वह पर्व ही निरर्थक है। कर्मकाण्ड में जब उस नित्यानन्द की प्राप्ति का उददे्श्य संयुक्त होता है, तभी कर्म को कर्मयोग कहा जाता है। उसी कर्मयोग के द्वारा क्रमशः

चित्तशुद्धि, ज्ञानप्राप्ति, ध्यानयोग और अन्त में भक्तियोग की प्राप्ति होती है।

सकाम कर्मों में जिन सब आत्मसुखों का परित्याग करके क्लेशों को स्वीकार करने का विधान है, उनके अन्तर्गत कर्मी को 'तपस्वी' कहा जाता है। तपस्या जितनी भी हो परन्तु उसकी पहुँच इन्द्रियसुख तक ही है। असुर व्यक्ति तपस्या के द्वारा फल प्राप्त करके इन्द्रियतर्पण ही करते रहते हैं। इन्द्रियतर्पणरूपी सीमा अतिक्रमण करने पर सहज ही जीवों का कल्याण-उद्देशक कर्मयोग आ उपस्थित होता है। उस कर्मयोग में स्थित ध्यानयोगी या ज्ञानयोगी अधिकतर कल्याणकारी हैं। सकाम कर्मों से जो कुछ भी प्राप्त होता है, अष्टांगयोगी की सभी अवस्थाओं का फल ही उससे अच्छा है॥ 40॥

अन्वय – श्री भगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा) पार्थ (हे पार्थ) तस्य (उस के) इह एव (इस प्राकृत लोक में) विनाश : न विद्यते (स्वर्गादिसुख विनाश नहीं होता) अमुत्र (परलोक अर्थात् अप्राकृत लोक में) विनाशः (परमात्मदर्शनभ्रंशरूपी विनाश) न (नहीं है) तात (हे तात) हि (क्योंकि) कल्याणकृत् (शुभ अनुष्ठान करने वाले की) कश्चित् (कभी भी) दुर्गतिम् (दुर्गति) न गच्छति (नहीं होती)॥ 40॥

टीका—इह लोके अमुत्र परलोकेऽपि कल्याणं कल्याणप्रापकं योग करोतीति सः।। 40।।

भावानुवाद – वे इहलोक और परलोक में भी कल्याण प्रापक योग करते हैं॥ 40॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ 41॥

मर्मानुवाद – जो आष्टांगयोग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं, जैसे अल्पकाल अभ्यस्त योगभ्रष्ट और चिरकाल अभ्यस्त योगभ्रष्ट जो लोग अल्प योगाभ्यास के पश्चात् ही योगभ्रष्ट हो जाते हैं वे सकाम पुण्यकर्म करने वाले लोगों को प्राप्त होने वाले स्वर्गादि लोकों का लम्बे समय तक भोग करने के पश्चात् सदाचारी ब्राह्मणों के घर में या श्रीमान् धनवान् व्यापारियों के घर में जन्म लेते हैं॥ 41॥

अन्वय – योगभ्रष्टः (योग से भ्रष्ट पुरुष) पुण्यकृताम् (पुण्यकर्मियों के)

लोकान् (लोकों को) प्राप्य (प्राप्त करके) शाश्वतीः समाः (बहुवर्ष तक) उषित्वा [वहां पर] (वास कर) शुचीनाम् (सद्धर्म परायण पवित्र) श्रीमताम् (धनियों के) गेहे (गृह में) अभिजायते (जन्म ग्रहण करते हैं)॥ 41॥

टीका—तर्हि कां गतिमसौ
अश्वमेधादियाजिनां लोकानिति योगस्य फलं मोक्षो भोगश्च भवति। तत्रापक्वयोगिनो भोगेच्छायां सत्यां योगभ्रंशे सति भोग एव। परिपक्वयोगिनस्तु भोगेच्छाया असम्भवान्मोक्ष एव। केचित्तु परिपक्वयोगिनोऽपि दै
सत्यां कर्दमसौ
धानिकवणिगादीनां राज्ञां वा।। 41।।

भावानुवाद – अल्पकाल तक अभ्यासरत योगभ्रष्ट व्यक्ति की क्या गति होती है? इस विषय में श्रीभगवान् कहते हैं – वे अश्वमेधादि यज्ञोंको करने वाले पुण्यवान् पुरुषों के लोकों में निवास करते हैं, क्योंकि, भोग और मोक्ष – ये दोनों ही योग के फल हैं। अतः भोग की इच्छा के कारण योगभ्रष्ट हुए अपरिपक्व योगी को भोग ही मिलते हैं, किन्तु परिपक्व योगी के मन में भोग की इच्छा का होना असम्भव है। अतः उन्हें मोक्ष ही प्राप्त होता है। किन्तु दैववश किसी परिपक्व योगी की भोगों की इच्छा होने पर कर्दम, सौभरि आदि ऋषियों के समान उन्हें भोग भी प्राप्त होता है। जो मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते वे अल्प योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादि में विषय भोगने के पश्चात् सदाचारपरायण और धनी लोगों के घर जाकर जन्म लेते हैं॥ 41॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ 42॥

मर्मानुवाद – चिर अभ्यास अर्थात् जो लम्बे अभ्यास के पश्चात् योगभ्रष्ट होते हैं, वे ज्ञानयोगियों के घर में जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सत्कुल में जन्म मिलना दुर्लभतर ही जानो, क्योंकि वहां जन्म लेने से सहज और शुरू से ही उच्च संगवश जीव की अधिक उन्नति सम्भव है॥ 42॥

अन्वय – अथवा (अथवा) योगिनाम् (योगाभ्यास में लगे) धीमताम् एव (योगियों के) कुले (वंश में) भवति (जन्म ग्रहण करते हैं) ईदृशम् (इस प्रकार का) यत् जन्म (जो जन्म है) एतत् हि (इस) लोके (जगत् में) दुर्लभतरम् (अति दुर्लभ है)॥ 42॥

टीका—अल्पकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे गतिरियमुक्त्वा। चिरकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे तु पक्षान्तरमाह—अथवेति। योगिनां निमिप्रभृतीनामित्यर्थः।। 42।।

भावानुवाद - इससे पहले श्लोक में अल्पकाल अभ्यास के उपरान्त योगभ्रष्ट होनेवाले की गति के बारे में कहने के पश्चात् अब इस श्लोक में दीर्घकाल के उपरान्त योगभ्रष्ट होनेवाले की गति बता रहे हैं। निमि महाराज इत्यादि योगिगण इसी श्रेणी में परिगणित होते हैं॥ 42॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ 43॥

मर्मानुवाद - हे कुरुनन्दन! वहां जन्म ग्रहण करके वे पौर्वदेहिक बुद्धि-संयोग प्राप्त करते हैं, इसलिए नैसर्गिक रुचिवश योग की संसिद्धि के लिए पुनः यत्नशील हो जाते हैं॥ 43॥

अन्वय - कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) [वह योगभ्रष्ट पुरुष] तत्र (इन दो प्रकार के जन्मों में) पौर्वदेहिकम् (पूर्वजन्म कृत) तम् (उस) बुद्धिसंयोगम् (परमात्म विषयिणी बुद्धि के साथ संयोग) लभते (प्राप्त करते हैं) ततः च (बाद में) भूयः (दुबारा) संसिद्धौ (परमात्मदर्शनरूप सिद्धि के लिए) यतते (यत्न करते हैं)॥ 43॥

टीका—तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि बुद्ध्या परमात्मनिष्ठया सह संयोगं पौ

भावानुवाद - दोनों प्रकार के ही जन्मों से योगभ्रष्ट योगी पूर्व जन्म की परमात्मनिष्ठायुक्त बुद्धि को प्राप्त करते हैं॥ 43॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ 44॥

मर्मानुवाद - निःसर्गवश पूर्वजन्म में किए अभ्यास के कारण योगशास्त्र के प्रति जिज्ञासु पुरुष भी वेदों में कहे गये सकामकर्म के मार्ग का अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् सकामकर्म के मार्ग में जो फल बताये गये हैं, उनसे श्रेष्ठ फल प्राप्त करते हैं॥ 44॥

अन्वय- सः (वह) अवशः अपि (किसी विघ्न के कारण अनिच्छुक होने पर भी) तेन एव (उसी योग विषयक) पूर्वाभ्यासेन (पहले जन्म में किये

प्रबल अभ्यास के कारण) ह्रियते (आकृष्ट होते हैं) योगस्य (योग के विषय में) जिज्ञासुः (मात्र जिज्ञासु होने पर भी) शब्दब्रह्म (वेदों में कहे कर्ममार्ग का) अतिवर्त्तते (अतिक्रमण कर लेते हैं) ॥ 44 ॥

टीका—ह्रियते आकृष्यते, योगस्य योगं जिज्ञासुरपि भवति। अतः शब्दब्रह्म वेदशास्त्रमतिवर्त्तते वेदोक्तकर्ममार्गमतिक्रम्य वर्त्तते, किन्तु योगमार्ग एव तिष्ठतीत्यर्थः।। 44।।

भावानुवाद – 'ह्रियते' शब्द का अर्थ है – आकर्षित होते हैं। पूर्व जन्म में किये गये योग के प्रभाव से वे योगमार्ग की ओर आकृष्ट होते हैं। योग के प्रति जिज्ञासु होकर, तत्पश्चात् वे शब्दब्रह्म वेद में बताये गए कर्ममार्ग का अतिक्रमण कर के आगे बढ़ जाते हैं, किन्तु योगमार्ग में ही स्थित रहते हैं ॥ 44 ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ 45 ॥

मर्मानुवाद – तब पूरी तरह यत्न के साथ अभ्यास करते–करते योगी का योग परिपक्व होता है एवं सभी प्रकार के मल दूर हो जाते हैं। अनेक जन्मों तक योग अभ्यास करते–करते अन्त में पापरहित होकर योगी परमगतिरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं, यही योगी का अप्राकृत फल है॥ 45 ॥

अन्वय – तु (किन्तु) प्रयत्नात् [पूर्वकृत] (प्रयत्न की अपेक्षा) यतमानः [अधिक] (प्रयत्न करके) संशुद्धकिल्बिषः (सम्पूर्ण पापों से अच्छी प्रकार शुद्धचित्त) योगी (योगी) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करता है) ततः (बाद में) परां गतिम् (स्वपरामात्मदर्शनरूपी मुक्ति) याति (प्राप्त करते हैं) ॥ 45 ॥

टीका—एवं योगभ्रंशे कारणं यत्नशै
इत्युक्तेः। तस्य च यत्नशै
न तु संसिद्धिः। संसिद्धिस्तु यावद्भिर्जन्मभिस्तस्य योगस्य परिपाकः स्यात्, तावद्भिरेवेत्यवसीयते। यस्तु न कदाचिदपि योगे शै
योगभ्रष्टशब्दवाच्यः। किन्तु बहुजन्मविपक्वै
यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्।।" इति कर्द्दमोक्तेः। सोऽपि नै

सिध्यतीत्याह—प्रयत्नाद् यतमानः प्रकृष्टयत्नादपि यत्नवानित्यर्थः। तु–कारः पूर्वोक्ताद् योगभ्रष्टादस्यः भेदं बोधयति। संशुद्धकिल्बिषः सम्यक् परिपक्वकषायः। सोऽपि नै
मोक्षम्।। 45।।

भावानुवाद – योगभ्रष्ट होने का कारण शिथिलता ही है। वैसे योगभ्रष्ट पुरुष को जन्मान्तर के पश्चात् पुनः योगप्राप्ति की ही बात कही गई है, संसिद्धि की नहीं। संसिद्धि तो उसे परिपक्व हो जाने के बाद ही मिलेगी चाहे उसमें जितने भी जन्म लगें। जो व्यक्ति कभी भी योग के प्रयत्न में शिथिलता नहीं आने देता है वह योगभ्रष्ट कहलाने योग्य नहीं है, अपितु अनेक जन्मों के पश्चात् योग में परिपक्व होकर वह सिद्धिलाभ करता है। कर्दम मुनि ने भी कहा है – 'द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ।' (भा: 3/24/28) अर्थात् निर्जन स्थान में भगवान् के पादपद्म के दर्शन के लिए यत्नशील संन्यासी भी एक जन्म में सिद्धि प्राप्त नहीं करते हैं, वे भी प्रकृष्टरूप से यत्न करने के पश्चात्। 'तु' के द्वारा पहले कहे गये योगभ्रष्ट पुरुष से इनका भेद दिखा रहे हैं। 'संशुद्धकिल्बिषः' अर्थात् जिनका परिपूर्णरूप से मन साफ हो गया है वे भी एक जन्म में संसिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं॥ 45॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ 46॥

मर्मानुवाद – उत्तमरूप से विवेचना करके देखो तो परमात्मा की उपासना करने वाला योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मयोगी तीनों से श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बन जाओ॥ 46॥

अन्वय – योगी (परमात्मा की उपासना करने वाला) तपस्विभ्यः (कष्ट साध्य चान्द्रायणादि तपस्या में निष्ठ व्यक्ति की अपेक्षा) अधिक (श्रेष्ठ है) ज्ञानिभ्यः अपि (ब्रह्म की उपासना करने वालों से भी) अधिक (श्रेष्ठ है) योगी (योगी) कर्मिभ्यः च (कर्मी से भी श्रेष्ठ है) तस्मात् (इसलिए) अर्जुन (हे अर्जुन) योगी भव (योगी बन जाओ)॥ 46॥

टीका—कर्मज्ञानतपोयोगवतां मध्ये कः श्रेष्ठ इत्यपेक्षयामाह—तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपोनिष्ठेभ्यो ज्ञानिभ्यो ब्रह्मोपासकेभ्योऽपि योगी परमात्मोपासकोऽधिको मतः इति ममेदमेव मतमिति भावः। यदि

ज्ञानिभ्योऽप्यधिकस्तदा किमुत कर्मिभ्य इत्याह—कर्मिभ्यश्चेति।। 46।।

भावानुवाद – कर्मी, ज्ञानी, तपस्वी और योगी – इनमें से कौन श्रेष्ठ है? इसके उत्तर में कहते हैं – तपस्वी अर्थात् कठोर चान्द्रायाणादि व्रत करने वाले तपोनिष्ठ व्यक्ति से ज्ञानी अर्थात् ब्रह्म के उपासक श्रेष्ठ हैं। ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ परमात्मा की उपासना करने वाले योगी है, यह मेरा मत है । जब योगी ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है, तो कर्मियों की तो बात ही क्या है? इसलिए पीछे से कर्मिभ्यः कहा गया है॥ 46॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।47॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – जितने प्रकार के भी योगी हैं उनमें से भक्तियोगी ही श्रेष्ठ है, जो श्रद्धा के साथ मेरा भजन करता है। वह सभी योगियों से श्रेष्ठ है। वैध मनुष्यों के अन्तर्गत सकाम कर्मी को योगी नहीं कहा जाता। निष्काम कर्म करने वाले, ज्ञानी, अष्टांगयोगी और भक्तियोग करने वाले ये सभी योगी हैं।

वास्तव में योग एक या दो नहीं हैं, योग एक सोपानमय मार्ग विशेष है, इसी मार्ग का सहारा लेकर जीव ब्रह्मपथ पर आरूढ़ होने का प्रयास करते हैं। 'निष्काम कर्मयोग' इस सोपान का प्रथम क्रम है। इसके साथ ज्ञान और वैराग्य संयुक्त हो जाने से ज्ञानयोग होता है जो कि दूसरा क्रम है और उसमें फिर ईश्वरचिन्तनरूपी ध्यान जब और जुड़ जाता है तो इसे आष्टांगयोग कहते हैं। जो कि तीसरा क्रम है। तत्पश्चात् इसमें भगवत् प्रीति जुड़ जाने से भक्तियोग हो जाता है। जो इस योग का चौथा क्रम है। इन सबके मिल जाने पर जो एक महान् सोपान होता है उसी का नाम योग है। उसी योग की जब स्पष्टरूप से व्याख्या की जाती है तो ऊपर कहे गए सभी खण्डयोगों का उल्लेख करना पड़ता है। नित्य कल्याणप्राप्ति ही जिनका उद्देश्य है, वे योग का ही सहारा लेते हैं, किन्तु क्रमशः एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी में जाते समय पहले सीढ़ी के प्रति निष्ठा का परित्याग कर दूसरी सीढ़ी के प्रति ही निष्ठा रखनी होती है। जो किसी एक सोपान में ही रुक जाते हैं उस खण्ड में ही उनकी स्थिति होती है। इसी कारण किसी को कर्मयोगी, किसी को ज्ञानयोगी, किसी को अष्टांगयोगी और किसी को भक्तियोगी कहा जाता है। इसलिए हे पार्थ! मेरी भक्ति करना ही जिनका

चरम उद्देश्य है – वे पिछले तीन प्रकार के योगियों से श्रेष्ठ हैं, इसलिए तुम भक्तियोगी बन जाओ यही इस अध्याय का अर्थ है।

छठे अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त ।

अन्वय – सर्वेषाम् (सब प्रकार के) योगिनाम् अपि (योगियों अर्थात् कर्म ज्ञान–तपस्या–अष्टांगयोग–भक्ति इत्यादि उपायों का अवलम्बन करने वालों में से) यः (जो) श्रद्धावान् (भक्तिनिरूपक शास्त्रों में दृढ़ विश्वास वाला) मद्गतेन (मुझ में आसक्त) अन्तरात्मना (चित्त द्वारा) माम् (मेरी) भजते (श्रवण कीर्तनादि योग द्वारा सेवा करता है) सः (वह भक्त) युक्ततमः (सबसे श्रेष्ठ है) मे मतः (यही मेरा मत है) ॥ 47 ॥

टीका—तर्हि योगिनः सकाशान्नास्त्यधिकः कोऽपीत्यवसीयते ? तत्र मै वाच्यमित्याह—योगिनामिति, पञ्चम्यर्थे षष्ठी निर्द्धारणयोगात्—'तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्योऽधिकः' इति पञ्चम्यर्थक्रमाच्च योगिभ्यः सकाशादपीत्यर्थः। न केवलं योगिभ्य एकविधेभ्यः सकाशात्, अपि तु योगिभ्यः सर्वेभ्यः नानाविधेभ्यो योगारूढेभ्यः संप्रज्ञातसमाध्यसंप्रज्ञातसमाधिमद्भ्योऽपीति। यद्वा योगाः उपायाः कर्मज्ञानतपोयोगभक्त्यादयस्तद्वतां मध्ये यो मां भजेत, मद्भक्तो भवति स युक्ततम उपायवत्तमः। कर्मी तपस्वी ज्ञानी च योगी मतः, अष्टाङ्गयोगी योगितरः, श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिमांस्तु योगितम इत्यर्थः। यदुक्तं श्रीभागवते—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।" इति।। 47।।

अग्रिमाध्यायष्टकं यद्भक्तियोगनिरुपकम्। तस्य सूत्रमयं श्लोको
भक्तकण्ठविभूषणम्।।
प्रथमेन कथासूत्रं गीताशास्त्रशिरोमणिः।
द्वितीयेन तृतीयेन तुर्येणाकामकर्म च।।
ज्ञानञ्च पञ्चमेनोक्तं योगः षष्ठेन कीर्त्तितः।
प्राधान्येन तदप्येतत् षट्कं कर्मनिरुपकम्।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु षष्ठोऽध्यायोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद –अर्जुन ने कहा – क्या आप का ऐसा निर्णय है कि योगी ही सब से श्रेष्ठ है और उससे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। इसके उत्तर में श्री कृष्ण

कहते हैं – नहीं ऐसा नहीं है। 'योगिनाम्' शब्द में जो षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है वह पञ्चमी के अर्थ में हुआ है, पहले श्लोक में जैसे 'तपस्विभ्यो – ज्ञानिभ्योऽधिकः' जैसे पञ्चमी विभक्ति में कहे गये हैं।

'योगिभ्यः' को भी उसी प्रकार समझना चाहिये, अर्थात् योगियों से भी उत्तम है। श्रीभगवान् ने कहा– जितने भी प्रकार के योगी हैं – चाहे वे योगारूढ़ हों, सम्प्रज्ञात समाधि युक्त हों या असम्प्रज्ञात समाधियुक्त हों, मेरे भक्त सब प्रकार के योगियों से श्रेष्ठ हैं।

'योग' का अर्थ है उपाय जैसे कर्म, ज्ञान, तप, योग सभी भगवद् प्राप्ति के उपाय हैं, किन्तु इनमें से भक्तिपूर्वक मेरा भजन करने वाले सब साधकों से उत्तम हैं। कर्मी, तपस्वी, ज्ञानी तीनों योगी हैं। इनमें से अष्टांगयोगी श्रेष्ठ है, किन्तु वे भक्तियोगी से श्रेष्ठ नहीं है। अतः कृष्ण कीर्तनादि भक्ति करने वाला व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ योगी है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है–

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।। (भा. 6/14/5)

हे महामुने! करोड़ों भक्तों और सिद्धों में नारायणपरायण प्रशान्तात्मा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है॥ 47 ॥

अगले आठ अध्यायों में जिस भक्तियोग का निरूपण हुआ है, उसके सूत्र के रूप में यह श्लोक भक्तों के कण्ठ का भूषण है। प्रथम अध्याय में शास्त्रशिरोमणि गीता का कथासूत्र, द्वितीय से चतुर्थ तक (निष्काम) कर्म, पञ्चम में ज्ञान और छठे अध्याय में योग का वर्णन हुआ है। तब भी ये छः अध्याय मुख्यरूप से कर्मनिरूपक हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

छठे अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

छठा अध्याय समाप्त

सातवाँ अध्याय

विज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच–

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥1॥

मर्मानुवाद – हे पार्थ! मैंने पहले छः अध्यायों में अन्तःकरणशोधक निष्कामकर्मयोग की अपेक्षा रखने वाले मोक्षप्रद ज्ञान और योग के विषय में कहा, अब अगले छः अध्यायों में भक्तियोग के विषय में कहने जा रहा हूँ, श्रवण करो। मुझ में आसक्तचित्त होकर मदाश्रययोग का अभ्यास करने से निःसन्देह तुम मेरे से सम्बन्धित सारा ज्ञान प्राप्त कर लोगे। ब्रह्मज्ञानरूपी जो ज्ञान है, वह पूर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह सविशेष ज्ञान नहीं है। जड़ीय विशेष

का परित्याग कर जो एक निर्विशेष चिन्ता प्राप्त की जाती है, उसमें ही निर्विशेष चिन्ता के विषयस्वरूप मेरा निर्विशेष आविर्भावरूप ब्रह्म उदित होता है। वह निर्गुण नहीं है, क्योंकि वह देह आदि से अतिरिक्त सात्त्विक ज्ञानमात्र ही है। भक्ति निर्गुणवृत्तिविशेष है, भक्ति को अवलम्बन करने से ही निर्गुण स्वरूप मैं जीव के निर्गुण नेत्रों से परिलक्षित होता हूँ ॥1 ॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा) पार्थ (हे अर्जुन) मयि (मुझ परमेश्वर में) आसक्तमनाः (आसक्त चित्त) मदाश्रयः (ज्ञान, कर्म आदि के प्रति निष्ठा परित्याग कर मेरा आश्रय लेकर) योगं युञ्जन्, (धीरे–धीरे मेरे साथ संयोग प्राप्त करते हुये) असंशयम् (निःसन्देह) समग्रम्, (सम्पूर्ण विभूतियों एवं परिकरों सहित) माम् (मुझे) यथा (जिस उपाय से) ज्ञास्यसि (जान सकोगे) तत् (उसे) शृणु (सुनो) ॥1 ॥

टीका –

कदा सदानन्द–भुवो महाप्रभोः कृपामृताब्धेश्चरणौ
यथा यथा प्रोज्झितमुक्तितत्पथा, भक्त्यध्वना प्रेमसुधामयामहे।।
सप्तमे भजनीयस्य श्रीकृष्णै
न भजन्ते भजन्ते ये ते चाप्युक्ताश्चतुर्विधाः।।

प्रथमेनाध्यायषट्केनान्तःकरणशुद्ध्यर्थकनिष्ठकामकर्मसापेक्षौ मोक्षफलसाधकौ
कर्मज्ञानादिमिश्र श्रवणान्निष्कामत्व—सकामत्वाभ्यां च सालोक्यादिसाधकः, सर्वमुख्यः कर्मज्ञानादिनिरपेक्ष एव प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणमुक्तिफलसाधकः, तथा "यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवै
मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम" इत्याद्युक्तेर्विनापि साधनान्तरं स्वर्गापवर्गादिनिखिलसाधकश्च परमः स्वतन्त्रः सर्वसुकरोऽपि सर्वदुष्करः श्रीमद्भक्तियोग उच्यते। ननु "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" इति श्रुतेः, ज्ञानं विना केवलया भक्त्यै
विदित्वा साक्षादनुभूय, न तु त्वं–पदार्थमात्मानं नापि प्रकृतिं नापि वस्तुमात्रं विदित्वा मृत्युमत्येति'—इति अस्याः श्रुतेरर्थः। तत्र सितशर्करारसग्रहणे यथा रसनै
भक्तेर्गुणातीतत्वात्तयै

देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानेन सात्त्विकेन। "भक्त्याहमेकया ग्राह्य:" इति भगवदुक्तेरिति, "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:" इत्यत्र सविशेषं प्रतिपादयिष्याम:। ज्ञानयोगयोर्मुक्ति-साधनत्वप्रसिद्धिस्तु तत्रस्थगुणीभूत-भक्तिप्रभावादेव, तया विना तयोरकिञ्चितकरत्वस्य बहुष: श्रवणात्। किञ्च, अस्यां श्रुतौ

ज्ञापिते सति, तस्मादेव परमात्मनो विदितात् क्वचिदविदितापि मोक्ष इत्यर्थो लभ्यते। ततश्च भक्त्युत्थेन निर्गुणेन परमात्मज्ञानेन मोक्ष:। क्वचित्तु भक्त्युत्थं तज्ज्ञानं विनापि केवलेन भक्तिमात्रेण मोक्ष इत्यर्थ: पर्यवस्यति। यथा मत्स्यण्डिकापिण्डाद् रसनादोषेणा-लब्धस्वादादपि भुक्तात् तदेकनाश्यो व्याधिर्नश्यत्येवात्र न सन्देह:। ''मत्स्यण्डिका:फाणिते खण्डविकारते शर्करासिते'' इत्यमर: श्रीमदुद्धवेनाप्युक्तं (श्रीमद्भा. 10/47/59)-"नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्त:" इति। मोक्षधर्मे नारायणीयेऽप्युक्तं—"या वै

विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय:" इति। एकादशेऽप्युक्तं "यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवै

इति। अतएव "यन्नाम सकृत् श्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्" इत्यादौ बहुशो वाक्यै

सर्वेषां मद्‍गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:॥" इति त्वद्‍वाक्येन त्वन्मनस्कत्वे सति त्वज्जनविषयकश्रद्धावत्वमिति त्वया स्वभक्त-विशेषलक्षणमेव कृतमित्यवगम्यते। किन्तु स च कीदृशो भक्तस्त्वदीयज्ञानविज्ञानयोरधिकारी भवतीत्यपेक्षायामाह-मय्यासक्तेति द्वाभ्याम्। यद्यपि "भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चै

यथाश्नत: स्युस्तुष्टि: पुष्टि: क्षुदपायोऽनुघासम्॥" इत्युक्तेर्मद्‍भजनप्रक्रमत एव मदनुभवप्रक्रमोऽपि भवति, तदप्येकग्रासमात्रभोजिनो यथा तुष्टिपुष्टी न स्पष्टे भवत:, किन्तु बहुतरग्रास भोजिन एव। तथै

आसक्तम् आसक्तिभूमिकारूढं मनो यस्य तथाभूत एव त्वं मां ज्ञास्यसि। यथा स्पष्टमनुभविष्यसि, तत् शृणु कीदृशं योगम् मया सह संयोगं युञ्जन् शनै

प्राप्नुवन् मदाश्रय:, मामेव, न तु ज्ञानकर्मादिकमाश्रयमाणोऽनन्यभक्त इत्यर्थ:। अत्र 'असंशयं समग्रम्' इति पदाभ्यां मदीयनिर्विशेषब्रह्मस्वरूपज्ञानं "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते॥"

इत्यग्रिमोक्तेः संशयमेव तथा ज्ञानिनामुपास्यं तद्ब्रह्म परममहतो मम महिमस्वरूपमेव। यदुक्तं मयै
परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यानुगृहीतं मे" इति; अत्रापि "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति। अतो मज्ज्ञानापेक्षया तज्ज्ञानमसमग्रमिति द्योतितम्।।1।।

भावानुवाद- कब मैं सदानन्दनिकेतन कृपामृतसागरस्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभुजी के चरणों में आश्रय प्राप्त करूंगा? एवं मुक्ति भुक्ति एवं उनके साधनों का परित्याग कर भक्तिपथ का अवलम्बन कर प्रेमसुधा का अधिकारी बन पाऊँगा? सप्तम अध्याय में भजनीय श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यों एवं भजनशील और अभजनशील के भेद से चार प्रकार के उपासकों की बात बताई गई है।

प्रथम छः अध्यायों में अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम कर्म की अपेक्षा रखने वाले मोक्षफलदायी ज्ञान और योगके विषयमें कहा गया है। अब अगले छः अध्यायों में कर्मज्ञानादि मिश्रित श्रवण भक्ति से निष्काम और सकाम भाव द्वारा सालोक्य आदि के साधक भक्तियोग तथा सबसे मुख्य कर्म ज्ञानादि अपेक्षारहित प्रेमयुक्त पार्षदत्व लक्षण वाले मुक्तिफल साधक भक्ति योग का वर्णन किया जायेगा। कर्म एवं ज्ञान से मिश्रित श्रवण-कीर्तनादि साधन भक्ति में कर्म का मिश्रण होने से सकामत्व और ज्ञान का मिश्रण होने से निष्कामत्व रहता है। इस प्रकार की कर्मज्ञानमिश्रा साधनभक्ति से सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार के भक्तियोग का वर्णन किया जाएगा। किन्तु जो कर्म-ज्ञानादि के मिश्रण रहित केवल प्रेमभाव प्रधानतायुक्त सर्वश्रेष्ठ है जिससे भगवत पार्षदत्व प्राप्त होता है उस भक्तियोग का भी आगे वर्णन किया जाएगा। श्रीमद्भागवत (11/20/32-33) में कथित है कि- कर्म, तपस्या, ज्ञान और वैराग्य योग, दानादि समस्त शुभकर्मों से जो भी फल प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त भक्तियोग के द्वारा अनायास ही उन समस्त फलों को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें कर्म, ज्ञान वैराग्य योगादि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। वे स्वर्ग, अपवर्ग या वैकुण्ठादि मेरा धाम जो भी चाहते हैं, अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि भक्ति परम स्वतन्त्र और सर्वसुखकर है और अन्यान्य साधनों के न करने पर भी उनके फलों को देने में समर्थ है, किन्तु यह भक्तियोग सब से कठिन है।

श्रुति में कहा गया है कि "परमात्म ज्ञान से मृत्यु को लांघा जा सकता है" (श्वेता: 3/8)। यहाँ संशय होता है कि ज्ञान के बिना केवल भक्ति से मोक्ष की संभावना ही कहाँ रहती है? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ परमात्म ज्ञान से अभिप्राय परमात्मा के साक्षात्कार से है अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। केवल 'त्वम्' पदार्थ अर्थात् जीवात्मा या प्रकृति को या वस्तुमात्र को जानकर नहीं। यही इस श्रुति वाक्य का तात्पर्य है । जिस प्रकार मिश्री -खण्डादि का रस चूसने में रसना ही कारण होती है, आँख कान आदि नहीं, उसी प्रकार केवल परब्रह्म के आस्वादन या साक्षात् अनुभव करने में केवल भक्ति ही कारण है क्योंकि भक्ति निर्गुण है, इसलिए गुणातीत भक्ति के द्वारा ही गुणातीत परब्रह्म का ग्रहण करना या साक्षात्कार करना सम्भव है, देहादि से भिन्न सात्त्विक आत्मज्ञान द्वारा नहीं। भगवान् ने कहा भी है कि 'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य:' अर्थात् मैं ऐकान्तिकी भक्ति द्वारा ही ग्राह्य हूँ (भा: 11/14/21)। "मैं जैसे स्वरूप एवं स्वभाव वाला हूँ उसे जीव एकमात्र भक्ति के द्वारा ही मेरे यथार्थरूप से जान सकता है" (गीता 18/55)। इन वाक्यों से सविशेष का प्रतिपादन करूँगा। ज्ञान और योग मुक्तिप्राप्ति के साधन के रूप में प्रसिद्ध हैं, अर्थात् दोनों मुक्ति देने वाले हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि ज्ञान और योग में स्थित गुणीभूता भक्ति के प्रभाव से ही ऐसा सम्भव हो पाता है। भक्ति के बिना तो ज्ञान और योग कोई भी फल देने में समर्थ नहीं हैं। भक्ति के बिना इन दोनों की हीनता या तुच्छता के बारे में अधिकतर सुना जाता है और दूसरी बात यह है कि उपरोक्त श्रुतिवाक्य में 'विदित्वा' पद के साथ 'एव' कार का प्रयोग नहीं हुआ है अर्थात् ऐसा नहीं कहा गया है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। 'एव' नहीं लगाने से ऐसा अनुमान होता है कि परमात्मा को जान लेने पर या कभी-कभी बिना जाने भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है। लेकिन कहीं-कहीं उसके बिना भी केवल भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा भी अर्थ पर्यवसित होता है। जिस प्रकार पित्तग्रस्त होने से मुख का स्वाद कड़वा हो जाने के कारण जिह्वा मिश्री का आस्वादन नहीं कर सकती है, परन्तु उसी मिश्री के निरन्तर चूसते रहने से पित्तदोष दूर हो जाता है और मिश्री का रसास्वादन भी होने लगता है - इसमें संदेह नहीं है। श्रीउद्धव जी ने कहा है

– ''जिस प्रकार अमृत के स्वरूप को न जानने वाला भी यदि अमृतपान करता है तो उसका भी कल्याण होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूप से अपरिचित व्यक्ति भी यदि सर्वदा उनका भजन करते हैं, तो श्रीकृष्ण उनको भी अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। मोक्षधर्म में भी कहा गया है – ''धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने के लिए जिन साधनों को करना पड़ता है, श्रीनारायण के आश्रित व्यक्ति उन साधनों को किये बिना ही उनके फल प्राप्त कर लेते हैं।'' एकादश स्कन्ध (11/20/33) में भी कहा गया है कि ''कर्म–तपादि से जो कुछ प्राप्त किया जा सकता है, मेरे भक्त मेरी भक्ति द्वारा अनायास ही उन सबको प्राप्त कर लेते है।'' और भी श्रीमद्भागवत (6/16/44) में कहा है – '' जिनका नाम एक बार श्रवण करने मात्र से चाण्डाल भी संसार से मुक्त होता है।'' उपर्युक्त इन वाक्यों से यही प्रतिपादित होता है कि भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। अब प्रकृत प्रकरण में आते हैं। इससे पहले श्लोक में कहा गया था कि '' सभी प्रकार के योगियों में भी जो श्रद्धावान् होकर अन्तरात्मा से मेरा भजन करते हैं, वही सब योगियों से श्रेष्ठ हैं।'' (गीता 6/47) इस भगवद्वाक्य में भगवान् ने अपने श्रद्धावान् भक्त–विशेष के लक्षण ही बतायें हैं, किन्तु किस प्रकार के भक्त उनके ज्ञान और विज्ञान के अधिकारी होते हैं– इसके उत्तर में 'मय्यासक्त' आदि श्लोक कह रहे हैं। श्रीमद्भागवत (11/2/42) में कहा गया है, ''जैसे भोजन करने से भोजन करने वाले को तुष्टि, पुष्टि और भूख शांति, ये तीनों एक साथ प्राप्त होते हैं, वैसे ही भक्ति, भगवान् का अनुभव और विरक्ति एकसाथ संघटित होती हैं।'' लेकिन याद रहे भोजन करने वाले को एक ग्रास मात्र खाने से तुष्टि–पुष्टि आदि का स्पष्ट अनुभव नहीं होता है, अपितु अनेक ग्रास खाने के बाद ही होता है, किन्तु भगवान् का कहना है कि मेरा भजन आरम्भ करने के साथ–साथ ही मेरा अनुभव होता है। इसी प्रकार जिसका मन मेरे पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर स्वरूप के प्रति आसक्त हो जाता है, वही मेरा अनुभव करता है, ऐसा जानो। जिस उपाय से मेरा स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है, उसे श्रवण करो। वह योग कैसा है? जिससे धीरे–धीरे मेरे संयोग को प्राप्त कर भक्त मेरे ही आश्रित हो जाता है फिर वह कर्म, ज्ञान आदि का सहारा नहीं लेता अपितु मेरा अनन्य भक्त बन जाता है।''

श्रीभगवान् ने यहाँ 'असंशयम् ' और 'समग्रम् ' – इन दोनों पदों से अपने निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति में रहने वाले 'संशय' तथा उस स्वरूप की उपलब्धि की असमग्रता को इङ्गित किया है, – जैसे कि आगे चलकर (गीता 12/5) में भगवान् ने निर्विशेष स्वरूप की प्राप्ति में अत्यन्त क्लेशों का वर्णन किया है – ''क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥'' जो 'अव्यक्त' अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में चित्त समाहित करते हैं, उन्हें अधिक कष्ट होता है। और यह भी कहा है कि देहाभिमान के रहते हुए निर्विशेष ब्रह्म में अवस्थित होना कठिन है। जीव अत्यन्त कष्टपूर्वक उस अव्यक्तभाव को प्राप्त होता है और भी, ज्ञानियों का उपास्य ब्रह्म भी मुझ परम महान् का महिमास्वरूप ही है, जैसे कि मैंने मत्स्यावतार में राजा सत्यव्रत के प्रति कहा है – ''मेरे उपदेश से तुम अपने हृदय में परब्रह्म शब्द से प्रकाशित होने वाली मेरी महिमा से भी अवगत हो जाओगे।'' श्रीमद्भागवत (8/24/38) एवं गीता (14/27) में भी कहा गया है – ''मैं ही ब्रह्म का आश्रय हूँ।'' अतएव मेरे श्रीकृष्ण स्वरूप के ज्ञानकी अपेक्षा निर्विशेष ब्रह्मज्ञान असमग्र अर्थात् असम्पूर्ण है॥ 1॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥2॥

मर्मानुवाद – मेरे भक्त मुझ में आसक्त होने से पहले जो मुझ से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह ऐश्वर्यमय होता है इसलिए उसे ज्ञान कहा जाता है। आसक्त होने के पश्चात् का ज्ञान विज्ञान सहित तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ, श्रवण करो। उस ज्ञान को जानने के पश्चात् जगत् में और कुछ तुम्हारे लिए जानने योग्य नहीं रह जायेगा॥2॥

अन्वय – अहम् (मैं) ते (तुमको) सविज्ञानम् (माधुर्य अनुभव सहित) ज्ञानम् (ऐश्वर्यमय ज्ञान की बात) अशेषतः (सम्पूर्ण रूप से) वक्ष्यामि (कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानने के पश्चात्) इह (इस श्रेय मार्ग में) भूयः (दुबारा) अन्यत् (और कुछ) ज्ञातव्यम् (जानना) न अवशिष्यते (शेष नहीं रहता)॥2॥।

टीका—तत्र मद्भक्तेरासक्तिभूमिकातः पूर्वमपि मे ज्ञानमै
तदुत्तरं विज्ञानं माधुर्यानुभवमयं भवेत्। तदुभयमपि त्वं शृण्वित्याह— ज्ञानमिति।

अन्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यत इति मन्निर्विशेषब्रह्मज्ञानविज्ञाने अप्येतदन्तर्भूते एवेत्यर्थः।।2।।

भावानुवाद–मेरी भक्ति में आसक्ति होने से पहले जो मेरा ज्ञान होता है वह ऐश्वर्यमय होता है। तत्पश्चात् विज्ञान या माधुर्य का अनुभव होता है। तुम उन दोनों के बारे में श्रवण करो, ताकि और कुछ भी जानने योग्य शेष न रहे। क्योंकि मेरा निर्विशेष ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञान भी इस विज्ञान में निहित है ॥2॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥3॥

मर्मानुवाद – पहले छः अध्यायों में जिन ज्ञानी एवं योगियों का उल्लेख किया गया है, वे सब चिन्तन के द्वारा सहज ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु चिन्तन से परे जो विलक्षण भगवद् ज्ञान है, वह उनके लिए दुर्लभ है। असंख्य जीवों में से कोई–कोई ही मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। हज़ारों–हज़ारों मनुष्यों में से कोई–कोई ही कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। हजारों–हजारों सिद्धिप्राप्त मनुष्यों में से कोई–कोई मुझे अर्थात् मेरे भगवत् स्वरूप को पूरी तरह जान पाता है ॥3॥

अन्वय – मनुष्याणां सहस्रेषु (हजारों मनुष्यों में से) कश्चित् (कोई मनुष्य) सिद्धये (स्व–परमात्मा दर्शन के लिए) यतति (प्रयास करता है) यतताम् (ऐसे यत्नशील) सिद्धानाम् अपि (परमात्मदर्शी सहस्र व्यक्तियों में से) कश्चित् (कोई ही) माम् (श्याम – सुन्दराकार मुझको) तत्त्वतःवेत्ति (साक्षात् अनुभव करता है)॥3॥

टीका—एतच्च सविज्ञानं मज्ज्ञानं पूर्वमध्यायषट्के प्रोक्तलक्षणै निभिर्योगिभिरपि दुर्लभमिति वदन् प्रथमं विज्ञानमाह—मनुष्याणामिति। असंख्यातानां जीवानां मध्ये कश्चिदेव मनुष्यो भवति। मनुष्याणां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेव श्रेयसि यतते। तादृशानामपि मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदेव मां श्यामसुन्दराकारं तत्त्वतो वेत्ति साक्षादनुभवतीति निर्विशेषब्रह्मानुभवानन्दात् सहस्रगुणाधिकः सविशेषब्रह्मानुभवानन्दः स्यादिति भावः।।3।।

भावानुवाद–विज्ञानसहित मेरे श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी स्वरूप का

ज्ञान पिछले छः अध्यायों में बताये गये लक्षणों वाले ज्ञानियों और योगियों दोनों के लिए दुर्लभ है। ऐसे कहते हुए इस श्लोक द्वारा भगवान् पहले विज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि असंख्य जीवों में से कोई–कोई ही मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। हजारों मनुष्यों में कोई एक कल्याण प्राप्ति के लिए प्रयास करता है और उन हजारों प्रयत्नशील मनुष्यों में कोई एक ही मुझ श्यामसुन्दर को यथार्थ रूप से जान पाता है अर्थात् साक्षात् अनुभव कर पाता है। तात्पर्य यह है कि निर्विशेष ब्रह्मानुभव के आनन्द से सविशेष ब्रह्मानुभव का आनन्द हजारों गुणा अधिक है॥ 3॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 4॥

मर्मानुवाद – भगवान् के स्वरूप एवं ऐश्वर्य सम्बन्धी ज्ञान को ही भगवद् ज्ञान कहते हैं। विश्लेषण यह है कि, मैं सदा स्वरूप–संप्राप्त शक्तिसम्पन्न तत्त्व विशेष हूँ। ब्रह्म तो मेरे शक्तिगत एक निर्विशेष भावमात्र है, उसका कोई स्वरूप नहीं है। सृष्ट जगत् के व्यतिरेक चिन्तन में ही ब्रह्म की साम्बन्धिक अवस्थिति है। परमात्मा भी जगत् में मेरी शक्ति का आविर्भाव विशेष है, फलतः वह भी अनित्य जगत्सम्बन्धी तत्त्व विशेष है उसका भी नित्य स्वरूप नहीं है मेरा भगवत् स्वरूप ही नित्य स्वरूप है। उसमें मेरी दो प्रकार की शक्तियों का परिचय है: बहिरंगा शक्ति या मायाशक्ति। जड़ जगत् की जननी होने के कारण उसे अपराशक्ति भी कहा जाता है। मेरी इस अपरा शक्ति के अन्तर्गत भूमि, जल, अग्नि वायु और आकाश ये पाँच महाभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें, दस तत्त्व हैं। अहंकार तत्त्व में उसकी कार्यभूत तमाम इन्द्रियां और कारणभूत महत् तत्त्व हैं, इन तत्त्वों में प्रधानरूप से अलग–अलग कार्य होने के कारण मन और बुद्धि को अलग रूप से बताया गया है। वास्तविकता में ये एक ही तत्त्व हैं ये सभी मेरी बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत हैं।

अन्वय – भूमिः (पृथ्वी), आपः (जल), अनलः (आग, तेज), वायुः (हवा) खम् (आकाश), मनः (मन), बुद्धिः (बुद्धि), अहंकारः एव च (एवं अहंकार), इति (इस प्रकार) इयं (ये) मे (मेरी), अष्टधा (आठ प्रकार की) भिन्ना (भिन्नताप्राप्त) प्रकृतिः (माया शक्ति है)॥4॥

टीका—अथ भक्तिमते ज्ञानं नाम भगवदै
देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानमेवेति। अतः स्वीयै
प्रकृतिद्वयमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम्। भूम्यादिशब्दै
सूक्ष्मभूतै
तत्कार्यभूतानीन्द्रियाणि; तत्कारणभूत-महत्तत्त्वमपि गृह्यते, बुद्धिमनसोः पृथगुक्तिस्तत्त्वेषु तयोः प्राधान्यात्॥4॥

भावानुवाद-भक्तिसिद्धान्त में 'ज्ञान' शब्द से भगवान् के ऐश्वर्य ज्ञान को ही समझा जाता है, देहादि से रहित आत्मज्ञान को नहीं, अतः अपने ऐश्वर्य ज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् अपनी परा और अपरा नामक दो अलग-अलग शक्तियों को बता रहे हैं। भूमि आदि शब्द से पंचमहाभूत और पांच विषयरूपी सूक्ष्मभूतों को एक साथ समझना चाहिये। अहंकार शब्द से उनकी कार्यभूत इन्द्रियां और उनके कारणभूत महत् तत्त्व को समझना चाहिये। बुद्धि और मनका पृथक् कथन तत्त्वों में इन दोनों की प्रधानता के कारण ही किया गया हैं। यहां पंचमहाभूत, पांच विषय, पांच कर्म इन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार और महत् तत्त्व ये कुल 24 तत्त्व माया या बहिरंगा शक्ति के अंतर्गत हैं, यह भगवान् की अपरा शक्ति है॥4॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥5॥

मर्मानुवाद - इसके अतिरिक्त मेरी एक 'तटस्था-शक्ति' है जिसे 'पराशक्ति' कहा जाता है। वह मेरी शक्ति चेतनस्वरूपा एवं जीवभूता है। उसी शक्ति से निःसृत तमाम जीवों ने इस जड़ जगत् को चैतन्य विशिष्ट बना रखा है। मेरी अंतरंगा-शक्ति से निःसृत चिन्मय लोक और बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न जड़ जगत् इन दोनों जगत् के लिए उपयोगी होने के कारण जीव शक्ति को तटस्था शक्ति कहा जाता है।

अन्वय - महाबाहो (हे महाबाहो) इयम् (यह बहिरंगा नाम की शक्ति) अपरा (निकृष्टा है) इतः (इससे) अन्याम् (अलग) जीवभूताम् (जीव स्वरूप) मे (मेरी) प्रकृतिम् (तटस्था शक्ति को) पराम् (उत्कृष्टा) विद्धि (जानना) यया (जिस चेतन शक्ति के द्वारा) इदं जगत् (यह जगत्) धार्यते (अपने कर्मों द्वारा भोगने के लिए ग्रहण किया जाता है)।

टीका—इयं प्रकृतिर्बहिरङ्गाख्या शक्तिरपरानुत्कृष्टा जडत्वात्। इतोऽन्यां प्रकृतिं तटस्थां शक्तिं जीवभूतां परामुत्कृष्टां विद्धि चै
हेतुः—यया चेतनया इदं जगत् चेतनं धार्यते स्वभोगार्थं गृह्यते।।5।।

भावानुवाद-पहले कही गई 'बहिरंगा शक्ति' जड़ होने के कारण अपरा अर्थात् निकृष्टा है। इससे अलग जीवरूपा तटस्था शक्ति है, जो कि चेतन होने के कारण पर या श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठ इसलिए है कि यह चेतना के द्वारा इस जगत् को धारण करती है अर्थात् अपने भोगों के लिए इस जगत् को ग्रहण करती है ॥5॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥6॥

मर्मानुवाद -चित् -अचित् सम्पूर्ण जड़ और जीव जगत् इन दोनों शक्तियों से ही निःसृत हैं इसलिए भगवत् स्वरूप मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ॥6॥

अन्वय - सर्वाणि भूतानि (स्थावर-जंगम सभी प्राणी) एतद्योनीनि (इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपी दोनों शक्तियों से ही उत्पन्न हैं) इति (ऐसा) उपधारय (जानना) अहम् (मैं) सर्वस्य जगतः (सारे जगत् का) प्रभवः (सृष्टि करने वाला) तथा प्रलय : (और संहार करने वाला हूँ) ॥6॥

टीका—एतच्छक्तिद्वयद्वारै
मायाशक्ति-जीवशक्तिक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूपे योनी कारणभूते येषां तानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि जानीहि। अतः कृत्स्नस्य सर्वस्यास्य जगतः प्रभवो मच्छक्तिद्वयप्रभूतत्वात् अहमेव स्त्रष्टा, प्रलयतच्छक्तिमति मय्येव प्रलीनभावित्वादहमेवास्य संहर्त्ता।।6।।

भावानुवाद-इन दोनों शक्तियों के द्वारा श्रीभगवान् स्वयं को जगत् का कारण होने की बात कह रहे हैं। मायाशक्ति और जीवशक्ति दोनों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप में स्थावर - जंगमात्मक सम्पूर्ण भूतों की योनि अर्थात् कारण स्वरूपा हैं और इन दोनों पर मेरा प्रभुत्व होने के कारण मैं सारे जगत् की सृष्टि करने वाला हूँ और मैं ही प्रलय करने वाला हूँ। प्रलय में यह जगत् मुझ शक्तिमान् में ही लीन हो जाता है ॥6॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥7 ॥

मर्मानुवाद – हे धनञ्जय! मेरे से श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है। धागे में जिस प्रकार मणियां गुंथी रहती हैं उसी प्रकार यह सारा विश्व ओतप्रोत रूप से मेरे ही आश्रित हैं ॥7 ॥

अन्वय – धनञ्जय (हे धनञ्जय) मत्तः (मुझ से) परतरम् (श्रेष्ठ) अन्यत् (और) किञ्चित् (कुछ भी) न अस्ति (नहीं है) सूत्रे मणिगणा इव (धागे में गुँथी मणियों की तरह) इदं सर्वम् (यह सारा जगत्) मयि (मुझ में) प्रोतम् (ग्रथित है) ॥7 ॥

टीका–यस्मादेवं तस्मादहमेव सर्वमित्याह—मत्तः परतरमन्यत् किञ्चिदपि नास्ति कार्य-कारणयोरै
श्रुतिः–"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किञ्चन" इति । एवं स्वस्य सर्वात्मकत्वमुक्त्वा सर्वान्तर्यामित्वञ्चाह—मयीति । सर्वमिदं चिज्जडात्मकं जगत् मत्कार्यत्वात् मदात्मकमपि पुनर्मय्यन्तर्यामिनि प्रोतं ग्रथितं यथा सूत्रे मणिगणाः प्रोताः। मधुसूदन-सरस्वतीपादास्तु सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु ग्रथितत्वमात्रे, न तु कारणत्वे, कनके कुण्डलादिवदिति तु योग्यो दृष्टान्तः इत्याहुः। ।7 । ।

भावानुवाद–श्री भगवान् ने कहा – कार्य एवं कारण में अभिन्नता होती है और शक्ति भी शक्तिमान् से अभिन्न होती है। क्योंकि मेरी शक्तियां इस जगत् का कारण हैं इसलिए मैं ही सब का कारण हूँ। छान्दोग्योपनिषद् (6/2/1) में कहते हैं कि इस विश्व की सृष्टि से पहले केवल एक अद्वितीय सत् वस्तु थी और बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4/19) में कहा गया है 'एकमात्र अद्वय ब्रह्म के बिना नानारूप कुछ भी नहीं है', इस प्रकार पहले अपने सर्वात्मकत्व के विषय में कहकर पुनः 'मयि' इत्यादि से सर्वान्तर्यामित्व का वर्णन कर रहें है। 'सर्वमिदम्' अर्थात् चित्त और जड़ जगत् मेरे कार्य हैं इसलिए वे मदात्मक हैं और मुझ अन्तर्यामी में उसी प्रकार पिरोए हुए हैं, जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोई रहती हैं। श्रीमधुसूधन सरस्वती पाद ने लिखा है – 'सूत्रे मणिगणा इव' – इस दृष्टान्त से मात्र जगत् का भगवान् में ग्रथित होना सिद्ध होता है। भगवान् जगत् के कारण हैं यह सिद्ध नहीं होता है। 'कुण्डल का कारण सोना है'– यह दृष्टान्त कारणत्व को सिद्ध करने के

लिए उपयुक्त है॥ 7॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥8॥

मर्मानुवाद – हे कौन्तेय! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ, वेदों का प्रणव हूँ, आकाश का शब्द तथा मनुष्यों का पौरुष हूँ॥8॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कौन्तेय) अहम् (मैं) अप्सु (जल में) रसः (रस) शशिसूर्ययोः (चंद्र और सूर्य में) प्रभा अस्मि (मैं प्रभारूप) सर्ववेदेषु (समस्त वेदों में) प्रणव (उसका मूल ॐ कार हूँ) खे (आकाश में) शब्द (शब्द तन्मात्रा हूँ) नृषु (मनुष्यों में) पौरुषम् (उद्यम हूँ)॥8॥

टीका—स्वकार्ये जगत्यत्र यथाहमन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टो वर्त्ते, तथा क्वचित् कारणरूपेण क्वचित् कार्येषु मनुष्यादिषु साररूपेणाप्यहं वर्त्ते इत्याह— रसोऽहमिति चतुर्भिः। अप्सु रसस्तत् कारणभूतो मद्विभूतिरित्यर्थः। एवं सर्वत्राग्रेऽपि प्रभारूपः प्रणवः "ॐ कारः" सर्ववेदकारणम्। खे आकाशे शब्दस्तत्कारणं नृषु पौ

भावानुवाद–अपने कार्यरूप इस जगत् में मैं जिस प्रकार अन्तर्यामिरूप में प्रविष्ट होकर निवास करता हूँ, उसी प्रकार कहीं कारण रूप से और कहीं कार्यों में अर्थात् मनुष्यादियों में साररूप से मैं ही विद्यमान रहता हूँ, इसलिए श्रीभगवान् 'रसोऽहम्' इत्यादि कह रहे हैं। 'अप्सु' अर्थात् जल में जल का कारण–भूत रस मेरी विभूति है। उसी प्रकार प्रभा सूर्य, चन्द्रमा एवं ॐ जो कि सभी वेदों का कारण स्वरूप है, वह भी मैं ही हूँ। 'खम्' अर्थात्, आकाश में शब्द का कारण तथा पुरुषों में उद्गम विशेष जो मनुष्य का सार है – वह भी मैं ही हूँ॥8॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥9॥

मर्मानुवाद – मैं पृथ्वी की पुण्य गन्ध, सूर्य का तेज, सब प्राणियों का जीवन और तपस्वियों का तप हूँ॥9॥

अन्वय – पृथिव्याम् (पृथ्वी में) पुण्यः गन्धः (विकार रहित गन्धः)

विभावसौ (अग्नि में) तेजः अस्मि (मैं उष्मा हूँ) सर्वभूतेषु (सब भूतों में) जीवनम् (आयु) तपस्विषु (और तपस्वियों में) तपः अस्मि (द्वन्द्वसहन रूपी तप हूँ) ॥ 9 ॥

टीका—"पुण्योऽविकृतो गन्धः पुण्यस्तु चार्वपि" इत्यमरः। च-कारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः। तेजः सर्ववस्तुपाचनप्रकाशनशीतत्राणादि-सामर्थ्यरूपः सारः; जीवनमायुरेव सारः, तपो द्वन्द्वसहनादिकमेव सारः।।9।।

भावानुवाद–अमरकोष के अनुसार 'पुण्य' शब्द का अर्थ है – विकारहीन गन्ध एवं 'चारु' का अर्थ है सुगन्ध। 'च' कार से रस आदि में भी पुण्य शब्द का समुच्चय है अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओं का पाचन, पाक, प्रकाशन, शीत से त्राणादि सामर्थ्यरूप सार और जीवन अर्थात् – आयुरूपी सार मैं ही हूँ। तप का अर्थ है सर्दी – गर्मी, मान – अपमान सभी द्वन्द्वों को सहने की जो शक्ति है उस का सार भी मैं ही हूँ ॥9॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥10॥

मर्मानुवाद – हे पार्थ ! मैं सब भूतों का सनातन बीज, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज हूँ ॥10॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) माम् (मुझे) सर्वभूतानाम् (सब भूतों का) सनातनम् (नित्य) बीजम् (प्रधान कारण के रूप में) विद्धि (जानना) अहम् (मैं) बुद्धिमताम् (बुद्धिमानों की) बुद्धिः (बुद्धि) तेजस्विनाम् (एवं तेजस्वियों का) तेजः (तेज हूँ) ॥10॥

टीका—बीजमविकृतं कारणं प्रधानाख्यमित्यर्थः। सनातनं नित्यं बुद्धिमतां बुद्धिरेव सारः।।10।।

भावानुवाद—'बीज' का अर्थ है 'प्रधान' कहा जाने वाला विकार रहित कारण। 'सनातन' का अर्थ है – नित्य। बुद्धिमानों का सार उनकी बुद्धि, वह भी मैं ही हूँ ॥10॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥11॥

मर्मानुवाद – हे भरतर्षभ ! मैं बलवान् व्यक्ति का क्रोध आकांक्षा और

तृष्णा रहित बल हूँ और धर्मशास्त्रों के अनुकूल सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त काम हूँ ॥11॥

अन्वय - भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ) अहम् (मैं) बलवताम् (बलवानों का) कामरागविवर्जितम् (स्वजीविका आदि की अभिलाषा और आवश्यकता से अधिक तृष्णारहित) बलम् (सात्त्विक स्वधर्म अनुष्ठान करने की सामर्थ्य हूँ) भूतेषु (प्राणियों में) धर्माविरुद्धः (धर्मपत्नी से मात्र सन्तान उत्पन्न उपयोगी) कामः अस्मि (कामरूप में अवस्थित हूँ) ॥11॥

टीका—कामः स्वजीविकाद्यभिलाषः, रागः क्रोधस्तद्विवर्जितम्, न तद्द्वयोत्थमित्यर्थः। धर्माविरुद्धः स्वभार्यायां पुत्रोत्पत्तिमात्रोपयोगी।।11।।

भावानुवाद- जीविका आदि की अभिलाषा को 'काम' कहते हैं। 'राग' का अर्थ है–क्रोध। इन दोनों से उत्पन्न क्रिया यहाँ ग्रहणीय नहीं हैं। 'धर्माविरुद्ध' का अर्थ है- अपनी पत्नी से पुत्रादि उत्पत्तिमात्र के उपयोगी काम ॥11॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥12॥

मर्मानुवाद - सात्त्विक, राजसिक और तामसिक जितने प्रकार के भाव हैं, वे सभी मेरी प्रकृति के गुण कार्य हैं। मैं उन सब गुणों के अधीन नहीं हूँ, अपितु वे सब मेरी शक्ति के अधीन हैं॥12॥

अन्वय - ये च एव (और जो सभी) सात्त्विकाः (सात्त्विक) राजसाः (राजस) तामसाः (और तामस) भावाः (पदार्थ हैं) तान् सर्वान् (वे सभी) मत्त एव (मेरे से ही) जात (उत्पन्न हैं) इति (ये) विद्धि (जानना) तेषु तु (किन्तु उन सब में) अहं न [वर्त्ते] (मैं नहीं हूँ) ते (वे सभी) मयि (मेरे अधीन) [वर्त्तन्ते] [वर्तमान हैं] ॥12॥

टीका—एवं वस्तुकारणभूता वस्तुसारभूताश्च राक्षसाद्याश्च विभूतयः काश्चिदुक्ताः, किन्त्वलमतिविस्तरेण। मदधीनं वस्तुमात्रमेव मद्विभूतिरित्याह—ये चै

तामसाः शोकमोहादयो राक्षसाद्याश्च, तान् मत्त एवेति मदीयप्रकृतिगुणकार्यत्वात्। तेष्वहं न वर्त्ते, जीववत्तदधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः। ते तु मयि मदधीनाः सन्त

एव वर्त्तन्ते।।12।।

भावानुवाद–श्रीभगवान् ने कहा इस प्रकार वस्तु के कारणभूत, सारभूत एवं राक्षासादि कुछ मेरी विभूतियां बताई गई हैं और अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता है? क्योंकि वस्तुमात्र ही मेरे अधीन है एवं मेरी ही विभूति है। शम–दम आदि तथा देव आदि सात्त्विक, हर्ष – दर्प आदि एवं असुरादि राजसिक तथा शोक – मोहादि और राक्षसादि तामसिक भाव हैं इन्हें मुझ से ही उत्पन्न जानो, क्योंकि वे मेरी प्रकृति के गुण – कार्य हैं, किन्तु मैं उन सब में नहीं हूँ अर्थात् जीवों की भांति मैं उनके अधीन नहीं होता हूँ, अपितु वे मेरे ही अधीन होकर विद्यमान हैं ॥12॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥13॥

मर्मानुवाद – मेरी अपरा शक्ति के सत्त्व, रजः और तमः ये तीन गुण हैं इन तीनों गुणों से ही सारा जगत् मोहित है, इसीलिए इन गुणों से अतीत मुझ अविनाशी को लोग नहीं जान पाते हैं ॥13॥

अन्वय – एभिः (इन) त्रिभिः (तीन) गुणमयैः (गुणमय) भावैः (भावों से) मोहितम् (मोहित है) इदं सर्वं जगत् (यह सारा जीव जगत्) एभ्यः परम् (इन सारे भावों से श्रेष्ठ अर्थात् निर्गुण) अव्ययम् (निर्विकार) माम् (मुझे) न अभिजानाति (लोग जान नहीं पाते हैं) ॥13॥

टीका—नन्वेवम्भूतं त्वां परमेश्वरं कथमयं जनो न जानातीत्यत आह—त्रिभिरिति। गुणमयै
स्वाभावीभूतै
निर्विकारम्।।13।।

भावानुवाद– यदि कोई कहे, बड़ी हैरानी की बात है कि इस प्रकार महान् परमेश्वर को कोई नहीं जानता? तो इसके उत्तर में तीन श्लोक भगवान् ने कहे हैं। त्रिगुणों से उत्पन्न शम – दम, हर्ष – शोक, राग –द्वेषादि भावों द्वारा स्वभाववश वशीभूत जगत् के तमाम जीव मोहित हो रहे हैं, इसलिए वे गुणातीत अथवा गुणों से निर्विकार मुझ को नहीं जान पाते हैं ॥13॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥14॥

मर्मानुवाद - यह माया मेरी ही शक्ति है, इसलिए दुर्बल जीव के लिए इसे पार कर पाना स्वभावतः ही बड़ा कठिन है। जो मेरे भगवत् स्वरूप में शरणागत होना स्वीकार कर लेते हैं, वे ही इस माया समुद्र से पार हो सकते हैं ॥14॥

अन्वय - एषा (यह) गुणमयी (त्रिगुणमयी) दैवी (देव अर्थात् जीव विमोहिनी) मम (मेरी) माया (बहिरंगाशक्ति) दुरत्यया (दुस्तर है) ये (जो) माम् एव (मात्र मेरे ही) प्रपद्यन्ते (शरणागत हो जाते हैं) ते (वे) एताम् (इस) मायाम् (माया को) तरन्ति (पार कर जाते हैं) ॥14॥

टीका—ननु तर्हि त्रिगुणमयमोहात् कथमुत्तीर्णा भवन्ति? तत्राह—'दै विषयानन्देन दीव्यन्तीति देवा जीवास्तदीयास्तेषां मोहयित्रीत्यर्थः। गुणमयी श्लेषेण त्रिवेष्टनमहापाशरूपा। मम परमेश्वरस्य माया बहिरङ्गाशक्तिर्दुरत्यया दुरतिक्रमा। पाशपक्षे, छेत्तुम् उद्ग्रन्थयितुं वा केनाऽप्यशक्येत्यर्थः। किन्तु, मद्वाचि विश्वसिहि इति स्ववक्षः स्पृष्ट्वाह—मां श्यामसुन्दराकारमेव।।14।।

भावानुवाद-किस तरह इस त्रिगुणमय मोह से उत्तीर्ण हुआ जा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं- 'दैवी' अर्थात् इस मायाको दैवी कहते हैं। यह विषयानन्द में डूबे हुए जो देव अर्थात् जीव हैं, को मोह में डालने वाली है। यह माया त्रिगुणमयी है।'गुणमयी' - इसे तीन वेष्टनों वाली महापाशस्वरूपा बताया गया है। मुझ परमेश्वर की इस बहिरंगा शक्ति का पार पाना अत्यन्त दुस्तर है या यूँ कह सकते हैं कि कोई भी इसके चंगुल से छूटने में समर्थ नहीं है। भगवान् अपने वक्षःस्थल को स्पर्श कर अपनी बात पर विश्वास दिलवाते हुए कह रहे हैं कि 'माम्' अर्थात् मुझ श्याम सुन्दर के अनन्य शरणागत होने पर ही इससे पार पाया जा सकता है ॥14॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥15॥

मर्मानुवाद - आसुरभाव का आश्रय करते हुए, दुष्कृतिशाली, मूढ़ नराधम और जिनका ज्ञान माया से ढक गया है, ये चार प्रकार के व्यक्ति मेरी शरणागति स्वीकार नहीं करते हैं ॥15॥

(1) अत्यन्त अवैध अर्थात् शास्त्र की विधियों को न मान कर जीवन जीने वाले लोग ही दुष्कृतिशाली कहे जाते हैं।

(2) जो लोग नीति को तो मानते हैं परन्तु ईश्वर को नहीं मानते वही मूढ़ कहे गये हैं, क्योंकि वे नीति का अधीश्वर, जो मैं हूँ, मेरा आश्रय नहीं लेते हैं।

(3) जो मुझे नीति का अंग तो मानते हैं, किन्तु नीति के ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करते, वही नराधम हैं।

(4) जो शिव ब्रह्मादि की उपासना करते हैं किन्तु मेरे शक्तिमत्स्वरूप को, जीव के नित्यचित् स्वरूप को, इस जड़ जगत् के साथ अपने नाशवान् सम्बन्ध के विषय में एवं मेरे नित्यदास के रूप में अपने वास्तविक सम्बन्ध को नहीं जानते, वेदान्त शास्त्र इत्यादि का पाठ करने पर भी उनका ज्ञान माया के द्वारा आवृत ही रहता है ॥15॥

अन्वय - मूढाः (कर्मी व्यक्ति) नराधमाः (भक्ति का आश्रय लेकर बाद में इसे अनुपयोगी समझ कर इसका परित्याग करने वाले नराधम व्यक्ति) मायया (शास्त्र ज्ञान होने पर भी माया के द्वारा) अपहृतज्ञानाः (जिनके ज्ञान पर पर्दा पड़ गया है अर्थात् जो नारायण स्वरूप को तो भजनीय मानते हैं, किन्तु कृष्ण राम आदि को साधारण मनुष्य समझते हैं ऐसे) आसुरभावम् आश्रिताः (एवं जरासन्ध आदि की तरह कुतर्क रूपी बाणों से मेरे विग्रह का खण्डन करने वाले मायावादी) दुष्कृतिनः (ये चार प्रकार के दुष्कृति शाली अर्थात् कुपंडित) माम् (मेरे) न प्रपद्यन्ते (शरणागत नहीं होते हैं) ॥15॥

टीका—ननु तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते? तत्र ये पण्डितास्ते मां प्रपद्यन्त एव; पण्डितमानिन एव न मां प्रपद्यन्ते इत्याह—न मामिति। दुष्कृतिनः दुष्टाश्च ते कृतिनः पण्डिताश्चेति ते कुपण्डिता इत्यर्थः। ते च चतुर्विधाः—एके मूढ़ाः पशुतुल्याः कर्मिणः; यदुक्तं-"नूनं दै
चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥" इति, "मुकुन्दं को वै अपरे नराधमाः कञ्चित् कालं
भक्तिमत्त्वेन प्राप्तनरत्वाः अप्यन्ते फलप्राप्तौ
मत्वास्वेच्छयै
भावः।अपरे शास्त्राध्यापनादिमत्त्वेऽपि माययापहृतं ज्ञानं येषां ते।

वै
कृष्णरामादिमूर्तिः मानुषीति मन्यमाना इत्यर्थः, यद्वक्ष्यते—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्" इति। ते खलु मां प्रपद्यमाना अपि न मां प्रपद्यन्ते इति भावः। अपरे आसुरं भावमाश्रिताः। असुराः जरासन्धादयः मद्विग्रहं लक्ष्यीकृत्य शरै
खण्डयन्त्येव, न तु प्रपद्यन्त इत्यर्थः।।15।।

भावानुवाद–अर्जुन ने पूछा–प्रभो! फिर जो पण्डितजन हैं , वे आपका आश्रय क्यों नहीं लेते? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि – जो वास्तव में पंडित हैं वे तो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु जो पंडित हैं तो नहीं, लेकिन अपने आप को पंडित होने का अभिमान करते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते। वे दुष्ट हैं, पण्डित तो हैं पर कुपण्डित हैं। ऐसे कुपण्डित चार प्रकार के होते हैं।

(1) मूर्ख– जो पशु समान विषयों में लगे रहते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत (3/32/19) में कहा गया है– विष्ठाभोजी कूकर–सूकर को क्षीरखण्ड देने पर भी वे उसे न खा कर केवल विष्ठा ही खाते हैं। उसी प्रकार विष्ठाभोजी जीवों के समान जो मनुष्य हरिकथामृत को छोड़ कर निन्दित विषय वार्ताओं को सुनते हैं वे भाग्य के मारे हैं। जो भगवान् की सेवा न करें, वे पशु के अतिरिक्त और हो भी क्या सकते हैं? (2) नराधम – जो कुछ समय तक भक्ति का पालन करके मनुष्यत्व को प्राप्त करने पर भी ऐसा सोचकर कि फल प्राप्ति में साधन भक्ति का कुछ प्रयोजन नहीं है। स्वेच्छापूर्वक भक्ति का परित्याग करने वाले वे नराधम हैं। (3) माया अपहृत ज्ञानी लोग शास्त्रादि का अध्ययन करने पर भी जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है। वे समझते हैं कि वैकुण्ठ में विराजित श्रीनारायणस्वरूप में ही सर्वकालिक भक्ति प्राप्त हो सकती है, श्रीराम–कृष्णादि स्वरूपों में नहीं, क्योंकि वे मानुषी मूर्तियाँ हैं। जैसा कि श्री भगवान् ने कहा है। ''मूढ़ व्यक्ति मुझ मनुष्य शरीरधारी की अवज्ञा करते हैं,'' (गीता 9/11)इसलिए मेरे शरणागत होने पर भी वस्तुतः मेरे शरणागत नहीं हैं। (4) असुरभावाश्रित वे लोग जो असुर स्वभाव वाले होते हैं। जैसे जरासन्ध आदि वे मेरे श्रीविग्रह को निशाना बनाकर बाणों से विद्ध करते हैं। इस प्रकार असुरभावाश्रित लोग वैकुण्ठस्थित

मेरे श्रीविग्रह को भी मूर्त्तरूप में दृष्टिगोचर होने के कारण कुतर्कों द्वारा उसका खण्डन ही करते हैं, मेरे शरणागत नहीं होते हैं ॥15 ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥16 ॥

मर्मानुवाद – दुष्कृतिशाली व्यक्तियों के लिए मेरा भजन प्रायः अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उनकी क्रमोन्नति-प्रथा नहीं है। ऐसे लोगों में से कभी ही किसी को मेरी आकस्मिकी प्रथा द्वारा मेरे भजन की प्राप्ति हुई है। विधि पूर्वक जीवन यापन करने वाले सुकृतिशाली व्यक्तियों में चार प्रकार के लोग मेरा भजन करने के योग्य हैं। जो सकाम कर्मी हैं, वे क्लेशों से दुःखी होकर मेरा स्मरण करते हैं, वही आर्त हैं। दुष्कर्म करने वाले व्यक्ति भी दुःखी होकर कभी-कभी मेरा स्मरण करते हैं। पहले कहे गये मूढ़ नीतिवादी लोग तत्त्व जिज्ञासाक्रम से जब ईश्वर की प्रयोजनीयता का अनुभव करते हैं, तब जिज्ञास्यरूप में क्रमशः मेरा स्मरण करते हैं। ऊपर कहे गये नराधम लोग नीतिगत ईश्वर से संतुष्ट न होकर जब नीति के अधीश्वर मुझे जान पाते हैं, तब वे वैधभक्त बनकर अर्थार्थी रूप से मेरा भजन करते हैं। जब ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान को अधूरा जान कर जीव मेरे शुद्ध भगवद् ज्ञान का सहारा लेते हैं तब उनके ज्ञान के ऊपर जो माया का पर्दा पड़ा होता है, वह उठ जाता है और वे अपने आप को मेरा नित्यदास समझ कर मेरी शरण ग्रहण करते हैं। फलतः आर्त अर्थात् दुःखी व्यक्तियों के हृदय से काम रूपी मल, जिज्ञासुओं के सामान्य नैतिक ज्ञानबद्धतारूपी मल, अर्थ चाहने वालों के हृदय से सामान्य स्वर्गादि कामना रूपी मल और ज्ञानमार्गी व्यक्तियों के हृदय से जब ब्रह्म में लय होने एवं भगवान् के स्वरूप में अनित्यता की भावनारूपी मल निकल जाता है और चित्त साफ हो जाता है तभी ये चारों प्रकार के जीव मेरी भक्ति के अधिकारी हो पाते हैं। जब तक यह मल रहता है तब तक इन सब व्यक्तियों की भक्ति प्रधानीभूता भक्ति कहलाती है, जब कि मल साफ हो जाने पर ये केवला अकिञ्चना, या उत्तमा भक्ति प्राप्त करते हैं ॥16 ॥

अन्वय – भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ) अर्जुन (हे अर्जुन) आर्तः (रोगादि से पीड़ित) जिज्ञासुः (आत्मज्ञान या शास्त्रज्ञान का इच्छुक) अर्थार्थी (भोगों की इच्छा रखने वाला) ज्ञानी च (और विशुद्ध अन्तःकरण वाला संन्यासी)

चतुर्विधाः (ये चार प्रकार के व्यक्ति) सुकृतिनः (वर्णाश्रम धर्मरूपी पुण्य कर्म करते हुए) मां भजन्ते (मेरा भजन करते हैं ये कर्ममिश्र और ज्ञानमिश्र भक्त हैं) ॥16॥

टीका—तर्हि के त्वां भजन्त इत्यत आह—चतुर्विधा इति। सुकृतं वर्णाश्रमाचारलक्षणो धर्मस्तद्वन्तः सन्तो मां भजन्ते; तत्र आर्तो रोगाद्यापद्-ग्रस्तस्तन्निवृत्तिकामः,'जिज्ञासुः' आत्मज्ञानार्थी व्याकरणादिशास्त्रज्ञानार्थी वा, अर्थार्थी क्षितिगजतुरगकामिनीकनकाद्यै
सकामा गृहस्थाः, ज्ञानी विशुद्धान्तःकरणः संन्यासीति चतुर्थोऽयं निष्कामः, इत्येते प्रधानीभूतभक्त्यधिकारिणश्चत्वारो निरूपिताः। तत्रादिमेषु त्रिषु कर्ममिश्रा भक्तिः, अन्तिमे चतुर्थे ज्ञानमिश्रा, "सर्वद्वाराणि संयम्य" इत्यग्रिमग्रन्थे योगमिश्रापि वक्ष्यते। ज्ञानकर्माद्यमिश्रा केवला भक्तिर्या, सा तु सप्तमाध्यायारम्भे एव "मय्यासक्तमनाः पार्थ" इत्यनेन उक्ता। पुनश्चाष्टमेऽप्यध्याये "अनन्यचेताः सततम्" इत्यनेन, नवमे "महात्मानस्तु मां पार्थ" इति श्लोकद्वयेन "अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्" इत्यनेन च निरूपयितव्येति। 'प्रधानीभूता' 'केवला' इति द्विविधै
भक्तिः कर्मिणि, ज्ञानिनि, योगिनि च कर्मादिफलसिद्ध्यर्था दृश्यते, तस्याः प्रधान्याभावात् न भक्तित्वव्यपदेशः किन्तु तत्र तत्र कर्मादीनामेव प्राधान्यात्। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन कर्मत्व-ज्ञानत्व-योगत्व-व्यपदेशः, तद्वतामपि कर्मित्वज्ञानित्वयोगित्वव्यपदेशः, न तु भक्तत्वव्यपदेशः। फलञ्च सकामकर्मणः स्वर्गः निष्कामकर्मणो ज्ञानयोगो ज्ञानयोगयोर्निर्वाणमोक्ष इति। अथ द्विधाया भक्तेः फलमुच्यते, तत्र प्रधानीभूतासु भक्तिषु मध्ये आर्त्तादिषु त्रिषु याः कर्ममिश्रास्तिस्रः सकामा भक्त्यः तासां फलं तत्तत्कामप्राप्तिः, विषयसाद्गुण्यात् तदन्ते सुखै
कर्मफलस्वर्गभोगान्त इव पातः, यद्वक्ष्यते,-''यान्ति मद्याजिनो माम्'' इति। चतुर्थ्या ज्ञानमिश्रायास्तत उत्कृष्टायास्तु फलं शान्तरतिः सनकादिष्विव। भक्तभगवत्कारुण्याधिक्यवशात् कस्याश्चित् तस्याः फलं प्रेमोत्कर्षश्च श्रीशुकादिष्विव। कर्ममिश्रा भक्तिर्यदि निष्कामा स्यात् तदा तस्याः फलं ज्ञानमिश्रा भक्तिः, तस्याः फलमुक्तमेव। क्वचिच्च स्वभावादेव दासादिभक्तसङ्गोत्थ- वासना-वशाद्वा ज्ञानकर्मादिमिश्रभक्तिमतामपि

दास्यादिप्रेमा स्यात्, किन्तु ऐ
शुद्धाया अन्याकिञ्चनोत्तमा दिपर्याया: भक्तेर्बहुप्रभेदाया दास्यसख्यादिप्रेमवत् पार्षदत्वमेव फलमित्यादिकं श्रीभागवतटीकायां बहुश: प्रतिपादितम्। अत्रापि प्रसङ्गवशात् साध्या भक्तिविवेक: संक्षिप्य दर्शित:।।16।।

भावानुवाद–तब किस प्रकार के लोग आपका भजन करतें है। इसके उत्तर में भगवान् बोले हे अर्जुन! वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वाले चार प्रकार के लोग मेरा भजन करते हैं। 'आर्त्त' अर्थात् रोगादि से ग्रस्त पुरुष रोग से छुटकारा पाने की कामना से मेरा भजन करते हैं। जिज्ञासु अर्थात् जो आत्मज्ञान के इच्छुक या व्याकरणादि शास्त्र के माध्यम से शास्त्रज्ञान के इच्छुक पुरुष मेरा भजन करते हैं। तीसरे अर्थार्थी अर्थात्, पृथ्वी, हाथी, अश्व, स्त्री, कान्चनादि ऐहिक और पारलौकिक भोगों को प्राप्त करने की इच्छा से मेरा भजन करते हैं। चौथे 'ज्ञानी' अर्थात् विशुद्ध अन्त:करणवाले मेरा भजन करते हैं। उपर्युक्त प्रथम तीन प्रकार के लोग सकाम गृहस्थ तथा चौथे प्रकार के लोग निष्काम संन्यासी हैं। इन चार प्रकार के लोगों को प्रधानीभूता भक्ति के अधिकारी के रूप में निरूपित किया गया है। इनमें से प्रथम तीन प्रकार के व्यक्ति कर्ममिश्रा भक्ति तथा चौथे प्रकार के व्यक्ति ज्ञानमिश्रा भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। 'सर्वद्वाराणि संयम्य' (गीता 8/12) इस परवर्ती वाक्य में योगमिश्रा भक्ति के विषय में भी कहा जाएगा, किन्तु कर्म, ज्ञानादि से रहित केवला भक्ति को इसी अध्याय के प्रथम श्लोक में बताया जा चुका है। आगे श्लोक 'अनन्यचेता: सततम्' (गीता 8/14)और 'महात्मानस्तु मां पार्थ' (गीता 9/13) एवं 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (गीता 9/22) श्लोकों में भी केवला भक्ति का निरूपण किया जाएगा। श्रीभगवान् ने सातवें से बारहवें अध्याय तक प्रधानीभूता और केवला इन दोनों प्रकार की भक्ति के विषय में ही बताया है। जो तृतीया गुणीभूता भक्ति है वह कर्मी, ज्ञानी और योगी में कर्मादि फलप्राप्ति के उद्देश्य से ही देखने को मिलती है, किन्तु उसमें कर्मादि की ही प्रधानता रहती है, भक्तिकी प्रधानता नहीं, इसलिए उसे भक्ति नहीं कहा जा सकता, 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् प्रधानता होने से ही नामकरण होता है – इस न्यायोक्ति के अनुसार देखा जाए तो वहां कर्मवान् का कर्मित्व के रूप में, ज्ञानवान् का ज्ञानित्व के

रूप में, योगवान् का योगित्व के रूप में ही परिचय दिया गया है, वहां भक्तित्व का परिचय नहीं है। सकाम कर्म का फल 'स्वर्ग' है, निष्काम कर्म का फल 'ज्ञान' है, तथा ज्ञान और योगका फल 'निर्वाण' या मोक्ष है। तत्पश्चात् दो प्रकार की भक्ति का फल बताया जा रहा है। – इनमें से प्रधानीभूता भक्ति में आर्त आदि तीन प्रकार के भक्त हैं जोकि कर्ममिश्रा भक्ति करने वाले सकाम भक्त हैं, तथा उनकी वाञ्छित कामनाओं की पूर्ति ही इस भक्ति की पूर्णता है। विषय के सद्गुण के कारण अन्त में उन्हें सुख-ऐश्वर्यप्रधान सालोक्यादि मोक्ष की प्राप्ति होती है, कर्मी के स्वर्गभोग के उपरान्त होने वाले पतन की भांति उनका पतन नहीं होता है। जैसा कि आगे कहा जाएगा (गीता 9/25) मेरी भक्ति करने वाले मुझे ही प्राप्त होते हैं। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' । चौथी ज्ञानमिश्रा भक्ति का फल कर्ममिश्रा से श्रेष्ठ है। उन्हें सनकादि की भांति शान्त रति प्राप्त होती है। भक्त तथा भगवान् की विशेष करुणा के कारण इस भक्ति का उत्कृष्ट फल प्रेमोत्कर्ष है, जो शुकदेव गोस्वामी जी में दिखता है। कर्ममिश्रा भक्ति यदि निष्काम हो तो उसका फल ज्ञानमिश्रा भक्ति है । कभी-कभी ज्ञान-कर्ममिश्रित भक्तिमान् को स्वभाववश या दासादि भक्तों के संग से उत्पन्न वासनावश दास्यादि प्रेम हो जाता है, किन्तु होता वह ऐश्वर्यप्रधान ही है। ज्ञान-कर्मादि से रहित शुद्धा, अनन्या, अकिञ्चना, उत्तमादि पर्यायों वाली तथा बहुत से प्रभेदोंवाली भक्ति का फल दास्य, सख्यादि प्रिय पार्षदत्व ही होता है । यह श्रीमद्भागवत की टीका में कई स्थलों पर प्रतिपादित हुआ है । प्रसंगवश इस टीका में भी साध्य भक्ति का विचार संक्षेप में प्रदर्शित हुआ है ॥16॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥17॥

मर्मानुवाद – मलरहित हो जाने पर आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भी मेरे परायण हो कर भक्त हो जाते हैं। किन्तु इन में से ज्ञानी व्यक्ति ज्ञानरूपी मल का परित्याग करके शुद्ध ज्ञान प्राप्त करते हुए भक्तियोग युक्त हो जाने के कारण अन्य तीनों से श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वभावतः ज्ञान का अभ्यास करते-करते चैतन्य स्वरूप जीव को अपने स्वरूप का जितना विशुद्ध ज्ञान होता हैं, कर्मियों को कर्मरूपी मल साफ होने

पर भी उन्हें उतना विशुद्ध स्वरूप ज्ञान नहीं होता।

भक्तों के संग से धीरे-धीरे अन्त में सबको ही वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। साधन अवस्था में उपर्युक्त चार प्रकार के अधिकारियों में से एक मात्र एकभक्ति विशिष्ट ज्ञानी ही मेरा विशुद्ध दास है एवं मैं भी उनका अत्यन्त प्रिय हूँ। श्रीशुकदेव इत्यादि के हृदय में भगवद् ज्ञान का प्रकट होना ही इसका उदाहरण है। शुद्ध ज्ञान प्राप्त भक्तों की साधनकालीन भगवान् की दास्यता विशुद्ध चिन्मय है, क्योंकि संसार की गन्ध भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकती ॥17 ॥

अन्वय - तेषाम् (उनमें से) नित्ययुक्तः (मुझ में एकाग्रचित्त) एकभक्तिः (एकमात्र भक्ति ही जिनकी मुख्य है) ज्ञानी (ऐसा ज्ञानी) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) अहम् (श्याम सुन्दर आकार मैं) ज्ञानिनः (ऐसे ज्ञानियों का) अत्यर्थम् (अत्यन्त) प्रियः (प्रिय हूँ) स च (वे भी) मम प्रियः (मेरे प्रिय हैं) ॥17 ॥

टीका—चतुर्णां भक्त्यधिकारिणां मध्ये कः श्रेष्ठः इत्यपेक्षायामाह—तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठः। 'नित्ययुक्तः नित्यं मयि युज्यते इति सः। ज्ञानाभ्यासवशीकृत-चित्तत्वान्मनस्यै
नै
तत्राह—एका मुख्या प्रधानीभूता भक्तिरेव, न तु अन्येषां ज्ञानिनामिव ज्ञानमेव प्रधानीभूतं यस्य सः, यद्वा; एका भक्तिरेव तथै
नाममात्रेणै
श्यामसुन्दराकारोऽत्यर्थमतिशयेन प्रियः साधनसाध्यदशयोः परिहातुमशक्यः। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति न्यायेन ममापि स प्रियः।।17।।

भावानुवाद-इन चार प्रकार के भक्ति अधिकारियों में कौन सा श्रेष्ठ है? इसके उत्तर में कहते हैं -उन में से ज्ञानी ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि ज्ञानाभ्यास द्वारा वशीभूत चित्त वाले नित्य मेरे मनन में ही लगे रहते हैं ,इसलिए वे मुझे प्रिय हैं, अन्य तीन प्रकार के भक्त मुझे उतने प्रिय नहीं हैं। अर्जुन ने पूछा - तब क्या सभी ज्ञानी ज्ञान विफल होने के भय से ही आपका भजन करते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं - एकाभक्ति अर्थात् जिनमें केवल भक्ति प्रधान है, वे ज्ञानी प्रिय हैं, दूसरे जो ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं, वे मुझे प्रिय नहीं हैं, अथवा भक्ति में ही आसक्ति वाले वे नाम मात्र के ज्ञानी ही मुझे प्रिय हैं। इस

प्रकार के ज्ञानी का मैं श्यामसुन्दर ही अत्यन्त प्रिय हूँ। साधन साध्यदशा में किसी प्रकार भी मैं उनको त्याग नहीं सकता। क्योंकि जो जिस प्रकार मुझे भजता है, मैं भी उसी प्रकार उसे ग्रहण करता हूँ॥17॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥18॥

मर्मानुवाद – केवला भक्ति स्वीकार करने के कारण उपर्युक्त चार प्रकार के अधिकारी, परम प्रिय हो जाते हैं, किन्तु स्वात्मनिष्ठता प्रबल होने के कारण ज्ञानी सर्वोत्तम गति, मुझ में अवस्थित होते हैं – वे मेरे अति प्रिय हैं और वे मुझे अत्यन्त वशीभूत कर लेते हैं॥18॥

अन्वय – एते (वे) सर्व एव (सभी) उदाराः (प्रिय हैं) ज्ञानी तु (किन्तु ज्ञानी मेरा) आत्मा एव (आत्म स्वरूप अर्थात् अत्यन्त प्रिय) इति (यह) मे (मेरा) मतम् (मत है) हि (क्योंकि) सः (वह ज्ञानी) युक्तात्मा (मुझमें चित्त देकर) माम् एव (श्यामसुन्दर स्वरूप मुझे ही) अनुत्तमाम् (सर्वोत्तम) गति (प्राप्त करने योग्य) आस्थितः (मानता है)॥18॥

टीका—तर्हि किमार्त्ताद्यास्त्रयस्तव न प्रियास्तत्र न हि, न हीत्याह—उदारा इति। ये मां भजन्ते, मत्तः किञ्चित् कामितं मयापि दित्सितं गृह्णन्ति, ते भक्तवत्सलाय मह्यं बहुप्रदायिनः प्रिया ऐवेति भावः। ज्ञानी त्वात्मै
भजन्नथ च मत्तः किमपि स्वर्गापवर्गादिकं नाकाङ्क्षते इति; अतस्तदधीनस्य मम स आत्मै
गतिं प्राप्य आस्थितः निश्चतवान्; न तु मम निर्विशेषस्वरूपब्रह्मनिर्वाणमिति भावः। एवञ्च निष्काम- प्रधानीभूतभक्तिमान् ज्ञानी भक्तवत्सलेन भगवता स्वात्मत्वेनाभिमन्यते; केवलभक्तिमाननन्यस्तु आत्मनोऽप्याधिक्येन। यदुक्तम् —"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीनै
ुभिर्विना" इति, "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" इत्यादि।।18।।

भावानुवाद–तो क्या आर्त्तादि तीन प्रकारके भक्त आपको प्रिय नहीं हैं? इसके उत्तर में कहते हैं- नहीं–नहीं ऐसी बात नहीं है। जो मेरा भजन करते हैं, मुझसे कुछ कामना रखते हैं तथा मेरी दी हुई वस्तु ग्रहण करते हैं, वे मुझ भक्तवत्सल को बहुत कुछ देने वाले और मेरे प्रिय हैं, किन्तु 'ज्ञानी आत्मैव',

ज्ञानी मुझे आत्मवत् प्रिय है। क्योंकि वे मेरा भजन करके भी मुझसे स्वर्ग-मोक्षादि किसी की भी आशा नहीं करते, इसलिए मैं उनके अधीन रहता हूँ, ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वे निश्चयवान् होते हैं कि मैं श्यामसुन्दर ही सर्वोत्तम गति हूँ इसलिए वे मेरे निर्विशेष स्वरूप ब्रह्मनिर्वाण का आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं। इस प्रकार निष्काम प्रधानीभूत भक्तिमान् ज्ञानी को भक्तवत्सल मैं अपनी आत्मा मानता हूँ, किन्तु अनन्य अर्थात् केवल भक्तिमान् पुरुष तो मुझे अपने आप से भी अधिक प्रिय हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भगवान् ने उद्धव से कहा है -"हे उद्धव! मेरा पुत्र ब्रह्मा, शंकर, संकर्षण लक्ष्मीदेवी यहां तक कि अपनी आत्मा भी मुझे इतनी प्रिय नहीं है जैसे तुम मुझे प्रिय हो", और भी कहा है 'अपने भक्त साधु के अतिरिक्त मैं आत्मानन्द की भी अभिलाषा नहीं करता हूँ,' (भा: 9/4/64)" ॥18॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥19॥

मर्मानुवाद - जीव अनेक जन्म साधन करने के पश्चात् ज्ञान प्राप्त करते हैं अर्थात् चैतन्यनिष्ठ होते हैं, चैतन्यनिष्ठ होते समय पहले कुछ परिमाण में वे जड़-त्यागकालीन अद्वैत-भाव का अवलम्बन करते हैं, तब जड़ीय-विशेष के प्रति घृणायुक्त विशेषधर्म के प्रति उदासीन होते हैं। चैतन्य धर्म में थोड़ी सी पकड़ होते ही चैतन्य का जो विशुद्ध विशेष धर्म है उसका ज्ञान होने पर उसमें अनुरक्त हो जाते हैं और परम चैतन्यरूप मेरी शरणागति ग्रहण करते हैं। उस समय वे ऐसा समझते हैं कि जड़जगत् स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि चैतन्य वस्तु का एक हेय प्रतिबिम्बमात्र है, इसमें भी वासुदेव-सम्बन्ध है, इसलिए सब वासुदेवमय हैं, इस प्रकार जिनकी भगवान् में शरणागति है, वे महात्मा दुर्लभ हैं।

अन्वय - सर्वम् वासुदेवः (सर्वत्र वासुदेव अर्थात् सब वासुदेव के अधीन है) इति (इस प्रकार) ज्ञानवान् (ज्ञानी) बहूनां जन्मनाम्, (बहुत जन्मों के) अन्ते (पश्चात्) मां प्रपद्यते (मेरी शरण ग्रहण करते हैं) सः महात्मा (वह महात्मा भी) सुदुर्लभः (बहुत दुर्लभ है) ॥19॥

टीका—ननु मामेवानुत्तमां गतिमास्थित इति ब्रूवे अतः स ज्ञानिभक्तस्त्वामेव प्राप्नोति, किन्तु कियतः समयादनन्तरं स ज्ञानी

भक्त्यधिकारी भवतीत्यत आह—बहूनामिति। वासुदेवः सर्वमिति—सर्वत्र वासुदेवदर्शी ज्ञानवान् बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते। तादृश—साधुर्यादृच्छिकसङ्गवशात् मत्प्रपत्तिं प्राप्नोति; स च ज्ञानी भक्तो महात्मा सुस्थिरचित्तःसुदुर्लभः—"मनुष्याणां सहस्रेषु" इति मदुक्तेः। ऐ किमुतेति; स तु अति सुदुर्लभ एवेति भावः।।19।।

भावानुवाद-अर्जुन ने पूछा – हे कृष्ण! आपने कहा कि वे ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम गति के रूप में मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं इसलिए मुझे ही प्राप्त करते हैं। किन्तु ऐसे ज्ञानी कितने समय के पश्चात् भक्ति के अधिकारी हो पाते हैं, इसके उत्तर में कहते हैं–'बहुत जन्मों के पश्चात्'। 'वासुदेवः सर्वम्' सर्वत्र वासुदेव का दर्शन करने वाले ज्ञानी बहुत जन्मों के पश्चात् मेरे शरणागत होते हैं। ऐसे ज्ञानी भक्तों को जैसे भक्तों का संग मिलता है उसी के अनुसार मेरे शरणागत होते हैं। हजारों – हजारों मनुष्यों में से कोई एक ही सुस्थिर चित्त ज्ञानी भक्त होता है। ऐकान्तिक भक्त की तो क्या कहूँ, वह तो बहुत ही दुर्लभ है ॥19 ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥20 ॥

मर्मानुवाद – हृदय से कामना रूपी मल साफ हो जाने पर आर्त्त, जिज्ञासु भोगी और ज्ञानी चारों मेरी भक्ति करते हैं। जब तक उनका कामरूपी मल दूर नहीं होता वे स्वाभाविक ही बर्हिमुख रहते हैं। सकामी होने पर भी जो मेरे स्वरूप का आश्रय लेते हैं, वे बर्हिमुखता को अपने अन्दर प्रवेश नहीं करने देते। मैं बहुत कम समय के अन्दर ही उनके काम को दूर कर देता हूँ, किन्तु जो मुझ से बहिर्मुख हैं और काम के द्वारा हतबुद्धि हैं, वे पुरुष छोटी–छोटी नाशवान् वस्तुओं की प्राप्ति के लिए और–और देवताओं की उपासना करते हैं। वे विशुद्ध सत्त्वरूप मुझसे प्रेम नहीं करते, इसलिए वे अपने–अपने तामसिक, और राजसिक स्वभाव के द्वारा प्रेरित होकर क्षुद्र–क्षुद्र नियमों का पालन करते हुए उसके अनुरूप देवताओं की उपासना करते हैं ॥20 ॥

अन्वय – तैः तैः (दुःखों के नाश से सम्बन्धित उन–उन) कामैः (कामनाओं द्वारा) हृतज्ञानाः (नष्टबुद्धि व्यक्ति) तं तम् (उन–उन) नियमम्

(नियमों को) आस्थाय (अवलम्बन कर) स्वया प्रकृत्या (अपने स्वभाव द्वारा) नियताः (वशीभूत होकर) अन्यदेवताः (अन्य देवताओं का) प्रपद्यन्ते (भजन करते हैं) ॥20॥

टीका—ननु आर्त्तादयः सकामा अपि भगवन्तं त्वां भजन्तः कृतार्था इव इत्यवगतम्, ये तु आर्त्तादयः आर्त्तिहानादिकामनया देवतान्तरं भजन्ते, तेषां का गतिरित्यपेक्षायामाह—कामै
सूर्यादयस्तथा न विष्णुरिति नष्टबुद्धयः। प्रकृत्येति स्वया प्रकृत्या नियताः वशीकृताः सन्तस्तेषां दुष्टा प्रकृतिरेव मत्प्रपत्तौ

भावानुवाद-अर्जुन ने पूछा-आर्त्त आदि सकाम व्यक्ति भी आपका भजन कर कृतार्थ से हो जाते हैं, इसे मैंने समझ लिया, किन्तु जो आर्त्तादि व्यक्ति अपने दुःख - कष्टों को दूर करने के लिए अन्य देवताओं का भजन करते हैं, उनकी क्या गति होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं-जो ऐसा समझते हैं कि सूर्यादि देवता रोगादि का शीघ्र निवारण करते हैं, किन्तु विष्णु भगवान् ऐसा नहीं करते हैं - वे 'हतज्ञानाः' अर्थात् भ्रष्टबुद्धिवाले हैं। वे अपने स्वभाव के वशीभूत होते हैं। उनका दुष्ट स्वभाव ही उन्हें मेरी शरणागति से विमुख रखता है ॥20॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 21॥

मर्मानुवाद - जो श्रद्धा के साथ जिस देवता की पूजा करने की इच्छा करता है, अन्तर्यामी स्वरूप मैं, उसकी उसी देवता में श्रद्धा पक्की कर देता हूँ ॥21॥

अन्वय - यः यः (जो जो) भक्तः (भक्त) यां यां तनुम् (जिस-2 देवता की) श्रद्धया (श्रद्धा के साथ)अचिर्तुम् (पूजा करने की) इच्छति (इच्छा करता है) अहम् (मैं) तस्य तस्य (उस उस भक्त की) श्रद्धाम् (श्रद्धा को) ताम् एव (उस-उस देवता में) अचलाम् (दृढ़) विदधामि (कर देता हूँ) ॥21॥

टीका—ते ते देवाः पूजां प्राप्य प्रसन्नास्तेषां स्वस्वपूजकानां हितार्थं त्वद्भक्तौ श्रद्धामुत्पादयिष्यन्तीति मा वादीर्यतस्ते देवाः स्वभक्तावपि श्रद्धामुत्पादयितुमशक्ताः किं पुनर्मद्भक्ताावित्याह—यो य इति। यां यां तनुं सूर्यादिदेवरूपां मदीयां मूर्त्ति विभूतिुम् अर्चितुं पूजयितुम् , तामेव तत्तद्देवताविषयामेव, न तु स्वविषया,

श्रद्धामहमन्तर्याम्येव विदधामि, न तु सा सा देवता। ।21। ।

भावानुवाद–यदि कहो कि वे देवता अपनी पूजा से प्रसन्न होकर अपने – अपने पूजकों के मंगल के लिए उनके मन में क्या आपकी भक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं तो भगवान् इसके उत्तर में कह रहे हैं– नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि वे देवता अपनी भक्ति में भी श्रद्धा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं, फिर मेरी भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न करने में समर्थ कैसे हो सकते हैं? जिस–जिस सूर्य आदि मेरी विभूति की वे पूजा करना चाहते हैं, मैं अन्तर्यामी ही उस–उस देवता में उनकी श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ। किन्तु अपने विषय में श्रद्धा को मैं विधान नहीं करता, न ही वे देवता मेरी श्रद्धा विधान करते हैं॥ 21॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥22॥

मर्मानुवाद – वे श्रद्धापूर्वक उस देवता की आराधना करते हुए उन देवताओं से मेरे द्वारा विहित फल प्राप्त करते हैं॥22॥

अन्वय – सः (वह भक्त) तया श्रद्धया (उस श्रद्धा से) युक्तः (युक्त होकर) तस्याः (उस देवता की) आराधनम् (आराधना) ईहते (करता है) ततः च (एवं उस देवता से) मया एव (उन देवताओं के अन्तर्यामी रूप से विराजित मेरे द्वारा) विहितान् (विहित) तान् कामान् (उन उन इच्छित फलों को) लभते (प्राप्त करता है)॥22॥

टीका—ईहते करोति स तत्तद्देवताराधनात् कामान् आराधनफलानि लभते। न च ते ते कामा अपि तै
विहितान् पूर्णीकृतान्। ।22। ।

भावानुवाद–'ईहते' का अर्थ है – करता है । वे उन–उन देवताओं की आराधना करके उनसे अपनी–अपनी आराधनाओं का फल प्राप्त करते हैं, किन्तु वे देवता तो फल प्रदान करने में भी समर्थ नहीं हैं। इसलिए कहते हैं,'– 'मयैव विहितान्'– वस्तुतः वे फल मेरे द्वारा ही दिये जाते हैं॥22॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥23॥

मर्मानुवाद - अल्पबुद्धि वाले भक्तों को देवताओं की आराधना से प्राप्त होने वाला फल नाशवान् अर्थात् अनित्य है क्योंकि, देवताओं की पूजा करने वाले उन-उन अनित्य देवताओं के लोकों को प्राप्त कर अन्त में फिर इस मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं, जबकि मेरे भक्त सकाम होने पर भी नित्य फल स्वरूप मुझे ही प्राप्त करते हैं ॥23॥

अन्वय - तु (किन्तु) अल्पमेधसाम् (सीमित दृष्टि वाले) तेषाम् (उन व्यक्तियों के) तत्फलम् (वे फल) अन्तवत्तु भवति (नाश होने वाले हैं) देवयजः (देव पूजा करने वाले) देवान् (देवताओं को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) मद्भक्ताः (मेरे भक्त) माम् (मुझे) यान्ति (प्राप्त होते हैं) ॥23॥

टीका—किन्तु तेषां देवतान्तरभक्तानां फलं तत्तद्देवताराधन-जन्यमन्तवत् नश्वरं कै
फलं नश्वरं करोषि, स्वभक्तानान्त्वनश्वरं करोषीति त्वयि परमेश्वरेऽयमन्यायस्तत्र नायमन्याय इत्याह—देवानिति। देवयजो देवपूजकाः देवानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति, मत्पूजका अपि माम्। अयमर्थः—ये हि यत्पूजकास्ते तान् प्राप्नुवन्त्येवेति न्याय एव। तत्र यदि देवा अपि नश्वरास्तदा तद्भक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु, कथन्तरां वा तद्भजनफलं वा न नश्यतु, अतएव तद्भक्ता अल्पमेधसः उक्ताः। भगवांस्तु नित्यस्तद्भक्ता अपि नित्यास्तद्भक्तिर्भक्तिफलञ्च सर्वं नित्यमेवेति।।23।।

भावानुवाद-किन्तु याद रहे कि उन उन देवताओं की आराधना के द्वारा प्राप्त फल नाशवान् होते हैं अर्थात् अल्पकालीन होते हैं। यदि प्रश्न हो कि आपकी आराधना और उन देवताओं की आराधना में एक समान श्रम होने पर भी आप अन्य देवताओं की पूजा करने वालों के फल को नश्वर करते हैं, किन्तु अपने भक्तों की आराधना के फल को अनश्वर करते हैं। यह तो आपका अन्याय है, तो इसके उत्तर में कहते हैं- नहीं यह अन्याय नहीं है। देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को ही प्राप्त होते हैं तथा मेरे पूजन करने वाले मुझे ही प्राप्त होते हैं। जो जिनके पूजक हैं वे उन्हें ही प्राप्त होते हैं। यह न्याय ही है। यदि देवता ही नश्वर हैं, तो इनके पूजकगण भला किस प्रकार अनश्वर होंगे और उनका भजन फल नष्ट क्यों नहीं होगा? अतः वे भक्तगण अल्पबुद्धि वाले कहे गए हैं, किन्तु मैं नित्य हूँ और मेरे भक्तगण भी नित्य हैं। उनकी भक्ति का फल सभी नित्य है॥23॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥24॥

मर्मानुवाद - जो लोग निराकार निर्विशेष ज्ञान को ही श्रेष्ठ समझते हैं और मेरे बारे में ऐसा सोचते हैं कि वास्तव में तो 'मैं निराकार निर्विशेष स्वरूप हूँ, किसी कार्यवश ही साकाररूप से प्रकट होता हूँ, ऐसे लोग चाहे जितना वेदों का अध्ययन करें, फिर भी अज्ञानी ही हैं क्योंकि उन्होंने अव्यय, सर्वश्रेष्ठ, नित्य-विशेषता सम्पन्न मेरे सर्वोत्तम इस कृष्ण स्वरूप को नहीं जाना है ॥24॥

अन्वय - अबुद्धयः (अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति) मम (मेरे) अव्ययम् (नित्य) अनुत्तमम् (सर्वश्रेष्ठ) परम् (मायातीत) भावम् (स्वरूप-जन्म-कर्म-लीला को) अजानतः (न जानकर) अव्यक्तम् (मायातीत निराकार ब्रह्म ने ही) व्यक्तिम् (भौतिक शरीर के साथ वसुदेव के घर में अभी जन्म) आपन्नम् (लिया है) मन्यन्ते (ऐसा मानते हैं) ॥24॥

टीका—देवतान्तरभक्तानामल्पमेधसां वार्त्ता दूरे तावदास्ताम्, वेदादिसमस्त शास्त्रदर्शिनोऽपि मत्तत्त्वं न जानन्ति। ''अथापि ते देवपदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि। जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।''इति ब्रह्मणापि मां प्रत्युक्तम्। अतो मद्भक्तान् विना मत्तत्त्व-ज्ञाने सर्वत्र वाल्पबुद्धयः इत्याह—अव्यक्तं प्रपञ्चातीतं निराकारं ब्रह्मै
मां मायिकाकारत्वेनै
मायिकाकारस्यै
स्वरूपजन्मकर्मलीलादिकमजानन्तः। भावं कीदृशम्? अव्ययं नित्यमनुत्तमं सर्वोत्कृष्टम् ''भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु। क्रिया-लीला पदार्थेषु''इति मेदिनी। भगवत्स्वरूपगुणजन्मकर्मलीलानामनाद्यन्तत्वेन नित्यत्वं श्रीरूपगोस्वामिचरणै
नित्यविशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्त्तिम्'' इति स्वामिचरणै

भावानुवाद - कम बुद्धि वाले अन्य देवभक्तों की बात तो दूर, वेदादि समस्त शास्त्रदर्शी भी मेरा तत्त्व नहीं जानते हैं।''हे देव! हे भगवान्! जिन्होंने आपके युगल पादपद्मों का तनिक भी कृपा प्रसाद प्राप्त किया है, एकमात्र वे ही आपकी यथार्थ महिमा जान सकते हैं, दूसरा कोई भी बहुत काल तक

अनुसन्धान करने पर भी आपको जानने में समर्थ नहीं हो सकता,'' (भा 10/14/29) यह ब्रह्मा जी ने मेरे लिए कहा है। अतएव मेरे भक्तों के अतिरिक्त कोई भी मेरे तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में सम्पूर्णतया नहीं जानता। इसलिए कहते हैं– बुद्धिहीन लोग मुझे अव्यक्त प्रपंचातीत निराकार ब्रह्म ही मानते हैं और मेरे वर्तमान स्वरूप को मायिक आकारवाला तथा मुझे वसुदेव के घर में जन्म लेने वाला समझते हैं। वे निर्बुद्धि हैं, क्योंकि वे मेरे परमभाव अर्थात् मायातीत स्वरूप, जन्म, कर्म लीला को नहीं जानते हैं। कैसा भाव? वह भाव जो नित्य और सर्वोत्कृष्ट है। सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, जन्म, क्रिया, लीला तथा पदार्थ – ये सभी भाव के पर्यायवाची हैं, ऐसा 'मेदिनी' नामक शब्दकोश में कहा गया हैं। श्रील रूपगोस्वामी ने लघुभगवतामृत ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है कि भगवान् के स्वरूप, गुण, जन्म, कर्म और लीला आदि और अन्त रहित हैं। श्रीधरस्वामी ने भी कहा है– भगवान् कहते हैं कि 'मेरा परम भाव अर्थात् स्वरूप अव्यय अर्थात् नित्य विशुद्ध ऊर्जित और सत्त्वमूर्ति है' ॥24॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥25॥

मर्मानुवाद – मैं 'अव्यक्त' था, अभी इस सच्चिदानन्द स्वरूप श्यामसुन्दर के रूप में व्यक्त हुआ हूँ, ऐसा नहीं समझना, मेरा श्याम सुन्दर स्वरूप नित्य है। मैं चिद् जगत् के सूर्य के स्वरूप में स्वयं प्रकाशित होते हुए भी योगमाया से ढका होने के कारण साधारण लोगों की दृष्टि से ओझल रहता हूँ इसी कारण वे मूढ़ लोग अव्यय स्वरूप मुझे जान नहीं पाते हैं॥25॥

अन्वय - अहम् (मैं) योगमायासमावृतः (योगमाया से पूरी तरह ढका होने के कारण) सर्वस्य (सब के लिए) प्रकाशः (प्रकाशित नहीं होता, इसलिए) अयम् (यह) मूढो लोकः (मूढ़ लोग) माम् (श्याम सुन्दर वसुदेव पुत्र मुझे) अजम् (भौतिक जन्मादि रहित) अव्ययम् (अव्यक्त स्वरूप) न अभिजानन्ति (नहीं समझ पाते)॥25॥

टीका—ननु यदि त्वं नित्यरूपगुणलीलोऽसि, तदा ते तथाभूता सार्वकालिकी स्थितिः कथं न दृश्यते? तत्राह—नाहमिति। अहं सर्वस्य सर्वदेशकालवर्त्तिनो जनस्य न प्रकाशो न प्रकटः। यथा गुणलीलापरिकरवत्त्वेन सदै

कदाचिदेव केषुचिदेव ब्रह्माण्डेषु। किञ्च सूर्यो यथा सुमेरुशै
सर्वदा लोकदृश्यो न भवति, किन्तु कदाचिदेव तथै
समावृतः। ननु च ज्योतिश्चक्रवर्त्तमानानां प्राणिनां ज्योतिश्चक्रस्थः ज्योतिश्चक्रमध
ये सामस्त्येन सदै
किन्तु कदाचित्केषु च भारतादिषु खण्डेषु वर्त्तमानस्य जनस्यै
स्वधामसु स्वरूपसूर्यो यथा सदै
स्थितानामिदानीन्तनानां जनानां तत्रस्थः कृष्णः कथं न दृश्यो भवति? उच्यते—यदि ज्योतिश्चक्रमध्ये सुमेरुरभविष्यत्तदा तत्रापि तदावृतः सूर्यो दृश्यो नाभविष्यत्। तत्र तु मथुरादि–कृष्णद्युमणि –धामनि सुमेरुस्थानीया योगमायै सदा वर्त्तते इत्यतस्तदावृतः कृष्णार्कः सदा न दृश्यते, किन्तु कादिचदेवेति सर्वमनवद्यम्। अतो मूढो लोको मां श्यामसुन्दराकारं वसुदेवात्मजमप्यजमव्ययं मायिकजन्मादिशून्यं नाभिजानाति। अतएव कल्याणगुण–वारिधिं मामप्यन्ततस्त्यक्त्वा मन्निर्विशेषरूपं ब्रह्मै

भावानुवाद–यदि प्रश्न हो कि अच्छा, आप नित्य रूप, गुण, लीलामय हैं, तो उन लीला आदिकी स्थिति हमेशा दृष्टिगत क्यों नहीं होती? तो इसके उत्तर में कहते हैं–यह ठीक है कि मेरी लीला आदि नित्य है किन्तु मैं हर स्थान, हर समय और हर व्यक्ति के सामने प्रकाशित नहीं होता। जिस प्रकार निरन्तर विद्यमान रहने पर भी सूर्य सुमेरु पर्वत के आवरणवश सर्वदा लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, कभी–कभी दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार मैं गुण, लीला, परिकर आदि सहित नित्य विराजमान रहने पर भी योगमाया द्वारा आवृत होने के कारण हर समय, हर स्थान और हर व्यक्ति को दिखाई नहीं देता। कभी–कभी किसी ब्रह्माण्ड में प्रकट होता हूँ। यदि कहो कि सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र में विराजमान होकर भी सूर्य सदा ही ज्योतिश्चक्र में विराजमान रहता है फिर भी वह सर्वकाल देशवर्ती लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे कि भारत आदि खण्ड देशों के लोगों को भी कभी–कभी दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीकृष्ण आप मथुरा द्वारिका आदि अपने धामों में सूर्य के समान सदा विराजमान रहते हैं किन्तु वहां के निवासियों को सदा दृष्टिगोचर नहीं होते क्यों? उत्तर में कहते हैं कि यदि ज्योतिश्चक्र के बीच सुमेरु पर्वत रहे तो

पर्वत के द्वारा आवृत सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होगा, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के निवास स्थान मथुरा द्वारिका आदि धामों और वहां के निवासियों के बीच योगमाया का पर्दा सदा वर्तमान रहता है, इसलिए श्रीकृष्ण वहां भी सदा दिखाई नहीं देते, कभी-कभी दिखाई देते हैं। इसलिए मूर्ख लोग अजन्मा, अव्यय, मायिक जन्मादि से रहित वसुदेवपुत्र मुझ श्यामसुन्दर को नहीं समझ पाते हैं। अतएव वे अन्त में कल्याण गुण समुद्ररूपी मुझे परित्याग कर मेरे निर्विशेष स्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं ॥25॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥26॥

मर्मानुवाद - नित्य-सच्चिदानन्द स्वरूप मैं सब से अतीत हूँ। वर्तमान और भविष्य में जो होगा सब कुछ जानता हूँ। हे अर्जुन! ब्रह्म और परमात्मा दोनों मेरे ही प्रकाश हैं। इन दोनों को जानने पर भी मायाबद्ध जीव मेरे नित्य श्यामसुन्दर रूप को नित्य नहीं मानते ॥26॥

अन्वय - अर्जुन (हे अर्जुन) अहम् (मैं) समतीतानि (अतीत) वर्तमानानि (वर्त्तमान) भविष्याणि च (एवं भविष्यत् त्रिकाल के) भूतानि (स्थावर-जंगम सब प्राणियों को) वेद (जानता हूँ) तू (किन्तु) कश्चन [माया और योगमाया द्वारा ज्ञान के ढके होने के कारण प्राकृत या अप्राकृत कोई भी व्यक्ति] माम् (मुझे) न वेद (सम्यक् रूप से नहीं जान सकता) ॥26॥

टीका— किञ्च मायया स्वाश्रयव्यामोहकत्वाभावात् बहिरङ्गा माया, अन्तरङ्गा योगमाया च मम ज्ञानं नावृणोतीत्याह—वेदाहमिति। मान्तु कश्चन प्राकृतोऽप्राकृतश्च लोको महारुद्रादिर्महासर्वज्ञोऽपि न कात्स्न्येन वेद यथायोगं मायया योगमायया च ज्ञानावरणादिति भावः।। 26।।

भावानुवाद-माया मेरे आश्रित है इसलिए मुझे मोहित नहीं कर सकती है, वह बहिरंगा माया है। अन्तरंगा माया भी मेरे ज्ञान को आवृत नहीं करती है, इसलिए मैं सब को जानता हूँ पर मुझे कोई नहीं जानता। प्राकृत और अप्राकृत लोक महारुद्रादि महासर्वज्ञ होने पर भी मुझे सम्पूर्णरूप से नहीं जान पाते हैं। जिस माया के द्वारा भगवान् के साथ भक्तों का योग होता है, उसे 'योगमाया' कहते हैं। किन्तु अन्य लोगों का ज्ञान महामाया द्वारा आवृत होता है, अतः वे मुझे नहीं जान पाते हैं॥ 26॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥27 ॥

मर्मानुवाद – इसका कारण यह है कि जब जीव शुद्ध होता है तभी अपनी चिद् इन्द्रियों के द्वारा मेरे इस 'नित्य' स्वरूप को देख सकता है। जब माया में फंस कर संसार में आता है, तब अज्ञान वश इच्छा–द्वेषजनित द्वन्द्व मोह द्वारा सम्मोहित हो जाता है, तब उसका शुद्ध अवस्था वाला अनुभव नहीं रहता। मैंने अपने चिद् बल से अपने नित्य स्वरूप को इस संसार में प्रकट किया है। मायाबद्ध जीवों के दृष्टिगोचर हुआ हूँ, फिर भी माया के द्वारा ढके होने के कारण वे मेरे स्वरूप को अनित्य समझते हैं, यह उनका दुर्भाग्य कहना होगा ॥27 ॥

अन्वय – भारत (हे भारत) परन्तप (हे परन्तप) सर्गे (जगत् की सृष्टि के आरम्भ में) इच्छाद्वेषसमुत्थेन (इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की इच्छा और प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष से उत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन (सुःख–दुःख आदि से उत्पन्न अज्ञान द्वारा) सर्वभूतानि (सारे प्राणी) सम्मोहम् (स्त्री पुत्र में अधिक आसक्त) यान्ति (हो जाते हैं) ॥27 ॥

टीका—तन्मायया जीवाः कदारभ्य मुह्यन्तीत्यपेक्षायामाह—इच्छेति। सर्गे जगत्सृष्ट्यारम्भकाले सर्वभूतानि सर्वे जीवाः सम्मोहयन्ति, केन? प्राचीनकर्मोद्‌बुद्धौ
प्रतिकूले द्वेषः, ताभ्यां समुत्थः समुद्भूतो यो द्वन्द्वो मानापमानयोः शीतोष्णाद्योः सुखदुःखयोः स्त्रीपुंसयोर्मोहः 'अहं सम्मानितः सुखी, अहमवमानितो दुःखी, ममेयं स्त्री, ममायं पुरुषः'—इत्याद्याकारक आविद्यको यो मोहस्तेन सम्मोहं स्त्रीपुत्रादिष्वत्यन्तासक्तिं प्राप्नुवन्ति, अतएव अत्यन्तासक्तानां न मद्भक्तावधिकारः, यदुद्धवं प्रति मयै
निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।''इति।।27।।

भावानुवाद–जीव कब से आपकी माया द्वारा मोहित है ? इसके उत्तर में कहते हैं, 'सर्ग' अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से समस्त जीव प्राचीन कर्मों द्वारा उद्‌बुद्ध इच्छा और द्वेष से सम्मोहित हो रहे हैं। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों के प्रति इच्छा और प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष– इन दोनों से उत्पन्न द्वन्द्व अर्थात् मान–अपमान, शीत–उष्ण, सुख–दुःख द्वारा स्त्री–पुरुष – सम्मोहित

हो रहे हैं। मैं सम्मानित हुआ यह सोचकर सुखी और मैं अपमानित हुआ यह सोचकर दु:खी। 'यह रमणी मेरी स्त्री है' और 'यह पुरुष मेरा स्वामी है' इत्यादि जो आकारविशिष्ट अविद्याजनित मोह है, उसके द्वारा सम्मोहित हो रहे हैं अर्थात् स्त्री–पुत्रादि में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं। इसलिए अत्यन्त आसक्त लोगों का मेरी भक्ति में अधिकार नहीं हैं। जैसा कि मैंने उद्धव से कहा है – ''भाग्यक्रम से जिस पुरुष की मेरी कथा में श्रद्धा हुई है और जिनकी विषय में अत्यासक्ति नहीं है, उन्हीं पुरुषों की भक्तियोग में सिद्धि होती है''॥ 27 ॥

येषांत्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ 28 ॥

मर्मानुवाद – मेरे इस नित्य स्वरूप की अनुभूति करने का अधिकार कैसे प्राप्त होता है? श्रवण करो – पापों में मग्न आसुर स्वभाव वाले व्यक्ति को स्वरूप की अनुभूति नहीं होती। जिन्होंने धर्म सम्मत जीवन को अपनाया है और अपने प्रचुर पुण्य कर्मों द्वारा जीवन से पाप को बिल्कुल समाप्त कर दिया है, उन्हें ही पहले कर्मयोग , फिर ज्ञान और अन्त में ध्यान योग के द्वारा समाधि से क्रमशः मेरे अपने स्वरूप की उपलब्धि होती है और वे विद्वत्प्रतीति से मेरे नित्यस्वरूप को देख सकते हैं। विद्या के द्वारा जो अनुभूति होती है उसे ही विद्वत्प्रतीति कहते हैं। ऐसे लोग ही क्रमशः द्वैताद्वैत रूपी द्वन्द्व से मुक्त और दृढ़ निष्ठा से मेरा भजन करते हैं ॥28 ॥

अन्वय – येषां तु (सब) पुण्यकर्मणाम् (पुण्यकर्म) जनानाम् (व्यक्तियों के) पापम् (पाप) अन्तगतम् (मेरे भक्त का संग करने के कारण नष्ट हो गये हैं) ते (वह सभी) द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (द्वन्द्व मोह शून्य) दृढव्रताः (निष्ठा प्राप्त व्यक्ति) माम् (मेरा) भजन्ते (भजन करते हैं) ॥28 ॥

टीका—तर्हि केषां भक्तावधिकार इत्यत आह—येषां पुण्यकर्मणां पापं त्वन्तं गतमन्तकालं प्राप्तं नश्यदवस्थम्, न तु सम्यक् नष्टमित्यर्थः। तेषां सत्त्वगुणोद्रेके सति तमोगुणह्रासः। तस्मिन् सति तत्कार्यो मोहोऽपि ह्रसति। मोहह्रासे सति ते खल्वत्यासक्तिरहिता यादृच्छिकमद्भक्तसङ्गेन भजन्ते मात्रम्। ये तु भजनाद्यभ्यासतः सम्यक् नष्टपापाः ते मोहेन निःशेषेण मुक्ता दृढ़व्रताः प्राप्तनिष्ठाः सन्तो मां भजन्ते। न चै

मन्तव्यम्—"यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरै
प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।।"इति भगवदुक्तेः। केवलभक्तियोगस्य पुण्यादिकर्माश्रयं नै

भावानुवाद-तो आपकी भक्ति में किसका अधिकार है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं - जिन पुण्यकर्मियों के पाप पूर्णरूप से नष्ट नहीं हुए हैं, उनमें सत्त्वगुण का उद्रेक होने से तमोगुण का ह्रास होता है । तमोगुण के ह्रास होने से उसके कार्यभूत मोह का नाश हो जाता है फिर वे यदृच्छाक्रम से अत्यासक्तिरहित मेरे भक्त के संग में मेरा भजन करते हैं, किन्तु जो भजन करते-करते मोहमुक्त हो जाते हैं, वे दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं। केवल पुण्य कर्म ही पूरी तरह भक्ति का कारण नहीं है। श्रीभगवान् ने कहा है- " मेरे भक्तियोग को योग,सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञानुष्ठान, शास्त्रलोचना एवं संन्यास द्वारा यत्न करने पर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता " (भा: 11/12/9) इसलिए कर्मका आश्रय ही केवल-भक्तियोग का कारण नहीं है, यह हर प्रकार से प्रतिपादित हुआ है ॥28 ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥29 ॥

मर्मानुवाद - जड़ शरीर में जरा-मृत्यु अवश्यम्भावी है, किन्तु जीव की जो चिद् देह है उसमें बुढ़ापा भी नहीं है मृत्यु भी नहीं है, उस शरीर को प्राप्त करके मेरे नित्यदासत्व रूपी नित्य धर्म की प्राप्ति करने को ही मोक्ष कहा जाता है। मेरी साधनभक्ति द्वारा जो जरा-मरण रहित मोक्ष का अन्वेषण करता है, उनका प्रयत्न ही यथार्थ है ऐसे चित्त वाला व्यक्ति ही ब्रह्मतत्त्व, अध्यात्म तत्त्व और अखिल कर्मतत्त्व को जान सकता है ॥29 ॥

अन्वय - ये (जो) जरामरणमोक्षाय (जरा-मरण से छुटकारा पाने की कामना से) माम् (मेरा) आश्रित्य (आश्रय लेकर) यतन्ति (साधन करते हैं) ते (वे ही) तत् (उसी) ब्रह्म (ब्रह्म को) कृत्स्नम् (सारे) अध्यात्म (जीवात्मा को) अखिल कर्म च (नानाविध कर्म और फलस्वरूप संसार को) विदुः (जान सकते हैं) ॥29 ॥

टीका—तदेवमार्त्ताद्यास्त्रयः सकामा मां भजन्तः कृतार्था भवन्तीति। देवतान्तरं भजन्तस्तु च्यवन्ते इत्युक्त्वा स्वस्याभजनेऽप्यधिकारिणश्चोक्ता

भगवता। इदानीमन्यः सकामः चतुर्थोऽपि मद्भक्तोऽस्तीत्याह—जरेति। जरामरणयोर्मोक्षाय नाशाय ये योगिनो यतन्ति यतन्ते, ये मोक्षकामा मां भजन्तीति फलितोऽर्थः, ते तत्प्रसिद्धं ब्रह्म तथा कृत्स्नमात्मानं देहमधिकृत्य—भोक्तृतया वर्त्तमानमध्यात्मं जीवात्मानञ्च अखिलं कर्म नानाविधकर्मजन्यं जीवस्य संसारञ्च मद्भक्तिप्रभावादेव विदुर्जानन्ति।।29।।

भावानुवाद–आर्त्तादि तीनों प्रकार के सकाम भक्त मेरा भजन कर कृतार्थ होते हैं, किन्तु अन्य देवताओं का भजन करने वाले संसार से पार नहीं हो पाते, ऐसा कहकर वे अपने अभजन में अधिकारी की बात बता रहे हैं। अब यहां भगवान् चौथे प्रकार के अपने सकाम भक्त का उल्लेख कर रहे हैं। जरा–मरण के नाश के लिए जो योगी प्रयत्न करते हैं अर्थात् जो मोक्ष के लिए मेरा भजन करते हैं, वे मेरी भक्ति के प्रभाव से उस प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व, अध्यात्म तत्त्व और अखिल कर्मतत्त्व से अवगत हो जाते हैं॥ 29॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 30॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

मर्मानुवाद - जो अधिभूत तत्त्व, अधिदैवतत्त्व और अधियज्ञतत्त्व सहित मुझे जानते हैं, वे ही मृत्यु के समय मुझे जान सकते हैं। भक्त लोग भगवान् के तत्त्व को जानकर माया के अन्धकार को पार कर सकते हैं - यही इस अध्याय का अर्थ है॥ 30॥

सातवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - ये च (और जो) साधिभूताधिदैवम् (अधिभूत और अधिदैव के सहित) साधियज्ञं च (अधियज्ञ के साथ) माम् (मुझे) विदुः (जानते हैं) ते युक्तचेतसः (वही सभी समाहित चित्त व्यक्ति) प्रयाणकालेऽपि (मृत्यु के समय भी) माम् (मुझे) विदुः (जान सकते हैं)॥ 30॥

टीका—मद्भक्तिप्रभावात् येषामीदृशं मज्ज्ञानं स्यात्तेषामन्तकालेऽपि तदेव ज्ञानं स्यात्, न त्वन्येषामिव कर्मोपस्थापिता भाविदेहप्राप्त्यनुरूपा मतिरित्याह—साधिभूतेति। अधिभूतादयोऽग्रिमाध्याये व्याख्यास्यन्ते। भक्ता एव हरेस्तत्त्वविदो मायां तरन्ति, ते चोक्ताः षड्विधाः अत्रेत्यध्यायार्थो निरूपितः।।30।।

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु सप्तमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद-मेरी भक्ति के प्रभाव से जिनको मुझ से सम्बन्धित जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है, अन्तकाल पर्यन्त वह ज्ञान बना रहता है। दूसरों की भांति कर्म द्वारा उपस्थापित भावी देहप्राप्ति के अनुरूप उनकी बुद्धि नहीं होती। अधिभूतादि की व्याख्या अगले अध्याय में होगी।

श्रीहरि के तत्त्व से परिपूर्णरूप से अवगत होकर भक्तगण माया का अतिक्रमण कर जाते हैं, ऐसे छः प्रकार के भक्तों के बारे में इस अध्याय में निरूपण किया गया है ॥30॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

सातवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त हुआ।

सातवाँ अध्याय समाप्त

आठवाँ अध्याय

तारकब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच-

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ 1॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ 2॥

मर्मानुवाद - अर्जुन ने कहा, हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ - इन छः शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है? आत्मसंयमी पुरुष मृत्यु के समय आप को किस प्रकार जान सकते हैं? यह सब स्पष्टरूप से बतायें॥ 1-2॥

अन्वय - अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम) तद् (वह) ब्रह्म (ब्रह्म) किम् (क्या है) अध्यात्मम् (अध्यात्म) किम् (क्या है) कर्म (कर्म) किम् (क्या है) अधिभूतं च (एवं अधिभूत) किं प्रोक्तम् (किसे कहते हैं) किं च अधिदैवम् (और अधिदेव ही किसे) उच्यते (कहते हैं) मधुसूदन (हे मधुसूदन) अत्र देहे (इस देह में) अधियज्ञः कः (अधियज्ञ कौन है) अस्मिन् (इस देह में) कथम् (किस प्रकार) [स्थितः](अवस्थान करता है) प्रयाणकाले च (एवं मृत्यु के समय) नियतात्मभिः(समाहितचित्त पुरुष के द्वारा) कथं (किस प्रकार) ज्ञेयः असि (जाने जा सकते हैं?) ॥ 1-2 ॥

टीका— पार्थप्रश्नोत्तरं योगं मिश्रां भक्तिं प्रसङ्गतः।
शुद्धाञ्च भक्तिं प्रोवाच द्वे गती अपि चाष्टमे।।

पूर्वाध्यायान्ते ब्रह्मादिसप्तपदार्थानां ज्ञानं भगवतोक्तम्। अत्र तेषां तत्त्वं जिज्ञासुः पृच्छति द्वाभ्याम्—अत्र देहे कोऽधियज्ञो यज्ञाधिष्ठाता स चास्मिन् देहे कथं ज्ञेय इत्युत्तरस्यानुषङ्गी।। 1-2।।

भावानुवाद-इस अध्याय में श्रीभगवान् ने योग एवं प्रसङ्गवश योगमिश्रा भक्ति एवं शुद्धभक्ति तथा दो प्रकार की गतियों के बारे में बताया गया है। पिछले अध्याय के अन्तमें श्रीभगवान्ने ब्रह्म आदि सात पदार्थों के विषय में ज्ञान प्रदान किया। इस अध्याय में उन पदार्थों के तत्त्वज्ञान की जिज्ञासावश अर्जुन उपर्युक्त दो श्लोकों में प्रश्न पूछ रहे हैं। हे कृष्ण ! देह में अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ के अधिष्ठाता कौन हैं और इस देह में उन्हें किस प्रकार जाना जाता है?

श्रीभगवानुवाच-

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥3 ॥

मर्मानुवाद - भगवान् ने कहा, अक्षर अर्थात् नित्य विनाशरहित एवं बदलाव रहित तत्त्व ही परम ब्रह्म है। 'परब्रह्म' शब्द से केवल नित्य विशेषता युक्त मुझे ही समझना चाहिए, स्वरूपशून्य ज्ञानमार्गीय ब्रह्म या योगमार्गीय परमात्मा को नहीं। यहां जड़ पदार्थों से सब प्रकार के सम्बन्धों से रहित शुद्ध जीव को ही 'अध्यात्म' कहा गया है। कर्म के आधार पर ही भूतों

द्वारा जीव का स्थूल देहनिर्माणरूपी संसार उत्पन्न होता है, इसलिए 'कर्म' को भूतों को उद्‌भव करने वाला 'विसर्ग' जानो॥ 3॥

अन्वय –श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) अक्षरम् (नित्य वस्तु ही) परमं ब्रह्म (परम ब्रह्म है) स्वभावः (जीव को) अध्यात्मम् (अध्यात्म) उच्यते (कहा जाता है) भूतभावोद्‌भवकरः (स्थूल सूक्ष्म भूतों द्वारा मनुष्यों की देह को जन्म देने वाला) विसर्गः (विसर्ग) कर्मसंज्ञितः (कर्म कहलाता है)॥ 3॥

टीका—उत्तरमाह—अक्षरमिति। न क्षरतीत्यक्षरं; नित्यं यत् परमं तद्ब्रह्म–''एतद्वै
स्वमात्मानं देहाध्यासवशाद्भावयति जनयतीति स्वभावो जीवः, यद्वा, स्वं भावयति परमात्मानं प्रापयतीति। 'स्वभावः' शुद्धजीवोऽध्यात्ममुच्यते–अध्यात्मशब्दवाच्य इत्यर्थः। भूतै
स विसर्गो जीवस्य संसारः कर्मजन्यत्वात् कर्मसंज्ञः कर्मशब्देन जीवस्य संसार उच्यते इत्यर्थः।। 3।।

भावानुवाद – उत्तर में भगवान् कह रहे हैं जो अक्षर है अर्थात् जिसका क्षय नहीं है और जो नित्य एवं परम है वही ब्रह्म है। जैसे कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है :– ''हे गार्गि! ब्राह्मण लोग उस तत्त्व को अक्षर कहते हैं।'' देहाध्यासवश अपनी भावना करने वाले को स्वभाव अर्थात् जीव कहा गया है। परमात्मा को प्राप्त करने वाले शुद्ध जीव ही अध्यात्म शब्द से कहे गये हैं। भूतों द्वारा मनुष्य आदि देहों को उत्पन्न करने वाला संसार कर्म से उत्पन्न होता है अर्थात् जीवों के संसार को ही यहाँ कर्म शब्द से कहा गया है॥ 3॥

श्रीभगवानुवाच–

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ 4॥

मर्मानुवाद – नश्वर पदार्थों को 'क्षर' या अधिभूत कहा जाता है। सूर्यादि देवताओं के अधिष्ठाता समष्टि विराट् पुरुष समस्त देवताओं के अधिपति होने के कारण अधिदैव कहे जाते हैं। देहधारियों की देह में अन्तर्यामी पुरुष के रूप में मैं ही अधियज्ञ हूँ॥ 4॥

अन्वय - देहभृतां वर (हे प्राणिश्रेष्ठ) क्षरः (विनाशी) भावः (पदार्थों को) अधिभूतम् (अधिभूत कहा जाता है) पुरुषः (सूर्य आदि देवताओं के अधिष्ठाता समष्टि विराट् पुरुष) अधिदैवतम् (समस्त देवताओं के अधिपति होने के कारण अधिदैव हैं) अहम् एव (मैं ही) अत्र देहे (इस शरीर में) अधियज्ञः (अन्तर्यामिरूप से यज्ञादि कर्मों का प्रवर्त्तक और फलदाता होने के कारण अधियज्ञ हूँ) ॥ 4 ॥

टीका—क्षरो नश्वरो भावः पदार्थो घटपटादिरधिभूतमधिभूतशब्दवाच्यः, पुरुषःसमष्टि–विराट्,अधिदै
सूर्यादिदै
यज्ञादिकर्मप्रवर्त्तकोऽन्तर्याम्यहं मदंशकत्वादहमेवेत्येवकारेण कथं ज्ञेय इत्यस्योत्तरमन्तर्यामित्वेऽहमेव, मदभिन्नत्वे नै
मद्भिन्नत्वेनेत्यर्थः। देहे देहभृतां वरेति त्वन्तु साक्षान्मत्सखत्वात् सर्वश्रेष्ठ एव भवसीति भावः।। 4।।

भावानुवाद - घट–पटादि नश्वर पदार्थों को अधिभूत कहा जाता है, सूर्यादि देवताओं को अधिकृत कर अधिष्ठातृरूप से जो समष्टि विराट् पुरुष वर्तमान है, वही अधिदैव हैं। जीवों की देह में अवस्थित यज्ञादि का प्रवर्त्तन करने वाला अन्तर्यामी परमात्मा मैं हूँ, वह मेरा ही अंश है, क्योंकि मुझ से अभिन्न है, इसलिए अन्तर्यामी रूप से मैं ही जानने योग्य हूँ किन्तु अध्यात्म अर्थात् जीव और परमात्मा की अभिन्नता एक जैसी नहीं है। क्योंकि जीव तो मेरी शक्ति का अंश है, इसलिए शक्ति शक्तिमान् के अभेदत्व के कारण मुझ से अभिन्न जाने जाते हैं, जबकि परमात्मा मेरा अपना अंश है इसलिए अभिन्न है, किन्तु तुम देहधारियों में सर्वश्रेष्ठ हो, क्योंकि मेरे सखा हो।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥5 ॥

मर्मानुवाद - जो अन्त समय में केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर परित्याग करते हैं, वे मेरे भाव को ही प्राप्त करते हैं अर्थात् मृत्यु के समय भी जिन्हें तत्त्वज्ञान पूर्वक मेरा स्मरण हो आता है। वे मेरे भगवद्भाव को ही प्राप्त करते हैं ॥5 ॥

अन्वय - अन्तकाले च (मृत्यु के समय भी) माम् एव (मुझे ही) स्मरण (स्मरण कर) कलेवरम् (शरीर का) मुक्त्वा (परित्याग कर) यः (जो) प्रयाति (गमन करते हैं) स (वे) मद्भावम् (मेरे स्वभाव को) याति (प्राप्त करते हैं) अत्र (इसमें कोई भी संशय नहीं है) ॥ 5 ॥

टीका—प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरमाह—अन्तकाले चेति। मामेव स्मरन्निति मत्स्मरणमेव मज्ज्ञानम्, न तु घटपटादिरिवाहं केनापि तत्त्वतो ज्ञातुं शक्य इति भावः। स्मरणरूपज्ञानस्य प्रकारस्तु चतुर्थश्लोके वक्ष्यते।।5।।

भावानुवाद -मृत्यु के समय किस प्रकार जानने योग्य हैं? उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं - मेरा स्मरण ही मेरा ज्ञान है, किन्तु घट-पट का स्मरण करने वाला मुझे तत्त्व से नहीं जान सकता। स्मरणरूप ज्ञान कितने प्रकार का होता है - इसे चार श्लोकों में बताया जाएगा ॥ 5 ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ 6 ॥

मर्मानुवाद - अन्तकाल में जो जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करते हैं, वे उसी भाव से भावितत्त्व को प्राप्त करते हैं ॥ 6 ॥

अन्वय - कौन्तेय (हे कौन्तेय) अन्ते (मृत्यु के समय) [जीव] यं यं वा अपि (जिस-जिस) भावम् (पदार्थ का) स्मरन् (स्मरण कर) कलेवरम् (शरीर का) त्यजति (त्याग करते हैं) सदा (हमेशा) तद्भावभावितः (उस पदार्थ की भावना में तन्मय चित्त होकर) तं तम् एव एति (उसी-उसी भाव को प्राप्त होते हैं) ॥ 6 ॥

टीका—मामेव स्मरन्मां प्राप्नोतीतिवन्मदन्यमपि स्मरन्मदन्यमेव प्राप्नोतीत्याह—यं यमिति। तस्य भावेन भावनेनानुचिन्तनेन भावितो वासितस्तन्मयीभूतः।। 6।।

भावानुवाद - जिस प्रकार मेरा स्मरण कर मुझे ही प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार दूसरों को स्मरण कर दूसरों को भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि हर क्षण उनका चिन्तन करते-करते तन्मय हो जाते हैं ॥ 6 ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ 7 ॥

मर्मानुवाद – इसलिए तुम हमेशा मेरे परब्रह्मभाव को स्मरण करते हुए अपने क्षत्रिय के स्वभाव के अनुरूप बताये गये युद्धकार्य को करो। तभी तुम्हारा यह संकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि मुझ में अर्पण होगी और निःसन्देह तुम मुझे ही प्राप्त करोगे ॥7॥

अन्वय – तस्मात् (इसलिए) सर्वेषु कालेषु (हर समय) माम् (मेरा) अनुस्मर (स्मरण करो) युध्य च (और धर्मरूपी युद्ध करो) मयि (मुझ में) अर्पितमनोबुद्धिः (मन और बुद्धि अर्पण करके) माम् एव (मुझे ही) एष्यसि (प्राप्त करोगे) असंशयः (इसमें कोई संशय नहीं हैं) ॥7॥

टीका—मनः सङ्कल्पकात्मकम्, बुद्धिर्व्यवसायात्मिका।।7।।

भावानुवाद – मन- संकल्पात्मक, बुद्धि-व्यवसायात्मिका।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥8॥

मर्मानुवाद – अभ्यास योग में लगे स्थिर चित्त से परम पुरुष का चिन्तन करते-करते तुम परम पुरुष को प्राप्त करोगे अर्थात् दुबारा इस नाशवान् संसार में आना नहीं होगा॥8॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) अभ्यासयोगयुक्तेन (अभ्यास योग में लगे हुए) नान्यगामिना (स्थिर) चेतसा (मन से) अनुचिन्तयन् (निरन्तर चिन्तन करते हुए) [योगी] परम् (परम) दिव्यम् (दिव्य) पुरुषम् (पुरुष को) याति (प्राप्त होते हैं) ॥8॥

टीका—तस्मात् स्मरणाभ्यासिन एवान्तकाले स्वत एव मत्स्मरणं भवति, तेन च मां प्राप्नोतीत्यतश्चेतसो मत्स्मरणमेव परमो योग इत्याह— अभ्यासयोग इति। अभ्यासो मत्स्मरणस्य पुनः पुनरावृत्तिरेव योगस्तद्युक्तेन चेतसा, अत एव नान्यं विषयं गन्तुं शीलं यस्य तेन स्मरणाभ्यासेन चित्तस्य स्वभावविजयोऽपि भवतीति भावः।।8।।

भावानुवाद – इसलिए हमेशा मेरे स्मरण का अभ्यास करने वाले को अन्तकालमें स्वाभाविक ही मेरा स्मरण हो आता है, फलस्वरूप वे मुझे प्राप्त करते हैं। इसलिए मेरा स्मरण ही परम योग है। मेरे स्मरण की पुनः पुनः आवृत्ति ही अभ्यासयोग है। अतएव ऐसे अभ्यासयोग को करने वाले जिन

व्यक्तियों का चित्त किसी दूसरे विषय की ओर नहीं भागता, वे इस प्रकार चित्त से स्मरण के अभ्यास द्वारा चंचलता पर भी विजय पा लेते हैं ॥ 8 ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । 9 ।
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् । 10 ।

मर्मानुवाद– परम पुरुष के ध्यान के विषय में कहता हूँ सुनो–वह परम पुरुष सर्वज्ञ, सनातन, सब के नियन्ता, अतिसूक्ष्म, सबके विधाता, जड़बुद्धि के चिन्तन से अतीत अचिन्त्य–स्वरूप पुरुष हैं। नित्य मध्यमाकार हैं। वे स्वयं प्रकाशित हैं इसलिए सूर्य की तरह अपने स्वरूप को प्रकाशित करने वाले एवं प्रकृति से अतीत तत्त्व हैं। मृत्यु के समय स्थिर मन से भक्ति के साथ पूर्वयोगाभ्यासवश प्राणों को दोनों भृकुटियों के बीच में स्थिर करके उन परम पुरुष की ओर प्रयाण करना चाहिये। मृत्यु के समय होने वाले कष्ट से चित्त विक्षिप्त न हो, उसका उपाय बताते हुए इस योग का उपदेश किया गया है ॥ 9–10 ॥

अन्वय – यः (जो) कविम् (सर्वज्ञ) पुराणम् (अनादि) अनुशासितारम् (कृपापूर्वक अपनी भक्ति की शिक्षा देने वाले) अणोः अणीयांसम् (अणु से भी अतिसूक्ष्म) सर्वस्य धातारम् (समस्त वस्तुओं को धारण करने वाले अर्थात् परम महत् परिमाण) अचिन्त्यरूपम् (अप्राकृतरूप विशिष्ट अर्थात् मध्यम आकार वाले) आदित्यवर्णम् (सूर्य के समान अपने और दूसरों को प्रकाशित करने वाले) तमसः परस्तात् (मायातीत स्वरूप पुरुष को) अनुस्मरेत् (निरन्तर स्मरण करते हैं) ॥ 9 ॥

सः (वह) प्रयाणकाले (मृत्यु के समय) योगबलेन (योगाभ्यास के बल पर) अचलेन (स्थिर) मनसा (मन से) भक्त्या युक्तः (निरन्तर स्मरणरूपी भक्ति करते हुए) भ्रुवोः मध्ये (भृकुटी के मध्य, आज्ञा चक्र में) प्राणम् (प्राणों को) सम्यक् (पूरी तरह से) आवेश्य (स्थापित कर के) तम् (उसी) दिव्यम् (दिव्य) परम् (परम) पुरुषम् (पुरुष को) उपैति (प्राप्त होते हैं) ॥10 ॥

टीका—योगाभ्यासं विना मनसो विषयग्रामान्निवृत्तिर्दुर्घटा, यच्च विना

सातत्येन भगवत्स्मरणमपि दुर्घटमिति युक्तम्। केनचित् योगाभ्यासेन सहितै
क्रियते इति तां योगमिश्रां भक्तिमाह—कविमिति पञ्चभिः। कविं सर्वज्ञं सर्वज्ञोऽप्यन्यः सनकादिः सार्वकालिको न भवत्यत आह—पुराणमनादिं सर्वज्ञोऽनादिरप्यन्तर्यामी स भक्त्युपदेष्टा न भवत्यत आह—अनुशासितारम्, कृपया स्वभक्तिशिक्षकं कृष्णरामादिस्वरूपमित्यर्थः। तादृशकृपालुरपि सुदुर्विज्ञेयतत्त्व एव इत्याह—अणोः सकाशादप्यणीयांसम्। तर्हि स किं जीव इव परमाणुप्रमाणस्तत्राह—सर्वस्य धातारं सर्ववस्तुमात्रधारकत्वेन सर्वव्यापकत्वात् परं महापरिमाणमपीत्यर्थः, अत एवाचिन्त्यरूपम्। पुरुषविधत्वेन मध्यमपरिमाणमपि तस्यानन्यप्रकाश्यत्वमाह आदित्यवर्णमादित्यवत् स्वपरप्रकाशको वर्णः स्वरूपं यस्य तथा तमसः प्रकृतेः परस्तात् वर्त्तमानं मायाशक्तिमन्तमपि मायातीतस्वरूपमित्यर्थः। प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेन निश्चलेन मनसा या सततस्मरणमयी भक्तिस्तया युक्तः। कथं मनसो नै
योगाभ्यासस्य बलेन। योगप्रकारं दर्शयति—भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे।। 9-10।।

भावानुवाद - निरन्तर योगाभ्यास के बिना मन का विषयों से छुटकारा पाना एवं भगवान् का स्मरण असम्भव है। किसी भी प्रकार के योग के साथ जो भक्ति की जाती है, उसे योगमिश्रा भक्ति कहते हैं। पांच श्लोकों में उसी का वर्णन कर रहे हैं। 'कविम्' का अर्थ है - सर्वज्ञ। सर्वज्ञ तो सनकादि ऋषि भी हैं, किन्तु उनकी सर्वज्ञता सार्वकालिक नहीं है, किन्तु आप की सर्वज्ञता सार्वकालिक है, इसलिए अर्जुन कहते हैं - 'पुराणम्' अर्थात् अनादि हैं। सर्वज्ञ और अनादि होने पर भी जो अन्तर्यामी है वह भक्ति का उपदेष्टा नहीं भी हो सकता। इसलिए कहते हैं 'अनुशासितारम्' अर्थात् वे सर्वज्ञ, अनादि, अन्तर्यामी होने के साथ-साथ कृपापूर्वक अपनी भक्ति की शिक्षा देने वाले हैं। जैसे - श्रीराम-कृष्णादि भगवत्-स्वरूप। किन्तु कृपालु होने पर भी उनका तत्त्व दुर्ज्ञेय है। इसीलिए कहते हैं कि वे अणु से भी अणु हैं किन्तु जीव के समान परमाणु प्रमाण नहीं है। वे सर्ववस्तुमात्र के ही धारक होने के कारण तथा सर्वव्यापक होने के कारण असीम हैं, अत एव अचिन्त्य हैं। पुरुषरूप से अर्थात् परमाणुरूप से मध्यम परिमाण वाले होने पर भी उनका प्रकाश अनन्त है। उसी प्रकाश के विषय में बताते हुए कह रहे हैं - 'आदित्यवर्णम्' अर्थात् सूर्य के सदृश स्वयं तथा दूसरों को भी प्रकाशित करने वाले हैं तथा प्रकृति से परे हैं, वे मायाशक्ति के स्वामी होने पर भी

मायातीतस्वरूप हैं। योगी प्रयाणकाल में निश्चल मन के द्वारा सतत् स्मरणमयी भक्ति से युक्त होकर उनका स्मरण करते हैं। मन निश्चल कैसे हो सकता है इसके उत्तर में कहते हैं–योगाभ्यास द्वारा हो सकता है। किन्तु किस प्रकार का योगाभ्यास? तो उसके उत्तर में कहते हैं– भ्रुकुटि के मध्य आज्ञाचक्र में मन की वृत्तियों का निरोध करना चाहिए॥ 9–10॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥11॥

मर्मानुवाद – वेदों को जानने वाले पण्डित जिन्हें अक्षर कहते हैं। वीतराग संन्यासी अन्त में जिनमें प्रवेश करते हैं। जिन्हें प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वही प्राप्यवस्तु तुम्हें उपाय सहित कहता हूँ ॥11॥

अन्वय – वेदविदः (वेदज्ञ लोग) यत् (जिन्हें) अक्षरम् (ब्रह्म का वाचक ॐ) वदन्ति (कहते हैं) वीतरागाः (निःस्पृह) यतयः (संन्यासी) यत् (जिनमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) यत् (जिनको) इच्छन्तः (पाने के लिए) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्य) चरन्ति (पालन करते हैं) तत् (उन्हीं) पदम् (प्राप्यवस्तु) ते (तुमको) संग्रहेण (उपाय सहित) प्रवक्ष्ये (कहता हूँ) ॥11॥

टीका—ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य इत्येतावन्मात्रोक्त्या योगो न ज्ञायते, तस्मात् तत्र योगे प्रकारः कः, किं जप्यम्, किं वा ध्येयम्, किं वा प्राप्यमित्यपि संक्षेपेण ब्रूहीत्यपेक्षायामाह—यदिति त्रिभिः। यदेवाक्षरं ओमित्येकाक्षरवाच्यं ब्रह्मवाचकं वेदज्ञा वदन्ति। यदेव ओमित्येकाक्षरवाच्यं ब्रह्म यतयो विशन्ति, तत्पदं पद्यते गम्यते इति पदं प्राप्यं सम्यक्तया गृह्यतेऽनेनेति संग्रहस्तदुपायस्तेन सह प्रवक्ष्ये शृणु।।11।।

भावानुवाद – दोनों भृकुटियों में प्राण को 'आविष्ट कर के' इतना कहने मात्र से योग द्वारा उन्हें जाना जा सकता है क्या? इसके साथ-साथ योग किस प्रकार का है? उसमें जप्य क्या है? ध्येय क्या है और प्राप्य क्या है? यह भी आप मुझे संक्षेप में बतायें। अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् आगे तीन श्लोकों में कहते हैं– वेदज्ञ व्यक्तियों का कहना है कि संन्यासी इसी एकाक्षर ओंकार वाचक ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। वही पद प्राप्त करने योग्य है। उस पद को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, उसे उपायसहित कहता

हूँ, श्रवण करो॥ 11॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 12॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ 13॥

मर्मानुवाद – योगधारणा के द्वारा इन्द्रियों के सभी द्वारों को बन्द करके मन को हृदय में रोक कर एवं प्राणों को भृकुटियों के मध्य में स्थित करके वेद के मूल अक्षर 'ॐ' का उच्चारण करते-करते जो व्यक्ति प्राणों का परित्याग करते हैं वे मेरी सालोक्य आदि रूप परमगति को प्राप्त करते हैं॥12-13॥

अन्वय – सर्वद्वाराणि (समस्त इन्द्रियरूप द्वारों को) संयम्य (विषयों से रोक कर) मनः (मनको) हृदि (हृदय में) निरुध्य (रोक कर) मूर्ध्नि (भृकुटियों के बीच) प्राणम् (प्राण वायु को) आधाय (स्थापितकर) आत्मनः योगधारणाम् (नख से शिर तक मेरे रूप की भावना का) आश्रितः (आश्रयकर) ओम् (ॐ) इति एकाक्षरम् (इस एकाक्षर ब्रह्म का) व्याहरन् (उच्चारण करते-करते) माम् (मुझे) अनुस्मरन् (स्मरण करते-करते) देहम् त्यजन् (देह को त्यागकर) यः (जो) प्रयाति (प्रयाण करते हैं) सः (वे) परमाम् गतिम् (मेरे सालोक्य को) याति (लाभ करते हैं)।। 12-13॥

टीका—उक्तमर्थं वदन् योगे प्रकारमाह—सर्वाणि चक्षुरादीन्द्रियद्वाराणि संयम्य बाह्यविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य मनश्च हृद्येव निरुध्य विषयान्तरेष्वसङ्कल्प्य मूर्द्धिन भ्रुवोर्मध्ये एव प्राणमाधाय योगधारणामानखशिख-मन्मूर्त्तिभावनामाश्रितः सन् ओमित्येकमेवाक्षरं ब्रह्मस्वरूपं व्याहरनुच्चारयन्; तद्वाच्यं मामनुस्मरन् अनुध्यायन् परमां गतिं मत्सालोक्यम्।। 12-13।।

भावानुवाद – योग का प्रकार वर्णन करते हुए कहते हैं, कि आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर और संकल्प रहित होकर दोनों भृकुटियों के मध्य में प्राणों को स्थापित कर योगधारणा में स्थित होकर या यूँ कहें कि तलवे से मस्तिष्क तक मेरी मूर्ति का आश्रय कर, ब्रह्म स्वरूप ॐ का उच्चारण कर तथा उस ओंकार के प्रतिपाद्य विषय मेरा चिन्तन करते-करते जो देह त्याग करते हैं, वे परमगति सालोक्यादि मुक्ति

प्राप्त करते हैं॥ 12–13॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥14॥

मर्मानुवाद – आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी के विचार से शुरू कर 'जरामरणमोक्षाय' श्लोक तक कर्मप्रधानीभूता भक्ति के स्वरूप की व्याख्या की है ,और इस अध्याय के 'कविं पुराणम्' श्लोक से यहाँ तक योगमिश्रा अर्थात् योगप्रधानीभूता भक्ति के स्वरूप की व्याख्या की है, बीच में कहीं-कहीं केवला भक्ति का अनुभव करवाने के लिए उसका थोड़ा-बहुत संकेत दिया है। अब मैं तुम्हें केवलाभक्ति के विषय में बताने जा रहा हूँ, श्रवण करो। जो अनन्यभाव से केवल मेरा ही स्मरण करते हुए निरन्तर मेरी आराधना में लगे रहते हैं, उन भक्त-योगियों के लिए मैं सुलभ हूँ , जबकि अनन्य भक्ति रहित व्यक्तियों के लिए दुर्लभ हूँ॥14॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ!) अनन्यचेताः (ज्ञानादि साधन और स्वर्ग-अपवर्ग आदि की प्राप्ति में स्पृहा-शून्य होकर) सततम् (स्थान, कालादि की शुद्धि की तरफ ध्यान दिए बिना निरन्तर) यः (जो) नित्यशः (प्रतिदिन) माम् (मुझे) स्मरति (स्मरण करते हैं) तस्य नित्ययुक्तस्य (उन नित्य मद्योग के अभिलाषी) योगिनः (दास्य, सख्यादि सम्बन्ध वाले व्यक्ति के लिए) अहम् (मैं) सुलभः (सुलभ हूँ)।।14॥

टीका—तदेवम् 'आर्त्तः' इत्यादिना कर्ममिश्राम्, 'जरामरणमोक्षाय' इत्यनेनापि कर्ममिश्राम्, ''कविं पुराणम्'' इत्यादिभिर्योगमिश्राञ्च सपरिकरां प्रधानीभूतां भक्तिमुक्त्वा सर्वश्रेष्ठां निर्गुणां केवलां भक्तिमाह—अनन्यचेता इति। न विद्यतेऽन्यस्मिन् कर्मणि ज्ञानयोगे वा अनुष्ठेयत्वेन, तथा देवतान्तरे वा आराध्यत्वेन, तथा स्वर्गापवर्गादावपि प्राप्यत्वेन चेतो यस्य। सततं सदेति कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यनपेक्षतयै
भक्तेनाहं सुलभः सुखेन लभ्यः। योगज्ञानाभ्यासादिदुःखमिश्रणाभावादिति भावः। नित्ययुक्तस्य नित्य-मद्योगाकाङ्क्षिणः आशंसायां भूतवच्चेति भाविन्यपि योगे आशंसिते क्त-प्रत्ययः। योगिनो भक्तियोगवतः, यद्वा, योगसम्बन्धः दास्यसख्यादिस्तद्वतः।।14।।

भावानुवाद – इस प्रकार 'आर्त्त' (गीता 7/16) से आरम्भकर

'जरामरणमोक्षाय' (गीता 7/29) तक कर्ममिश्रा भक्ति का वर्णन किया गया है और 'कविं पुराणम्' (गीता 8/9) इत्यादि श्लोकों द्वारा योगमिश्रा और सपरिकरा प्रधानीभूता भक्ति के विषय में बताया गया है। अब श्रीभगवान् सर्वश्रेष्ठा निर्गुणा, केवला भक्ति के विषय में बता रहे हैं– जिनका चित्त भक्ति के अतिरिक्त कर्म, ज्ञान, योगादि अनुष्ठानों में, अन्य देवताओं की आराधना में, स्वर्ग–अपवर्गादि प्राप्य वस्तुओं में आसक्त नहीं है, जो काल, देश, पात्र की शुद्धि आदिकी अपेक्षा न कर प्रतिदिन मेरा ही स्मरण करते हैं – उन भक्तों को मैं सुलभता से ही प्राप्त हो जाता हूँ। सुलभता से कहने का भाव यह है कि योग, ज्ञान के अभ्यासादि से उत्पन्न दुःख के अभाव के कारण सुख पूर्वक प्राप्त होता है।

'नित्ययुक्तस्य' का तात्पर्य है – नित्य मेरे योग (मिलन) की चाह रखने वाले। 'योगिनः' का अर्थ है। योग अर्थात् सम्बन्ध यानि दास्य, सख्यादि भावयुक्त योगी।। 14 ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ 15 ॥

मर्मानुवाद – भक्तियोगियों का कभी भी अनित्य और दुःखालय संसार में पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वे तो परमगति को प्राप्त करते हैं। अनन्य चित्त होना ही केवला भक्ति का लक्षण है। योग, ज्ञानादि का भरोसा छोड़ कर जो अनन्य रूप से मात्र मेरा सहारा लेते हैं, वे केवला भक्ति करते हैं ॥ 15 ॥

अन्वय – महात्मनः (महात्मागण) माम् उपेत्य (मुझे प्राप्त कर) पुनः (पुनः) दुःखालयम् (दुःख पूर्ण) अशाश्वतम् (अनित्य) जन्म (जन्म को) न आप्नुवन्ति (प्राप्त नहीं होते हैं) परमाम् संसिद्धिम् (मेरी लीला के परिकरत्व को) गताः (प्राप्त करते हैं)।। 15 ॥

टीका—त्वां प्राप्तवतस्तस्य किं स्यादित्याह—मामिति। दुःखालयं दुःखपूर्णं अशाश्वतम् अनित्यञ्च जन्म नाप्नुवन्ति, किन्तु सुखपूर्णं नित्यभूतं जन्म मज्जन्मतुल्यं प्राप्नुवन्ति, "शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यः सदातनः सनातनः" इत्यमरः। यदा वसुदेवगृहे सुखपूर्णं नित्यभूतम् अप्राकृतं मज्जन्म भवेत्तदेव तेषां मद्भक्तानामपि मन्नित्यसङ्गिनां जन्म स्यान्नान्यदा इति भावः। परमामिति अन्ये भक्ताः संसिद्धिं प्राप्नुवन्ति अनन्यचेतसस्तु परमां संसिद्धिं मल्लीला–

परिकरतामित्यर्थः। तेनोक्तलक्षणेभ्यः सर्वभक्तेभ्यो दृश्य–श्रै द्योतितम्।।15।।

भावानुवाद – अर्जुन ने पूछा– हे कृष्ण! जो आपको प्राप्त करते हैं, उनका क्या होता है? इस पर श्रीभगवान् कहते हैं कि उनको पुनः दुःखपूर्ण और अनित्य जन्म प्राप्त नहीं होता है, अपितु मेरे जन्म के समान सुखपूर्ण नित्यभूत जन्म पाते हैं। अमरकोश के अनुसार शाश्वत, ध्रुव, नित्य, सदातन और सनातन – सब का एक ही अर्थ है। जिस समय वसुदेव के घर में मेरा सुखपूर्ण, नित्यभूत अप्राकृत जन्म होता है, केवल उसी समय नित्य संगी मेरे भक्तों का भी जन्म होता है, और कभी नहीं। 'परमा' शब्द का विशेष तात्पर्य है कि अन्य-अन्य भक्त संसिद्धि प्राप्त करते हैं, जबकि अनन्य चित्तवाले भक्त 'परमा संसिद्धि' प्राप्त करते हैं अर्थात् मेरी लीला के परिकर बन जाते हैं। इससे अनन्यचेता पुरुष की अन्य सब भक्तों से श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है॥ 15॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 16॥

मर्मानुवाद – ब्रह्मलोक अर्थात् सत्यलोक तक के सारे लोक अनित्य हैं। इन सभी लोकों के जीवों का पुनर्जन्म सम्भव है, किन्तु जो केवला भक्ति के विषयस्वरूप मेरा सहारा लेते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। जो कर्म योगी और अष्टांगयोगी भी प्रधानीभूता भक्ति का सहारा लेते हैं, उनके विषय में जो पुनर्जन्म न होने की बात कही गयी है, उसका तात्पर्य यह है कि केवला भक्ति ही तमाम प्रक्रियाओं का चरम फल है, और वे लोग क्रमशः केवला भक्ति की प्राप्ति कर पुनर्जन्म से छुटकारा पा लेते हैं।

अन्वय – अर्जुन (हे अर्जुन!) आब्रह्मभुवनात् लोकाः (ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोक) पुनः आवर्तिनः (पुनरावर्तनशील हैं) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कौन्तेय) माम् उपेत्य (मुझे प्राप्त होकर) पुनः जन्म न विद्यते (पुनर्जन्म नहीं होता है)।। 16॥

टीका–सर्व एव जीवाः महासुकृतिनोऽपि जायन्ते मद्भक्तास्तु तद्वन्न जायन्त इत्याह—आब्रह्मेति। ब्रह्मणो भुवनं सत्यलोकास्तमभिव्याप्य।। 16।।

भावानुवाद – सभी जीव ही, यहाँ तक कि महासुकृतिशाली जीव भी

जन्म ग्रहण करते हैं। ब्रह्मा के भुवन सत्यलोक तक के समस्त जीव जन्म ग्रहण करते हैं, किन्तु मेरे भक्तगण उनकी तरह जन्म ग्रहण नहीं करते हैं।।16॥

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ 17॥

मर्मानुवाद - एक हजार बार चारों युग बीत जाने के बराबर ब्रह्मा जी का एक दिन होता है, उतनी ही लम्बी रात्रि है ऐसे दिनों वाले सौ साल बीत जाने पर ब्रह्मा जी का पतन होता है। जो ब्रह्मा भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं केवल उन्हीं की मुक्ति होती है, जो शरणागत नहीं होते उनकी नहीं। जब ब्रह्मा जी की ऐसी गति है तब उनके लोक में रहने वाले संन्यासी नित्य अभय कैसे हो सकते हैं?॥ 17॥

अन्वय - सहस्त्रयुगपर्यन्तम् (एक हजार चतुर्युग व्यापी) ब्रह्मणः (ब्रह्मा जी का) यत् अहः (जो दिन है) युगसहस्त्रान्ताम् (एवं एक हजार चतुर्युग व्यापी) रात्रिम् (रात है) [जो] विदुः (जानते हैं) ते जनाः (वे लोग) अहोरात्रविदः (दिन और रात के तत्त्व को जानने वाले हैं)।। 17॥

टीका—ननु ''अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्द्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु'' इति (श्रीमद्भा. 2/6/19) द्वितीयस्कन्धोक्त्या, केषाञ्चिन्मते ब्रह्मलोकस्य अभयत्वश्रवणात्, सन्न्यासिभिरपि जिगमिषितत्वात् तत्रत्यानां पातो न सम्भाव्यते? मै तल्लोकस्वामिनो ब्रह्मणोऽपि पातःस्यात् किमुतान्येषाम् इति व्यञ्जयन्नाह—सहस्त्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद्ब्रह्मणोऽहर्दिनं यद् ये शास्त्राभिज्ञा विदुर्जानन्ति, तेऽहोरात्रविदो जनाः रात्रिमपि तस्या युगसहस्त्रान्तां विदुः। तेन तादृशाहोरात्रै पक्षमासादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणः परमायुरिति। एतदन्ते तस्यापि पातो न कस्यचिद्वै

भावानुवाद - श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में ऐसा कहा गया है कि ''भुव, स्वर्ग, महः इन तीन लोकों से ऊपर जो जन, तप और सत्य, तीन लोक हैं उन में अमृत, क्षेम और अभय को स्थापित किया गया है।'' किसी के मतानुसार ब्रह्मलोक के अभयत्व के बारे में सुना जाता है कि संन्यासी भी वहाँ जाने की कामना करते हैं, तो क्या उस लोक में निवास करने वालों के पतन की सम्भावना नहीं है? इस के उत्तर में भगवान् कहते हैं - नहीं, ऐसा

नहीं हैं। जब उस लोक के स्वामी ब्रह्मा का भी पतन होता है, तो अन्य लोगों की तो बात ही क्या है। इसे समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है तथा इतनी ही ब्रह्मा की एक रात होती है। इस प्रकार एक सौ वर्ष तक की ब्रह्मा की परम आयु है। इस अवधि के उपरान्त ब्रह्मा का पतन हो जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा वैष्णव होते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ 17॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ 18॥

मर्मानुवाद - ब्रह्मलोकवासियों की अपेक्षा त्रिलोक में रहने वाले देव, पक्षी, मानवादि का अनित्यतत्व अधिक है क्योंकि जब ब्रह्मा जी की रात्रि समाप्त होती है अर्थात् दिन आरम्भ होता है, तब तमाम जीव अव्यक्त से व्यक्त होते हैं, पुनः रात्रि के आने पर सभी उसी अव्यक्त तत्त्व में विलीन हो जाते हैं॥ 18॥

अन्वय - अहरागमे (ब्रह्मा जी का दिन होने पर) अव्यक्तात् (अव्यक्त ब्रह्मा से) सर्वाः व्यक्तयः (शरीर-इन्द्रिय-भोग्य-भोगस्थान सहित सारी प्रजा) प्रभवन्ति (उत्पन्न होती है) रात्र्यागमे (रात्रिकाल के आने पर) अव्यक्तसंज्ञके (अव्यक्त नामक)तत्र एव (उसी ब्रह्म में) प्रलीयन्ते (विलीन हो जाते हैं)॥ 18॥

टीका—ये तु ततोऽर्वाचीनास्त्रिलोकस्थास्तेषान्तु तस्याहन्यहन्यपि पात इत्याह—अव्यक्तादिति। ''अत्र दै सत्त्वादव्यक्तशब्देन स्वापावस्थः प्रजापतिरेवोच्यते''इति मधुसूदन सरस्वतीपादाः ततश्च अव्यक्तात् स्वापावस्थात् प्रजापतेः सकाशाद्व्यक्तयः शरीरविषयादिरूपा भोगभूमयो भवन्ति व्यवहारक्षमाः स्युः। रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले प्रलीयन्ते तस्मिन्नेव तिरोभवन्ति।। 18।।

भावानुवाद - किन्तु, जो उनसे नीचे त्रिलोक के वासी हैं, उनका तो ब्रह्माजी के प्रत्येक दिन में पतन होता है। श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती कहते हैं - ''प्रतिदिन सृष्टि - प्रलय के उपक्रम में आकाश यथावत् बना रहता है। अतः यहाँ 'अव्यक्त' शब्द से सोने जागने वाले ब्रह्माजी ही सूचित हो रहे हैं। निद्रा से जागने पर प्रजापति ब्रह्माजी से सब प्राणी व्यक्त होते हैं।'' शरीर

विषयादिरूपी भोग भूमि (सारा संसार) व्यवहार योग्य होता है और ब्रह्माजी के रात्रि काल में सब प्राणी पुनः उन्हीं में तिरोहित हो जाते हैं ॥ 18 ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ 19 ॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार चराचर तमाम प्राणी ब्रह्मा के दिन में उत्पन्न होते है एवं रात्रि में लय हो जाते हैं ॥ 19 ॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ!) सः एव (वही) अयम् (ये) भूतग्रामः (प्राणी) अवशः (कर्म के पराधीन होकर) अहरागमे (ब्रह्मा जी का दिन आने पर) भूत्वा भूत्वा (बार-बार उत्पन्न होकर) रात्र्यागमे (रात्रि के आगमनकाल में) प्रलीयते (लीन होते हैं [पुनःदिन आने पर] अवश [नियमके अधीन होकर] प्रभवति (उत्पन्न होते हैं)।। 19 ॥

टीका—एवमेव भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहः।। 19।।

भावानुवाद – इसी प्रकार चराचर प्राणी उत्पन्न तथा लीन होते हैं ॥19 ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ 20॥

मर्मानुवाद – उपरोक्त अव्यक्तभाव से भी श्रेष्ठ जो सनातन अव्यक्त तत्त्व है, वह ऐसा श्रेष्ठ और नित्य है कि तमाम प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता॥ 20॥

अन्वय - तु (किन्तु) तस्मात् अव्यक्तात् तु (पूर्वोक्त अव्यक्त हिरण्यगर्भ से) परः (श्रेष्ठ) अन्यः (उससे विलक्षण) अव्यक्तः यः भावः (चक्षु आदि के अगोचर) सनातनः (अनादि) यः (जो) भावः (पदार्थ है) सः (वह) सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु (हिरण्यगर्भ तक सभी प्राणियों के नष्ट होने पर भी) न विनश्यति (विनष्ट नहीं होता है)।। 20॥

टीका—तस्मादुक्तलक्षणादव्यक्तात् प्रजापतेर्हिरण्यगर्भात् सकाशात् परः श्रेष्ठः। हिरण्यगर्भस्यापि कारणभूतो योऽन्यः खल्वव्यक्तो भावः सनातनोऽनादिः।।20।।

भावानुवाद –ऊपर बताये गये अव्यक्त अर्थात् प्रजापति हिरण्यगर्भ के भी कारणस्वरूप जो भगवान् हैं, वे सनातन हैं, अनादि हैं ॥20 ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ 21॥

मर्मानुवाद – उसी अव्यक्त को 'अक्षर' कहते हैं, वही तमाम प्राणियों की परम गति है। उसी अव्यक्त को ही मेरा धाम समझना, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् जीव दुबारा इस संसार में वापस नहीं आता है॥ 21॥

अन्वय – [यः] (जो) अव्यक्तः अक्षर इति उक्तः (अव्यक्त और अविनाशी कहे गये हैं) [वेदाः] (वेद) तम् (उनको) परमां गतिम् (परम प्राप्य) आहुः (कहते हैं) यं प्राप्य(जिनको प्राप्त करके जीव) न निवर्तन्ते (संसार में वापस नहीं आते हैं) तत् (वह) मम (मेरा) परमं धाम (नित्य धाम है)॥ 21॥

टीका—पूर्वश्लोकोक्तमव्यक्तशब्दं व्याचष्टे—अव्यक्त इति। न क्षरतीत्यक्षरो नारायणः"एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः"इति श्रुतेः, मम परमं धाम नित्यं स्वरूपम्; यद्वा, अक्षरः परं धाम ब्रह्मै मत्तेजोरूपम्।। 21।।

भावानुवाद – पूर्व श्लोक में कहे गये 'अव्यक्त' शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । जिसका क्षय अथवा नाश नहीं है, वह अक्षर है। नारायणश्रुति कहती है – 'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः' अर्थात् सर्वप्रथम एकमात्र नारायण ही थे, न ब्रह्मा थे और न ही शिव। मात्र मेरा परमधाम ही नित्यस्वरूप है, या यूँ कहें कि ब्रह्म ही मेरा धाम या तेजोमय रूप है॥ 21॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ 22॥

मर्मानुवाद – अव्यक्त अवस्था में स्थित वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है। हे पार्थ! उस पुरुष के अन्दर ही तमाम प्राणी विद्यमान हैं एवं उस परम पुरुष के रूप में मैं ही अन्तर्यामी रूप से सब में प्रविष्ट हूँ॥ 22॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) भूतानि (तमाम प्राणी) यस्य (जिनके) अन्तः स्थानि (अन्दर स्थित हैं) येन (जिनके द्वारा) इदम् (ये) सर्वम् (सारा जगत्) ततम् (परिव्याप्त है) सः (वही) परः पुरुषः (परमपुरुष) अनन्या भक्त्या तु (कर्म ज्ञान योगादि सम्पर्क रहित एकान्त भक्ति द्वारा ही) लभ्य (प्राप्त होता है)॥ 22॥

टीका—स च मदंशः परमः पुरुषः न विद्यतेऽन्यत् कर्मज्ञानयोगकामनादिकं यस्यां तयै

भावानुवाद – वह परमपुरुष मेरा ही अंश है, वह अनन्या भक्ति द्वारा ही प्राप्य है। 'अनन्या' का तात्पर्य है – जिसमें कर्म – ज्ञान – योग – कामना आदि नहीं हैं। इसलिए 14वें श्लोक में मैने 'अनन्यचेताः सततम्' कहा है ॥22 ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ 23 ॥

मर्मानुवाद – मेरे अनन्य भक्त बिना किसी कष्ट के मुझे प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु जिन्होंने अनन्य भक्ति प्राप्त नहीं की है एवं कर्म ज्ञान आदि पर भरोसा करते हैं उनके लिए मेरी प्राप्ति बहुत कष्टों से होती हैं। उनके जाने का समय और मार्ग देश–काल द्वारा परिच्छिन्न होता है, उसका विवरण श्रवण करो– अर्थात् जिस काल में मृत्यु होने से योगियों को इस संसार में वापस लौटना नहीं पड़ता है एवं जिस काल में मृत्यु होने से वापस लौटना होता है, वह बताता हूँ ॥ 23 ॥

अन्वय – भरतर्षभ (हे भरत श्रेष्ठ) यत्र काले (जिस काल में) प्रयाताः (मृत) योगिनः (योगी और कर्मी) अनावृत्तिम् (वापस न लौटने वाली) आवृत्तिं च (और वापस लौटने वाली) यान्ति (गति को प्राप्त होते हैं) तं कालम् (उस काल द्वारा उपलक्षित मार्गों की बात) वक्ष्यामि(मैं तुम से कहूँगा) ॥ 23 ॥

टीका—ननु 'यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' इति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तास्त्वां प्राप्य न पुनरावर्त्तन्ते इत्युक्तं, न तत्र त्वत्प्राप्तौ
इत्युक्तः, त्वद्भक्तानाञ्च गुणातीतत्वात्तन्मार्गोऽपि गुणातीत एवावसीयते, न तु सात्त्विकोऽर्चिरादिः, यस्तु मार्गो योगिनो ज्ञानिनः कर्मिणश्चास्ति, तमहं जिज्ञासे इत्यपेक्षायामाह—यत्रेति। प्राणोत्क्रमणानन्तरं तत्र काले कालोपलक्षिते मार्गे प्रयाता अनावृत्तिमावृत्तिञ्च यान्ति तं कालं मार्गं वक्ष्ये इत्यन्वयः।।23।।

भावानुवाद – 'मेरे उस धाम को प्राप्त करने के पश्चात् जीव का पुनरागमन नहीं होता' – आपके इस वाक्य द्वारा यह प्रतिपादित हो रहा है कि आपके धामको प्राप्त करने के पश्चात् आपके भक्त इस संसार में वापस नहीं

लौटते हैं, किन्तु उसकी प्राप्ति से सम्बन्धित कोई मार्ग विशेष नहीं बताया गया। चूँकि आपके भक्तगण गुणातीत हैं, इसलिए अवश्य ही वह मार्ग भी गुणातीत ही होगा । अर्चिरादि सात्त्विक मार्ग तो गुणातीत नहीं है, इसलिए कर्मी, ज्ञानी और योगियों के मार्ग को जानना चाहता हूँ। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं – जिस काल में प्राण त्यागने से और जिस काल के उपलक्षित मार्ग में जाने पर वे संसार में फिर नहीं लौटते तथा जिस में जाने पर लौटते हैं उस काल अथवा मार्ग को कहूँगा॥ 23 ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ 24॥

मर्मानुवाद – ब्रह्मविद् पुरुष अग्नि, ज्योति, शुभदिन और उत्तरायण काल में देह त्यागने से ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। अग्नि और ज्योति शब्दों के द्वारा अर्चि के अभिमानी देवता, अहः शब्द से दिन के अभिमानी देवता, शुक्ल शब्द से पक्ष के अभिमानी देवता और उत्तरायण शब्द से उत्तरायण अभिमानी देवता को समझना होगा अर्थात् उस-उस वस्तु और काल को प्राप्त मन आदि इन्द्रियों की प्रसन्नता ही योगियों की ब्रह्मप्राप्ति का कारण होती है। ऐसे समय में मृत्यु लाभ करने से योगियों का संसार में दुबारा आना नहीं होता॥ 24 ॥

अन्वय – [यत्र] (जिस मार्ग में) अग्निः ज्योतिः (अग्नि और ज्योति नामक अर्च्चि अभिमानिनी देवता है) अहः (दिवसाभिमानिनी देवता है) शुक्लः (शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है) उत्तरायणम् षण्मासाः (छः मास परिमित उत्तरायण अभिमानिनी देवता) [अवस्थित है] तत्र (उस मार्ग से) प्रयाताः (जाकर) ब्रह्मविदः (ज्ञानी) ब्रह्म (ब्रह्म को) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं) ॥24 ॥

टीका—अत्रानावृत्तिमार्गमाह—अग्निरिति। अग्निज्योतिःशब्दाभ्यां "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इति श्रुत्युक्त्या अर्चिरभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते। अहरित्यहरभिमानिनी, शुक्ल इति पक्षाभिमानिनी, उत्तरायणरूपाः षण्मासा इत्युत्तरायणाभिमानिनी देवता, एतद्रूपो यो मार्गस्तत्र प्रयाता ब्रह्मविदो ज्ञानिनो ब्रह्म प्राप्नुवन्ति। तथा च श्रुतिः "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्योदेवलोकम्"इति।।24।।

भावानुवाद – जिस मार्ग में जाने से पुनरागमन नहीं होता है, उस मार्ग के विषय में बता रहे हैं। जैसा कि श्रुति (छा. 5/10) में कहा गया है कि– 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति' अर्थात् अग्नि और ज्योति इन शब्दों से वे अर्चि के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं 'अहः' शब्द से दिन के अभिमानी देवता, 'शुक्ल' से पक्षाभिमानी देवता को समझाया गया है तथा 'उत्तरायणरूप' के षण्मास शब्द से उत्तरायण के अभिमानी देवता का बोध होता है। इस प्रकार के मार्ग में गमनशील 'ब्रह्मज्ञानी' ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इस विषय में श्रुतियाँ कहती हैं – ''वे अर्चि के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। अर्चि से क्रमशः दिन, पक्ष और मास के अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं, मास से वर्ष तथा वर्ष से सूर्य को प्राप्त होते हैं'' ॥ 24 ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥25 ॥

मर्मानुवाद – धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, सूर्य के दक्षिणायान में रहने के छः मास में और चन्द्रज्योति अर्थात् उन–उन के अभिमानी देवताओं के द्वारा उपलक्षित मार्ग से गये, कर्मयोगी वापस आने वाले मार्ग को प्राप्त होते हैं।

अन्वय - [यत्र] (जिस मार्ग में) धूमः (धूमाभिमानी देवता है) रात्रिः (रात्रि अभिमानी देवता है) तब कृष्णः (एवं कृष्ण पक्षाभिमानी देवता है) दक्षिणायनम् षण्मासाः (दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है) [अवस्थित है] तत्र (उस मार्ग से) योगी (कर्मीपुरुष) चान्द्रमसं ज्योतिः, (स्वर्ग लोक को) प्राप्य (प्राप्त कर) निवर्त्तते (वापस लौटते हैं) ॥25 ॥

टीका—कर्मिणामावृत्तिमार्गमाह–धूम इति। धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यादिशब्दैश्च पूर्ववदेव तत्तदभिमानिन्यस्तिस्त्रो देवता लक्ष्यन्ते। एताभिर्देवताभिरूपलक्षितो यो मार्गस्तत्र प्रयातः कर्मयोगी चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं प्राप्य तत्र कर्मफलं भुक्त्वा निवर्त्तते पुनरावर्त्तते ॥

भावानुवाद – जिस मार्ग से जाकर पुनः लौट आते हैं, कर्मियों के उस मार्ग के विषय में बता रहे हैं। धूम और रात्रि आदि शब्दों से पूर्व की भाँति उन के अभिमानी देवता को समझना चाहिए। इन समस्त देवताओं के द्वारा उपलक्षित मार्ग में गमनशील कर्मयोगी चन्द्रमारूप ज्योति से लक्षित स्वर्गलोक

को प्राप्त कर वहाँ कर्मफल का भोग करते हैं तथा कर्मफल के समाप्त होने पर पुनः संसार में लौट आते हैं ॥25 ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥ 26 ॥

मर्मानुवाद – 'शुक्लपक्ष' और 'कृष्णपक्ष' ये दोनों जगत् की सनातन गति अर्थात् मार्ग हैं। शुक्ल मार्ग में जाने से जीव की वापसी नहीं होती और कृष्ण मार्ग से जाने पर वापस आता है॥ 26 ॥

अन्वय – जगतः (जगत् के ज्ञान कर्म के अधिकारियों के) एते हि (ये) शुक्लकृष्णे (शुक्ल और कृष्ण) गती (दो मार्ग) शाश्वते (नित्य) मते (माने गये हैं) एकया (एक मार्ग से गया हुआ) अनावृतिम् याति(मोक्ष को प्राप्त होता है) अन्यया (दूसरे के द्वारा गया हुआ) पुनः आवर्त्तते (बार–बार संसार में आता है) ॥ 26 ॥

टीका—उक्तौ मर्गावुपसंहरित–शुक्लकृष्णे इति। शाश्वश्वते अनादि संसारस्यानादित्वात् एकया शुक्लया नावृत्तिं मोक्षमन्यया कृष्णया वर्त्तते पुनः पुनरत्र जायते।

भावानुवाद – अब ऊपर कहे गये दोनों मार्गों का उपसंहार करते हुए कहते हैं – शाश्वत अर्थात् अनादि संसार में दो सनातन मार्ग हैं। प्रथम शुक्लपक्षीय मार्ग द्वारा जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती हैं तथा द्वितीय कृष्णपक्षीय मार्ग द्वारा जाने पर संसार में पुनर्जन्म होता है॥ 26 ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ 27 ॥

मर्मानुवाद – इन दोनों मार्गों के तात्त्विक पार्थक्य को जान लेने के बाद, इन दोनों से अतीत जो भक्ति मार्ग है उसे अवलम्बन कर योगयुक्त व्यक्ति कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होते अर्थात् दोनों मार्गों को ही कष्टप्रद जान कर अनन्यभक्तियोग का सहारा लेते हैं इसलिए हे अर्जुन ! तुम भी उस योग का सहारा लो॥ 27 ॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) एते (इन) सृती (दोनो मार्गों) जानन् (से अवगत होकर) कश्चन योगी (कोई भी योगी) न मुह्यति (मोह को प्राप्त नहीं

होता) तस्मात् (इसलिए) अर्जुन (हे अर्जुन) सर्वेषु कालेषु (हमेशा) योगयुक्त भव (समाहित चित्तवाले हो जाओ)॥ 27॥

टीका–एतन्मार्गद्वयज्ञानं विवेकोत्पादकमतस्तद्वन्तं स्तौति–नैते इति। योगयुक्तः समाहितचित्तो भव॥ 27॥

भावानुवाद – इन दोनों मार्गों का ज्ञान विवेक उत्पन्न करता है, इसलिए उस ज्ञानी की प्रशंसा करते हुए कहा है हे अर्जुन ! तुम समाहित चित्तवाले होओ॥ 27॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ 28॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे तारकब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – भक्तियोग का अवलम्बन करने पर तुम किसी भी फल से वञ्चित नहीं रहोगे। वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, तपस्या दान इत्यादि जितने भी प्रकार के ज्ञान और कर्म हैं, इन सब का जो फल है तुम वह भक्तियोग के द्वारा प्राप्त कर अनादि और परम स्थान को प्राप्त हो॥ 28॥

अन्वय – वेदेषु (वेदों मे) यज्ञेषु (यज्ञों में) तपःसु (तपस्या में) दानेषु च एव (एवं दान करने में) यत् (जो) पुण्यफलम् (पुण्य फल) प्रदिष्टम् (कहा गया है) योगी (भक्तिमान्) इदम् (मेरी और मेरी भक्ति की महिमा) विदित्वा (जानकर) तत् सर्वम् (उन समस्त फलों का) अत्येति (अतिक्रमण कर जाता है) च (एवं) परम् आद्यम् (अप्राकृत) (उत्कृष्ट) स्थानम् (स्थान को) उपैति (प्राप्त होता है)॥ 28॥

अनन्य भक्ति ही सब की अपेक्षा श्रेष्ठ है यही इस अध्याय में निर्णीत किया गया है

टीका –एतदध्यायोक्तार्थज्ञज्ञानफलमाह–वेदेष्विति। तत् सर्व्वमत्येति, अतिक्रम्य च योगी भक्तिमान्, ततोऽपि श्रेष्ठं स्थानमाद्यप्राकृतं नित्यं प्राप्नोति

भक्तानां सर्वतः श्रैष्ठ्यं पूर्वोक्तं तेष्वपि स्फुटम्।
अनन्यभक्तस्येत्यर्थोऽत्राध्याये व्यञ्जितोऽभवत्॥
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
श्रीगीतास्वष्टमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद – वेद पाठ, यज्ञानुष्ठान, तपस्या, दान और कर्मादि जितने भी पुण्य फल बताये गये हैं, उन समस्त फलों का अतिक्रमणकर भक्तियोगी उनसे भी श्रेष्ठ अप्राकृत नित्यस्थान को प्राप्त होते हैं। पहले भी भक्तों की श्रेष्ठता कही गई थी। अभी भी उसी को स्पष्टरूप से कहा गया हैं। अनन्य भक्तों का श्रेष्ठत्व ही इस अध्याय में प्रतिपादित हुआ है। ॥ 28 ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

आठवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त हुआ ।

आठवाँ अध्याय समाप्त

नवाँ अध्याय

राजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच–

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥1 ॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन ! तुम ईर्ष्या रहित पुरुष हो, इसलिए मैं तुम्हें परम विज्ञानयुक्त गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दे रहा हूँ, जिसे प्राप्त कर तुम सभी प्रकार के अमंगलों से मुक्ति प्राप्त करोगे। दूसरे एवं तीसरे अध्याय में जो मैंने आध्यात्मिक ज्ञान की बातें कहीं हैं, वे गुह्य हैं, सप्तम एवं अष्टम अध्याय में जो भगवत्तत्त्व ज्ञान की बातें बतायी हैं, वे भक्तिजनक होने के कारण गुह्यतर हैं एवं अब जिस ज्ञान की बातें कहने जा रहा हूँ वह केवला भक्ति के

लक्षण हैं, इसलिए गुह्यतम हैं, इसके द्वारा तुम अशुभ से मुक्ति प्राप्त करते हुए गुणातीत हो जाओगे॥ 1॥

अन्वय - श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) इदं तु (इस) गुह्यतमम् (अति गूढ़) ज्ञानम् (मेरे कीर्तनादि शुद्ध भक्तिरूपी ज्ञान को) अनसूयवे (दोषदृष्टि रहित) ते (तुम्हें) विज्ञानसहितम् (साक्षात् अनुभव तक) प्रवक्ष्यामि (कहता हूँ) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर तुम) अशुभात् (संसार या भक्ति प्रतिबन्धक अमंगलों से) मोक्ष्यसे (मुक्ति प्राप्त कर लोगे) ॥1॥

टीका — आराध्यत्वे प्रभोर्दासै
तत्शुद्धभक्तेरुत्कर्षश्चोच्यते नवमे स्फुटम्।।

कर्मज्ञानयोगादिभ्यः सकाशात् भक्तेरेव उत्कर्षः। सा च भक्तिः 'प्रधानीभूता'' केवला' चेति सप्तमाष्टमयोरुक्तम्। तत्रापि केवलाया अतिप्रबलाया ज्ञानवदन्तःकरणशुद्ध्याद्यनपेक्षिण्या भक्तेः स्पष्टतया एव सर्वोत्कर्षः। तस्यामपेक्षितमै
गीता-शास्त्रस्यापि मध्यममध्यायाष्टकमेव सारम्, तस्यापि मध्यमौ नवमदशमावेव सारावित्यतोऽत्र निरूपयिष्यमाणमर्थं स्तौ
त्रिभिः। द्वितीय तृतीयाध्यायादिषु यदुक्तं मोक्षोपयोगिज्ञानं 'गुह्यम्', सप्तमाष्टमयोर्मत्प्राप्त्युपयोगि- ज्ञानं—ज्ञायतेऽनेन भगवत्तत्त्वमिति ' ज्ञानं'—भक्तितत्त्वं—'गुह्यतरम्', अत्र तु' केवलशुद्धभक्तिलक्षणं ज्ञानं'' गुह्यतमं' प्रकर्षेणै
प्रथमषट्कोक्तं प्रसिद्धं ज्ञानम्, परश्लोकेऽव्ययमनश्वरमिति विशेषणदानाद् गुणातीतत्वलाभाद् गुणातीता भक्तिरेव, न तु ज्ञानम्, तस्य सात्त्विकत्वात्। 'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य' इत्यग्रिमश्लोके धर्मशब्देनापि भक्तिरेवोच्यते। अनसूयवेऽमत्सरायेत्यन्योऽपीदममत्सरायै
विज्ञानसहितं मदपरोक्षानुभवपर्यन्तमित्यर्थः। अशुभात् संसाराद्भक्ति-प्रतिबन्धकादन्तरायाद्वा।। 1।।

भावानुवाद-प्रभु के दास भगवान् की आराधना के लिए उनके जिस ऐश्वर्य को जानने की इच्छा रखते हैं, उसी ऐश्वर्य एवं शुद्ध भक्ति का उत्कर्ष इस नवें अध्याय में स्पष्टरूप से कहा गया है।

कर्म, ज्ञान, योग आदिकी तुलना में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है । यह भक्ति दो प्रकार की है – प्रधानीभूता और केवला। इनका वर्णन सातवें तथा आठवें अध्याय में भी हुआ है। इन दोनों में केवला भक्ति अतिशय प्रबला है तथा ज्ञानकी भाँति अंत:करण शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखती इसलिए नि:सन्देह सबसे श्रेष्ठ है, उसके लिए अपेक्षित भगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन नवम अध्याय में प्रारम्भ कर रहे हैं। बीच के आठ अध्याय समस्त शास्त्रों की सारस्वरूप गीता के भी सार हैं और नवाँ तथा दसवाँ अध्याय तो उन आठ अध्यायों का भी सार है। इसलिए इनमें जो भी निरूपण किया जायेगा वह प्रथम तीन श्लोकों में उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। दूसरे और तीसरे अध्याय में मोक्ष के उपयोगी ज्ञान को 'गुह्य' कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय में मुझे प्राप्त कराने के उपयोगी भक्ति–तत्त्व ज्ञान जिससे भगवत्–तत्त्व जाना जाय उसे 'गुह्यतर' कहा गया है, किन्तु यहाँ तो केवल शुद्ध भक्ति के लक्षणवाले 'गुह्यतम' ज्ञान को ही कहूँगा। यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ भक्ति ही समझना चाहिए, न कि प्रथम छः अध्यायों में कथित प्रसिद्ध ज्ञान को। अगले श्लोक में अव्यय अर्थात् 'अनश्वर' विशेषण का प्रयोग होने से गुणातीत होने के कारण ज्ञान शब्द से भक्ति को ही इंगित किया जा रहा है , ज्ञान को नहीं, क्योंकि ज्ञान सात्त्विक होता है, निर्गुण या गुणातीत नहीं। 'अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप' इस तीसरे श्लोक में धर्म शब्द से भी भक्ति ही कही गई है। यहाँ 'अनसूयवे' अर्थात् 'अमत्सर' कहने का तात्पर्य है कि मत्सरता से रहित व्यक्ति के लिए ही यह उपदेश है, दूसरों के लिए नहीं। 'विज्ञानसहितम्' अर्थात् मेरे साक्षात् अनुभव तक के इस भक्ति रहस्य को सुनाऊँगा, जो तुम्हें इस अशुभ, भक्तिप्रतिबन्धक संसार से मुक्त कर देगा अर्थात् तुम सभी प्रकार के विघ्नों से रहित हो जाओगे॥ 1॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥ 2॥

मर्मानुवाद – इस ज्ञान को राजविद्या (तमाम विद्याओं का राजा) सभी गुह्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक गुह्य, अत्यन्त पवित्र साधक, आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति करवाने वाला, समस्त धर्मसाधक, निर्गुण एवं सहज जानना॥ 2॥

अन्वय – इदम् (यह ज्ञान) राजविद्या (शाण्डिल्य वैश्वानरदहरादि

विद्याओं का राजा) राजगुह्यम् (गोपनीय ज्ञानों का राजा) उत्तमं पवित्रम् (अतिशय पवित्र) प्रत्यक्षावगमम् (प्रत्यक्षानुभूति का विषय) धर्म्यम् (धर्म संगत) कर्त्तुं सुसुखम् (सुख साध्य) अव्ययम् (नित्य है)॥ 2॥

टीका—किञ्च, इदं ज्ञानं राजविद्या। विद्या उपासना विविधा एव भक्तयः, तासां राजा राजदन्तादित्वात् परनिपातः। गुह्यानां राजेति भक्तिमात्रमेवातिगुह्यं तस्य बहुविधस्यापि राजेत्यतिगुह्यतमं पवित्रमिदमिति सर्वपापप्रायश्चित्तत्वात्। त्वं—पदार्थज्ञानाच्च सकाशादपि पावित्र्यकरम्। अनेकजन्मसहस्रसञ्चितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारणस्याज्ञानस्य च सद्य एवोच्छेदकम्, अतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेवेति मधुसूदनसरस्वतीपादाः। प्रत्यक्ष एवावगमोऽनुभवो यस्य तत्। "भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चै एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।" इत्येकादशोक्तेः प्रतिपदमेव भजनानुरूपभगवदनुभवलाभात्। धर्म्यं धर्मादनपेतं सर्वधर्माकरणेऽपि सर्वधर्मसिद्धेः "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्ध-भुजोपशाखाः। प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथै
नारदोक्तेः। कर्त्तुं सुसुखमिति कर्मज्ञानादाविव नात्र कोऽपि कायवाङ्मानस-क्लेशातिशयः, श्रवण-कीर्त्तनादिभक्तेः श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारमात्रत्वादव्ययं कर्मज्ञानादिवन्न नश्वरं निर्गुणत्वात्।। 2।।

भावानुवाद–यह ज्ञान राजविद्या है । विद्या या उपासना कई प्रकार की होती है, किन्तु भक्ति ही उन सब विद्याओं की राजा है। यह गोपनीय विषयों की राजा है, अर्थात् एकमात्र भक्ति ही अतिगोपनीय है। अनेक प्रकार का होने पर भी विज्ञानसहित यह ज्ञान उन सबका राजा है अर्थात् अतिगुह्यतम है। सभी पापोंका प्रायश्चित्त होने के कारण यह पवित्र है। यह त्वम् – पदार्थ अर्थात् जीवात्मा के ज्ञानसे भी अधिक पवित्रकर है। श्रीपाद मधुसूधन सरस्वती कहते हैं – ''हजारों जन्मोंसे सञ्चित तमाम प्रकार के पापों की स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाओं एवं उनके कारणस्वरूप अज्ञान को पलक झपकते ही नाश करने वाली होने के कारण सर्वोत्तम पावन है,'' जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सके , वही 'प्रत्यक्षावगम' है – ''जैसे भोजन कर रहे व्यक्ति को प्रत्येक ग्रास के साथ – साथ तुष्टि, पुष्टि और भूख निवृत्ति तीनों की साथ–साथ अनुभूति होती है, वैसे ही भगवान् का भजन करने वाले को भक्ति, परमेश्वर का

अनुभव और विषयों से वैराग्य ये तीनों साथ – साथ प्राप्त होते हैं। एकादश स्कन्ध की इस उक्ति के अनुसार भजन के अनुरूप भगवान् का अनुभव होता है।'' 'धर्मं' शब्द से अभिप्राय है कि अन्य समस्त धर्मों को पालन न कर केवल भक्ति करने मात्र से सभी धर्मों का फल प्राप्त हो जाता है। देवर्षि नारद ने कहा है – ''जैसे वृक्ष के मूल को जल से सींचने से वृक्ष का तना, शाखायें और प्रशाखायें इत्यादि सभी तृप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार एकमात्र भगवान् अच्युत की आराधना से ही अन्यान्य सबकी उपासना हो जाती है।'' (भा 4/31/14) 'कर्तुं सुसुखम्' कर्म – ज्ञानादि के समान भक्ति में शरीर, मन, वाणी को अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता। श्रवण – कीर्त्तनादि भक्ति में केवल कान आदि इन्द्रियों का कार्य है। निर्गुण होने के कारण कर्म और ज्ञान आदि की तरह भक्ति नश्वर नहीं है॥ 2॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ 3॥

मर्मानुवाद – श्रद्धा ही इस ज्ञान का मूल है, क्योंकि इस ज्ञान का जो सहज विशुद्ध स्वरूप है, वह सबसे पहले बद्ध जीव के हृदय में श्रद्धारूप में प्रकट होता है। हे परन्तप! जिन जीवों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है वे इस परमधर्म स्वरूप भगवद् रति से उत्पन्न ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ होने के कारण मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। फलस्वरूप दुःखमय संसार चक्र में ही पड़े रहते हैं॥ 3॥

अन्वय – परन्तप (हे परन्तप) अस्य धर्मस्य (मेरे भक्तिरूपी इस धर्म के प्रति) अश्रद्दद्धानाः (श्रद्धारहित) पुरुषाः (व्यक्ति) माम् (मुझे) अप्राप्त (प्राप्त न होकर) मृत्युसंसारवर्त्मनि (जन्म–मृत्यु–रूपी संसार–चक्र में) निवर्तन्ते (बार–बार चक्र काटते रहते हैं)॥ 3॥

टीका – नन्वेवमस्य धर्मस्यातिसुकरत्वे सति को नाम संसारी स्यात्? तत्राह–अश्रद्दधानाः। अस्येति कर्मणि षष्ठी आर्षी। इमं धर्ममश्रद्दधानाः शास्त्रवाक्यैः प्रतिपादितं भक्तेः सर्वोत्कर्षं स्तुत्यर्थवादमेव मन्यमाना आस्तिक्येन न स्वीकुर्वन्ति ये ते उपायान्तरैर्मत्प्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्यु–व्याप्ते संसारवर्त्मनि नितरामतिशयेन वर्तन्ते॥ 3॥

भावानुवाद–यदि अर्जुन के मन में संशय हो कि यह धर्म इतना

सहज–सरल है, तो कोई व्यक्ति संसार में क्यों फंसता है ? तो इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – '**अश्रद्दधाना:**' इत्यादि। शास्त्रों द्वारा भक्तिकी सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित होने पर भी श्रद्धाहीन व्यक्ति उसे ऐसा समझते हैं कि यह बढ़ा–चढ़ा कर कहा गया है, जबकि वास्तव में भक्ति की इतनी महिमा नहीं है, इसलिए भक्ति की सर्वोत्कृष्टता को आस्तिक बुद्धि से स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार के भक्तिपथ त्यागी व्यक्ति मुझे प्राप्त करने के लिए अन्य प्रकार के प्रकृष्ट यत्न करने पर भी मुझे न प्राप्त कर मृत्युव्याप्त संसार–चक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं क्योंकि मेरी भक्ति के बिना और किसी साधन से मेरी प्राप्ति नहीं होती।

'अस्य' अर्थात् भक्ति का – यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग आर्ष है

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ 4 ॥

मर्मानुवाद – अव्यक्त मूर्ति अर्थात् इन्द्रियों से अतीत मैं इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हूँ। चैतन्य स्वरूप मुझ में ही सम्पूर्ण प्राणी अवस्थित हैं। जिस प्रकार घट में मिट्टी व्याप्त रहती है मैं उस प्रकार व्याप्त नहीं हूँ अर्थात् जगत् मेरा परिणाम या विवर्त्त है, ऐसा भी नहीं है, मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, मेरी शक्ति के प्रभाव से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, एवं मेरी शक्ति ही उसमें कार्य करने वाली हैं, मैं पूर्ण चैतन्यरूप में लब्धरूप एक पृथक् तत्त्व हूँ॥ 4 ॥

अन्वय – अव्यक्तमूर्तिना (अतीन्द्रिय स्वरूप) मया (मेरे द्वारा) इदम् (यह) सर्वं जगत् (सारा संसार) ततम् (व्याप्त है) सर्वभूतानि (सम्पूर्ण प्राणी) मत्स्थानि (मुझ में अवस्थित हैं) अहं च (किन्तु मैं) तेषु (उनमें) न अवस्थितः (अवस्थित नहीं हूँ) ॥ 4 ॥

टीका—मद्दास्यभक्तावेतन्मात्रं मदै
सप्तभिः। अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य तेन मया कारणभूतेन सर्वमिदं जगत् ततं व्याप्तम्। अत एव मत्स्थानि मयि कारणभूते पूर्णचै
स्थितानि सर्वाणि भूतानि चराचराणि सन्ति। एवमपि घटादिषु स्वकार्येषु मृदादिवत्तेषु भूतेषु नाहमवस्थितोऽसङ्गत्वात्।। 4।।

भावानुवाद–श्रीभगवान् कह रहे हैं – मेरी दास्यभक्ति में मेरे भक्तों को इतने ही ऐश्वर्य ज्ञान की आवश्यकता रहती है। यहां से सात श्लोकों में इसे

और भी बताया जा रहा है। अव्यक्त या अतीन्द्रिय स्वरूप कारणभूत मेरे द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, इसलिए कारणभूत अर्थात् पूर्ण चैतन्यस्वरूप मुझ में चर –अचर समस्त जीव स्थित हैं, तथापि मैं उनमें नहीं हूँ। जिस प्रकार घटादि में मृत्तिका अवस्थित रहती है, उसी प्रकार मैं भूतों में अवस्थित नहीं हूँ क्योंकि मैं असंग हूँ ॥4 ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥5 ॥

मर्मानुवाद – मैंने कहा कि 'सभी प्राणी मुझ में ही स्थित हैं' इससे यह मत समझना कि तमाम प्राणी मेरे शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हैं, कारण, मेरी मायाशक्ति के प्रभाव में अवस्थित हैं। किन्तु तुम अपनी बुद्धि द्वारा यह समझ नहीं पाओगे। इसलिए इसे मेरा ऐश्वर्ययोग समझकर मेरे शक्ति के कार्य को मेरा कार्य समझ मुझे सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाला, पालन करने वाला जानना। मुझ में शरीर और शरीरी का भेद नहीं है। सब जगह रहते हुए भी मैं कहीं नहीं हूँ अर्थात् नितान्त असंग हूँ ॥5 ॥

अन्वय - मे (मेरे) ऐश्वरं योगम् (असाधारण अनहोनी को होनी कर देने वाले चातुर्यको) पश्य (देखो) भूतानि मत्स्थानि न (तमाम प्राणी मुझ में नहीं हैं) मम आत्मा (मेरा आत्मस्वरूप) भूतभृत् (प्राणियों को धारण करने वाला और) भूतभावनः (पालन करने वाला) न भूतस्थः (भूतों में स्थित नहीं है) ॥5 ॥

टीका—तत एव मयि स्थितान्यपि भूतानि न मत्स्थानि ममासङ्गत्वादेवेति भावः। ननु तर्हि तव जगद्व्यापकत्वं जगदाश्रयत्वञ्च पूर्वोक्तं विरुद्धमित्याह—पश्य मे योगमै
चातुर्यमयम्। अन्यदप्याश्चर्यं पश्येत्याह—भूतानि विभर्त्ति धारयति इति भूतभृत्, भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः। एवम्भूतोऽपि ममात्मा भूतस्थो न भवति ममेति भगवति देहिदेह-विभागाभावात् 'राहोः शिरः' इतिवत् अभेदेऽपि षष्ठी। अयं भावः—यथा जीवो देहं दधत् पालयन्नपि तस्मिन्नासक्त्या देहस्थ एव भवति, एवमहं भूतानि दधत् पालयन्नपि मायिकसर्वभूत-शरीरोऽपि न तत्रस्थो निःसङ्गत्वादिति।।5।।

भावानुवाद–क्योंकि मैं असंग हूँ, इसलिए सभी प्राणी मुझ में अवस्थित

होते हुए भी मेरे स्वरूप में अवस्थित नहीं हैं, यदि कहो कि ऐसा कहने से तो आपकी पहले कही गई जगद्व्यापकता और जगदाश्रयता की दोनों बाते कट जायेंगी तो इसका उत्तर है कि मेरे असाधारण योगैश्वर्य अर्थात् अघटित को घटित करने वाले ऐश्वर्य को देखो, यह उसी का कार्य या प्रभाव है– कि सब को धारण करने वाला और उनका पालन करने वाला होने पर भी मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। मुझ भगवान् में देह – देही का भेद नहीं है। जीव देह को धारण और पालन करता हुआ आसक्तिवश देह में ही अवस्थान करता है, किन्तु मैं उस प्रकार भूतों को धारण – पालन करने पर भी मायिक भूत – शरीरों में स्थित होते हुए भी अनासक्त होने के कारण उनमें स्थित नहीं हूँ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥6 ॥

मर्मानुवाद – इस सम्बन्ध में ऐसे जड़ीय उदाहरण देना सन्तोषकर नहीं है, क्योंकि इन उदाहरणों के बिना बद्ध जीव समझ नहीं सकते, इसलिए कहीं–कहीं थोड़ा बहुत उदाहरण देना पड़ता है, वही कह रहा हूँ। विचार पूर्वक पूरी तरह न समझने पर भी तुम भाव अवश्य समझ जाओगे, आकाश एक सर्वव्यापी वस्तु है, उसमें वायु सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु सबका आधार होने पर भी आकाश सब से अलग है, उसी प्रकार मेरी शक्ति से ही सब प्राणियों का उदय, अस्त होता है फिर भी आकाश की तरह मैं बिल्कुल निर्लिप्त हूँ ॥6 ॥

अन्वय – सर्वत्रगः (सब जगह विचरने वाली) महान् वायुः (महान् वायु) यथा (जैसे) नित्यम् (हमेशा) आकाशस्थितः (आकाश में स्थित रहती है) तथा (वैसे ही) सर्वाणि भूतानि (सम्पूर्ण प्राणी) मत्स्थानि (मुझमें अवस्थित हैं) इति (ऐसा) उपधारय (निश्चय कर लो) ॥6 ॥

टीका—असङ्गे मयि भूतानि स्थितान्यपि न स्थितानि तेष्वपि अहं स्थितोऽपि न स्थित इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथै
स्थितो नित्यं वातीति वायुः सर्वदा चलनस्वभावः, अत एव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः, महान् परिमाणतः यथा स्वाकाशस्य असङ्गत्वात् तत्र स्थितोऽपि न स्थितः, आकाशोऽपि वायौ
असङ्गस्वभावे मयि सर्वाणि भूतानि आकाशादीनि महान्ति सर्वत्रगानि स्थितानि

नापि स्थितानि इत्युपधारय विमृश्य निश्चिनु। ननु तर्हि "पश्य मे योगमै इति भगवदुक्तं योगै
आकाशस्य जडत्वादेवासङ्गत्वम्, चेतनस्य तु असङ्गत्वं जगदधिष्ठाना-धिष्ठातृत्वे एव परमेश्वरं विना नान्यत्रास्तीत्यतर्क्यत्वं सिद्धमेव, तदप्याकाशदृष्टान्तो लोकबुद्धिप्रवेशार्थ एव ज्ञेयः।।6।।

भावानुवाद-हे अर्जुन! मैं असंग हूँ इसलिए समस्त भूत मुझ में स्थित रहने पर भी मुझ में नहीं है और समस्त भूतो में रहने पर भी मैं उनमें नहीं हूँ। उदाहरणत -सर्वत्र गमनशील, परिमाण में भी महान्, नित्य प्रवाहित वायु जिस प्रकार से असंगस्वभाव वाले आकाश में स्थित होते हुए भी उसमें स्थित नहीं रहती, उसी प्रकार वायु में स्थित होते हुए भी आकाश उसमें स्थित नहीं रहता, उसी प्रकार असंग स्वभाव वाले मुझ में आकाशादि पंच महाभूत स्थित होकर भी मुझ में स्थित नहीं है, ऐसा विचार कर तुम निश्चय कर लो। यदि प्रश्न हो कि आपने अपने तर्कातीत योगैश्वर्य को तर्क से कैसे सिद्ध कर दिया? अर्थात् जब आपने उदाहरण द्वारा इसे समझा ही दिया, तो यह तर्कातीत कहाँ रहा? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं- आकाश जड़ होने के कारण ही 'असङ्ग' है, किन्तु चेतन का असंग होना आश्चर्य का विषय है। यह जगदधिष्ठान के अधिष्ठातृत्व परमेश्वर के बिना कहीं संभव नहीं है। अधिष्ठाता-अधिष्ठान से अछूता कैसे रह सकता है, यही तर्कातीत है। साधारण लोगों को सहजता से समझाने के लिए ही आकाश का दृष्टान्त दिया गया है। वास्तव में अतर्क्य वस्तु की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है॥ 6॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 7॥

मर्मानुवाद - हे कौन्तेय ! कल्प के समाप्त हो जाने पर सब प्राणी मेरी ही प्रकृति में प्रवेश कर जाते हैं एवं कल्प के आरम्भ के समय पुनः प्रकृति के द्वारा मैं उन्हें सृष्ट करता हूँ॥ 7॥

अन्वय - कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) कल्पक्षये (प्रलय काल में) सर्वाणि (समस्त) भूतानि (प्राणी) मामिकाम् (मेरी) प्रकृतिम् (त्रिगुणात्मिका प्रकृति में) यान्ति (लीन हो जाते हैं) पुनः (फिर) कल्पादौ (सृष्टि के समय) तानि

(उन तमाम प्राणियों को) अहम् (मैं) विसृजामि (सृष्ट करता हूँ) ॥ 7 ॥

टीका— ननु अधुना दृश्यमानानि एतानि भूतानि त्वयि स्थितानि इत्यवगम्यते महाप्रलये क्व यास्यन्तीत्यपेक्षायामाह—सर्वेति। मामिकां मदीयां मम त्रिगुणात्मिकायां मायाशक्तौ
सृष्टिकाले तानि विशेषेण सृजामि।। 7।।

भावानुवाद-अर्जुन ने पूछा भगवान्! वर्त्तमान में दृश्यमान समस्त प्राणी आपमें अवस्थित जाने जाते हैं, यह तो ठीक है, किन्तु महाप्रलय में ये सब कहाँ जाएँगे? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – वे मेरी त्रिगुणमयी मायाशक्ति में लीन हो जाते हैं तथा पुनः सृष्टि के आरम्भकाल में मैं फिर उनकी विशेषभाव से सृष्टि करता हूँ॥ 7 ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ 8 ॥

मर्मानुवाद – यह सारा भूतजगत् मेरी ही प्रकृति के अधीन है। तमाम प्राणी प्रकृति के वशीभूत हुए मजबूरन, इच्छामय मेरे द्वारा पुनः-पुनः सृष्ट होते हैं। मैं अपनी प्रकृति के द्वारा ही इन्हें सृष्ट करता हूँ॥ 8 ॥

अन्वय – स्वाम् (अपनी) प्रकृतिम् (त्रिगुणात्मिका प्रकृति को) अवष्टभ्य (आश्रय कर) प्रकृते : वशात् (प्राचीन कर्म निमित्त स्वभाववश) अवशम् (परन्तन्त्र हुए) इदम् (इस) कृत्स्नम् (समस्त) भूतग्रामम् (प्राणियों की) पुनः पुनः (बार-बार) विसृजामि (उनके कर्मों के अनुसार सृष्टि करता हूँ)

टीका— ननु असङ्गो निर्विकारश्च त्वं कथं सृजसीत्यपेक्षायामाह—प्रकृतिमिति। स्वां स्वीयाम् अवष्टभ्य अधिष्ठाय प्रकृतेर्वशात् स्वीयस्वभाववशात् प्राचीनकर्मनिमित्तादिति यावत्, अवशं कर्मादि-परतन्त्रम्।। 8।।

भावानुवाद-यदि अर्जुन प्रश्न करे कि अच्छा , आप तो निःसङ्ग तथा निर्विकार हैं, तब आप सृष्टि किस प्रकार करते हैं, इस प्रश्न का श्रीभगवान् उत्तर देते हैं – मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर पूर्व कर्मों के आधार पर, कर्मों के अधीन प्राणियों की सृष्टि करता हूँ॥ 8 ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ 9 ॥

मर्मानुवाद - किन्तु हे धनञ्जय ! विश्व सृष्टि आदि कर्म मुझे बांध नहीं सकते, क्योंकि मैं उन सब कर्मों में अनासक्त और उदासीन की तरह रहता हूँ किन्तु वास्तविकता में मैं उदासीन नहीं हूँ। मैं तो हमेशा चिदानन्द में ही आसक्त हूँ। उस चिदानन्द को पुष्ट करने वाली मेरी बहिरंगा माया और तटस्था शक्ति ही इन सब प्राणियों की सृष्टि करती है। उससे मेरा स्वरूप विचलित नहीं होता। ये प्राणी मेरी माया से मोहित हुए जो भी कर्म करते हैं, उससे मेरे शुद्ध चिदानन्द विलास की ही पुष्टि होती है। सांसारिक जड़ीय कार्यों के प्रति सहज ही मेरी उदासीनता देखी जाती है ॥ 9 ॥

अन्वय - धनञ्जय (हे धनञ्जय) तेषु कर्मसु (उन सृष्टि रचना आदि कार्यों में) असक्तम् (आसक्ति रहित)उदासीनवत् (उदासीन की तरह) आसीनम् (अवस्थित) माम् (मुझको) तानि कर्माणि (विश्व सृष्टि आदि कर्म) न निबध्नन्ति (बाँध नहीं सकते।) ॥ 9 ॥

टीका—नन्वेवञ्च नाना-कर्माणि कुर्वतस्तव जीववद्बन्धः कथं न स्यादत आह—न चेति। तानि सृष्ट्यादीनि। कर्मासक्तिर्हि बन्धहेतुः, स चाप्तकामत्वान्मम नास्ति उदासीनवदिति। अन्य उदासीनो यथा विवदमानानां दुःख-शोकादि-संसृष्टो न भवति, तथै

भावानुवाद- अच्छा, इस प्रकार विविध कर्म करने पर भी जीवों की भाँति कर्म आपको बाँधते क्यों नहीं? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि सृष्टि आदि कर्मों में आसक्ति ही बन्धन का कारण है, किन्तु पूर्णकाम होने के कारण मैं आसक्त नहीं हूँ। जैसे उदासीन व्यक्ति का दूसरों के दुःख-शोकादि से कोई लेना-देना नहीं होता, वैसे ही मैं भी सृष्टि आदि कार्यों में उदासीन की तरह ही रहता हूँ॥ 9 ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ 10 ॥

मर्मानुवाद - प्रकृति मेरी ही शक्ति है। मेरी शक्ति मेरे ही आश्रय में रहकर मेरा कार्य करती है। अपनी चिद्विलास सम्बन्धिनी इच्छा से मैं प्रकृति की ओर जो कटाक्ष करता हूँ उसी से ही सभी कार्यों में मेरी अध्यक्षता जानी जाती है। उसी कटाक्ष के द्वारा चालित होकर प्रकृति सचराचर जगत् का प्रसव करती है, इसलिए यह जगत् बार-बार प्रकट होता है ॥ 10 ॥

अन्वय - कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) अध्यक्षेण मया (मेरे अधिष्ठान के कारण) प्रकृतिः (प्रकृति) सचराचरम् (स्थावर जंगमात्मक) जगत् (जगत्) सूयते (प्रसव करती है) अनेन हेतुना (इसी कारण से) जगत् (जगत्) विपरिवर्तते (पुनः पुनः उत्पन्न होता है) ॥ 10 ॥

टीका—ननु सृष्ट्यादिकर्त्तुस्तवेदमौ

अध्यक्षेण मम निमित्तभूतेन प्रकृतिः सचराचरं जगत् सूयते प्रकृतिरेव जगत् जनयति, मम अत्राध्यक्षता-मात्रम्;—यथा कस्यचित् अम्बरीषादेरिव भूपतेः प्रकृतिभिरेव राज्यकृत्यं निर्वाह्यते, अत्रोदासीनस्य भूपतेः सत्तामात्रमिति यथा तस्य राजसिंहासने सत्तामात्रेण विना प्रकृतिभिः किमपि न शक्यते कर्त्तुम्, तथै ममाधिष्ठानलक्षणमध्यक्षत्वं विना प्रकृतिरपि जडा किमपि कर्त्तुं न शक्नोतीति भावः। अनेन मदधिष्ठानेन हेतुनेदं जगत् विपरिवर्त्तते पुनः पुनर्जायते।। 10।।

भावानुवाद- सृष्टि आदि करने वाले आप इस प्रकार से उदासीन हैं- मुझे विश्वास नहीं हो रहा है, तब इस संशय को दूर करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं 'अध्यक्षेण मया' - निमित्तमात्र मेरे द्वारा ही प्रकृति समग्र चराचर जगत् को प्रसव करती है। यहाँ मेरी अध्यक्षता मात्र है, जिस प्रकार अम्बरीषादि राजाओं की शक्ति ही राजकार्यों का निर्वाह करती है, उन कार्यों में तो उदासीन राजा की तो सत्तामात्र होती है और जिस प्रकार उनके राजसिहांसन पर विराजे बिना शक्ति या प्रजा कुछ भी नहीं कर सकती, उसी प्रकार मेरी अध्यक्षता के बिना जड़ प्रकृति कुछ भी करने में समर्थ नहीं है अर्थात् मेरे अधिष्ठान द्वारा यह जगत् पुनः पुनः प्रादुर्भूत होता है ॥10 ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥11 ॥

मर्मानुवाद - मैंने जो-जो कहा उससे तुम निश्चित रूप से यह समझ लेना कि मेरा स्वरूप- सच्चिदानन्दमय है। मेरे ही अनुग्रह से मेरी शक्ति तमाम कार्य करती है, किन्तु मैं सभी कार्यों से स्वतन्त्र हूँ। इस जड़ जगत् में जो मैं दिख रहा हूँ वह भी केवल मेरा अनुग्रह और शक्ति का प्रभावमात्र है। मैं इस संसार से अतीत वस्तु हूँ, इसीलिए चैतन्य-स्वरूप होते हुए भी स्व-स्वरूप से संसार में प्रकट होता हूँ। मानव जिस अणुत्व, बृहत्त्व और अव्यक्तत्व इत्यादि असीम भावों का विशेष आदर करते हैं वह केवल उनकी मायाबद्ध

बुद्धि का कार्य है। वह मेरा परमभाव नहीं है। मेरा परमभाव यही है कि मैं नितान्त अलौकिक, मध्यमाकार स्वरूप होने पर भी अपनी शक्ति द्वारा सर्वव्यापी भी हूँ और परमाणु से छोटा भी। मेरे स्वरूप का इस प्रकार प्रकाशित होना केवल मेरी अचिन्त्य शक्ति से ही सम्भव है। मूढ़ लोक मेरे इस सच्चिदानन्द स्वरूप को साधारण मानव शरीर समझ कर ऐसा विचार करते हैं कि मैंने भी प्रपञ्च के विधान के अधीन ही साधारण मनुष्य की तरह औपाधिक शरीर ग्रहण किया है। वे यह नहीं समझ पाते कि मैं इसी स्वरूप में ही सम्पूर्ण प्राणियों का महेश्वर हूँ। अविद्वत् प्रतीति वाले लोग मेरे इस स्वरूप को साधारण समझते हैं जबकि जिनके हृदय में ज्ञान उत्पन्न हो गया है, ऐसे विद्वत् प्रतीति वाले लोग मेरे इस स्वरूप को नित्य सच्चिदानन्द तत्त्व समझते हैं॥ 11॥

अन्वय – मूढा:(विवेक रहित व्यक्ति) मम (मेरा) मानुषीं तनुं (मनुष्य के रूप में) आश्रितम् (आश्रित) भावम् (तत्त्व ही) परम (उत्कृष्ट) अजानन्तः (नहीं जानते) भूतमहेश्वरम् (अपितु सब प्राणियों के महान् ईश्वर) मम (मुझको) अवजानन्ति (साधारण पुरुष समझ अवज्ञा करते हैं)॥ 11॥

टीका—ननु च, सत्यमनन्तकोटिब्रह्माण्डव्यापी सच्चिदानन्दविग्रहः कारणार्णवशायी महापुरुषः स्वप्रकृत्या जगत् सृजतीति यः प्रसिद्धः, स एव हि भवान्; किन्तु वसुदेवसूनोस्तवेयं मानुषी तनुरित्येतदंशेनै
वदन्तीत्यत आह—अवजानन्तीति। मम मानुष्यास्तनोरस्याः परं भावं कारणार्णवशायिमहापुरुषादिभ्योऽप्युत्कृष्टं स्वरूपमजानन्त एव ते। कीदृशम्? भूतं सत्यं यद् ब्रह्म, तच्च तन्महेश्वरञ्चेति, तन्महेश्वरपदं सत्यान्तरव्यावर्त्तकमत्र ज्ञेयम्—"युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्" इत्यमरः। "तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहभावनासीनं सततं स-मरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि" इति श्रुतेः; "नराकृति परब्रह्म" इति स्मृतेश्च, ममास्याः मानुष्यास्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वं मदभिज्ञभक्तै
बाल्ये मन्मात्रा श्रीयशोदया दृष्टमेव; यद्वा, मानुषीं तनुमेव विशिनष्टि—परमुत्कृष्टं भावं सत्तां विशुद्धं सत्त्वं सच्चिदानन्दस्वरूपमित्यर्थः। "भावः सत्ता स्वभावाभिप्राय:" इत्यमरः। परं भावमपि विशिनष्टि—मम भूतमहेश्वरं मम सृज्यानि भूतानि ये ब्रह्माद्यास्तेषामपि महान्तमीश्वरम्। तस्माज्जीवस्येव मम

परमेश्वरस्य तनुर्न भिन्ना; तनुरेवाहम्, अहमेव तनुः, साक्षाद् ब्रह्मै
दधद्वपुः" इति मदभिज्ञशुकोक्तेरिति भवादृशै

भावानुवाद– अर्जुन ने कहा– अनन्तकोटि ब्रह्माण्डव्यापी सच्चिदानन्द–विग्रह कारणार्णवशायी महापुरुष जो अपनी शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टिकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे आप ही हैं। किन्तु वसुदेवपुत्र आपके इस मनुष्यशरीर के दर्शन कर कई व्यक्ति आपको ऐसा नहीं मानते हैं। इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – मेरे इस दृश्यमान मनुष्य शरीर, जो कि कारणार्णवशायी महान् पुरुषादि से भी श्रेष्ठ स्वरूप है, उसके परमभाव को न जानने के कारण ही मेरी अवज्ञा करते हैं। वह स्वरूप कैसा है, बताते हैं– मैं सत्यस्वरूप ब्रह्म का भी महेश्वर हूँ अर्थात् मैं परम सत्यस्वरूप हूँ। गोपालतापनी श्रुति में कहा गया है –"वृन्दावन के अमर वृक्षों के कुञ्ज में आसीन एकमात्र सच्चिदानन्द विग्रह गोविन्द को मरुद्गण के साथ मैं परम स्तुति द्वारा सन्तुष्ट करता हूँ।" (भा 9/23/20) में भी 'नराकृति परब्रह्म' कहा गया है। मेरे इस मानुषी शरीर के सच्चिदानन्दमयत्व की महिमा एकमात्र मेरे तत्त्व को जानने वाले भक्तों के द्वारा ही गाई जाती है एवं मेरे बाल्यकाल में मेरा दर्शन श्रीयशोदा ने किया है कि मैं अपने इसी शरीर द्वारा किस प्रकार ब्रह्माण्डव्यापी हूँ। मैं 'मम भूतमहेश्वरम्' अर्थात् मेरे द्वारा रचित ब्रह्मादि जो भूत हैं मैं उन सबसे बड़ा ईश्वर हूँ। शरीर और शरीरी मैं ही हूँ, जीव की तरह मुझ परमेश्वर का शरीर मुझ से भिन्न नहीं है, साक्षात् ब्रह्म ही हूँ। श्रीमद्भागवत (3/21/4) में कथित है – शब्द ब्रह्म ने सच्चिदानन्द शरीर धारण किया है । यह मेरे तत्त्व को जानने वाले श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा है इसलिए तुम्हारे समान मेरे तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति इस पर विश्वास करते हैं

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥12॥

मर्मानुवाद – यदि कहो कि अविद्वत् प्रतीति किस लिए उदित होती है? तब सुनो! मूढ़ लोग राक्षसी और आसुरी प्रकृति से मोहित होते हैं इसलिए उनकी आशायें, कर्म और ज्ञान सब निरर्थक हो जाता है। उच्च लोकप्राप्ति की आशावश उनका चित्त कर्मों से विक्षिप्त हो जाता है। तुच्छ

फलप्रद कर्मों का अनुष्ठान करने के कारण वे विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कभी ज्ञान की खोज करें भी तो अभेदवाद-रूपी दुष्ट-ज्ञान द्वारा उनकी विद्या लुप्त हो जाती है, तब वे ऐसा समझते हैं कि मेरा यह श्यामसुन्दर स्वरूप माया का ही है। मैं ईश्वर हूँ, इसलिए ब्रह्म की अपेक्षा हीन तत्त्व हूँ। मुझ ईश्वर की उपासना द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने से उन्हें निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होगी। उनके ऐसा समझने का फल यह होता है कि अन्त में राक्षस और असुर स्वभाव द्वारा उनकी दैवी प्रकृति लुप्त हो जाती है और अविद्वत प्रतीति उदित होती है ॥12 ॥

अन्वय - मोघाशा (निष्फल काम) मोघकर्माण: (निष्फल कर्म) मोघज्ञाना: (विफल ज्ञान और) विचेतस: (विवेकहीन हो जाते हैं) मोहिनीम् (एवं मोहजनक) राक्षसीम् (तामस) आसुरीञ्च एव (और राजस) प्रकृतिम् (स्वभाव) श्रिता: (को प्राप्त होते हैं) ॥12 ॥

टीका—ननु ये मानुषीं मायामयीं तनुमाश्रितोऽयमीश्वर इति मत्वा त्वामवजानन्ति, तेषां का गतिस्तत्राह—मोघाशा इति। यदि भक्ता अपि स्युस्तदपि मोघाशा भवन्ति, मत्सालोक्यादिमभिवाञ्छितं न प्राप्नुवन्ति। यदि ते कर्मिणस्तदा मोघकर्माण: कर्मफलं स्वर्गादिकं न लभन्ते; यदि ते ज्ञानिनस्तर्हि मोघज्ञाना ज्ञानफलं मोक्षं न विन्दन्ति, तर्हि ते किं प्राप्नुवन्तीत्यत आह—राक्षसीमिति। ते राक्षसीं प्रकृतिं राक्षसानां स्वभावं श्रिता: प्राप्ता: भवन्तीत्यर्थ:।।12।।

भावानुवाद-अच्छा, जो आपको मायामय मनुष्यशरीरधारी ईश्वर समझकर आपकी अवज्ञा करते हैं, उनकी क्या गति होती है? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं - ऐसे व्यक्ति यदि भक्त हों, तब भी 'मोघाशा' अर्थात् निष्फल आशा वाले होते हैं। वे चाहते हुए भी मेरे लोक (सालोक्य) को प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् उन्हें मेरा सालोक्यादि प्राप्त नहीं होता। यदि वे कर्मी हैं तो वे कर्म के फल स्वर्गादि को प्राप्त नहीं कर सकते, और यदि वे ज्ञानी हैं, तो ज्ञान के फल मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। अच्छा तब वे क्या प्राप्त करते हैं? उत्तर है कि वे तो राक्षसों जैसे स्वभाव वाले हो जाते हैं ॥12 ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता:।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥13 ॥

मर्मानुवाद - हे पार्थ ! जो विद्वत् प्रतीति को प्राप्त करते हैं, वे महात्मा हैं। वे दैवी स्वभाव का आश्रय करते हुए अनन्य मन से अर्थात् यूं कह सकते हैं कि तुच्छ फल प्रदान करने वाले कर्म और आत्मविनाशक अभेदवाद रूपी शुष्क ज्ञान के प्रति आस्था न रखते हुए तमाम प्राणियों के आदि और अविनाशी मेरे इस कृष्णस्वरूप को ही चरम तत्त्व मानते हैं और मेरा भजन करते हैं ॥13 ॥

अन्वय - पार्थ (हे पार्थ) महात्मानः तु (भगवान् की भक्ति में लगे महात्मा) (दैवीं प्रकृतिम् देवस्वभाव को) आश्रिताः (प्राप्त होकर) अनन्यमनसः (अनन्य चित्त से) माम् (मनुष्य आकृति मुझे ही) भूतादिम् (सम्पूर्ण प्राणियों का कारण) अव्ययम् (और अनश्वर) ज्ञात्वा (जानकर) भजन्ति (सेवा करते रहते हैं) ॥13 ॥

टीका—तस्माद् ये महात्मानः यादृच्छिक-मद्भक्तिकृपया महात्मत्वं प्राप्तास्ते तु मानुषा अपि दै
मानुषाकारमेव भजन्ते। न विद्यतेऽन्यत्र ज्ञानकर्मान्यकामनादौ
भूतादिं "मया ततमिदं सर्वम्" इत्यादि मदै ह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां कारणम्। अव्ययं सच्चिदानन्दविग्रहत्वादनश्वरं ज्ञात्वेति ममाराध्यत्वे मद्भक्तै
भक्तिरनन्या सर्वश्रेष्ठा राजविद्या राजगुह्यमिति द्रष्टव्यम्।।13।।

भावानुवाद-इसलिए जो महात्मा हैं और मेरी भक्ति की कृपा से जिन्हें महानता प्राप्त हो चुकी है , वे मनुष्य होने पर भी देवताओं के स्वभाव वाले हो जाते हैं और मनुष्याकार मेरा ही भजन करते हैं। ज्ञान-कर्मादि अन्य-अन्य कामनाओं में जिनका मन आसक्त नहीं है, वे अनन्य मन वाले हैं। वे ऐसा जानते हैं कि सारा जगत् मुझ से व्याप्त है। मेरे ऐश्वर्यज्ञान के द्वारा वे यह भी जान जाते हैं कि तृण से लेकर ब्रह्माजी तक सबका कारण मैं ही हूँ। वे मुझे सच्चिदानन्दविग्रह होने के कारण अनश्वर जानते हैं। मेरी आराधना के लिए भक्तों को मेरे सम्बन्ध में मात्र इतने ज्ञान की ही आवश्यकता है। इसलिए त्वम्पदार्थ के ज्ञान और ज्ञान-कर्मादि की अपेक्षा से रहित अनन्य भक्ति को सर्वश्रेष्ठ राजविद्या तथा राजगुह्य के रूप में समझना चाहिए ॥13 ॥

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥14॥

मर्मानुवाद – उस विद्वत्प्रतीति से युक्त महात्मा हमेशा मेरे नाम, रूप, गुण और लीला का कीर्तन करते रहते हैं अर्थात् श्रवण कीर्तनादि नवधा भक्ति का पालन करते हैं, मेरे इस सच्चिदानन्द–स्वरूप की नित्यदासत्व की प्राप्ति के लिए वे अपनी सारी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्रियाओं द्वारा दृढ़ता पूर्वक मेरा अनुशीलन करते हैं। सांसारिक कर्मों में चित्त विक्षिप्त न हो इस लिए सांसार–निर्वाह करते हुए भक्तियोग के द्वारा मेरी शरण ग्रहण करते हैं॥ 14॥

अन्वय – सततम् (वे काल, देश और पात्र की शुद्धि की तरफ ध्यान दिये बिना हमेशा) मां कीर्तयन्तः (मेरे नामादि का कीर्तन करते हुए) यतन्तः च (मेरे स्वरूप गुणादि निर्णय में यत्नशील) दृढव्रताः (निरन्तर एकादशी आदि और नामग्रहणादि नियम पालन करते हुए) नमस्यन्तः च (मेरे को नमस्कार करते हुए) नित्ययुक्ताः (भविष्य में मेरे साथ नित्यसंयोग की आकांक्षा से)भक्त्या (भक्ति योग द्वारा) माम् (मेरी) उपासते (उपासना करते हैं)॥ 14॥

टीका—भजन्तीत्युक्तं तद्भजनमेव किमित्यत आह—सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्धाद्यपेक्षा कर्त्तव्येत्यर्थः,—"न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा। नोच्छिष्टादौ
स्मृतेः। यतन्तो यतमानाः—यथा कुटुम्बपालनार्थं दीनाः गृहस्थाः धनिकद्वारादौ धनार्थं यतन्ते तथै
च, भक्तिमधीयमानं शास्त्रं पठतः इव पुनः पुनरभ्यस्यन्ति च। एतावन्ति नामग्रहणानि एतावत्यः प्रणतयः एतावत्यः परिचर्याश्चावश्यकर्त्तव्याः इत्येवं दृढानि व्रतानि नियमाः येषां ते, यद्वा, दृढानि अपतितानि एकादश्यादि–व्रतानि नियमा येषां ते। नमस्यन्तश्च इति चकारः श्रवणपादसेवनाद्यनुक्तसर्वभक्तिसंग्रहार्थः। नित्ययुक्ता भाविनं मन्नित्यसंयोगमाकाङ्क्षन्तः आशंसायां भूतवच्चेति वर्त्तमानेऽपि भूतकालिकः क्त–प्रत्ययः। अत्र मां कीर्त्तयन्त एव मामुपासत इति मत्कीर्त्तनादिकमेव मदुपासनमिति वाक्यार्थः। अतो मामिति न पौ

भावानुवाद–अर्जुन ने पूछा– हे कृष्ण! आपने कहा – वे मेरा भजन करते हैं, किन्तु आपका भजन है क्या, उसे कब और कैसे करना चाहिये? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं – सततम् अर्थात् हर समय मेरा कीर्तन करना कर्तव्य है, मेरे भजन में कर्मयोगी की तरह समय, स्थान और पात्र की शुद्धि–अशुद्धि की आवश्यकता नहीं है। विष्णुधर्मोत्तरस्मृति में कहा गया है श्रीहरि के नामकीर्तन के लोभी व्यक्तियों के लिए स्थान और समय का नियम नहीं है फिर जूठे मुख की तो बात ही क्या। वे तो दृढ़ निश्चय के साथ यत्न–शील रहते हैं, जिस प्रकार गृहस्थ व्यक्ति अपने परिवार पालनके लिए धन की चाहना से धनी व्यक्ति के पास धन प्राप्ति के लिए परिश्रम करते हैं, उसी प्रकार मेरे भक्त कीर्तनादि भक्ति प्राप्त करनेके लिए साधुओं की सभाओं में जाकर भक्तिप्राप्ति हेतु यत्न करते रहते हैं एवं भक्ति–लाभ करने पर भी पवित्र शास्त्रों के पाठ की भाँति पुनः–पुनः इसका अभ्यास करते रहते हैं। जिनके निश्चित नियम हैं कि मुझे इतनी संख्या में नाम ग्रहण करना ही है, इतनी बार प्रणाम एवं इतनी और इस प्रकार सेवा पूजा करनी है, इस प्रकार नियमपूर्वक एकादशी आदि व्रतादि पालन करते हैं, वे ही यत्नवान् हैं। 'नमस्यन्तश्च' – यहाँ 'च' से – श्रवण, पादसेवनादि सभी भक्ति अङ्गों को समझना चाहिए। 'नित्ययुक्तः' अर्थात् वे भविष्य में भी मेरे नित्य संयोग की आकांक्षा करते हुए मेरा भजन करते हैं। इस श्लोक में 'मां कीर्तयन्ते', 'माम् उपासते' – इन दोनों पदों का यही तात्पर्य है कि मेरा कीर्तनादि ही मेरी उपासना है। अतः 'माम्' शब्द से पुनरुक्ति दोषकी आशंका नहीं है अपितु ध्यान आकर्षित करने के लिए ऐसा कहा गया है ॥14॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥15॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन, आर्त्तादि भक्तों से अनन्य भक्त श्रेष्ठ हैं एवं 'महात्मा' कहलाते हैं मैंने तुम्हें कई प्रकार से समझाया। अब उनसे न्यून तीन प्रकार के भक्तों की बात बताता हूँ। पण्डित व्यक्ति इन तीन प्रकार के भक्तों को 'अहंग्रहोपासक' 'प्रतीकोपासक' एवं 'विश्वरूपोपासक' कहते हैं। उन तीन प्रकार के भक्तों में से अहंग्रहोपासक ही प्रधान हैं, वे अपने आपको भगवान् होने का अभिमान करते हुए उपासना करते हैं, यही परमेश्वर यजनरूप एक प्रकार का 'यज्ञ' है। इसी अभेदज्ञानरूप यज्ञ का यजन करते हुए अहंग्रहोपासक ब्रह्म की उपासना करते हैं। प्रतीकोपासकगण उनसे थोड़ा

कम हैं, यह भगवान् से अपने आप को पृथक् समझ कर सूर्य और इन्द्रादि देवताओं को भगवान् की विभूति समझ उनकी उपासना करते हैं। इनसे भी मन्दबुद्धि व्यक्ति 'विश्वरूप' के रूप में भगवान् की उपासना करते हैं, इस तरह तीन प्रकार के ज्ञानयज्ञ देखे जाते हैं॥ 15॥

अन्वय - अपि च (और दूसरे) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानरूप यज्ञ के द्वारा) यजन्तः (यजनकारी) अन्ये (अहंग्रहोपासक अर्थात् अपने आपको भगवान् समझने वाले) एकत्वेन (अभेद चिन्तन द्वारा और कई प्रतीकोपासकगण) [अन्ये] [प्रतीकोपासकगण] पृथक्त्वेन (विष्णु ही आदित्यरूप में विराजमान है, इस प्रकार भेदचिन्तन द्वारा [अन्ये] [कई विश्वरूप की उपासना करने वाले] बहुधा (कई प्रकार से) विश्वतोमुखम् (विश्वरूप मेरी) उपासते (उपासना करते हैं।)॥ 15॥

टीका—तदेवं अत्राध्याये पूर्वाध्याये च अनन्यभक्त एव महात्मशब्दवाच्यः, आर्त्तादिसर्वभक्तेभ्यः श्रेष्ठ इति दर्शितम्। अथान्येऽपि अनुक्तपूर्वा ये त्रिविधा भक्ताः पूर्वतो न्यूनाः 'अहंग्रहोपासकाः' 'प्रतीकोपासकाः' विश्वरूपोपासकास्तान् दर्शयति। ज्ञानयज्ञेनेति अन्ये न महात्मनः पूर्वोक्त-साधनानुष्ठानासमर्था इत्यर्थः, ज्ञानयज्ञेन "तं वा अहमस्मि भगवो देवता अहं वै त्वमसि" इत्यादि-श्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वात् यज्ञस्तेन, चकार एवार्थे, अपि-शब्दः साधनान्तरत्यागार्थः, एकत्वेन उपास्योपासकयोरभेदचिन्तनरूपेण। ततोऽपि न्यूना अन्ये पृथक्त्वेन भेदचिन्तनरूपेण 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादिश्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनेन ज्ञानयज्ञेन। "अन्ये ततोऽपि मन्दा बहुधा बहुभिः प्रकारै
सर्वात्मानं मामेवोपासते" इति मधुसूदन-सरस्वतीपादानां व्याख्या। अत्र 'नादेवो देवमर्च्चयेत्' इति तान्त्रिकदृष्ट्या गोपालोऽहम् इति भावनावत्त्वे या गोपालोपासना, सा 'अहंग्रहोपासना'। तथा ''यः परमेश्वरो विष्णुः स हि सूर्य एव नान्यः; स हि इन्द्र एव नान्यः, स हि सोम एव नान्यः'' इत्येवं भेदेन एकस्या एव भगवद्विभूतेर्या उपासना सा 'प्रतीकोपासना'। 'विष्णुः सर्वः' इति समस्त-विभूत्युपासना विश्वरूपोपासनेति ज्ञानयज्ञस्य त्रै
पृथक्त्वेन इत्येक एव 'अहंग्रहोपासना'—'गोपालोऽहं''गोपालस्य दासोऽहम्' इत्युभयभावनामयी समुद्रगामिनी नदीव समुद्रभिन्नाऽभिन्ना चेति। तदा च

ज्ञानयज्ञस्य द्वै

भावानुवाद–इस अध्याय एवं पिछले अध्यायमें अनन्य भक्त को ही 'महात्मा' कहा गया है और यह दिखाया गया है कि वे आर्त्त, जिज्ञासु आदि सभी प्रकार के भक्तों से श्रेष्ठ हैं। जिनका पहले उल्लेख नहीं हुआ अब उन तीन प्रकार के भक्तों के विषय में बता रहे हैं, जो आर्त्त, ज़िज्ञासु और अर्थार्थी इन तीनों प्रकार के भक्तों से भी निम्न श्रेणी के हैं! जैसे 'अहंग्रहोपासक' 'प्रतीकोपासक' तथा विश्वरूपोपासक। ये लोग महात्मा नहीं है। अनन्य भक्त के बिना और किसी को महात्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे पूर्वोक्त साधनके अनुष्ठान में असमर्थ हैं। श्रुति में ज्ञानयज्ञ का तात्पर्य इस प्रकार बताया गया है – 'हे ऐश्वर्यसम्पन्न देवपुरुष! जो आप हैं, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही आप हैं।' यही अहंग्रहोपासना है तथा ज्ञानी इसी यजनरूप यज्ञसे परमेश्वर की उपासना करते हैं। 'च' का प्रयोग 'एव' के अर्थ में हुआ है। तथा 'अपि' शब्द का प्रयोग 'अन्य साधनों को त्यागने' के अर्थ में हुआ है। अर्थात् जो अनन्य सभी उपासनाओं को त्यागकर अहंग्रहोपासना द्वारा मेरा भजन करते हैं। वे एकत्वेन अर्थात् उपास्य और उपासक में कोई भेद न समझते हुए भजन करते हैं। इनसे भी तुच्छ 'पृथक्त्वेन' उपासनावाले हैं। जिसमें उपासक भेद–चिन्तन रूप से मेरा भजन करते हैं, जैसे श्रुति कहती है 'आदित्य ही ब्रह्म है – इन वाक्यों के अनुसार वे प्रतीकोपासनारूप ज्ञानयज्ञ द्वारा भजन करते हैं अर्थात् देवताओं को मुझ भगवान् से अलग समझकर सूर्य–इन्द्र आदि विभूतियों की पूजा करते हैं। ''इनसे भी मन्दबुद्धि वे हैं, जो विश्वतोमुखम् अर्थात् विश्वरूप मुझ सर्वात्मा की ही उपासना करते हैं।'' – इस प्रकार की व्याख्या श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती ने की है। तंत्र में कहा गया है – नादेवो 'देवमर्चयेत्' इस तन्त्रवाक्य की दृष्टि से जो देवता नहीं हैं, वे देवता का अर्चन न करें। इस वाक्य के अनुसार मैं गोपाल हूँ – इस भावना से गोपाल की उपासना ही अहंग्रहोपासना है। उसी प्रकार, जो परमेश्वर विष्णु हैं, उनके अतिरिक्त और कोई सूर्य नहीं है, वे इन्द्र हैं और कोई इन्द्र नहीं है, वे ही सोम हैं और कोई सोम नहीं है, इस प्रकार आकारभेद द्वारा एक ही भगवान् की विभूतियों की जो उपासना है, वही 'प्रतीकोपासना' है। 'विष्णु ही सर्व है' – इस प्रकार के ज्ञान से जो विभूतियों की उपासना की जाती है, वही 'विश्वरूपोपासना' है । इस प्रकार तीन प्रकार के ज्ञानयज्ञ कहे गये हैं।

अथवा, एकत्व तथा पृथक्त्व – ये एक ही है। 'अहंग्रहोपासना' अर्थात् 'मैं' गोपाल हूँ – ऐसी भावना तथा 'मैं गोपालका दास हूँ – ऐसी भावना – ये दोनों भावनाएँ समुद्रगामिनी नदी के समान समुद्रसे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। इस प्रकार ज्ञानयज्ञ दो प्रकार का कहा जा सकता है ॥ 15 ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥16 ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥17 ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥18 ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥19 ॥

मर्मानुवाद – मैं ही अग्निष्टोमादि 'श्रौत' एवं वैश्वदेवादि 'स्मार्त्त', यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा, मैं ही औषध, मैं ही मन्त्र, मैं ही घृत, मैं ही अग्नि, मैं ही होम, मैं ही जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह हूँ, मैं ही पवित्र ऊँकार हूँ। मैं ही ऋक्, साम और यजुः हूँ। मैं ही सब की गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी निवास, शरण और सुहृत् हूँ, उत्पत्ति, नाश, स्थिति, हेतु एवं अविनाशी बीज हूँ। ग्रीष्मकाल में मैं ही ताप और वर्षाकाल में मैं ही वृष्टि हूँ, मैं ही जलवर्षण करता हूँ और जल का आकर्षण करता हूँ। मैं ही अमृत, मैं ही मृत्यु हूँ एवं हे अर्जुन ! सद् असत् भी मैं ही हूँ, इस प्रकार ध्यान करते हुए विश्वरूप स्वरूप में मेरी उपासना होती है॥ 16–19 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) क्रतुः (अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म हूँ) अहम् (मैं) यज्ञः (वैश्वदेवादि स्मार्त्त कर्म) अहम् (मैं) स्वधा (पितृदेव श्राद्धादि हूँ) अहम् (मैं) औषधम् (सर्व प्राणियों की रोगनिवारक औषध हूँ) अहम् (मैं) मन्त्रः (मन्त्र हूँ) अहम् (मैं) आज्यम् (घृतादि हूँ) अहम् (मैं) अग्निः (अग्नि हूँ और) अहम् (मैं ही) हुतम् (होम क्रिया हूँ) ॥ 16 ॥

अहम् (मैं) अस्य (इस) जगतः (जगत् का) पिता (पिता) माता (माता) धाता (कर्मफल प्रदाता) पितामहः (पितामह) वेद्यम् (जानने योग्य वस्तु हूँ) पवित्रम् (पवित्र) ऊँकारः (प्रणव) ऋक् (ऋग्वेद) साम (सामवेद)

यजु:एव च (एव यजुर्वेद स्वरूप भी मैं ही हूँ) ॥ 17 ॥

गतिः (मैं ही कर्मफल) भर्त्ता (पति) प्रभुः (नियन्ता) साक्षी (शुभ अशुभ द्रष्टा) निवासः (आश्रयस्थान) शरणम् (रक्षाकर्त्ता) सुहृत् (निरुपाधिहितकारी) प्रभवः (सृष्टि) प्रलयः (प्रलय) स्थानम् (और स्थिति क्रिया) निधानम् (शंख पद्मादि निधि) अव्ययम् (अविनाशी) बीजम् (कारण हूँ) ॥ 18 ॥

अर्जुन (हे अर्जुन) अहम् (मैं) तपामि (ताप देता हूँ) वर्षम् (वर्षा करता हूँ) निगृह्णामि (आकर्षण करता हूँ) उत्सृजामि च (और पुनः वर्षा करता हूँ) [मैं] अमृतम् (मोक्ष) मृत्युः च (और संसार हूँ) अहम् (मैं) सत् (स्थूल) असत् च (और सूक्ष्म भी मैं ही हूँ) ॥ 19 ॥

टीका—बहुधोपासते कथं त्वामेव इत्याशङ्क्य आत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः। क्रतुः श्रौ
औ
जगतोऽस्य स्वकुक्षि—मध्य एव धारणात्, 'धाता' जगतोऽस्य पोषणात्, 'पितामहः' जगत्स्रष्टुः ब्रह्मणोऽपि जनकत्वात्, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शोधकं वस्तु, गतिः फलं, भर्त्ता पतिः, प्रभुर्नियन्ता, 'साक्षी' शुभाशुभद्रष्टा, 'निवासः' आस्पदम्, 'शरणं' विपद्भ्यस्त्राता, 'सुहृत्' निरुपाधिहितकारी, 'प्रभवाद्याः' सृष्टिसंहार-स्थितयःक्रियाश्चाहं,'निधानं'निधिःपद्मशङ्खादिः,'बीजं'कारणम्, 'अव्ययम्' अविनाशि, न तु व्रीह्यादिवन्नश्वरम्, आदित्यो भूत्वा निदाघे तपामि, प्रावृषि वर्षम् उत्सृजामि, कदाचिच्चै
मोक्षः,'मृत्युः'संसारः,'सदसत्'स्थूलसूक्ष्मः,—एतत् सर्वम् अहमेव इति मत्वा विश्वतोमुखं मामुपासते इति पूर्वेणान्वयः।।16-19।।

भावानुवाद-अर्जुन ने पूछा हे कृष्ण! लोग इस प्रकार भिन्न-भिन्न उपायों से आपकी उपासना क्यों करते है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीभगवान् चार श्लोकों में अपने विश्वरूपत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे हैं। 'क्रतुः' का तात्पर्य है वेदों में बताया गया अग्निष्टोमादि यज्ञ मै हूँ। स्मृति विहित वैश्वदेवादि यज्ञ मै हूँ। 'औषधम्' अर्थात् औषधि से उत्पन्न होने वाला अन्न। 'पिता' अर्थात् व्यष्टि और समष्टि जगत् का उपादान होने के कारण पिता हूँ। इस जगत् को अपनी कुक्षि में धारण करने के कारण 'माता' हूँ।

'धाता' अर्थात् जगत् का पोषण करने के कारण धाता हूँ, 'पितामह' अर्थात् जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्माजी का भी पिता होने के कारण पितामह हूँ, 'वेद्यम्' अर्थात् जानने योग्य वस्तु हूँ, 'पवित्रम्' –पवित्र करने वाला हूँ, 'गतिः' अर्थात् फल, 'भर्त्ता' अर्थात् पति, 'प्रभुः' अर्थात् नियन्ता, 'साक्षी' अर्थात् शुभ–अशुभ द्रष्टा, 'निवासः' अर्थात् आधार, 'शरणम्' अर्थात् विपत्तियों से रक्षा करने वाला हूँ। 'सुहृद्' अर्थात् निरुपाधिक हित करने वाला मैं हूँ। 'प्रभवाद्याः' अर्थात् सृष्टि, संहार एवं स्थिति कार्य करने वाला मैं ही हूँ। 'निधानम्' अर्थात् निधि अर्थात् शंख, पद्म। 'बीजमव्ययम्' अर्थात् अविनाशी बीज किन्तु, गेहूँ आदि बीजों की तरह नश्वर बीज नहीं हूँ। आदित्यरूप में मैं ग्रीष्मकाल में ताप प्रदान करता हूँ, वर्षा काल में जल बरसाता हूँ एवं कभी ग्रहरूप से वर्षा रोक भी देता हूँ। 'अमृत' अर्थात् मोक्ष हूँ 'मृत्युः' अर्थात् संसार, 'सदसत्' अर्थात् स्थूल – सूक्ष्म – ये समस्त मैं ही हूँ। इस प्रकार से जानकर वे मुझ विश्वतोमुख की उपासना करते हैं ॥ 16–19 ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ 20 ॥

मर्मानुवाद – इन तीनों प्रकार की उपासनाओं में यदि भक्ति की गन्ध भी हो तभी परमेश्वर के रूप में उपासना करता हुआ जीव क्रमशः उन–उन उपासनाओं से जनित अज्ञानरूपी मल का परित्याग कर मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करता है 'अहंग्रहोपासना' के अन्तर्गत उपासक में अपने आपको भगवान् समझने की धारणा भक्ति का अनुसरण करने से क्रमशः भक्ति के रूप में परिणत हो सकती है। 'प्रतीकोपासना' में जो अन्य देवताओं को भगवान् समझने जैसी धारणा है, वह तत्त्व आलोचना और साधु–संग के प्रभाव से सच्चिदानन्द स्वरूप मुझ में ही पर्यवसित हो सकती है। 'विश्वरूपोपासना' में जो अनिश्चित परमात्मज्ञान है, वह मेरे स्वरूप के आविर्भाव से क्रमशः दूर हो कर सच्चिदानन्द स्वरूप मध्यमाकार मुझ में ही घनीभूत हो सकता है, किन्तु इन तीन प्रकार की उपासनाओं में जिन के अन्दर भगवद् विमुखता के लक्षण अर्थात् कर्मज्ञान के प्रति रुचि होती है उनको नित्य मंगल स्वरूप भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। 'अभेद उपासक' क्रमशः भगवद् विमुखतावश मायावादरूपी कुतर्क जाल में फंसते जाते हैं। 'प्रतीकोपासकगण' ऋक्, साम और यजुर्वेद में लिखित कर्मतन्त्र में आबद्ध

होकर उपर्युक्त तीनों वेदों की कर्म का उपदेश देने वाली तीनों विद्याओं का अध्ययन करते हुए और सोमपान द्वारा धौतपाप हो जाते हैं और क्रमशः सभी यज्ञों द्वारा मेरी उपासना करते हुए स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। बाद में पुण्य से प्राप्त होने वाले देवलोक में देवताओं के दिव्य भोग भोगते हैं॥20॥

अन्वय - त्रैविद्या: (तीनों वेदों में कहे गये कर्मपरायण) सोमपा: (यज्ञशेष सोमपान करने वाले) पूतपापा: (निष्पाप व्यक्ति) माम् (इन्द्रादि के रूप में मेरी) यज्ञै: (यज्ञ के द्वारा) इष्ट्वा (पूजा करके) स्वर्गतिम् (स्वर्ग के लिए) प्रार्थयन्ते (प्रार्थना करते हैं) ते (वे) पुण्यम् (पवित्र सुरेन्द्रलोकम् (इन्द्रलोक को) आसाद्य (प्राप्त होकर) दिवि (स्वर्ग में) दिव्यान् (उत्तम) देवभोगान् (देवभोग्यसुख) अश्नन्ति (भोगते हैं)॥20॥

टीका—एवं त्रिविधोपासनावन्तोऽपि भक्ता एव मामेव परमेश्वरं जानन्तो मुच्यन्ते। ये कर्मिणस्ते न मुच्यन्ते एव इत्याह द्वाभ्यां—त्रै ऋग्यजु:सामलक्षणास्तिस्रो विद्या अधीयन्ते जानन्ति वा त्रै वेदत्रयोक्तकर्मपरा इत्यर्थ:। यज्ञै
वस्तुत इन्द्रादिरूपेण मामेव इष्ट्वा यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति सोमपास्ते पुण्यं प्राप्य।। 20।।

भावानुवाद-श्रीभगवान् आगे बोले-अहंग्रहोपासक, प्रतीकोपासक, विश्वरूपोपासक यदि मेरे भक्त बनकर मुझे परमेश्वररूप में जान पायें तभी मुक्त होते हैं, किन्तु जो कर्मी हैं, उन्हें मुक्ति नहीं मिलती है। यही बात'त्रैविद्या' इत्यादि दो श्लोकों में बता रहे हैं। जो ऋक्, यजु: और सामवेद - इन तीनों विद्याओं का अध्ययन करते हैं या इन्हें जानते हैं, वे 'त्रैविद्य' हैं अर्थात् तीनों वेदों में कहे गये कर्मों के परायण रहते हैं। वे यज्ञ द्वारा मेरी ही पूजा करते हैं। इन्द्रादि देवता मेरे ही रूप हैं - यह न जानकर वे इन्द्रादि रूप में मेरी ही पूजा करके यज्ञ के अवशेष सोमरस का पान करते हैं। सोमरस पीनेवाले वे पुण्य लाभकर स्वर्गसुख का भोग करते हैं॥ 20॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥21॥

मर्मानुवाद - बाद में उस अत्यन्त सुखजनक स्वर्ग को भोगकर पुण्य समाप्त हो जाने पर वे पुन: मृत्युलोक में आगमन करते हैं। भोगों के इच्छुक

वे व्यक्ति तीनों वेदों का अनुसरण करते हुए पुनः पुनः आवागमन करते रहते हैं ॥ 21 ॥

अन्वय– ते (वे) तम् (उन) विशालम् (विपुल) स्वर्गलोकम् (स्वर्ग लोक को) भुक्त्वा (भोगकर) पुण्ये क्षीणे (पुण्यों के समाप्त होने पर) मर्त्यलोकम् (मृत्युलोक में) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) एवम् (इस प्रकार) त्रयीधर्मम् (तीनों वेदों में विहित धर्म) अनुप्रपन्ना: (के अनुष्ठान में) कामकामा: (भोगेच्छुक व्यक्ति) गतागतम् (संसार में गमनागमन) लभन्ते (करते रहते हैं) ॥ 21 ॥

टीका—गतागतम् पुनः पुनर्मृत्युजन्मनी।। 21।।

भावानुवाद–'गतागतम्' का अर्थ है बार–बार जन्म मृत्यु ॥ 21 ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ 22 ॥

मर्मानुवाद – तुम ऐसा नहीं सोचना कि सकाम कर्मी तो सभी सुख प्राप्त करते हैं, और मेरे भक्त कष्ट उठाते हैं। मेरे भक्त अनन्य रूप से मेरा ही चिन्तन करते हैं। वे अपने शरीरनिर्वाह के लिए भक्तियोग के अनुकूल सभी विषयों को स्वीकार करते हैं, वे नित्य मेरे भजन में लगे हुए रहते हैं। वे निष्काम भावना से सब कुछ मुझे ही अर्पण कर देते हैं। मैं ही उन्हें सारे पदार्थ प्रदान करता हूँ, उनकी रक्षा भी करता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि भक्तियोग विहित विषयों को स्वीकार करने से बाहरी दृष्टि से तो समस्त विषय भोगते देखा जाता है, जिस कारण सकामी प्रतीकोपासकों और मेरे निष्काम भक्तों में कोई भेद नहीं नजर आता। किन्तु मेरे भक्तों में कामना न होने पर भी मैं उनका योगक्षेम वहन करता हूँ अर्थात् जो नहीं है वह देता हूँ यह जो है उसकी रक्षा करता हूँ। मेरे भक्तों को विशेषलाभ यह होता है कि वे मेरी कृपा से समस्त विषयों को यथायोग्य भोग कर अन्त में नित्यानन्द की प्राप्ति करते हैं, जबकि प्रतीकोपासक इन्द्रिय सुख का भोग करते हुए अन्त में पुनः कर्मक्षेत्र इस संसार में आ उपस्थित होते हैं, उनका सुख नित्य नहीं हैं। समस्त विषयों के प्रति उदासीन होते हुए भी भक्तवत्सलतावश मैं भक्तों का उपकार कर आनन्द का अनुभव करता हूँ। इसमें मेरे भक्तों का कुछ भी अपराध नहीं है, क्योंकि वे तो मेरे से कुछ भी नहीं माँगते, मै स्वयं ही उनका

अभाव पूरा करता हूँ॥ 22॥

अन्वय – अनन्याः (अन्य कामना रहित) मां चिन्तयन्तः (मेरे चिन्तन में रत) ये जनाः (जो व्यक्ति) पर्युपासते (सर्वतोभाव से मेरी उपासना करते हैं) तेषाम् (उन्हीं) नित्याभियुक्तानाम् (नित्य संयोग की कामना करने वालों का) योगक्षेमम् (योग और क्षेम) अहम् (मैं) वहामि (वहन करता हूँ) ॥22॥

टीका— मदनन्यभक्तानां सुखन्तु न कर्मप्राप्यं किन्तु मद्दत्तमेव इत्याह—अनन्या इति। नित्यमेव सदै
भावः; यद्वा नित्यसंयोगस्पृहावतां योगध्यानादिलाभः क्षेमं तत्पालनञ्च तै
शरीरपोषणभारो मयै
न चान्येषामिव तेषामपि योगक्षेमं कर्म प्राप्यमेवेत्यत आत्मारामस्य सर्वत्रोदासीनस्य परमेश्वरस्य तव किं तद्वहनेनेति वाच्यम्—"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रो पाधिनै
निष्कामत्वेन नै
स्वभक्तवात्सल्यमेव हेतुर्ज्ञेयः। न चै
भक्ताः प्रेमशून्या इति वाच्यम्; तै
ग्रहणात्। न च सङ्कल्पमात्रेण विश्वसृष्ट्यादिकर्त्तुं ममायं भारो ज्ञेयः, यद्वा भक्तजनासक्तस्य मम स्वभोग्यकान्ताभारवहनमिव तदीय-योग-क्षेमवहनमति सुखप्रदमिति।।22।।

भावानुवाद–मेरे उन भक्तों को प्राप्त होने वाला सुख कर्मों का फल नहीं है, अपितु मेरे द्वारा दिया हुआ होता है।'नित्याभियुक्तानां' अर्थात् सर्वदा ही विशेषरूप से मेरे भजन में लगे हुए विद्वानों का, क्योंकि उनके अतिरिक्त अन्य सभी अविद्वान् हैं, नित्य मेरे मिलन की इच्छा रखने वालों को योग अर्थात् ध्यानादि की प्राप्ति मेरे द्वारा प्रदत्त होती है।'क्षेमम्' अर्थात् उनके न चाहने पर भी मैं ही उनका पालन करता हूँ और उनका भार वहन करता हूँ।

यहाँ श्रीभगवान् ने 'करोमि' शब्द का प्रयोग न कर 'वहामि' शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि उनके शरीर भरण-पोषण का भार मैं स्वयं ही वहन करता हूँ, ठीक वैसे ही जैसे कि एक गृहस्थ अपने पुत्रादि के भरण-पोषण का भार वहन करता है, क्योंकि अन्य लोगों की भाँति

उनका योगक्षेम कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाला नहीं है। यहाँ यदि प्रश्न हो कि सर्वत्र उदासीन, आत्माराम, परमेश्वर आपके लिए उनके भरण-पोषण के भार को वहन करने का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर है - गोपाल तापनी उपनिषद् (पूर्व विभाग-15) में कहा गया है- 'भक्ति का अर्थ है- भजन। ऐहिक और पारलौकिक उपाधियों का परित्याग कर केवल मुझमें ही जो मनोनिवेश है, उसे 'नैष्कर्म्य' कहते हैं।' मेरे अनन्य भक्त निष्काम होते हैं, इसलिए उनमें जो सुख दृष्टिगोचर होता है, वह मेरे द्वारा ही प्रदत्त है। यह ठीक है कि मैं सर्वत्र उदासीन हूँ, पर यहाँ मेरे भक्तवात्सल्य को ही भक्तों को सुख प्रदान करने का कारण जानो। अपने इष्टदेव मुझ पर अपने पालन पोषण का भार डालने के कारण उन्हें प्रेमशून्य नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वे अपनी इच्छा से अपना भार मुझ पर नहीं डालते, मैं तो अपनी इच्छा से वह भार स्वीकार करता हूँ। सङ्कल्पमात्र से ही समस्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने वाले मेरे लिए यह भार कुछ भी नहीं है। अपितु भक्तों में आसक्त होने के कारण वह मेरे लिए उसी प्रकार अत्यन्त सुखप्रद है, जिस प्रकार लोगों को अपनी भोग्या पत्नी का भार वहन करनेमें सुख प्राप्त होता है ॥ 22 ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ 23॥

मर्मानुवाद - वास्तव में सच्चिदानन्द स्वरूप मैं ही एक मात्र परमेश्वर हूँ: मेरे से स्वतन्त्र और कोई देवता नहीं है। मैं स्व-स्वरूप में सर्वदा ही प्रपञ्चातीत अप्राकृत सच्चिदानन्द तत्त्व हूँ। अनेक लोग सूर्य आदि देवताओं की उपासना करते हैं अर्थात् संसार में मेरी माया के द्वारा प्रतिभात मेरे वैभव रूपों को ही माया में फंसे जीव अन्य-अन्य देवताओं के रूप में पूजते हैं, किन्तु विचार करने से वे देवता लोग मेरी विभूतियां है, मेरे गुणावतार हैं उनके एवं मेरे स्वरूपतत्त्व से अवगत होकर जो मेरे गुणावतार उन देवताओं का भजन करते हैं उनका भजन वैध अर्थात् उन्नति का सोपान है। देवताओं को नित्य वस्तु मानकर उनकी उपासना करना, अविधि-पूर्वक भजन है। इससे उन्हें नित्यफल की प्राप्ति भी नहीं होती॥ 23॥

अन्वय - कौन्तेय (हे कौन्तेय) अन्यदेवता भक्ताः ये अपि (जो भक्त अन्य देवताओं की) श्रद्धयान्विताः (श्रद्धापूर्वक) यजन्ते (पूजा करते हैं)

तेऽपि (वे भी) अविधिपूर्वकम् (मुझे प्राप्त करवाने वाली विधि के विपरीत अविधि पूर्वक) माम् एव (मेरी ही) यजन्ति (पूजा करते हैं)॥ 23॥

टीका—ननु च ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये इत्यनेन त्वया स्वस्यै त्रिविधोक्ता, तत्र बहुधा विश्वतोमुखमिति तृतीयाया उपासनाया ज्ञापनार्थम् "अहं क्रतुरहं यज्ञः" इत्यादिना स्वस्य विश्वरूपत्वं दर्शितम्, अतः कर्मयोगेन कर्माङ्गभूतेन्द्रादियाजकास्तथा प्राधान्येनै
कथं तर्हि ते न मुच्यन्ते? यदुक्तं—''त्वया गतागतं कामकामा लभन्ते" इति, "अन्तवत्तु फलं तेषाम्" इति च तत्राह—येऽपीति। सत्यं मामेव यजन्तीति किन्त्वविधिपूर्वकं मत्प्रापकं विधिं विनै

भावानुवाद-प्रभो! आपने (गीता 9/15) अपनी उपासना को तीन प्रकार का बताया, इसमें भी 'बहुधा विश्वतोमुखम्' - वाक्य से तृतीय उपासना के सम्बन्ध में समझाने के लिए आपने 'मैं क्रतु, मैं यज्ञ' इत्यादि वाक्यों से अपने विश्वरूपत्व को प्रदर्शित किया। यदि कर्मयोग में कर्म के अङ्गीभूत इन्द्रादि देवताओं के उपासक एवं प्रधानभाव से अन्य देवताओं के भक्त भी आपके ही भक्त है, तब फिर वे लोग मुक्त क्यों नहीं होते? आपने और भी तो कहा है - 'वे सकामी व्यक्ति जन्ममृत्यु के चक्र में फँसे रहते है और उनको प्राप्त होने वाले फल अनित्य हैं।' इसका क्या कारण है? श्रीभगवान् ने कहा - यह सत्य है कि वे मेरी ही आराधना करते हैं, किन्तु वे यह अविधिपूर्वक करते हैं अर्थात् मुझे प्राप्त करवाने वाली विधि का पालन किए बिना मेरी आराधना करते हैं, इसलिए वे बार-बार संसार में आना-जाना करते हैं॥ 23॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥24॥

मर्मानुवाद - मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ। जो लोग अन्य देवताओं को मुझ से स्वतन्त्र समझ कर उनकी उपासना करते हैं, उन्हीं को 'प्रतीकोपासक' कहा जाता है। वे मेरे तत्त्व से अवगत नहीं है। इसलिए अतात्त्विक उपसना करने के कारण वे तत्त्व से च्युत हो जाते हैं। सूर्यादि देवताओं को मेरी विभूति के रूप में उपासना करने से अन्त में फिर भी मंगल हो सकता है ॥24॥

अन्वय - हि (क्योंकि) अहम् (मैं ही) सर्वयज्ञानाम् (सब प्रकार के यज्ञों का) भोक्ता (भोक्ता) प्रभुःच (एवं फलदाता हूँ) तु (किन्तु) ते (वे) माम् (मुझे) तत्त्वेन (यथार्थरूप से) न अभिजानन्ति (नहीं जानते) अतः (इसलिए) च्यवन्ति (बार-बार संसार में पतित होते हैं)

टीका—अविधिपूर्वकत्वमेवाह—अहमिति। देवतान्तर-रूपेणाहमेव भोक्ता प्रभुः स्वामी फलदाता चाहमेवेति। मान्तु तत्त्वेन न जानन्ति—यथा सूर्यस्याहमुपासकः सूर्य एव मयि प्रसीदतु, सूर्य एव मदभीष्टं फलं ददातु—सूर्य एव परमेश्वर इति तेषां बुद्धिर्न तु परमेश्वरो नारायण एव सूर्यः, स एव तादृशश्रद्धोत्पादकः, स एव मह्यं सूर्योपासनाफलप्रद इति बुद्धिरतस्तत्त्वतो मदभिज्ञानाभावात्ते च्यवन्ते भगवान्नारायण एव सूर्यादिरूपेणाराध्यते इति भावनया विश्वतोमुखं मामुपासीनास्तु मुच्यन्त एव। तस्मान्मद्विभूतिषु सूर्यादिषु पूजा मद्विभूतिज्ञानपूर्विकै

भावानुवाद-अविधिपूर्वक किसे कहते हैं - इसके उत्तर में कह रहे हैं कि अन्य देवताओं के रूप में मैं ही भोक्ता, प्रभु तथा स्वामी हूँ एवं फलदाता भी मैं ही हूँ, किंतु प्रतीकोपासकगण यथार्थ रूप से यह नहीं जानते हैं। जैसे कि - वे सोचते हैं कि मैं सूर्य का उपासक हूँ, सूर्य ही मेरे ऊपर प्रसन्न होवें, सूर्य ही मुझे अभीष्ट फल प्रदान करें, सूर्य ही परमेश्वर हैं। उनकी बुद्धि में यह बात नहीं आती है कि परमेश्वर नारायण ही सूर्य हैं। वे नारायण ही ऐसी श्रद्धा उत्पन्न करने वाले हैं। वे ही मुझे सूर्य-उपासना का फल देने वाले हैं, इसलिए इस रहस्य को न जानने के कारण वे च्युत हो जाते हैं, किन्तु जो ऐसा सोचते हैं कि भगवान् नारायण ही सूर्यादि के रूप में आराधित होते हैं, ऐसी भावना के साथ विश्वतोमुख मेरी आराधना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। इसलिए सूर्यादि देवताओं को मेरी विभूतियाँ समझकर ही उनकी पूजा करनी चाहिए॥ 24॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ 25॥

मर्मानुवाद - अन्य-अन्य देवताओं को 'ईश्वर' समझकर जो उनकी उपासना करते हैं, वे अनित्य वस्तु या वस्तुधर्म का आश्रय लेकर अपने उपास्य देवता की अनित्यता को प्राप्त करते हैं। जो पितृलोक के उपासक हैं,

वे अनित्य पितृलोक को प्राप्त करते हैं, जो भूतों के उपासक हैं वे अनित्य भूतलोकों को प्राप्त करते हैं और जो नित्य चित्तत्त्व स्वरूप मेरी ही उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं। इसलिए मैं फल देने के सम्बन्ध में पक्षपात नहीं करता। मेरा अटल नियम ही निरपेक्ष रूप से जीवों को कर्मफल प्रदान करता है ॥ 25 ॥

अन्वय – देवव्रता: (देवताओं की पूजा करने वाले) देवान् (देवताओं को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) पितृव्रता: (पितरों को पूजने वाले) पितॄन् (पितरों को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) भूतेज्या: (जो भूतों की उपासना करते हैं) भूतानि (भूतों को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) मद्याजिन: (एवं मेरी पूजा करने वाले) माम् (मुझे) यान्ति (प्राप्त होते हैं) ॥ 25 ॥

टीका—ननु च तत्तद्देवतापूजापद्धतौ
विधिना सा सा देवता पूज्यत एव। यथा विष्णुपूजापद्धतौ
वै
तां देवतां तद्भक्ता: प्राप्नुवन्त्येव इत्ययं न्याय एव इत्याह—यान्तीति। तेन तत्तद्देवतानामपि नश्वरत्वात् तत्तद्देवताभक्ता: कथमनश्वरा भवन्तु। ''अहन्त्वनश्वरो नित्यो मद्भक्ता अप्यनश्वरा:'' इति ते नित्या एवेति द्योतितम्—''भवानेक:शिष्यते शेषसंज्ञ:''इति,''एको नारायण एवासीन्न ब्रह्मा न च शङ्कर:''इति,''परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपरूपो मे पुरस्तादाविर्बभूव''इति, ''न च्यवन्ते च मद्भक्ता महत्यां प्रलयादपि'' इत्यादि-श्रुतिभ्य:।। 25।।

भावानुवाद-अर्जुन ने पूछा हे कृष्ण! यदि जिस देवता के पूजन की जो विधि बतायी गई है उसी विधि से यदि उसका पूजन होता है? और जिस प्रकार विष्णु - पूजा की विधि है, उस विधि से वैष्णव विष्णुपूजा करते हैं, तो इसमें अन्य-अन्य देवभक्तों का दोष ही क्या है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं - सत्य है, इसीलिए वे देवभक्त उन देवताओंको ही प्राप्त करते हैं - यही न्याय भी है। जब वे देवता ही नश्वर हैं, तो भला उनके भक्त किस प्रकार अनश्वर होंगे? किन्तु मैं अनश्वर और नित्य हूँ इसलिए मेरे भक्त भी अनश्वर और नित्य हैं। श्रीमद्भागवत द्वारा भी यह प्रमाणित होता है - 'भवानेक: शिष्यते शेषसंज्ञ:' अर्थात् अनन्त नामों से कहे जाने वाले एकमात्र आप ही अन्त में वर्तमान रहते हैं और भी वाक्य हैं जैसे- 'पहले एक

नारायण ही थे, ब्रह्मा भी नहीं थे और शिव भी नहीं थे' और 'परार्द्ध के अंत में उन्होंने समझा कि मेरा गोपरूप से उनके सम्मुख आविर्भाव हुआ है एवं 'मेरे भक्त महाप्रलय के पश्चात् भी वापस नहीं लौटते हैं' इत्यादि इन श्रुति वाक्यों से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा-शिवादि और कोई भी देवता अनश्वर नहीं है ॥ 25 ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 26 ॥

मर्मानुवाद – मेरी भक्ति के प्रभाव से विशुद्धचित्त भक्त जब मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी प्रदान करते हैं, वह मैं अत्यन्त स्नेहपूर्वक स्वीकार करता हूँ। जबकि अन्य देवताओं के उपासक बहुत श्रमपूर्वक बहुत से उपकरणों के द्वारा मेरी तात्कालिक श्रद्धा के साथ जो पूजा करते हैं, मैं उसे ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वे केवल स्वार्थवश ही मेरी पूजा करते हैं ॥ 26 ॥

अन्वय – यः (जो) भक्त्या (भक्ति के साथ) मे (मुझे) पत्रम् (पत्र) पुष्पम् (पुष्प) फलम् (फल) तोयम् (और जल) प्रयच्छति (प्रदान करते हैं) अहम् (मैं) प्रयतात्मनः (मेरी भक्ति के प्रभाव से विशुद्धचित्त उन व्यक्तियों द्वारा) भक्त्युपहृतम् (भक्ति से प्रदत्त) तत् (वह पत्रादि) अश्नामि (खाता हूँ) ॥ 26 ॥

टीका—वरं देवतान्तरभक्तावायासाधिक्यं, न तु मद्भक्तावित्याह—पत्रमिति। अत्र भक्त्येति करणं,-तृतीयायां भक्त्युपहृतमिति पौ
तृतीया, भक्त्या सहिता, मद्भक्ता इत्यर्थः। तेन मद्भक्तभिन्नो जनस्तात्कालिक्या भक्त्या यत् प्रयच्छति, तत् तेनोपहृतमपि पत्रपुष्पादिकं नै
ततश्च मद्भक्त एव पत्रादिकं यद्दाति, तत् तस्याहमश्नामि यथोचितमुपयुञ्जे। कीदृशम्? भक्त्या उपहृतं न तु कस्यचिदनुरोधादिना दत्तमित्यर्थः। किञ्च मद्भक्तस्याप्यपवित्रशरीरत्वे सति नाश्नामीत्याह—प्रयतात्मनः शुद्धशरीरस्येति रजस्वलादयो, व्यावृत्ताः, यद्वा प्रयतात्मनः शुद्धान्तःकरणस्य, मद्भक्तं विना नान्यः शुद्धान्तःकरण इति। "धौ
परीक्षिदुक्तेर्मत्-पादसेवात्यागासामर्थ्यमेव शुद्धचित्तत्वचिह्नम्, अतः क्वचित् कामक्रोधादिसत्वेऽपि उत्खातदंष्ट्रोरगदंशवत्तस्याकिञ्चित्करत्वं ज्ञेयम्।।26।।

भावानुवाद– भगवान् कह रहे हैं कि मेरी भक्ति की श्रेष्ठता यह है कि अन्य देवताओं की भक्ति में क्लेश अधिक है जबकि मेरी भक्ति में कोई क्लेश नहीं उठाना पड़ता, वह अनायास ही हो जाती है, यह भक्ति के कारण ही होता है। इस श्लोक के तृतीय पाद में भक्त्युपहृतम् एवं द्वितीय पाद में 'भक्त्या' दो बार भक्ति शब्द के प्रयोग होने से पुनरुक्ति हो रही है, इसलिए 'भक्त्या' भक्ति के साथ तृतीया विभक्ति अर्थात् भक्ति से युक्त मेरे भक्त–यह अर्थ ही संगत है। यदि कोई भक्तिरहित व्यक्ति तात्कालिक भक्ति के साथ कुछ प्रदान करता है, तो उसके द्वारा प्रदत्त पत्र – पुष्पादि को मैं नहीं ग्रहण करता हूँ। किंतु मेरे भक्त भक्तिभाव से पत्रादि जो कुछ भी देते हैं, उन द्रव्यों को मैं 'अश्नामि' अर्थात् यथा उचित उपभोग करता हूँ। परन्तु किसी के अनुरोध से दी हुई वस्तु मैं ग्रहण नहीं करता। यदि मेरे भक्त का भी शरीर अपवित्र हो, तब भी अस्वीकार कर देता हूँ, इसलिए कहते हैं – 'प्रयतात्मनः' अर्थात् जिसका शरीर शुद्ध है उसका ग्रहण करता हूँ। इस कथन से रजस्वलादि सब अशुद्धियों का निषेध किया गया है या 'प्रयतात्मनः' का तात्पर्य है – जिनका अंतःकरण सर्वथा शुद्ध है। भगवान् के भक्तों को छोड़कर और किसी का अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। परीक्षित् महाराज ने कहा है – 'पवित्र आत्मावाले पुरुष श्रीकृष्ण – पादपद्म का त्याग नहीं करते हैं।' 'शुद्धचित्त' होने का लक्षण यही है कि मेरी चरणसेवा का त्याग करने में वे असमर्थ होते हैं, अतएव यदि कभी किसी के चित्तमें काम–क्रोधादि देखा भी जाता है, तो उनका वह क्रोध विषदन्तहीन सर्प के डँसने के समान कुछ भी अनर्थ करने वाला नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए॥ 26 ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 27 ॥

मर्मानुवाद – भक्ति के अधिकारियों की चार श्रेणियां हैं, आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। भक्तिपद पर आरूढ़ होने से पहले उनका साधन तीन प्रकार का है– अंहग्रहोपासना, प्रतीकोपासना और विश्वरूपोपासना। भक्तिपद पर आरूढ़ होते समय मानव का संसार के सम्बन्ध में व्यवहार चार प्रकार का है– सकाम कर्मयोग, निष्काम–कर्मयोग, ज्ञानयोग या अष्टांगयोग। ये सब बता कर मैंने विशुद्ध भक्ति के स्वरूप की व्याख्या की है। हे अर्जुन! अब तुम अपना अधिकार निश्चित कर लो, तुम धर्मवीर के रूप में मेरे साथ अवतीर्ण

होकर मेरी लीला पुष्ट करने में लगे हुए हो, इसलिए शान्त भक्तों या सकाम भक्तों में तुम्हारी गणना नहीं हो सकती, इसलिए निष्काम–कर्म ज्ञान– मिश्रा भक्ति ही तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित होगी। इस कारण तुम्हारा कर्तव्य यह है कि तुम जो करो, जो खाओ, जो हवन करो जो तपस्या करो वह सभी मुझे अर्पण करो। कर्मजड़ लोग व्यावहारिक मतानुसार किसी अन्य संकल्प के साथ कर्म करने के बाद अन्त में मुझे अर्पण करते हैं, वह कुछ भी नहीं हैं। पहले ही मुझे अर्पण करते हुए भक्ति का अनुष्ठान करो॥ 27॥

अन्वय - कौन्तेय! (हे कुन्तीपुत्र!) यत् (लौकिक वैदिक जो भी कर्म तुम) करोषि (करते हो) यत् (जो) अश्नासि (खाते हो) यत् (जो) जुहोषि (होम करते हो) यत् (जो) ददासि (दान करते हो) यत् (जो) तपस्यसि (व्रतादि करते हो) तत् (वह) मदर्पणम् (जिस प्रकार मेरे अर्पित हो उसी प्रकार) कुरु (करो)॥ 27॥

टीका—ननु च "आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी" इत्यारभ्य एतावतीषु त्वदुक्तासु भक्तिषु मध्ये खल्वहं कां भक्तिं करवै
तावत्तव कर्मज्ञानादीनां त्यक्तुमशक्यत्वात् सर्वोत्कृष्टायां केवलायामनन्यभक्तौ नाधिकारो नापि निकृष्टायां सकामभक्तौ
प्रधानीभूतामेव भक्तिं कुर्वित्याह—यत् करोषीति द्वाभ्याम्। लौ
यत् कर्म त्वं करोषि, यदश्नासि व्यवहारतो भोजनपानादिकं यत् करोषि, यत्तपस्यसि तपः करोषि, तत् सर्वं मय्येवार्पणं यस्य तद् यथा स्यात्, तथा कुरु। न चायं निष्कामकर्मयोग एव न तु भक्तियोग इति वाच्यम्। निष्कामकर्मिभिः शास्त्रविहितं कर्मै
दृष्टेः। भक्तै
यदुक्तं भक्तिप्रकरण एव—"कायेन वाचा मनसेन्द्रियै
वानुसृतस्वभावात्। करोति यद् यत् सकलं परस्मै
इति। ननु च जुहोषीति हवनमिदमर्चनभक्त्यङ्गभूतं विष्णूद्देश्यकमेव, तपस्यतीति तपोऽप्येतदेकादश्यादिव्रतरूपमेव अत इयमनन्यै
सत्यम् अनन्या भक्तिर्हि कृत्वापि न भगवत्यर्प्यते किन्तु भगवत्यर्पितै
यदुक्तं श्रीप्रह्लादेन—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणम्" इत्यत्र "इति पुंसार्पिता विष्णौ

श्रीस्वामिचरणानां–"भगवति विष्णौ
क्रियते, न तु कृता सती पश्चादर्प्येत इत्यतः पद्यमिदं न केवलायां पर्यवसेदिति।।27।।

भावानुवाद–अर्जुन ने पूछा प्रभो! आर्त्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी से आरम्भकर अभी तक कही गई नाना प्रकार की भक्तियों में से मैं किस भक्ति का अनुसरण करूँ? इस पर भगवान् कहते हैं – हे अर्जुन! अभी तुम कर्म–ज्ञानादिका परित्याग करने में असमर्थ हो, इसलिए सर्वोत्कृष्टा या केवला या अनन्या भक्तिमें तुम्हारा अधिकार नहीं है और न ही निकृष्टा सकाम भक्तिमें भी तुम्हारा अधिकार है, इसलिए तुम निष्काम कर्म–ज्ञानमिश्रा प्रधानीभूता भक्तिको अपनाओ। यही बात दो श्लोकों में कहते हैं। तुम लौकिक अथवा वैदिक जो कुछ कर्म करो, व्यवहारवश जो कुछ भोजन–पान, और जो भी तप करो – वे सभी मुझे अर्पण करो, किंतु याद रहे कि यह न तो निष्काम कर्मयोग ही है, न ही इसे भक्तियोग कहा जा सकता है। निष्काम कर्मपरायण व्यक्तिगण शास्त्रविहित कर्मों को ही भगवान् को अर्पित करते हैं, न की व्यावहारिक कर्मों को। किन्तु भक्त अपनी आत्मा, मन, प्राण एवं समस्त इन्द्रियों के कार्यमात्र को अपने इष्टदेव भगवान् को अर्पित करते हैं। जैसे कि भक्तिप्रकरण मे कहा गया है – शरीर, वाक्य, मन, इन्द्रियों एवं बुद्धि द्वारा या स्वभाववश भक्त जो कुछ करें, उन सबको परात्पर श्रीनारायण को समर्पण करें।

यदि प्रश्न हो कि 'जुहोषि' अर्थात् हवन क्रिया अर्चन भक्ति के अङ्गीभूत विष्णु को उद्देश्य करने वाली है तथा 'तपस्यसि' अर्थात् यह तप भी एकादशी व्रत के समान है, तो इन्हें भी अनन्या भक्ति क्यों नहीं कहा जाता है? तो इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – यह ठीक है, किन्तु अनन्या भक्ति में अनुष्ठित होने के बाद कर्म भगवान् को अर्पित नहीं होता, बल्कि भगवान् को अर्पित होनेके बाद किया जाता है । जैसा कि श्रीप्रह्लाद महाराजने भी कहा है – विष्णु के चरणों में समर्पित होकर यदि श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा भक्ति की जाय तो उसको मैं उत्तम मानता हूँ। यहाँ यह स्पष्ट देखा जाता है कि विष्णु को अर्पित करते हुए ही उनकी भक्ति की जाती है, न कि करने के बाद अर्पित होती है।

श्रीधरस्वामिपाद इसकी व्याख्या में कहते हैं – विष्णु की भक्ति का अनुष्ठान विष्णु में अर्पित करते हुए किया जाता है, न कि अनुष्ठान करने के बाद उसे अर्पित किया जाता है, इसलिए यह श्लोक केवला भक्ति में पर्यवसित नहीं होता है ॥ 27 ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ 28 ॥

मर्मानुवाद – ऐसा होने से युद्धादि करने का जो भी शुभ-अशुभ फल होगा, उसके बन्धन से कर्मफल त्यागरूप संन्यासयोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हुए तुम मेरे स्वरूपगत तत्त्व को प्राप्त करोगे ॥ 28 ॥

अन्वय – एवम् (इस प्रकार) शुभाशुभफलैः (शुभाशुभ फल रूपी) कर्मबन्धनैः (कर्मबन्धन से) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे) संन्यासयोगयुक्तात्मा (कर्मफल त्यागरूप योगयुक्त होकर) विमुक्तः (मुक्त व्यक्तियों में विशिष्ट होकर) माम् उपैष्यसि (मेरे पास आओगे) ॥ 28 ॥

टीका—शुभाशुभफलै
तदिहामुत्रोपाधिनै
कर्मफलत्यागः, स एव योगः तेन युक्त आत्मा मनो यस्य सः। न केवलं युक्त एव भविष्यसि, अपि तु विमुक्तो मुक्तेष्वपि विशिष्टः सन् मामुपै
परिचरितुं मन्निकटमेष्यसि,—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।" इति स्मृतेः। "मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इतिशुकोक्तेः, मुक्तेः सकाशादपि साक्षान्मत्प्रेमसेवया उत्कर्षोऽयमेवेति भावः।। 28।।

भावानुवाद–भगवान् ने कहा कि इस प्रकार तुम अनन्त शुभ और अशुभ फल वाले कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। श्रीगोपालतापनी उपनिषद् में कहा गया है – श्रीकृष्ण का भजन ही भक्ति है, लौकिक और पारलौकिक उपाधि अर्थात् फलकामनासे रहित होकर केवल उनमें मन का लग जाना ही नैष्कर्म्य है। कर्मफल का त्याग ही संन्यास है। यही योग है। जो ऐसे योग से युक्त हैं वे युक्तात्मा हैं। इस प्रकार योग से तुम केवल मुक्त नहीं, अपितु विमुक्त हो जाओगे अर्थात् मुक्तों में विशिष्ट होकर साक्षात् मेरी परिचर्या के लिए मेरे पास आओगे। श्रीमद्भावत में वर्णित है – 'हे महामुने!

इस प्रकार करोड़ों मुक्त और सिद्धों में भी नारायण – परायण प्रशान्तात्मा भक्त अत्यन्त दुर्लभ है।' और (भा 5/6/18) भी कहा गया है 'वह मुक्ति तो प्रदान करते हैं, किन्तु भक्ति नहीं देते हैं।' श्रीशुकदेव गोस्वामी की इस उक्ति से यह पता चलता है कि मुक्ति की अपेक्षा भी मेरी साक्षात् प्रेमसेवा का उत्कर्ष है॥ 28॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 29॥

मर्मानुवाद – मेरा रहस्य यही है कि मैं सभी प्राणियों के साथ समान व्यवहार करता हूँ। न तो मेरा कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय। यही मेरी साधारण विधि है, किन्तु मेरी विशेष विधि यह है कि जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं वे मुझ में आसक्त और मैं उनमें आसक्त हो जाता हूँ॥ 29॥

अन्वय – अहम् (मैं) सर्वभूतेषु (सब प्राणियों में) समः (समान हूँ) मे (मेरा) द्वेष्यः (अप्रिय) न अस्ति (नहीं है) प्रियः न (और प्रिय भी नहीं है) ये तु (किन्तु जो) माम् (मेरा) भक्त्या (भक्ति पूर्वक) भजन्ति (भजन करते हैं) ते (वे) मयि (मुझ में जैसे आसक्त होते हैं) अहम् अपि (मैं भी) तेषु च [तथा आसक्तः] [उनके प्रति वैसा ही आसक्त रहता हूँ]॥ 29॥

टीका—ननु भक्तानेव विमुक्तीकृत्य स्वं प्रापयसि, न त्वभक्तानिति चेत्तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतं वै
वर्त्तन्ते, अहमपि तेषु वर्त्ते इति व्याख्याने भगवत्येव सर्वं जगद्वर्त्तत एव, भगवानपि सर्वजगत्सु वर्त्तत एव इति नास्ति विशेषः, तस्मात् "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथै भजाम्यहम्" इति न्यायेन, मयि ते आसक्ता भक्ता वर्त्तन्ते यथा तथाहमपि तेष्वासक्त इति व्याख्येयम्। अत्र कल्पवृक्षादि- दृष्टान्तस्त्वेकांशेनै
हि कल्पवृक्षफलाकाङ्क्षया तदाश्रिता आसज्जन्ति नापि कल्पवृक्षः स्वाश्रितेष्वासक्तः, नापि स आश्रितस्य वै
स्वहस्तेनै
केचित्तु तु-कारस्य भिन्नोपक्रमार्थत्वमाख्याय भक्तवात्सल्यलक्षणन्तु वै मयि विद्यत एवेति, तच्च भगवतो भूषणं न तु दूषणमिति व्याचक्षते। तथा हि भगवतो भक्तवात्सल्यमेव प्रसिद्धं न तु ज्ञानि-वात्सल्यं योगिवात्सल्यं वा—यथा ह्यन्यो जनः स्व-दासेष्वेव वत्सलो, नान्यदासेषु तथै

वत्सलो न रुद्रभक्तेषु, नापि देवीभक्तेष्विति।। 29।।

भावानुवाद-अर्जुन ने कहा हे कृष्ण! यदि आप अपने भक्तों को ही मुक्त करके अपने पास ले जाते हो, अभक्तों को नहीं, तब क्या आप में भी राग-द्वेषादिजनित विषमता है? इस पर श्रीभगवान् कहते हैं - नहीं! मैं सम हूँ, मेरे में विषमता नहीं है। वे भक्त मुझ में रहते हैं, और मैं उनमें रहता हूँ। इस व्याख्या के अनुसार भगवान् में ही सम्पूर्ण जगत् रहता है और भगवान् भी सम्पूर्ण जगत् में रहते हैं, इसमें कोई विशेषता नहीं हैं इसलिए 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' अर्थात् जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, मेरी शरण ग्रहण करते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको भजता हूँ। भावार्थ है कि भक्त जिस प्रकार मुझ में आसक्त रहते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनमें आसक्त होकर उनमें वर्तमान रहता हूँ। इस विषय में कल्पवृक्षादि के दृष्टान्त को आंशिक ही समझना चाहिए, क्योंकि जो फल की आकांक्षा से कल्पवृक्ष का आश्रय लेते हैं, वस्तुतः वे कल्पवृक्ष में नहीं, उसके फल में आसक्त होते हैं। कल्पवृक्ष भी अपने आश्रित के प्रति आसक्त नहीं होता और आश्रित से वैर रखने वाले से द्वेष नहीं होता है। जबकि भगवान् तो भक्तों के वैरी का अपने हाथों से हनन करते हैं। जैसा कि भगवान् ने प्रह्लाद के उद्देश्य से कहा है - जिस समय हिरण्यकशिपु प्रह्लाद से द्रोह करेगा, उस समय ब्रह्माके वरदान से शक्तिशाली होनेपर भी निश्चय ही मैं उसका विनाश करूँगा। भक्त वात्सल्य लक्षण वाली विषमता तो मुझ में विद्यमान है ही, वह तो मेरा सर्वदा भूषणस्वरूप है, दोष नहीं। इसलिए भगवान् की भक्तवत्सलता प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मनुष्य की अपने दास के प्रति वत्सलता होती है, दूसरे के दास के प्रति नहीं, उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तों के प्रति वत्सल होते हैं, रुद्र या देवी भक्तों के प्रति नहीं॥ 29॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ 30॥

मर्मानुवाद - जो अनन्य चित्त से मेरा भजन करते हैं, सुदुराचारी होने पर भी उन्हें साधु समझना क्योंकि उनका व्यवसाय सर्वप्रकार से सुन्दर है। सुदुराचार शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझना चाहिए। बद्ध जीव का आचरण दो प्रकार का है-

'साम्बन्धिक' और 'स्वरूपगत'। शरीर की रक्षा, समाज की रक्षा और मन की उन्नति सम्बन्धी जितने प्रकार के शौच, पुण्य, पुष्टि करने वाले और अभाव दूर करने वाले आचरण किये जाते हैं वे सारे 'साम्बन्धिक' हैं। शुद्ध जीव स्वरूप आत्मा का मेरे प्रति जो भजन आचरण है, वह जीव का स्वरूपगत है। इसी का दूसरा नाम 'अमिश्रा' या 'केवला' भक्ति है। बद्ध दशा में जीव की केवला भक्ति भी साम्बन्धिक-आचरण के साथ अनिवार्य सम्बन्ध रखती है। बद्ध जीव की अनन्य भजनरूपी भक्ति उदित होने पर भी देह रहने तक साम्बधिक आचरण अवश्य रहेगा। भक्ति के उदित होने पर जीव की अन्य कामों में रुचि नहीं रहेगी। जितनी मात्रा में कृष्ण में रुचि समृद्ध होती है, उतनी मात्रा में अन्य रुचियां क्षय होती रहती हैं। बिल्कुल समाप्त न होने तक कभी-कभी अन्य तरफ की रुचि अपना प्रभाव दिखाती हुयी कदाचार का अवलम्बन करती है, किन्तु अतिशीघ्र ही वह कृष्ण रुचि द्वारा दमित हो जाती है। भक्ति की उन्नति-सोपान पर आरूढ़ जीवों के कार्य सर्वांग सुन्दर हैं। उसमें यद्यपि घटनावश दुराचार यहां तक कि सुदुराचार (परहिंसा, परद्रव्यहरण, परस्त्रीगमन, जिनमें भक्तों की सहज रुचि नहीं हो सकती) देखे जाते हैं, वह भी शीघ्र ही दूर हो जायेंगे। इनके द्वारा प्रबल प्रवृत्तिरूपा मेरी भक्ति दूषित नहीं होती, यही जानना। किसी-किसी परम भक्त द्वारा भूतकाल में किये गये मत्स्यादि भोजन एवं परस्त्री-संग आदि को देखते हुए भी उन्हें असाधु नहीं समझना॥ 30॥

अन्वय - चेत् (यदि) सुदुराचारः अपि (अतिकुत्सित आचारी व्यक्ति भी) अनन्य भाक् (दूसरों का भजन त्याग एक मात्र) माम् (मेरा) भजते (भजन करते हैं) सः (वे) साधुः एव (साधु ही) मन्तव्यः (माने जाते हैं) हि (क्योंकि) सः (वे सुन्दर निश्चय वाले होते हैं)॥ 30॥

टीका—स्वभक्तेष्वासक्तिर्मम स्वाभाविक्येव भवति सा दुराचारेऽपि भक्ते नापयाति तमप्युत्कृष्टमेव करोमीत्याह—अपि चेदिति। सुदुराचारः परहिंसा-परदार-परद्रव्यादिग्रहण-परायणोऽपि मां भजते चेत्, कीदृग्भजनवानित्यत आह—अनन्यभाक् मत्तोऽन्यदेवतान्तरं मद्भक्तेरन्यत् कर्मज्ञानादिकं, मत्कामनातोऽन्यां राज्यादिकामनां न भजते स साधुः। नन्वेतादृशे कदाचारे दृष्टे सति कथं साधुत्वम्? तत्राह—मन्तव्यो मननीयः साधुत्वेनै

स्यात्; अत्र मदाज्ञै
परदारादिग्रहणांशेनासाधुश्च स मन्तव्यस्तत्राह—एवेति। सर्वेणाप्यंशेन साधुरेव मन्तव्यः कदापि तस्यासाधुत्वं न द्रष्टव्यमिति भावः। सम्यग् व्यवसितः निश्चयो यस्य सः। दुस्त्यजेन स्वपापेन नरकं तिर्यग्योनिर्वा यामि ऐकान्तिकं श्रीकृष्णभजनन्तु नै

भावानुवाद–भगवान् कहते हैं अपने भक्तों के प्रति मेरी आसक्ति स्वाभाविक ही है । उसके दुराचारी होने पर भी वह आसक्ति दूर नहीं होती है एवं मैं उसे भी श्रेष्ठ ही कर देता हूँ । सुदुराचारी अर्थात् परहिंसा – परस्त्री परद्रव्यादि के परायण होकर भी यदि मेरा भजन करता है, तो वह साधु ही है। वह किस प्रकार भजन करने वाला होना चाहिए ? इस के उत्तरमें कहते है – 'अनन्यभाक्' अर्थात् जो मुझे छोड़ और किसी देवता का भजन नहीं करता, मेरी भक्ति को छोड़कर ज्ञान कर्मादि का अनुष्ठान नहीं करता है, मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त राज्य–सुखादि की कोई कामना नहीं करता तो वह व्यक्ति साधु है। यहां यदि प्रश्न हो कि इस प्रकार कदाचार के होने पर उसका साधुत्व ही कहाँ रहा? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – 'मन्तव्यः' अर्थात् उसे साधु ही मानना होगा। 'मन्तव्य' इस शब्द से विधि(नियम) सूचित होती है, अतः यदि ऐसा न माना जाय तो उससे दोष होगा । इस विषय में मेरा आदेश ही प्रमाण है। यदि कहा जाय कि वह व्यक्ति आपका भजन करता है और दुराचारी भी है, अतः उसे अंशतः असाधु मानना चाहिए। परस्त्रीसंगी है इसलिए असाधु मानना चाहिए तो इसके उत्तर में कहते हैं – 'एव' अर्थात् पूर्ण अंश में उसे साधु मानना होगा। कभी भी उसका असाधुत्व नहीं देखना, क्योंकि वह 'सम्यग्व्यवसितः' अर्थात् दृढ़ निश्चयवान् है। उसका निश्चय ऐसा होता है – अपने पापों से भले ही नरक अथवा पशु–पक्षी योनियों में चला जाऊँ, किन्तु ऐकान्तिक कृष्ण–भक्तिका कभी भी परित्याग नही करूँगा॥30॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥31॥

मर्मानुवाद – हे कौन्तेय ! मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मेरी अनन्य भक्ति के पथ पर आरूढ़ जीव कभी भी पतित नहीं होगा। प्राथमिक अवस्था में

'निसर्ग' और 'घटना' वश उसमें अधर्म आचरणादि दिखने पर भी वे शीघ्र ही परम औषधिरूपा हरिभक्ति द्वारा दूर हो जायेंगे। वह जीव के नित्यधर्मरूप स्वरूपगत आचारनिष्ठ होकर पाप-पुण्य बन्धन से मुक्त होकर भक्तिजनित परम शान्ति प्राप्त कर लेगा॥ 31॥

अन्वय – क्षिप्रम् (वह व्यक्ति शीघ्र) धर्मात्मा (सदाचारनिष्ठ चित्तवाला) भवति (हो जाता है) शाश्वत (हमेशा) शान्तिम् (काम क्रोधादि शान्ति को) निगच्छति (प्राप्त हो जाता है) कौन्तेय (हे कुन्ती पुत्र) मे भक्त: (मेरे भक्त का) न प्रणश्यति (नाश नहीं होता) प्रतिजानीहि (यह प्रतिज्ञा करो)॥ 31॥

टीका—ननु तादृशस्याधर्मिण: कथं भजनं त्वं गृह्णासि कामक्रोधादिदूषितान्त:करणेन निवेदितमन्नपानादिकं कथमश्नासीत्यत आह—क्षिप्रं शीघ्रमेव स धर्मात्मा भवति। अत्र क्षिप्रं भावी स धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं गमिष्यति इति अप्रयुज्य 'भवति' 'गच्छति' इति वर्त्तमानप्रयोगात् अधर्मकरणानन्तरमेव मामनुस्मृत्य कृतानुताप: क्षिप्रमेव धर्मात्मा भवति। हन्त हन्त! मत्तुल्य: कोऽपि भक्तलोकं कलङ्कयन्नधमो नास्ति, तद्धिङ्मामिति शश्वत् पुन: पुनरपि शान्तिं निर्वेदं नितरां गच्छति, यद्वा, कियत: समयादनन्तरं तस्य भावि धर्मात्मत्वं तदानीमपि सूक्ष्मरूपेण वर्त्तत एव। तन्मनसि भक्ते: प्रवेशात् यथा पीते महौ

वर्त्तमानोऽपि न गण्यत इति ध्वनि:। ततश्च तस्य भक्तस्य दुराचारत्वगमका: कामक्रोधाद्या उत्खातदंष्ट्रोरगदंशवदकिञ्चित्करा एव ज्ञेया इत्यनुध्वनि:। अत एव शश्वत् सर्वदै

प्राप्नोतीति दुराचारत्वदशायामपि स शुद्धान्त:करण एवोच्यत इति भाव:। ननु यदि स धर्मात्मा स्यात्तदा नास्ति कोऽपि विवाद:, किन्तु कश्चिद्दुराचारभक्तो जन्मपर्यन्तमपि दुराचारत्वं न जहाति तस्य का वार्त्तेत्यतो भक्तवत्सलो भगवान् सप्रौ

अध:पातं न याति। कुतर्ककर्कशवादिनो नै

प्रोत्साहयति—हे कौ

गत्वा बाहुमुत्क्षिप्य नि:शङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु। कथम्? मे मम परमेश्वरस्य भक्तो दुराचारोऽपि न प्रणश्यत्यपि तु कृतार्थ एव भवति ततश्च ते तत्प्रौ

स्वामिचरणाः। ननु कथं भगवान् स्वयमप्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातुमर्जुनमेवादिदेश– यथै
"कौ
तदानीमेव विचारितं भक्तवत्सलेन मया स्वभक्तापकर्षलेशमप्यसहिष्णुना स्वप्रतिज्ञां खण्डयित्वापि स्वापकर्षमङ्गीकृत्यापि भक्तप्रतिज्ञै
यथा तत्रै
वादिनो वै
ते प्रतियन्ति। अतोऽर्जुनमेव प्रतिज्ञां कारयामीत्यत्रै
भक्तिश्रवणादनन्यभक्ताभिधायक-वाक्येषु सर्वत्र न विद्यतेऽन्यत्स्त्रीपुत्राद्यासक्ति- विधर्मशोकमोहकामक्रोधादिकं यत्रेति कुपण्डितव्याख्या न ग्राह्येति।।31।।

भावानुवाद–अर्जुन ने पूछा– हे कृष्ण! ऐसे अधार्मिक व्यक्ति का भजन आप कैसे ग्रहण करते हैं, काम–क्रोधादि द्वारा दूषित अन्तःकरणवाले व्यक्ति द्वारा निवेदित अन्न–पानादि को किस प्रकार भक्षण करते हैं, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं – वे शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाते हैं। और शाश्वत शान्ति प्राप्त करते हैं। यहाँ 'शीघ्र धर्मात्मा हो जायेगा' तथा 'नित्यशान्ति को प्राप्त करेगा' जैसे भविष्यत् काल के पद का प्रयोग न कर 'भवति', 'गच्छति' – इत्यादि वर्तमान काल का पद प्रयुक्त हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि अधर्म आचरण के पश्चात् ही अनुताप करते हुए पुनः पुनः मेरा स्मरण करते हुए शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाते हैं। "हाय! हाय! भक्ति के नाम को कलङ्कित करने वाला मेरे जैसा कोई और अधम नहीं है, इसलिए मुझे धिक्कार है।" इस प्रकार पुनः पुनः अनुताप करते हुए नित्य निर्वेद को प्राप्त हो जाते हैं अथवा, कुछ समय के बाद धर्मात्मत्व प्राप्त करने पर भी अधर्म सूक्ष्मरूप में वर्तमान रहता है, जैसे कि महौषध पान करने पर भी कुछ समय तक नाशवान् ज्वरका दाह या विष का दाह रहता है परन्तु वह गिना नहीं जाता। दुराचारादि बोधक काम–क्रोधादि विद्यमान रहनेपर भी वह विषदन्तहीनसर्प के दंश के समान प्रभावहीन होते हैं – ऐसा जानना चाहिए। अत एव 'शाश्वत' सर्वदा ही 'शान्तिम्' अर्थात् काम–क्रोध आदिका उपशम अद्वितीय रूप में प्राप्त होता है। दुराचारी की अवस्था में भी वे शुद्ध अंतःकरणवाले

ही कहलाते हैं।

श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं – यदि वे धर्मात्मा हो जायँ, तो कोई विवाद नहीं है – किन्तु दुराचारी भक्त अन्तकाल तक दुराचार का त्याग न कर पाये, तो उनके विषयमें क्या कहा जाएगा? इसके उत्तर में श्रीभगवान् बलपूर्वक क्रोधसहित कहते है – 'कौन्तेय मे भक्तो न प्रणश्यति' – प्राण छूटने पर भी उनका अधःपतन नहीं होता है। कुतर्क के कारण कठोर वचन बोलने वाले इसे स्वीकार नही करेंगे – ऐसा सोचकर वे शोक और शङ्का से व्याकुल अर्जुन को उत्साह प्रदान करते हुए कहते हैं – हे कौन्तेय! डंके की चोटसे महाध्वनि करते हुए विवाद करने वालों की सभा में जाकर दोनों हाथों को ऊपर करते हुए निःसन्देह 'प्रतिजानीहि' अर्थात् प्रतिज्ञा करो कि दुराचारी होनेपर भी मेरे भक्त का नाश नहीं होता है, अपितु कृतार्थ ही होता है। ऐसा होने पर तुम्हारी वाक्–चातुरीसे उनके कुतर्क खण्डित हो जाएँगे एवं निश्चय ही वे तुम्हें गुरु मानकर तुम्हारा आश्रय ग्रहण करेंगे।

यहाँ पुनः आपत्ति हो सकती है कि भगवान् ने स्वयं प्रतिज्ञा न कर अर्जुन को प्रतिज्ञा करने का आदेश क्यों दिया? जैसा कि श्रीभगवान् (18/65 में) कहेंगे – "तुम मुझे प्राप्त होओगे ही, मैं तुम्हारे निकट सत्य ही प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो," वैसे ही यहाँ श्रीभगवान् ने क्यों नहीं कहा कि हे कोन्तेय! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरे भक्त का विनाश नहीं होता है? इसके उत्तर में कहते हैं – उस समय श्रीभगवान् ने विचार किया कि मैं अपने भक्तोंका लेशमात्र भी अपकर्ष सहने में अक्षम हूँ, अतः अनेक स्थान पर मैं अपनी प्रतिज्ञा को भंग करके भी अपने भक्त की प्रतिज्ञा की रक्षा करता हूँ। जैसा कि इस युद्ध में ही अपनी प्रतिज्ञा को भङ्गकर भीष्म की प्रतिज्ञा की रक्षा करूँगा। जो बहिर्मुख तथा वितण्डावादी हैं, वे मेरी प्रतिज्ञा को सुनकर हँसेंगे, किन्तु अर्जुन के द्वारा की गई प्रतिज्ञा उनके लिए पत्थर की लकीर होगी, इसलिए अर्जुन के द्वारा ही उन्होंने प्रतिज्ञा करवाई।

ऐसे दुराचारी की भी अनन्य भक्ति के बारे में श्रवणकर कुछ लोग इस प्रकार का अर्थ करते हैं कि स्त्री–पुत्रादि के प्रति आसक्ति जनित शोक, मोह, क्रोधादि विधर्म जिसमें नहीं है, वही अनन्य भक्त है, किन्तु कुपण्डितों की ऐसी व्याख्या ग्राह्य नहीं है ॥31॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥32॥

मर्मानुवाद - हे पार्थ ! अन्त्यज, म्लेच्छ और वेश्यादि पतिता स्त्रियां तथा वैश्य-शूद्रादि नीच वर्ण वाले नर मेरी अनन्य भक्ति का विशिष्टरूप से आश्रय लेकर अविलम्ब ही परागति को प्राप्त करते हैं। मेरे शुद्धभक्ति मार्ग में आश्रित व्यक्तियों में जाति-वर्णादि सम्बन्धी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है॥ 32॥

अन्वय - पार्थ! (हे पार्थ!) ये अपि (जो लोग) पापयोनयः (अन्त्यज आदि योनियों में उत्पन्न) स्त्रियः (स्त्री) वैश्याः (वैश्य) तथा शूद्राः (एवं शूद्र) स्युः (हैं) ते अपि (वे भी) माम् (मुझे) व्यपाश्रित्य (आश्रय कर) परां गतिम् (परम गति को) यान्ति (प्राप्त होते हैं)॥ 32॥

टीका—एवं कर्मणा दुराचाराणामागन्तुकान् दोषान् मद्भक्तिर्न गणयतीति किं चित्रम्? यतो जात्यै
गणयतीत्याह—मामिति। पापयोनयोऽन्त्यजा म्लेच्छा अपि; यदुक्तम्—"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा,आभीरकङ्का यवनाःखशादयः। येऽन्ये च पापास्तदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै
श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या, ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।।" किं पुनः स्त्रीवेश्याद्या अशुद्ध्यलीकादिमन्तः।।32।।

भावानुवाद-भगवान् कहते हैं इस प्रकार मेरी भक्ति दुराचारी व्यक्ति में कर्मवश आये दोषों की गणना नहीं करती है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है? क्योंकि मेरी भक्ति जातिगत दुराचारी व्यक्तियों के स्वाभाविक दोषों की गणना नहीं करती। 'पापयोनयः' अन्त्यज़ म्लेच्छादि को कहा गया है। जैसा कि (भा 2/4/18 में भी) कहा गया है - किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, कंक, यवन और खसादि जो समस्त लोग जातिगत पाप से दुष्ट हैं एवं जो कर्म से भी पापयुक्त हैं, वे भी जिन भगवान् के आश्रित भागवतस्वरूप सद्गुरु के चरणाश्रय मात्र से ही जातिगत और कर्मगत दोषोंसे शुद्ध हो जाते हैं, उन शीलतः प्रभुतासम्पन्न भगवान् को नमस्कार है और जिनकी जिह्वा के अग्रभाग में उनका नाम एक बार भी उच्चारित होता है, वे

चाण्डाल के गृह में जन्म लेते हुए भी इस नामोच्चारणके कारण पूज्यतम हैं। जो आपके नामका कीर्तन करते हैं, वे सभी प्रकार की तपस्या, यज्ञ, सभी तीर्थों में स्नान, सभी वेदों का अध्ययन और सदाचारादि समाप्त कर चुके हैं, (भा 3/33/7)। अतः इस अशुद्धि और मिथ्या बोलने वाली स्त्रीवेश्यादि की तो बात ही क्या है?॥ 32॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ 33॥

मर्मानुवाद – जब अन्त्यज सभी जातियाँ भी मेरी विशुद्ध भक्ति की अधिकारी हो सकती हैं। उनके संसर्गजात पापाचार उनके लिए बन्धक नहीं हो सकता क्योंकि भक्ति के आविर्भाव से चित्त के सारे पाप जब अतिशीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, तब पुण्यवान् ब्राह्मण और क्षत्रियों के भी भक्तिसम्बन्धी आचार द्वारा सारे अमंगल शीघ्र ही दूर हो जायेगें, इसमें क्या सन्देह है? इसलिए इस अनित्य और असुखमय लोक में निरन्तर मेरा ही भजन करो॥ 33॥

अन्वय – पुण्याः (पवित्र) ब्राह्मणाः (ब्राह्मण) तथा (एवम्) भक्ताः राजर्षयः (भक्त क्षत्रिय) [परमगति प्राप्त करते हैं] किं पुनः (इसमें क्या आश्चर्य है?) अनित्यम् (अनित्य) असुखम् (दुःखकर) इमम् (इस) लोकम् (मनुष्यदेह को) प्राप्य (प्राप्त हो कर) माम् (मेरा) भजस्व (भजन करो)।

टीका—ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुलाः सदाचाराश्च ये भक्ताः? तस्मात्त्वं मां भजस्व।। 33।।

भावानुवाद–जब ऐसा ही है तो भला सत्कुल और सदाचारी ब्राह्मणादि जो भक्त हैं उनका तो कहना ही क्या? इसलिए हे अर्जुन! तुम मेरा भजन करो॥ 33॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ 34॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे राजगुह्य-योगो नाम नवमोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – अपने मन को मेरी भावना में नियुक्त करो। अपने शरीर

को मेरी भक्ति में नियुक्त करो। तब मेरे परायण होकर युद्धादि समस्त कर्म करके भी तुम मुझे अवश्य प्राप्त करोगे॥ 34॥

भक्ति ही राजगुह्ययोग है एवं पात्र-अपात्र के दोषों का विचार नहीं करती। दोष प्रबल हो भी जायें तब भी भक्ति द्वारा सहज ही वे नष्ट हो जाते हैं, यही इस अध्याय का अर्थ है।

नवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - मन्मनाः (मद्गत चित्त) मद्भक्तः (मेरे सेवक) मद्याजी [एवं] [मेरी पूजा पारायण] भव (हो जाओ) माम् (मुझे) नमस्कुरु (नमस्कार करो) एवम् (इस प्रकार) आत्मानम् (मन और देह) युक्त्वा (मुझ में अर्पण कर) मत्परायणः (मुझे आश्रय करो) मामेव (मुझे ही) एष्यसि (प्राप्त हो जाओगे)॥ 34॥

टीका—भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—मन्मना इति। एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि नियोज्य।। 34।।

पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शात् सर्वशोधनम्।
भक्तेरेवात्रै
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद-इस श्लोक में भजनकी प्रणाली बताते हुए इस अध्यायको समाप्त कर रहे हैं।'आत्मानम्' अर्थात् मन और देह को मुझ में नियोजित कर मेरा भजन करो॥ 34॥

भक्ति अपने स्पर्शमात्र से ही पात्र-अपात्रादि सभी को पवित्र कर देती है - यही राजगुह्य कहलाने वाले इस नवम अध्याय में कथित हुआ है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के नवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

नवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त।

नवाँ अध्याय समाप्त

दसवाँ अध्याय

विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच–

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ 1॥

मर्मानुवाद – हे महाबाहो ! तुम प्रेमवान् हो, तुम्हारे हित की कामना से मैंने पहले जो कुछ कहा है, अब उससे श्रेष्ठ कहने जा रहा हूँ, पुनः मन लगा कर सुनो॥ 1॥

अन्वय - श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो) भूय एव (पुनः) मे (मेरे) परमम् (उत्कृष्ट) वचः (वचन) शृणु (श्रवण करो) यत् (जो) प्रीयमाणाय (प्रेमयुक्त) ते (तुम्हें) अहम् (मैं) हितकाम्यया (हित के उद्देश्य से) वक्ष्यामि (कहता हूँ)॥ 1॥

टीका – ऐश्वर्यं ज्ञापयित्वोचे भक्तिं यत् सप्तमादिषु।
सरहस्यं तदेवोक्तं दशमे सविभूतिकम्।।

आराध्यत्वज्ञानकारणमै
भक्तिमतामानन्दार्थं प्रपञ्चयिष्यन् "परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्" इति न्यायेन किञ्चिद्दुर्बोधतयै
इत्यर्थः। हे महाबाहो इति, यथा बाहुबलं सर्वाधिक्येन त्वया प्रकाशितम्, तथै
शृण्वन्तमपि तं वक्ष्यमाणेऽर्थे सम्यगवधारणार्थमेव। परमं पूर्वोक्तादप्युत्कृष्टम्। ते त्वामति विस्मितीकर्त्तुं–"क्रियार्थोपपदस्य च" इति चतुर्थी, यतः, प्रीयमाणाय प्रेमवते।। 1।।

भावानुवाद–पिछले सातवें , आठवें एवं नवें अध्यायों में ऐश्वर्य के विषय में बताते हुए जिस भक्तितत्त्व के विषय में कहा गया है, उसे ही रहस्य सहित इस दशम अध्याय में कह रहे हैं।

सातवें से नवें अध्याय तक आराध्यभाव वाले ज्ञान के कारणस्वरूप जिस ऐश्वर्य की बात कही गई है, भक्तिमान् व्यक्तियों के आनन्दवर्धन के लिए उसी का पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन कह रहे हैं। 'ऋषि परोक्ष ज्ञान के व्याख्याता हैं और मैं भी परोक्षप्रिय हूँ (भा० 11 /21/35)। इस उक्ति के अनुसार श्रीभगवान् उसे थोड़ा दुर्बोधरूप से ही कह रहे हैं – 'भूयः' अर्थात् यहां फिर उस 'राजविद्या – राजगुह्यम्' को पुनः कह रहे हैं। यहाँ पर अर्जुन को हे महाबाहो! सम्बोधन करने का भाव यह है कि जिस प्रकार तुमने सबकी तुलना में अधिक बाहुबल का प्रकाश किया है, उसी प्रकार इस विषय को समझने में तुम सबसे अधिक बुद्धिबल का प्रकाश करो। तुम पहले ही सुन रहे हो फिर भी तुम्हें कहा, सुनो! क्योंकि अब जो कहने जा रहा हूँ, वह पहले कह गये सब वचनों से श्रेष्ठ है, जो तुमको अत्यन्त विस्मित करने के लिए कहने जा रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रेमी हो॥ 1॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥ 2॥

मर्मानुवाद – मैं ही देवताओं और महर्षियों का आदि कारण हूँ इसलिए वे देवता और महर्षि मेरे लीला–प्रभाव अर्थात् प्रापञ्चिक जगत् में मेरे मनुष्य

स्वरूप में उदय होने के तत्त्व से अवगत नहीं हो सकते। देवता और महर्षि सभी अपनी-अपनी बुद्धि के बल पर मेरे तत्त्व को जानने का प्रयास करते हैं, क्योंकि बुद्धि के बल पर तो मेरे तत्त्व को जाना नहीं जा सकता, इसलिए वे प्रपञ्च के विपरीत किसी अव्यक्त, अपरिस्फुट, निर्गुण, स्वरूपहीन शुष्क ब्रह्म को ही आंशिकरूप में जान कर और उसे ही परम तत्त्व समझ बैठते हैं, जबकि वह परम तत्त्व नहीं हैं। परमतत्त्वस्वरूप मैं हमेशा अचिन्त्यशक्ति के बल से स्वप्रकाश, निर्दोषगुणसम्पन्न, नित्यस्वरूप विशिष्ट सच्चिदानन्द मूर्ति हूँ। मेरी अपरा शक्ति में मेरा प्रतिफलित स्वरूप ही ईश्वर है और अपराशक्ति द्वारा बद्ध जीवों की चिन्ता से अतीत मेरी एक अस्फुट मूर्ति ही ब्रह्म है। इसलिए सृष्ट वस्तुओं में ईश्वर या परमात्मा एवं ब्रह्म मेरी ये दो प्रकार की स्फूर्ति ही अन्वय या व्यतिरेकभाव से देखी जाती है, कभी-कभी मैं स्वयं अपनी अचिन्त्य शक्ति से प्रपञ्च में स्व-स्वरूपों में उदित होता हूँ। तब धीशक्ति सम्पन्न देवता और महर्षि मेरी अचिन्त्य शक्ति की सामर्थ्य को न समझ पाने के कारण स्वंय माया द्वारा भ्रान्त होकर मेरे इस स्वरूप के आविर्भाव को 'ईश्वरतत्त्व' समझते हैं एवं शुष्क ब्रह्मभाव को श्रेष्ठ जानकर उसमें अपने स्वरूप को लय करना चाहते हैं। किन्तु मेरे सभी भक्त अपने तुच्छ ज्ञान से अचिन्त्य तत्त्व को समझना आसान नहीं जानकर मेरे प्रति भक्तिवृत्ति का ही अनुशीलन करते हैं। उससे दयालु होकर मैं उन्हें सहजज्ञान द्वारा अपने स्वरूप की अनुभूति प्रदान कर देता हूँ॥ 2॥

अन्वय- सुरगणाः (देवतालोक) महर्षयः (और महर्षि लोग) मे (मेरे) प्रभवम् (सब से विलक्षण जन्म को) न विदुः (नहीं जानते हैं) हि (क्योंकि) अहम् (मैं) देवानाम् (देवताओं) महर्षीणां च (और महर्षियों का) सर्वशः (हर प्रकार से) आदिः (कारण हूँ) ॥ 2॥

टीका—एतच्च केवलं मदनुग्रहातिशयेनै
मम प्रभवं प्रकृष्टं सर्वविलक्षणं भवं देवक्यां जन्म देवगणा न जानन्ति, ते विषयाविष्टत्वान्न जानन्तु, ऋषयस्तु जानीयुस्तत्राह—न महर्षयोऽपि। तत्र हेतुः—अहमादिः कारणं सर्वशः सवै
जानन्तीति भावः।"न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः" इत्यग्रिमानुवादादत्र प्रभव-शब्दस्यान्यार्थता न कल्प्या।। 2।।

भावानुवाद–श्रीभगवान् कहते हैं कि मेरे प्रकट होने का रहस्य केवल मेरे अतिशय अनुग्रह से ही जाना जा सकता है, अन्य किसी उपाय से नहीं। 'मम प्रभवम्' सर्वविलक्षण आविर्भाव यानी देवकी से हुए मेरे जन्म को देवता भी नहीं जानते। यदि कहो कि विषयों में लिप्त होने के कारण देवता नहीं भी जान सकते हैं, किन्तु ऋषि तो इसे जानते ही हैं, तो इसके उत्तर में कहते हैं – नहीं, ऋषि भी इसे नहीं जानते हैं क्योंकि हर प्रकार से मैं उन सब का ही आदिकारण हूँ अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में पुत्र अपने पिता के जन्मतत्त्व को नहीं जानता है, उसी प्रकार वे भी मेरे तत्त्व को नहीं जानते हैं। तो फिर सब के कारणस्वरूप मेरे जन्मतत्त्व को कौन जान पायेगा? इसी अध्याय के 14वें श्लोक में अर्जुन कहते हैं 'हे भगवान्! देवता हों या दानव – कोई भी आपके जन्म को तत्त्वतः नहीं जानते हैं।' इस वाक्य के अनुसार भी 'प्रभव' शब्द का यही अर्थ है, इसलिए दूसरे अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए॥ 2॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

मर्मानुवाद - जो लोग मेरी कृपा से यह जान पाते हैं कि मेरा यह सच्चिदानन्द (श्रीकृष्ण) स्वरूप ही सर्वश्रेष्ठ है, अनादि है, एवं मुझे सब लोकों के महेश्वर के रूप में जानते हैं, वे सब पापों से या सब अपवित्र भावों से मुक्त हो जाते हैं॥ 3॥

अन्वय – यः (जो) माम् (मुझ देवकी पुत्र को) अजम् (जन्म रहित) अनादिम् (कारण रहित) लोकमहेश्वरं च (और लोकमहेश्वर के रूप में) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) मर्त्येषु (मनुष्यों में) असंमूढः (संमोहरहित होकर) सर्वपापैः (भक्तिविरोधी पापों से) प्रमुच्यते (मुक्त हो जाते हैं)॥ 3॥

टीका—ननु परब्रह्मणः सर्वदेशकालापरिच्छिन्नस्य तवै
देवा ऋषयश्च जानन्त्येव, तत्र स्वतर्जन्या स्ववक्षः स्पृष्ट्वाह—यो मामिति। यो मामजं वेत्ति, किं परमेष्ठिनं न अनादिं सत्यं तर्हि अनादित्वादजमजन्यं परमात्मानं त्वां वेत्त्येव, तत्राह—चेति। अजमजन्यं वसुदेवजन्यञ्च मामनादिमेव यो वेत्ति इत्यर्थः। मामिति-पदेन वसुदेवजन्यत्वं बुध्यते—"जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इति मदुक्तेः, मम जन्मवत्त्वं परमात्मत्वात् सदै

अचिन्त्यशक्तिसिद्धमेव। यदुक्तं—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा सम्भवामि" इति, तथा चोद्धव-वाक्यं—"कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते" इत्याद्यनन्तरं "खिद्यति धीर्विदामिह" इति, अत्र श्रीभागवतामृतकारिका च—"तत्तन्न वास्तवं चेत् स्याद्विदां बुद्धिभ्रमस्तदा। न स्यादेवेत्यतोऽचिन्त्या शक्तिर्नानासु कारणम्।। तस्मात् यथा मम बाल्ये दामोदरत्वं लीलायामेकदै
परिच्छिन्नत्वं दाम्ना स्वाबन्धादपरिच्छिन्नत्वं चातर्क्यमेव, तथै ममाजत्व-जन्मवत्त्वे चातर्क्ये एव।'' दुर्बोधमै
सारथिमपि सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं यो वेद, स एव मर्त्त्येषु मध्ये असंमूढः सर्वपापै
स्युर्जन्मवत्त्वादीनि तु अनुकरणमात्रसिद्धानीति व्याचष्टे, स संमूढ़ एव सर्वपापै प्रमुच्यते इत्यर्थः ॥ 3 ॥

भावानुवाद-श्रीभगवान् ने कहा - अर्जुन! तुम यदि कहो कि सर्वदेश और कालादि की सीमा से अतीत आपकी इस देह का जन्म क्या देवता और ऋषि जानते हैं? तो सुनो-ऐसा नहीं है। भगवान् अपनी तर्जनी से अपने वक्षःस्थल को स्पर्श करते हुए कहते हैं - जो मुझे जन्मरहित जानते हैं वास्तव में वही मुझे जानते हैं। अर्जुन ने कहा-हे कृष्ण! क्या ब्रह्मा अनादि सत्य नहीं हैं? यदि हैं तो जन्म और कारण रहित आपको जानते ही होंगे?

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं - अजन्मा होते हुए भी जो वसुदेव से जात मुझे अनादि जानते हैं, वही तत्त्वज्ञ हैं। यहाँ 'माम्' शब्द से वसुदेवनन्दन को ही कहा गया है। 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं,' - गीता (4/9)। मेरी इस उक्ति के अनुसार परमात्मा होने के कारण मेरा जन्म ग्रहण करना और अजन्मा होना-दोनों ही नित्य परम सत्य हैं और मेरी अचिन्त्य-शक्ति से सिद्ध हैं। जैसा कि गीता (4/6) में भी कहा गया है- ''जन्मरहित और अविनाशी होते हुए भी मैं जन्म लेता हूँ।'' श्रीमद्‌भागवत (3/4/16) में उद्धव ने भी कहा है कि प्रभो! आप निःस्पृह होते हुए भी कर्म करते हैं, अजन्मा होते हुए भी जन्म लेते हैं, सब के काल होते हुए भी शत्रु के डर से भागते हैं और द्वारिका के किले में छिपे रहते हैं तथा स्वात्माराम होते हुए भी सोलह हजार स्त्रियों के साथ रमण करते हैं - इन विचित्र चरित्रों को देखकर बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी मोहित हो जाती है। इस विषय में श्रीभागवतामृत कारिका है - ''विद्वानों का बुद्धिभ्रम यद्यपि वास्तविक नहीं है, तथापि

उसका न होना ही उचित है। इसलिए भगवान् की अचिन्त्यशक्ति ही इस नानात्व या विभिन्नत्व का कारण है। जिस प्रकार बचपन में मेरी दामोदर लीला में इधर तो मेरी कमर में बंधा हुआ घुंघरूयुक्त कमरबंध जिससे मेरा सीमित होना तथा दूसरी ओर यशोदा मैयाके द्वारा विशाल रज्जु से भी उसी उदर के न बंध पाने से मेरा सीमारहित होना बुद्धि से अतीत है, उसी प्रकार एक ही साथ मेरा जन्म ग्रहण करना और अजन्मा होना बुद्धि से अतीत है।'' अपने दुर्बोध ऐश्वर्य के विषय में बता रहे हैं। 'लोकमहेश्वरम्' अर्थात् हे अर्जुन! तुम्हारे इस सारथि को जो सब लोकों के महेश्वर के रूप में जानते हैं, वे संसार के और भक्तिविरोधी समस्त पापों से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो मेरे अजत्व, अनादित्व, सर्वेश्वरत्व आदि को तो वास्तव मानते हैं, परन्तु जन्मादि ग्रहण करने को अनुकरण-मात्र कहते हैं- वे संमूढ़ हैं इसलिए पापों से मुक्त नहीं हो पाते॥ 3॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च॥ 4॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ 5॥

मर्मानुवाद - शास्त्रज्ञ पुरुष सुबुद्धि द्वारा भी मेरे तत्त्व को नहीं जान सकते उसका कारण यह है, कि सूक्ष्म अर्थों को समझने की सामर्थ्य जो 'बुद्धि', आत्म अनात्म विवेकरूपी ज्ञान और असम्मोह तथा क्षमा सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश ये सब प्राणियों के भाव हैं और मैं इन सबका आदि कारण हूँ, किन्तु इन सब से अलग हूँ। मेरे अचिन्त्य, भेदाभेद तत्त्व को जान लेने के बाद और कुछ जानने योग्य नहीं रहता। शक्ति और शक्तिमान् जैसे एक होते हुए भी अलग हैं उसी प्रकार शक्तिमान् मैं और मेरी शक्ति से निःसृत सम्पूर्ण वस्तुयें और भावमय जगत् मुझ से अभिन्न होते हुए भी भिन्न है॥ 4-5॥

अन्वय - बुद्धिः (सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ निश्चय करने की शक्ति) ज्ञानम् (आत्म अनात्म का ज्ञान) असंमोहः (मूढ़ता का अभाव) क्षमा (सहनशीलता) सत्यम् (यथार्थ भाषण) दमः (बाह्येन्द्रिय निग्रह) शमः (अन्तरिन्द्रिय निग्रह) सुखम् (सुख) दुःखम् (दुःख) भवः (जन्म) अभावः (मृत्यु) भयम् (भय)

अभयम् च (और अभय) ॥ 4 ॥

अहिंसा (अहिंसा) समता (अपने और दूसरों के दुःख को समान समझना) तुष्टिः (सन्तोष) तपः (वेदोक्त शारीरिक क्लेश अर्थात् तपस्या) दानम् (दान) यशः (यश) अयशः (अपयश) भूतानाम् (प्राणियों के ये सब) पृथग्विधाः (भिन्न प्रकार) भावाः (भाव) मत्तः एव (मेरे से ही) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) ॥ 5 ॥

टीका—न च शास्त्रज्ञाः स्वबुद्ध्यादिभिः मत्तत्वं ज्ञातुं शक्नुवन्ति, यतो बुद्ध्यादीनां सत्त्वादिवन्मायागुणजन्यत्वान्मत्त एव जातानामपि गुणातीते मयि नास्ति स्वतः प्रवेशयोग्यतेत्याह—बुद्धिः सूक्ष्मार्थनिश्चयसामर्थ्यम्, ज्ञानमात्मानात्मविवेकः, असम्मोहो वै
मत्तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन सम्भाव्यमाना इव, न तु हेतवः। प्रसङ्गादन्यानपि भावान् लोकेषु दृष्टान् न स्वत एवोद्भूतानाह—'क्षमा' सहिष्णुत्वम्, 'सत्यं' यथार्थभाषणं, 'दमो' बाह्येन्द्रियनिग्रहः, 'शमो'ऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः—एते सात्त्विकाः। 'सुखं' सात्त्विकम्, 'दुःखं' तामसम्, 'भवाभावौ
तामसम् 'अभयं' ज्ञानोत्थं सात्त्विकम्, राजसाद्युत्थं राजसम्, 'समता' आत्मौ
'तुष्टिः' सन्तुष्टिः, सा निरुपाधिः सात्त्विकी, सोपाधिस्तु राजसी, तपो-दानेऽपि सोपाधि-निरुपाधित्वाभ्यां सात्त्विक-राजसे, यशोऽयशसी अपि तथा। मत्त इति—एते मन्मायातो भवन्तोऽपि शक्तिशक्तिमतोरै
एव।। 4-5।।

भावानुवाद-शास्त्रज्ञ पुरुष भी अपनी बुद्धि द्वारा मेरे तत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि बुद्धि आदि माया के सत्त्वगुण से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए गुणों से अतीत मुझ में प्रवेश करने की इसकी योग्यता नहीं है। 'बुद्धि' अर्थात् सूक्ष्म अर्थों को निश्चय करने की समर्थता को बुद्धि कहते हैं, 'ज्ञानम्' अर्थात् आत्म-अनात्म-विवेक, 'असंमोह' अर्थात् व्यग्रता का अभाव ये तीनों प्रकार के भाव मेरे तत्त्वज्ञान के विषय में सम्भावित कारण होने पर भी वास्तव में कारण नहीं हैं। प्रसङ्गक्रम से यह भी बताते हैं कि अन्यभाव भी जो लोगों में देखे जाते हैं, वे भी स्वतः ही उत्पन्न नहीं हैं। इसीलिए कहते हैं - 'क्षमा' अर्थात् सहिष्णुता, 'सत्य' अर्थात् यथार्थ भाषण,

'दमः' अर्थात् बाह्य इन्द्रियों का निग्रह, 'शमः' अर्थात् अन्तः इन्द्रियों का निग्रह – ये सभी सात्त्विक हैं। 'सुख' सात्त्विक है, 'दुःख' तामसिक है, 'भवाभवौ' अर्थात् जन्म-मृत्यु एक दुःख विशेष तथा भय तामसिक है। ज्ञान से उत्पन्न 'अभय' सात्त्विक है, परन्तु रजोगुण से उत्पन्न अभय राजसिक है। 'समता' अर्थात् – सब के सुख-दुःखादि को अपने सुख-दुःख के समान समान देखना एवं अहिंसा सात्त्विक हैं। 'तुष्टि' अर्थात् संतोष उपाधिरहित होने पर सात्त्विक और उपाधियुक्त होने पर राजसिक है। 'तप' और 'दान' उपाधियुक्त और उपाधिरहित होने पर क्रमशः राजसिक और सात्त्विक हैं। 'यश' और 'अयश' को भी इसी प्रकार जानना चाहिए। ये सभी मेरी माया से उत्पन्न होते हैं क्योंकि माया मेरी शक्ति है इसलिए शक्तिमान् और शक्ति के अभिन्न होने के कारण इन्हें मुझ से ही उत्पन्न जानो॥ 5॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ 6॥

मर्मानुवाद – मरीचि आदि सप्त ऋषि, उन से पहले उत्पन्न सनकादि चारों ब्रह्मर्षि एवं स्वायम्भुव आदि चौदह मनु, सभी मेरी शक्ति से उत्पन्न हिण्यगर्भ से जन्म ग्रहण करते हैं, उनके ही वंश या शिष्यादि परम्परा से ये लोक परिपूर्ण हुए हैं॥ 6॥

अन्वय – सप्त महर्षयः (सप्त महर्षि और) पूर्वे (उनसे भी पहले) चत्वारः (सनकादि चार जन) तथा मनवः (एवं चौदह मनु) मद्भावाः (मेरे प्रभाव सम्पन्न) मानसाः जाताः (और हिरण्यगर्भ रूपी मेरे मन से उत्पन्न हैं) लोके (इस लोक में) येषां इमाः प्रजाः (यह सम्पूर्ण प्रजा) येषाम् (जिनकी सृष्टि है)॥ 6॥

टीका—बुद्धिज्ञानासंमोहान् स्वतत्त्वज्ञानेऽसमर्थानुक्त्वा तत्त्वतोऽपि तत्रासमर्थानाह—महर्षयःसप्त मरीच्यादयस्तेभ्योऽपि पूर्वेऽन्ये चत्वारःसनकादयो मनवश्चतुर्द्दश स्वायम्भुवादयो मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनः सकाशाद्भवो जन्म येषां ते। मानसा मन आदिभ्य उत्पन्ना जाताः अभूवन्नित्यर्थः—येषां मरीच्यादीनां सनकादीनाञ्चेमा ब्राह्मणाद्या लोके वर्त्तमानाः प्रजाः पुत्रपौ शिष्यप्रशिष्यरूपाश्च।। 6।।

भावानुवाद– यह बताकर कि बुद्धि, ज्ञान, असंमोहादि मेरे तत्त्वज्ञानको

जानने में असमर्थ हैं, अब तत्त्वतः भी इनकी असमर्थता बता रहे हैं – मरीचि आदि सप्तर्षि, उनके भी पूर्वके सनकादि चार कुमार और स्वायम्भुवादि चौदह मनु हिरण्यगर्भात्मक मुझ से उत्पन्न हुए हैं। वे मेरे मन से उत्पन्न हुए। उन्हीं मरीचि आदि एवं सनकादिके पुत्र – पौत्रादि तथा शिष्य-प्रशिष्य रूप में अर्थात् ब्राह्मणादि सारी प्रजा उनकी ही सन्तानें पृथ्वी पर विद्यमान हैं॥6॥

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 7॥

मर्मानुवाद – जो व्यक्ति तत्त्वज्ञान की चरम सीमा मेरे स्वरूपज्ञान और मेरी शक्तिजनित विभूतिज्ञान एवं क्रियायोग की चरम सीमा भक्तियोग इन दोनों को तत्त्व से जानते हैं, वह 'अविकल्प' अर्थात् निश्चल योग का अनुष्ठान करते हैं॥ 7॥

अन्वय – यः (जो पुरुष) मम (मेरी) एताम् (इस) विभूतिम् (विभूति) योगं च (और भक्ति योग को) तत्त्वतः (यथार्थ रूप से) वेत्ति (जानता है) सः (वह) अविकल्पेन (निश्चल) योगेन (तत्त्व ज्ञान द्वारा) युज्यते (युक्त होता है) अत्र (इस विषय में) संशयः न (कोई संदेह नहीं है)॥ 7॥

टीका—किन्तु भक्त्याहमेकया ग्राह्यः इति मदुक्तेर्मदनन्यभक्त एव मत्प्रसादान्मद्वाचि दृढमास्तिक्यं दधानो मत्तत्त्वं वेत्तीत्याह—एतां संक्षेपेणै वक्ष्यमाणां विभूतिं योगं भक्तियोगञ्च यस्तत्त्वतो वेत्ति, मत्प्रभोः श्रीकृष्णस्य वाक्यादिदमेव परमं तत्त्वमिति दृढतरास्तिक्यवानेव यो वेत्ति सः। अविकल्पेन निश्चलेन योगेन मत्तत्त्वज्ञानलक्षणेन युज्यते युक्तो भवेदत्र नास्ति कोऽपि सन्देहः।।7।।

भावानुवाद–किन्तु 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (भा० 11/14/21) अर्थात् ऐकान्तिकी भक्ति द्वारा ही मुझे प्राप्त किया जा सकता हैं – मेरे इस कथन के अनुसार मेरे अनन्य भक्त ही मेरी कृपा से मेरे वचनों में दृढ़ विश्वास धारण कर मेरे तत्त्व से अवगत हो जाते हैं। जो संक्षेप में कथित विभूतियों को एवं भक्तियोग को तत्त्वसे जानते हैं एवं दृढ़तर विश्वासवश ऐसा समझते हैं कि ये वाक्य मेरे प्रभु श्रीकृष्ण के हैं, इसलिए परमतत्त्व हैं, वे निःसंदेह मेरे निश्चल तत्त्वज्ञान-लक्षण-योग से युक्त होते हैं॥ 7॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ 8 ॥

मर्मानुवाद – प्राकृत और अप्राकृत सभी वस्तुओं की उत्पत्ति स्थान तुम मुझे ही जानो। जो इस प्रकार जानने के पश्चात् भाव अर्थात् शुद्ध भक्ति के साथ मेरा भजन करते हैं, वे ही पण्डित हैं बाकी सब अपण्डित हैं ॥ 8 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) सर्वस्य (प्राकृत और अप्राकृत जितनी भी वस्तुयें हैं सबकी) प्रभवः (उत्पत्ति का कारण हूँ) मत्तः (अन्तर्यामी स्वरूप मुझ से ही) सर्वम् (सारा जगत्) प्रवर्तते (चालित हो रहा है) एवं नारदादि भक्तावतार के रूप में मेरे द्वारा ही भक्ति, ज्ञान, तप कर्मादि सभी साधनों एवं उन के साध्यों का प्रवर्त्तन होता है इति (ऐसा) मत्वा (आस्तिक बुद्धि से निश्चय कर) बुधाः (विवेकी पुरुष) भावसमन्विताः (दास्य, सख्य आदि भावों से युक्त होकर) माम् (मेरा) भजन्ते (भजन करते हैं) ॥ 8 ॥

टीका—तत्र महै

वस्तुमात्रस्य प्रभवः उत्पत्ति–प्रादुर्भावयोः हेतुः। मत्त एवान्तर्यामिस्वरूपात् सर्वं जगत् प्रवर्त्तते चेष्टते, तथा मत्त एव नारदाद्यवतारात्मकात् सर्वं भक्तिज्ञानतपःकर्मादिकं साधनं तत्तत् साध्यञ्च प्रवृत्तं भवति। ऐकान्तिक–भक्तिलक्षणं योगमाह—इति मत्वा आस्तिक्यतो ज्ञानेन निश्चित्य इत्यर्थः। भावो दास्यसख्यादिस्तद्युक्ताः।। 8।।

भावानुवाद-श्रीभगवान् यहां महा ऐश्वर्य लक्षणों वाली विभूति के विषय में बताते हुए कहते हैं कि अप्राकृत और प्राकृत सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण मैं ही हूँ। अन्तर्यामिस्वरूप मुझ से ही सारा जगत् कार्यरत होता है। नारदादि अवतारों के रूप में मैं ही सब को भक्ति ज्ञान तप कर्मादि साधनों और उनके साध्यों की चेष्टा में प्रवृत्त करता हूँ – इस धारणा के साथ निश्चयपूर्वक जो दास्य – सख्यादि भावों से मेरा भजन करते हैं, वही पण्डित हैं ॥ 8 ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ 9 ॥

मर्मानुवाद – इन अनन्य भक्तों का चरित्र इस प्रकार है कि वे पूरी तरह से चित्त और प्राणों को सम्यक् रूप से मुझ में अर्पित करते हुए परस्पर

हरिकथा कहते और सुनते रहते हैं। इस प्रकार साधन अवस्था में श्रवण कीर्तन द्वारा भक्तिसुख और साध्य अवस्था में प्रेमप्राप्ति के पश्चात् मेरे साथ रागमार्ग में व्रजरस के अन्तर्गत मधुर रस तक का सम्भोगपूर्वक रमण-सुख प्राप्त करते हैं॥ 9॥

अन्वय - मच्चिता: (मेरे नाम रूपादि माधुर्य के आस्वादन के लिए लुब्धचित्त) मद्गतप्राणा: (मेरे बिना प्राण धारण करने में असमर्थ) परस्परम् (आपस में एक दूसरे को) बोधयन्त: (भक्ति के स्वरूप एवं प्रकार के विषय में चर्चा करते हुए) माम् (मेरे) कथयन्त: च (नाम रूप गुणादि के व्याख्यान द्वारा उच्च स्वर में कीर्तन करते-करते) तुष्यन्ति (सन्तुष्ट होते हैं) रमन्ति च (एवं रतिभक्ति को प्राप्त होते हैं) ॥9॥

टीका—एतादृशा अनन्यभक्ता एव मत्प्रसादाल्लब्धबुद्धियोग: पूर्वोक्तलक्षणं दुर्बोधमपि मत्तत्त्वज्ञानं प्राप्नुवन्तीत्याह—मच्चित्ता मद्रूपनामगुण- लीला- माधुर्यास्वादेष्वेव लुब्धमनस:, मद्गतप्राणा: मां विना प्राणान् धर्त्तुमसमर्था:-अन्नगतप्राणा नरा इतिवत्; बोधयन्त: भक्तिस्वरूपप्रकारादिकं सौ

मद्रूपादिव्याख्याने- नोत्कीर्त्तनादिकं कुर्वन्त:-इत्येवं सर्वभक्तिष्वतिश्रै

स्मरणश्रवणकीर्त्तनान्युक्तानि। तुष्यन्ति च रमन्ति चेति भक्त्यै

रमणञ्चेति रहस्यम्, यद्वा साधनदशायामपि भाग्यवशात् भजने निर्विघ्ने सम्पद्यमाने सति तुष्यन्ति, तदै

स्वप्रभुणा सह रमन्ति चेति रागानुगा भक्तिर्द्योतिता।। 9।।

भावानुवाद-श्रीभगवान् ने कहा - इस प्रकार के अनन्य भक्त ही मेरी कृपा से बुद्धियोग को प्राप्त करके दुर्बोध तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। 'मच्चित्ता:' अर्थात् जो मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और माधुर्य के आस्वादन के लोलुप और मद्गतप्राण होकर अर्थात् - जिस प्रकार मनुष्य अन्न के बिना प्राण धारण नहीं कर सकता, उसी प्रकार जो मेरे बिना अपने प्राणों को धारण करने में असमर्थ होकर मेरा भजन करते हैं, ऐसे व्यक्ति सौहार्दपूर्वक भक्ति के स्वरूप एवं प्रकारादि को आन्तरिकभाव से समझते हैं और महामधुर रूप-गुण-लीला के महासमुद्रस्वरूप मेरे रूपादि का व्याख्यान सहित उच्च स्वर से कीर्तन करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं।

इस तरह सभी भक्ति अंगों में से श्रवण, कीर्तन और स्मरणादि ही सर्वश्रेष्ठ कहे गये हैं। भक्ति द्वारा ही सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता हैं । यही एक रहस्य है, या यू कहें कि साधन अवस्था में भाग्यवश भजन के निर्विघ्न सम्पन्न होने से भक्त सन्तुष्ट एवं भविष्य में होने वाली अपनी सिद्ध अवस्था का स्मरण करके मन–ही–मन अपने प्रभु के साथ रमण करते हैं। यहां इस प्रकार के वचनों से श्रीभगवान् ने रागानुगा भक्ति की सूचना दी है॥ 9॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10॥

मर्मानुवाद– नित्य भक्तियोग द्वारा जो प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनको शुद्धज्ञानजनित विमल–प्रेम–योग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मेरे परमानन्द धाम को प्राप्त करते हैं॥ 10॥

अन्वय– सततयुक्तानाम् (नित्य मेरे संग के इच्छुक) प्रीतिपूर्वकम् (स्नेहपूर्वक) भजताम् (भजन करते हैं) तेषाम् (उनको) तम् (वही) बुद्धियोगम् (बुद्धियोग) ददामि (प्रदान करता हूँ) येन (जिससे) ते (वे) माम् (मुझे) उपयान्ति (प्राप्त हो जाते हैं)॥ 10॥

टीका—ननु तुष्यन्ति च रमन्ति च इति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तानां भक्त्यै परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं, किन्तु तेषां त्वत्साक्षात्प्राप्तौ
कुतः सकाशात्तै
मत्संयोगाकाङ्क्षिणां तं बुद्धियोगं ददामि, तेषां हृद्वृत्तिष्वहमेव उद्भावयामीति, स बुद्धियोगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्य–धिगन्तुमशक्यः, किन्तु मदेक–देयस्तदेकग्राह्य इति भावः। मामुपयान्ति मामुपलभन्ते साक्षान्मन्निकटं प्राप्नुवन्ति।। 10।।

भावानुवाद–अर्जुन ने कहा– हे कृष्ण! आपके यह कहने से कि वे सन्तोष और आनन्द प्राप्त करते हैं – यह बात स्पष्ट हो गई कि भक्ति द्वारा ही आपके भक्तों को परमानन्द की प्राप्ति होती है और वे गुणातीत हो जाते हैं, किन्तु यह बतायें कि वे आपका साक्षात्कार किस प्रकार करते हैं एवं किनसे इस साक्षात्कार की विधि जान सकते हैं? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि – नित्य ही मेरे संयोग की इच्छा रखने वाले उन लोगों को हृदयवृत्ति में मैं ही ऐसी उद्भावना करता हूँ, क्योंकि वह बुद्धियोग स्वयं अथवा किसी अन्य से

प्राप्त नहीं हो सकता, केवल मैं ही दे सकता हूँ और केवल वे ही ग्रहण कर सकते हैं फलस्वरूप मेरी निकटता प्राप्त करते हैं॥ 10॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥11॥

मर्मानुवाद - इस प्रकार भक्तियोग का अनुष्ठान करने वालों के पास अज्ञान कभी ठहर नहीं सकता। अनेक व्यक्तियों के मन में ऐसे विचार उदय होते हैं कि 'जो असद् वस्तु को नकार कर सद् वस्तु की खोज करते हैं वे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं। केवल भक्तिभाव का अनुशीलन करने मात्र से ही वह दुर्लभ ज्ञान पाया नहीं जाता'। हे अर्जुन! इसमें मूल बात ये है कि अपनी बुद्धि के बल पर क्षुद्र जीव कभी भी असीम सत्य के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता, चाहे कितना भी विचार क्यों न करे, विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तब भी यदि मैं कृपा करूँ तो अनायास ही मेरी अचिन्त्य शक्ति के बल से तुच्छ जीव भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो मेरे एकान्त भक्त हैं, वे अनायास ही मुझे आत्मभावस्थ करके मेरे अलौकिक ज्ञानदीप द्वारा आलोकित होते हैं। मैं विशेष अनुकम्पा करके उनके हृदय में विराजित हो जाता हूँ और मायासंगवश जो अज्ञानरूपी अंधकार उनके हृदय में उत्पन्न हुआ है उसका सम्पूर्ण रूप से नाश कर देता हूँ। शुद्ध भक्ति में जीव का अधिकार भक्ति के अनुशीलन से ही उदित होता है, तर्क से नहीं॥11॥

अन्वय- तेषाम् एव (उनके प्रति ही) अनुकम्पार्थम् (अनुग्रह करने के लिए) अहम् (मैं) आत्मभावस्थः (उनकी बुद्धिवृत्ति में अवस्थित होकर) भास्वता (उज्ज्वल) ज्ञानदीपेन (सात्त्विक ज्ञान से भी विलक्षण ज्ञानरूपी प्रदीप द्वारा) अज्ञानजम् (अज्ञानजनित) तमः (मोहरूपी अन्धकार को) नाशयामि (नाश करता हूँ) ॥ 11॥

टीका—ननु च विद्यादिवृत्तिं विना कथं त्वदधिगमः तस्मात्तै यतनीयमेव? तत्र न हि न हीत्याह—तेषामेव न त्वन्येषां योगिनाम् अनुकम्पार्थं—मदनुकम्पा येन प्रकारेण स्यात्तदर्थमित्यर्थः। तै कापि चिन्ता न कार्या यतस्तेषां मदनुकम्पा-प्राप्त्यर्थमहमेव यतमानो वर्त्त एवेति भावः। आत्मभावस्थः तेषां बुद्धिवृत्तौ सात्त्विकं निर्गुणत्वेऽपि भक्त्युत्थज्ञानतोऽपि विलक्षणं यत्तदेव दीपस्तेन।

अहमेव नाशयामीति तै
योगक्षेमं वहाम्यहम्" इति मदुक्तेस्तेषां व्यावहारिकः पारमर्थिकश्च सर्वोऽपि भारो मया वोढुमङ्गीकृत एवेति भावः।

श्रीमद्गीता सर्वसारभूता भूतापतापहृत्।
चतुःश्लोकीयमाख्याता ख्याता सर्वनिशर्मकृत्।। 11।।

भावानुवाद- विद्यावृत्ति के बिना आपको कोई कैसे प्राप्त कर सकता है? उन्हें प्रथम उस विद्यावृत्ति के लिए तो यत्न करना ही होगा इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं–नहीं–नहीं अन्य योगियों की यहां बात नहीं कह रहा हूँ, केवल अपने अनन्य भक्तों पर किस प्रकार कृपा करता हूँ, यही बता रहा हूँ। मेरी कृपा प्राप्त करने के लिए मेरे भक्तों को कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि उनके ऊपर कृपा करने के लिए मैं ही यत्नशील रहता हूँ। 'आत्मभावस्थ' अर्थात् उनकी बुद्धिवृत्ति में स्थित होकर ज्ञानरूप दीपसे हृदय के अन्धकार को दूर कर देता हूँ। एकमात्र मुझे प्रकाशित करने वाला ज्ञान सात्त्विक नहीं, अपितु निर्गुण है। निर्गुण होने पर भी जो ज्ञान भक्ति से उत्पन्न ज्ञान से भी विलक्षण है, उस ज्ञानदीप द्वारा मैं ही उनके हृदय के अन्धकार का नाश कर देता हूँ, तो उन्हें स्वयं इसके लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? ''जो सर्वदा मेरे प्रति एकनिष्ठ है, उनका योग–क्षेम मैं ही वहन करता हूँ।'' गीता (8/22) इस उक्तिके अनुसार उनके व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी भारों को मैंने ही वहन करना स्वीकार किया है

उपर्युक्त चार श्लोक श्रीगीता के सारभूत श्लोक के रूप में विख्यात हैं और सभी जीवों के तापहारी तथा सर्वमङ्गलकारी हैं॥ 11॥

अर्जुन उवाच–

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ 12॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ 13॥

मर्मानुवाद – गीताशास्त्र के सारस्वरूप उपरोक्त चार श्लोक श्रवण करने के पश्चात्, अर्जुन ने विषय को और भी सरल रूप से समझने के लिए कहा – हे भगवन्, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास इत्यादि ऋषियों ने

और आप ने स्वयं स्थापित किया है कि सच्चिदानन्द स्वरूप आप ही परमब्रह्म, परमस्वरूप, परमपवित्र, परम पुरुष, नित्य, आदिदेव, अज और विभु हैं ॥ 12–13 ॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) परमम् (परम) पवित्रम् (पवित्र अर्थात् अविद्यारूप मल का नाश करने वाला) परं धाम (उत्कृष्ट श्रीश्याम सुन्दर वपु ही) परं ब्रह्म (पर ब्रह्म है) [तद्धाम एव] [और वह वपु ही] भवान् (आप है) [इति अहं वेद्मि] [यह मैं जानता हूँ]

तथा (एवं) सर्वे ऋषयः (सभी ऋषिगण) देवर्षिः नारदः (देवर्षि नारद) असितः (असित) देवलः (देवल) व्यासः (व्यास) त्वाम् (आपको) शाश्वतं पुरुषम् (नित्य पुरुष) दिव्यम् (स्वयं प्रकाशित) आदिदेवम् (आदिदेव) अजम् (जन्म रहित) विभुम् (और व्यापक) आहुः (कहते हैं) स्वयम् एव च (एवं आप स्वयं भी) मे (मुझे) ब्रवीषि (कह रहे हैं)।

टीका—सङ्क्षेपेणोक्तमर्थं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन् स्तुतिपूर्वकमाह—परमिति। परं सर्वोत्कृष्टं धाम श्यामसुन्दरं वपुरेव परं ब्रह्म,—"गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः। तद्धामै
नास्तीति भावः। धाम कीदृशम्? परं पवित्रं द्रष्टृणामविद्यामालिन्यहरम्, अतएव ऋषयोऽपि त्वां शाश्वतं पुरुषमाहुः पुरुषाकारस्यास्य नित्यत्वं वदन्ति।।12–13।।

भावानुवाद–संक्षेप में कहे गये उस अर्थ को विस्तृतरूप से सुनने की इच्छा से अर्जुन स्तुति करते हुए कहने लगे – आप 'परम्' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट हैं। 'परमधाम' अर्थात् श्यामसुन्दर शरीरधारी परब्रह्म आप हैं। जीवके समान आपमें देह और देहीका भेद नहीं है। यदि प्रश्न है कि आपका श्यामसुन्दर स्वरूप कैसा है? इसके उत्तर में कहते है–'परं पवित्रम्' अर्थात् दर्शन करने वालों की अविद्यारूपी मलिनता को नाश करने वाला है। इसलिए समस्त ऋषिगण भी आपको 'शाश्वतं पुरुषमाहुः'अर्थात् शाश्वत पुरुष कहते हैं अर्थात् इस पुरुषाकार के स्वरूप की नित्यता वर्णन करते हैं॥ 12–13॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ 14 ॥

मर्मानुवाद – हे केशव! मैं इन सब बातों को सत्य मानता हूँ कि देवता

और दानवो में से कोई भी आपके अचिन्त्य व्यक्तित्व के बारे में नहीं जानता ॥14॥

अन्वय - हि (किन्तु) भगवन् (हे भगवन्) देवाः (देवता) दानवाः (दानव) ते (आपके) व्यक्तिम् (जन्म को) न विदुः (नहीं जानते) केशव (हे केशव) माम् (मुझे) यत् (जो कुछ) वदसि (कह रहे हैं) एतत् सर्वम् (यह सब कुछ) ऋतम् (सत्य) मन्ये (मानता हूँ) ॥14॥

टीका—नात्र मम कोऽप्यविश्वास इत्याह—सर्वमिति। किञ्च, ते ऋषयः परं ब्रह्मधामानं त्वाम् अजं आहुरेव, न तु ते व्यक्तिं जन्म विदुः—परब्रह्मस्वरूपस्य तव अजत्वं जन्मवत्त्वञ्च किं प्रकारमिति तु न विदुरित्यर्थः। अतएव "न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः" इति यस्त्वयोक्तं तत् सर्वं ऋतं सत्यमेव मन्ये। हे केशव,—को ब्रह्मा ईशो रुद्रश्च तावपि वयसे स्वतत्त्वाज्ञानेन बध्नासि किं पुनर्देवदानवाद्याः त्वां न विदन्तीति वाच्यम् इति भावः।। 14।।

भावानुवाद-अर्जुन ने कहा- हे केशव! इस विषय में मुझे लेशमात्र भी अविश्वास नहीं है। और भी सभी ऋषि आप को परमधाम एवं अजन्मा कहते हैं, किन्तु वे आपके 'व्यक्तिम् अर्थात् जन्म को नहीं जानते हैं। परब्रह्मस्वरूप आपके अजत्व और जन्मत्व दोनों ही एक साथ कैसे सम्भव हैं, यह उनकी समझ में नही आता है, इसलिए आपने 12वें श्लोक में जो कुछ कहा कि – ''देवता और महर्षि मेरे आविर्भाव के विषयमें नहीं जानते हैं।'' इत्यादि, वह सब मैं सत्य ही स्वीकार करता हूँ। हे केशव! 'क' = ब्रह्मा, 'ईश'= रुद्र – इन दोनोंको ही जब आपने अपने तत्त्व के विषय में अज्ञान द्वारा आबद्ध कर रखा है, तब यदि अन्य-अन्य देव और दानवादि आपको नहीं जान सकते, तो इसमें क्या आश्चर्य है?॥ 14॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावनभूतेश देवदेव जगत्पते ॥15॥

मर्मानुवाद – हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देव-देव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनी चिच्छक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व से परिचित हैं। जगत् की सृष्टि से पहले जो आपका सनातनरूप विद्यमान रहता है वह सच्चिदानन्द स्वरूप इस जड़ संसार में किस प्रकार व्यक्त होता है, यह बात

मानव या देव कोई भी अपनी-अपनी युक्तियों और तर्कों द्वारा नहीं समझ सकते। आप जिन पर कृपा करें केवल वही समझ सकते हैं॥ 15॥

अन्वय - पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम) भूतभावन (सब प्राणियों के पिता) भूतेश (हे भूतेश) देव-देव (देवताओं के आराध्य) जगत्पते (हे जगत् पते) त्वम् (आप) स्वयम् एवं (स्वयम् ही) आत्मना (अपने द्वारा) आत्मानम् (अपने आप को) वेत्थ (जानते हो) ॥ 15॥

टीका—तस्मात्त्वं स्वयमेवात्मानं वेत्थ इति एव-कारेण तवाजत्व-जन्मवत्त्वादीनां दुर्घटानामपि वास्तवत्वमेव त्वद्भक्तो वेत्ति, तच्च केन प्रकारेणेति तु सोऽपि न वेत्तीत्यर्थः। तदप्यात्मना स्वेनै
अत एव त्वं पुरुषेषु महत्स्रष्टादिष्वपि मध्ये उत्तमः, न केवलमुत्तम एव, यतो भूतभावनः, भूता भूतभावनरूपा ये तदादयः परमेष्ठ्यन्तास्तेषामीशः न केवलमीश एव, यतो देवै
ते इत्यर्थः। तदप्यपारकारुण्यवशाद् जगद्- वर्त्तिनामस्मादृशानामपि त्वमेव पतिर्भवसीति चतुर्णां सम्बोधनपदानामर्थः; यद्वा पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति—हे भूतभावन सर्वभूतपितः, पितापि कश्चिन्नेष्टे, तत्राह—हे भूतेश, भूतेशोऽपि कश्चिन्नाराध्यस्तत्राह—हे देव-देव देवाराध्योऽपि कश्चिन्न पालयतीति, तत्राह—हे जगत्पते।

भावानुवाद-अर्जुन कहते हैं- हे केशव! आप स्वयं ही अपने आपको जानते हैं। यहां 'एव' शब्द से अभिप्राय है कि आपके दुर्घट अजत्व और जन्मत्व आदि की वास्तविकता को आपके भक्त ही जानते हैं, किन्तु यह किस प्रकार सम्भव होता है, यह वे भी नहीं जानते। वह आप स्वयं ही जानते हैं, अन्य साधन द्वारा नहीं। इसलिए आप पुरुषोत्तम हैं अर्थात् महत् - तत्त्व की सृष्टि करने वाले महाविष्णु से भी उत्तम हैं। केवल उत्तम ही नहीं आप भूतभावन भी हैं अर्थात् आप प्राणिमात्र से लेकर परमेष्ठी ब्रह्मापर्यन्त सभी के ईश हैं। केवल ईश ही नहीं हैं, आप देवदेव हैं अर्थात् ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं के साथ क्रीड़ा करने वाले हैं अर्थात् वे आपकी क्रीड़ा के उपकरण हैं। आप जगत्पति हैं अर्थात् आप अपार करुणावश जगत् में रहने वाले मेरे जैसे समस्त जीवों के भी स्वामी हैं। इस प्रकार श्लोक में वर्णित, भूतभावन, भूतेश, देवदेव और जगत्पते इन सम्बोधनों का पृथक् अर्थ किया

गया है ये चारों सम्बोधन पुरुषोत्तम शब्द की व्याख्या मात्र है जैसे– हे भूतभावन! आप सभी भूतों के पिता हैं। पिता होने पर भी कोई कोई प्रभुत्व नहीं करते, किन्तु हे भूतेश! आप सभी भूतों के ईश हैं। भूतेश होकर सब कोई आराध्य नहीं होते, किन्तु हे देवदेव! आप देवताओं के भी आराध्य हैं। सब आराध्य पालनकर्ता नहीं होते, किन्तु हे जगत्पते! आप जगत् का पालन करने वाले भी हैं॥ 15॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ 16॥

मर्मानुवाद – आपका स्वरूप तत्त्व आपकी कृपा से मैं अपने हृदय एवं नेत्रों के सामने आविर्भूत होते देख रहा हूँ, इससे मैं कृतार्थ हो गया हूँ, किन्तु जिन सब विभूतियों के द्वारा आप सारे लोकों में व्याप्त हैं, उन सब आत्मविभूतियों को सम्पूर्ण रूप से जानने की इच्छा करता हूँ। आप अनुग्रह करके मुझ से कहिये।। 16॥

अन्वय – त्वम् (आप) याभिः (जिन-जिन) विभूतिभिः (ऐश्वर्यों के द्वारा) इमान् (इन) लोकान् (लोकों को) व्याप्य (व्याप्त करके) तिष्ठसि (स्थित हैं) [ताः] [उन्हीं] दिव्याः (उत्कृष्ट) आत्मविभूतयः (अपने ऐश्वर्यों के विषय में) अशेषेण (सम्पूर्ण रूप से) वक्तुम् अर्हसि (कहिये)॥ 16॥

टीका—तव तत्त्वं दुर्गमस्तव विभूतिष्वेव मम जिज्ञासा जायत इति द्योतयन्नाह—वक्तुमिति। दिव्या उत्कृष्टा या आत्मविभूतयस्तावद्वक्तुमर्हसीत्यन्वयः। नन्वशेषेण मद्विभूतयः सर्वा वक्तुमशक्या एव, तत्राह—याभिरिति।। 16।।

भावानुवाद–हे पुरुषोत्तम! आपका तत्त्व समझना बड़ा कठिन है, आपकी विभूतियों के विषय में जानने की मेरी इच्छा हो रही है। यदि आप कहें कि सम्पूर्णरूप से मेरी विभूतियाँ नहीं कही जा सकती हैं, तो आपकी जो दिव्य अर्थात् उत्कृष्ट-उत्कृष्ट आत्मविभूतियाँ हैं, उन्हें ही बतावें।। 16॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ 17॥

मर्मानुवाद – हे योगिन्! मैं किस प्रकार आपका चिन्तन करता हुआ आप को जानूँ? और किन-किन भावों में आप मेरे द्वारा चिन्तनीय हैं?॥ 17॥

अन्वय - योगिन्! (हे योगमाया शक्ति विशिष्ट) त्वाम् (आपको) सदा (सर्वदा) कथम् (किस प्रकार) परिचिन्तयन् (चिन्तन करता हुआ) विद्याम् (जानूँगा) भगवन् (हे भगवन्) मया (मेरे द्वारा) केषु-केषु (किन-किन) भावेषु (पदार्थों में) [आप] चिन्त्य: (चिन्तनीय)असि **(हैं)** ॥ 17 ॥

टीका—योगो योगमायाशक्तिर्वर्त्तते यस्य, हे योगिन् वनमालीतिवत्। त्वामहं कथं परिचिन्तयन् सन् त्वां सदा विद्यां जानीयाम्? "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" इति त्वदुक्तेः। तथा केषु भावेषु पदार्थेषु त्वं चिन्त्यः त्वच्चिन्तनभक्तिर्मया कर्तव्या इत्यर्थः।। 17।।

भावानुवाद-'वनमाली' शब्द की तरह ही 'योगिन्' शब्द का भाव है जिनमें योगमायाशक्ति विद्यमान है। अर्जुन कहते हैं - हे 'योगिन्'! मैं किस प्रकार आपका सम्यक् चिन्तन करते-करते सर्वदा आपको जान सकता हूँ? आपने कहा है कि 'भक्ति द्वारा ही मेरे विभुत्व और मेरे स्वरूप को यथार्थरूप में जाना जा सकता है (गीता 17 /55)।' आपकी इस उक्ति के अनुसार ही मैं यह जिज्ञासा कर रहा हूँ, कि किन-किन 'भावों' अर्थात् पदार्थों में मुझे आपकी चिन्तनभक्ति करनी चाहिए ॥ 17 ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ 18 ॥

मर्मानुवाद - हे जनार्दन! आप अपनी योग और विभूति को पुनः विस्तारपूर्वक मुझसे कहिये। आपका तत्त्वामृत श्रवण करके तृप्ति होने की बात तो दूर, श्रवण करने की प्यास ही निरन्तर बढ़ती जा रही है ॥ 18 ॥

अन्वय - जनार्दन (हे जनार्दन!) आत्मन:(आपका) योगम् (भक्तियोग को) विभूतिं च (और विभूति को) भूय: (पुन:) विस्तरेण (विस्तृतरूप से) कथय (कहिये) हि (क्योंकि) अमृतम् (आपका उपदेशामृत) शृण्वत: (श्रवण करके) मे (मेरी) तृप्ति: (तृप्ति) न अस्ति (नहीं हो रही है) ॥ 18 ॥

टीका—ननु "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इत्यनेनै पदार्था मद्विभूतयःउक्ता एव तथा "इति मत्वा भजन्ते माम्" इति भक्तियोगश्चोक्त एव? तत्राह—विस्तरेणेति। हे जनार्द्दनेति—मादृशजनानां त्वमेव हितोपदेशमाधुर्येण लोभमुत्पाद्य अर्द्दयसे याचयसीति वयं किं कुर्म इति भावः। तदुपदेशरूपममृतं शृण्वतः श्रुतिरसनया आस्वादयतः।।18।।

भावानुवाद- 'मैं ही सम्पूर्ण विश्व का कारण हूँ, सारा जगत् मुझ से ही संचालित हो रहा है' गीता (10/8) इतने में ही भगवान् सभी पदार्थों को अपनी विभूति बता चुके थे एवं 'ऐसा मानकर पण्डित मेरा भजन करते हैं' इस वाक्य से भक्तियोग भी कह चुके थे। इसपर भी अर्जुन ने कहा - हे जनार्दन! मेरे जैसे व्यक्ति के मन में हितोपदेशरूप माधुर्य द्वारा लोभ उत्पन्न करकेआप ही मेरे मुख से विस्तृतरूप से कहने की प्रार्थना करवा रहे हैं, फिर मैं क्या करूँ? क्योंकि उपदेशरूप अमृत को कर्णरूपी रसना से आस्वादन करते हुए तृप्त नहीं हो रहा हूँ, इसलिए आप विस्तारपूर्वक कहने की कृपा कीजिए॥ 18 ॥

श्रीभगवानुवाच-

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ 19॥

मर्मानुवाद - भगवान् ने कहा-हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। इसलिए प्रधान-प्रधान विभूतियों को संक्षेप में तुम से कहता हूँ। श्रवण करो ॥ 19 ॥

अन्वय - श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) हन्त (हे) कुरुश्रेष्ठ (कुरुश्रेष्ठ) अहम् (मैं) दिव्याः (उत्तम) आत्मविभूतयः (अपने प्राकृत और अप्राकृत ऐश्वर्यों को) (प्राधान्यतः प्रमुख रूप से) ते (तुम से) कथिष्यामि (कहूँगा) हि (क्योंकि) मे (मेरी) विस्तरस्य (विस्तृत विभूतियों का तो) अन्तः (अन्त ही) नास्ति (नहीं हैं)॥ 19॥

टीका—हन्तेत्यनुकम्पायां प्राधान्यतः प्राधान्येन यतस्तासां विस्तरस्यान्तो नास्ति विभूतयो विभूतिर्दिव्या उत्तमा एव न तु तृणेष्टकाद्याः। अत्र विभूतिशब्देन प्राकृताप्राकृतवस्तून्येवोच्यते तानि सर्वाण्येव भगवच्छक्ति-समुद्भूतत्त्वाद्भगवद्रूपेणै

भावानुवाद- 'हन्त' यह शब्द अनुकम्पा-सूचक है । श्रीभगवान् कहते हैं - क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है इसलिए मैं तुम्हें 'दिव्याः' अर्थात् अपनी उत्तम-उत्तम विभूतियों को ही कहूँगा, न कि तृण आदि तुच्छ विभूतियों को। यहाँ 'विभूति' शब्द से प्राकृत और अप्राकृत दोनों प्रकार की वस्तुऐं कही गई हैं। वे सभी भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं,

इसलिए भगवद्रूप से ही तारतम्य द्वारा ध्यान करने योग्य समझनी चाहिए ॥19 ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ 20 ॥

मर्मानुवाद – हे गुडाकेश ! हे जितनिद्र ! मैंने अपना स्वरूपतत्त्व तुम से कहा है। मेरा साम्बन्धिक तत्त्व यह है कि, मैं सम्पूर्णजगत् का 'आत्मा' अर्थात् अन्तर्यामी पुरुष हूँ, मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों का आदि, मध्य एवं अन्त हूँ।

अन्वय – गुडाकेश (हे जितनिद्र!) सर्वभूताशयस्थितः (प्रकृति समष्टि विराट् और सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित) आत्मा (कारणार्णवशायी, गर्भोदशायी और क्षीरोदशायी पुरुष परमात्मा) अहम् एव (मैं ही हूँ) अहम् एव च (और मैं ही) भूतानाम् (प्राणियों का) आदिः (जन्म) मध्यम् (स्थिति) अन्तःच (एवं नाश का कारण हूँ) ॥ 20 ॥

टीका—अत्र प्रथमं मामवै
भावयेत्याह—अहमिति। आत्मा प्रकृत्यन्तर्यामी महत्स्रष्टा पुरुषः परमात्मा। हे गुडाकेश, जितनिद्र, इति ध्यानसामर्थ्यं सूचयति। सर्वभूतो यो वै
स्थित इति समष्टिविराडन्तर्यामी। तथा सर्वेषां भूतानामाशये स्थितइति व्यष्टिविराडन्तर्यामी च। भूतानामादिर्जन्म मध्यं स्थितिः अन्तः संहारः, तत्तद्धेतुरहमित्यर्थः॥ 20 ॥

भावानुवाद–श्रीभगवान् कहते हैं – हे अर्जुन! एकांश से तमाम विभूतियों का कारण मुझे ही समझो। मैं प्रकृति का अन्तर्यामी महत्स्रष्टा पुरुष परमात्मा हूँ । 'गुडाकेश' शब्दका तात्पर्य है – निद्राविजयी, इससे श्रीभगवान् अर्जुन के ध्यान करने की समर्थता को सूचित कर रहे हैं। मैं 'सर्वभूताशयस्थितः' – अर्थात् सर्वभूत या वैराज के आशय में स्थित समष्टि–विराट्–अन्तर्यामी हूँ। एवं सभी भूतों के आशय में स्थित होने के कारण व्यष्टि विराट् अर्न्तयामी पुरुष हूँ। भूतों के जन्म, स्थिति एवं संहार इन सब का कारण मैं ही हूँ ॥21 ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥21 ॥

मर्मानुवाद – मैं आदित्यों में विष्णु, प्रकाशमान वस्तुओं में किरणमाली सूर्य, मरुद्‌गणों में मरीचि एवं नक्षत्रों में उनका अधिपति चन्द्र हूँ ॥21 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) आदित्यानाम् (द्वादश आदित्यों में से) विष्णुः (विष्णु नामक आदित्य हूँ) ज्योतिषाम् (प्रकाशमान वस्तुओं में) अंशुमान् (महाकिरणमाली) रविः (सूर्य हूँ) मरुताम् (मरुतों में) मरीचिः अस्मि (मरीचि हूँ) नक्षत्राणाम् (नक्षत्रों में) अहम् (मैं) शशी (चन्द्रमा हूँ) ॥ 21 ॥

टीका—अथ निर्द्धारण–षष्ठ्या क्वचित् सम्बन्ध–षष्ठ्या च विभूतीराह यावदध्यायसमाप्तिः। आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुरहमिति—तन्नामा सूर्यो मद्विभूतिरित्यर्थः; एवं सर्वत्र प्रकाशकानां ज्योतिषां मध्ये अंशुमान् महाकिरणमाली रविरहम्, मरीचिः पवनविशेषः।। 21।।

भावानुवाद–अब आगे कहीं तो निर्धारण–षष्ठी से और कहीं सम्बन्ध षष्ठीसे अध्यायके अन्त तक विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं। द्वादश आदित्यों में मैं विष्णु नामक सूर्य हूँ, जो कि मेरी विभूति है। सर्वत्र प्रकाश देनेवाले ज्योतियों में मैं 'अंशुमान्' अर्थात् महाकिरणमाली रवि एवं समस्त मरुद्गणों में 'मरीचि' नामक एक पवन–विशेष हूँ॥ 21 ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥22 ॥

मर्मानुवाद – मैं ही वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन एवं सम्पूर्ण प्राणियों में चेतनास्वरूप ज्ञानशक्ति हूँ॥ 22 ॥

अन्वय – वेदानाम् (वेदों मे) सामवेदः (सामवेद) अस्मि (हूँ) देवानाम् (देवताओं में) वासवः (इन्द्र) अस्मि (हूँ) इन्द्रियाणां (इन्द्रियों में) मनः अस्मि (मन हूँ) भूतानाम् (और प्राणियों में) चेतना (ज्ञानशक्ति मैं हूँ) ॥22 ॥

टीका—वासव इन्द्रः; भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिः।। 22।।

भावानुवाद– वासवः का अर्थ है – इन्द्र। 'भूतानाम्' का अर्थ हैं – जीव सम्बन्धिनी। 'चेतना' का तात्पर्य है – ज्ञानशक्ति॥ 22 ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ 23 ॥

मर्मानुवाद – मैं ही रुद्रों में शिव, यक्ष और राक्षसों में कुबेर, वसुओं में पावक एवं पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ॥ 23 ॥

अन्वय – रुद्राणाम् (रुद्रो में) शंकरः अस्मि (मैं शंकर हूँ) यक्षरक्षसाम्

(यक्ष राक्षसों में मैं) वित्तेशः (कुबेर हूँ) वसूनाम् (वसुओं में) पावकः अस्मि (मैं अग्नि हूँ) शिखरिणाम् (पर्वतों में) अहम् (मैं) मेरुः (सुमेरु पर्वत हूँ) ॥ 23 ॥

टीका—वित्तेशः कुबेरः।। 23।।

भावानुवाद–'वित्तेशः' का अर्थ है – कुबेर।

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ 24 ॥

मर्मानुवाद – मैं ही पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिक एवं जलाशयों में समुद्र हूँ॥ 24 ॥

अन्वय – पार्थ! (हे पार्थ) माम् (मुझे) पुरोधसाम् (पुरोहितों में) मुख्यम् (प्रधान) बृहस्पतिम् (बृहस्पति) विद्धि (जानना) अहम् (मैं) सेनानीनाम् (सेनापतियों में) स्कन्दः (कार्तिकेय) सरसाम् (जलाशयों में) सागरः अस्मि (सागर हूँ) ॥ 24 ॥

टीका—सेनानीनामित्यार्षम्; स्कन्दः कार्त्तिकेयः।। 24।।

भावानुवाद– 'स्कन्दः' कार्तिकेय को कहा गया है॥ 24 ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ 25 ॥

मर्मानुवाद – मैं ही महर्षियों में भृगु, वाक्यों में प्रणव, यज्ञों में जपयज्ञ एवं स्थावरों में हिमालय हूँ॥ 25 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) महर्षीणाम् (महर्षियों में) भृगुः (भृगु) गिराम् (वाणियों में) एकम् अक्षरम् (एक अक्षर प्रणव) अस्मि (हूँ) यज्ञानाम् (यज्ञों में) जपयज्ञः (जपयज्ञ) अस्मि (हूँ) स्थावराणाम् (स्थावरों में) हिमालय; (हिमालय हूँ) ॥ 25 ॥

टीका—एकमक्षरं प्रणवः।। 25।।

भावानुवाद–'एकमक्षरम्' का अर्थ है – प्रणव॥ 25 ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ 26 ॥

मर्मानुवाद – मैं ही वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ एवं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ॥ 26॥

अन्वय – सर्ववृक्षाणाम् (वृक्षों में) अश्वत्थः (पीपल) देवर्षीणाम् (देवर्षियों में) नारदः (नारद) गन्धर्वाणाम् (गन्धर्वों में) चित्ररथः (चित्ररथ) सिद्धानाम् (सिद्धों में) कपिलः मुनि (मैं कपिल मुनि हूँ)॥ 26॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्॥ 27॥

मर्मानुवाद – मैं ही अश्वों में उच्चैःश्रवा नामक घोड़े के रूप में समुद्रमन्थन के समय उद्‌भूत होता हूँ, हाथियों में ऐरावत एवं मनुष्यों में सम्राट् मैं हूँ ॥ 27॥

अन्वय – अश्वानाम् (अश्वों में) माम् (मुझको) अमृतोद्‌भवम् (अमृत के लिए किए गए समुद्रमन्थन से उत्पन्न) उच्चैःश्रवसम् (उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा) विद्धि (जानना) गजेन्द्राणाम् (हाथियों में) ऐरावतम् (ऐरावत नामक हाथी) [जानना] नराणां च (और मनुष्यों में) नराधिपम् (राजा) [जानना]॥ 27॥

टीका—अमृतोद्भवममृतमथनोद्भूतम्।। 27।।

भावानुवाद– 'अमृतोद्भवम्' का अर्थ है – अमृत के मन्थन से उत्पन्न।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ 28॥

मर्मानुवाद – मैं ही अस्त्रों में वज्र, गऊओं में कामधेनु, प्रजा की उत्पत्ति का मूलस्वरूप कामदेव एवं सर्पों में वासुकि हूँ ॥ 28॥

अन्वय – आयुधानाम् (अस्त्रों में) अहम् (मैं) वज्रम् (वज्र) धेनूनाम् (धेनुओं में) कामधुक् (कामधेनु) अस्मि (हूँ) प्रजनः (प्रजा उत्पत्ति हेतु) कन्दर्पः (कामदेव) अस्मि (हूँ) सर्पाणाम् (एक मस्तक वाले सर्पों में) वासुकिः अस्मि (मैं वासुकि हूँ)॥ 28॥

टीका—कामधुक् कामधेनुः; कन्दर्पाणां मध्ये प्रजनः प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पोऽहम्।। 28।।

भावानुवाद–'कामधुक्' का अर्थ है – कामधेनुः। कन्दर्पों में प्रजा की

उत्पत्ति का कारण – कामदेव मैं हूँ॥ 28॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ 29॥

मर्मानुवाद – मैं ही अनेक मस्तक वाले नागों में अनन्त नाग, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा एवं दण्ड देने वालों में यम हूँ ॥ 29॥

अन्वय – नागानाम् (अनेक मस्तक वाले विषहीन नागों में) अनन्तः अस्मि (मैं अनन्त हूँ) यादसाम् (जलचरों में) वरुणः (राजा वरुण) अहम् (मैं हूँ) पितॄणाम् (पितरों में) अर्यमा (राजा अर्यमा) अस्मि (मैं हूँ) संयमताम् (संयम करने वालों में मैं) यमः (यम) अहम् (मैं हूँ) ॥ 29॥

टीका—यादसां जलचराणाम् संयमतां दण्डयताम्।। 29।।

भावानुवाद– 'यादसाम्' का अर्थ है – जलचर। 'संयमताम्' का अर्थ है – दण्ड देने वाला॥ 29॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ 30॥

मर्मानुवाद – मैं ही दैत्यों में प्रह्लाद, वशकारियों में काल, पशुओं में सिँह एवं पक्षियों में गरुड़ हूँ॥ 30॥

अन्वय – दैत्यानाम् (दैत्यों में) प्रह्लादः (प्रह्लाद) अस्मि (मैं हूँ) कलयताम् (गणना करने वालों में या वश करने वालों में) अहम् (मैं) कालः (काल हूँ) मृगाणाम् (पशुओं में) अहम् (मैं) मृगेन्द्रः (सिँह) पक्षिणाम् (और पक्षियों में) वैनतेयः (गरुड़ हूँ) ॥ 30॥

टीका—कलयतां वशीकुर्वताम्, मृगेन्द्रः सिंहः, वै

भावानुवाद–'कलयताम्' का अर्थ है – वश में करने वालों में। 'मृगेन्द्र' का अर्थ है सिंह तथा 'वैनतेय' का अर्थ है – गरुड़ 'अमृतोद्भव' का अर्थ है– अमृतमन्थन से उत्पन्न ॥ 30॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ 31॥

मर्मानुवाद – मैं ही वेगवान् और पवित्र करने वालो में पवन, शस्त्रधारी पुरुषों में भगवान् की शक्ति का आवेशप्राप्त जीवविशेष परशुराम, मछलियों

में मगरमच्छ एवं नदियों में गंगा हूँ॥ 31॥

अन्वय – पवताम् (पवित्र करने वालों में) पवनः अस्मि (मैं पवन हूँ) शस्त्रभृताम् (शस्त्रधारियों में) अहम् (मैं) रामः (परशुराम) झषाणाम् (मत्स्यों में) मकरः अस्मि (मगरमच्छ हूँ) स्रोतसाम् (नदियों में) जाह्नवी अस्मि (गंगा हूँ)॥ 31॥

टीका—पवतां वेगवतां पवित्रीकुर्वतां वा मध्ये, रामः परशुरामः तस्यावेशावतारत्वादावेशानाञ्च जीवविशेषत्वाद् युक्तमेव विभूतित्वम्, तथा च भागवतामृतधृत-पाद्मवाक्यम्—"एतत्ते कथितं देवि जामदग्नेर्महात्मनः। शक्त्यावेशावतारस्य चरितं शार्ङ्गिणः प्रभोः।।" "आविष्टो भार्गवे चाभूत्" इति च। आवेशावतारलक्षणञ्च तत्रै
यत्राविष्टो जनार्द्दनः। त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः।।" इति; झषाणां मत्स्यानां मकरो मत्स्यजातिविशेषः स्रोतसां स्रोतस्वतीनाम्।। 31।।

भावानुवाद – भगवान् कहते हैं कि मैं वेगशाली और पवित्र करने वाली वस्तुओं में पवन हूँ। यहां परशुराम जी को ही राम कहा गया है। ये आवेशावतार हैं, आवेश-अवतार जीव-विशेष होते हैं और भगवान् की विभूति से युक्त होने के कारण उनकी गणना विभूति में होती है। इस विषय में भागवतामृत ग्रन्थ में पद्मपुराण का वाक्य है – 'हे देवि! धनुर्धारी शक्त्यावेशावतार जमदग्नि पुत्र परशुराम जी ने प्रभुके सम्पूर्ण चरित्र तुम से कहे हैं और भी कहा गया हैं, कि 'भृगुनन्दन परशुराम में श्रीभगवान् आविष्ट हुए थे' इत्यादि। उस भागवतामृत ग्रन्थ में आवेशावतार के लक्षण भी बताए गए हैं – 'श्रीभगवान् जनार्दन ज्ञानशक्ति आदि कला से जिनमें आविष्ट होते हैं, वे अति महान् जीव ही आवेशावतार नाम से कहे जाते हैं इसलिए परशुरामजी अवेशावतार हैं।'

'झषाणाम्' अर्थात् मस्त्यों में मैं मत्स्य-जाति-विशेष 'मगरमच्छ' हूँ। 'स्रोतसाम्' अर्थात् नदियों में मैं 'गङ्गा' हूँ॥ 31॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ 32॥

मर्मानुवाद – आकाशादि सृष्ट सम्पूर्ण वस्तुओं का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ, समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या अर्थात् स्व-स्वरूप का

ज्ञान, और स्वपक्ष-स्थापन और परपक्ष-दूषणादि रूप वाद-वितण्डादि में मैं वाद अर्थात् तत्त्व निर्णय हेतु वाद नामक वार्त्ता हूँ॥ 32 ॥

अन्वय - अर्जुनः (हे अर्जुन) सर्गाणाम् (सृष्ट वस्तुओं का) आदिः (आदि) अन्तः (संहार) मध्यं च (और स्थिति हूँ) अहम् एव (मैं ही) विद्यानाम् (चतुर्दश विद्याओं में) अध्यात्मविद्या (वेदान्त-विद्या) प्रवदताम् (वाद जल्प, वितण्डा इन तीनों में) अहम् (मैं) वादः (तत्त्व निर्णय हेतु 'वाद' नामक वार्ता हूँ) ॥ 32 ॥

टीका—सृज्यन्त इति सर्गा आकाशादयस्तेषामादिः सृष्टिः अन्तः संहारः, मध्यं पालनञ्च इति सृष्टिस्थितिप्रलया मद्विभूतित्वेन ध्येया इत्यर्थः। अहमादिश्च मध्यञ्चेत्यत्र सृष्ट्यादिकर्त्ता परमेश्वर एवोक्तः। विद्यानां ज्ञानानां मध्ये अध्यात्मविद्या आत्मज्ञानम्, प्रवदतां स्वपक्षस्थापन-परपक्षदूषणादिरूपजल्प-वितण्डादिकुर्वतां वादस्तत्त्वनिर्णयः प्रवृत्तिसिद्धान्तो यः सोऽहम्॥ 32 ॥

भावानुवाद-जो सृष्ट होता है, उसे 'सर्ग' कहते हैं : जैसे - आकाशादि। आकाशादि की सृष्टि, उसके संहार तथा पालन का कारण मैं हूँ, ये सृष्टि, स्थिति और प्रलय मेरी विभूतिरूप से ध्यान करने योग्य है। 'मैं ही आदि, मध्य और अन्त हूँ'। इससे यह प्रतिपादित होता है कि परमेश्वर ही सृष्टि आदि के कर्ता हैं। मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या अर्थात्आत्मज्ञान हूँ। 'प्रवदताम्' अर्थात् स्वपक्षस्थापन एवं विपक्षदूषणादिरूप जल्पवितण्डा आदि करने वालों में जो 'वाद' यानि तत्त्वनिर्णयप्रवृत्ति और सिद्धान्त हैं, वह मैं हूँ॥ 32 ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ 33 ॥

मर्मानुवाद - मैं ही अक्षरों में 'अ'-कार, समासों में द्वन्द्व समास, संहार करने वालों में महाकाल रुद्र एवं सृष्टि करने वालों में ब्रह्मा हूँ॥ 33 ॥

अन्वय - अक्षराणाम् (अक्षरों में) अकारः अस्मि ('अ'-कार हूँ) समासिकस्य (समासों में) द्वन्द्वः (द्वन्द्व समास) अक्षयः कालः (संहार करने वालों में महाकाल रुद्र) अहम् (मैं) विश्वतोमुखः (सृष्टि करने वालों में चतुर्मुख) धाता (ब्रह्मा हूँ) ॥ 33 ॥

टीका—सामासिकस्य समास-समूहस्य मध्ये 'द्वन्द्वः' उभयपदार्थ-प्रधानत्वेन तस्य समासेषु श्रै

,

रुद्रः विश्वतोमुखश्चतुर्मुखः अहं धाता स्त्रष्टृणां मध्ये ब्रह्मा।। 33।।

भावानुवाद–दोनों पद प्रधान होने के कारण द्वन्द्व समास श्रेष्ठ होता है, इसलिए समासों में मैं द्वन्द्व समास हूँ। मैं 'अक्षयःकालः' अर्थात् संहार करनेवालोंमें महाकाल रुद्र हूँ । स्त्रष्टाओं में मैं 'विश्वतोमुखः' अर्थात् चार मुखवाला ब्रह्मा हूँ॥ 33॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ 34॥

मर्मानुवाद – मैं ही हरण करने वालों में सर्वहर मृत्यु, भावी वस्तुओं में जन्म, नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा एवं मूर्ति आदि धर्मपत्नियाँ हूँ॥ 34॥

अन्वय – अहम् (मैं ही) सर्वहरः (क्षण–क्षण होने वाली मृत्युओं में सम्पूर्ण स्मृतिहरणकारी) मृत्युः (मृत्यु हूँ) भविष्यताम् (प्राणियों के भावी छः प्रकार के विकारों में से) उद्भवः (जन्म नामक प्रथम विकार) नारीणाम् (नारियों में) कीर्तिः (कीर्ति) श्रीः (कान्ति) वाक् (संस्कृत वाणी) स्मृतिः (स्मृति शक्ति) मेधा (बहुत से शास्त्रों के अर्थावधारण करने वाली शक्ति) धृतिः (धृति) क्षमा (और क्षमा रूपिणी देवता हूँ)॥ 34॥

टीका—प्रतिक्षणिकानां मृत्युनां मध्ये सर्वहरः सर्वस्मृतिहरो मृत्युहरम्, यदुक्तं—'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः' इति। भविष्यतां भाविनां प्राणिविकाराणां मध्ये उद्भवः प्रथमविकारो जन्माहम्, नारीणां मध्ये कीर्त्तिः ख्यातिः, श्रीः कान्तिः, वाक् संस्कृता वाणीति तिस्त्रः, तथा स्मृत्यादयश्चतस्त्रः, च–कारात् मूर्त्यादयश्चान्या धर्मपत्न्यश्चाहम्।। 34।।

भावानुवाद–प्रतिक्षण मरने वालों में 'सर्वहरः' अर्थात् सभी स्मृतियों को हरण करने वाला मृत्यु मैं हूँ । जैसा कि श्रीमद्भागवत (11/22/39) में भी कहा गया है – 'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः' अर्थात् अत्यन्त विस्मृति ही मृत्यु है ।'भविष्यताम्' अर्थात् प्राणियों के भावी विकारों में उद्भव अर्थात् प्रथम विकार 'जन्म' मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, ख्याति, श्री–कान्ति, वाक् – संस्कृत वाणी – ये तीन और स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा – ये चार तथा ('च' – कार से) मूर्ति आदि धर्म की पत्नियाँ भी मैं हूँ॥ 34॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीच्छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥35॥

मर्मानुवाद – मैं ही सामवेद में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, मासों में अग्रहायण एवं ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ॥ 35॥

अन्वय – अहम् (मैं) साम्नाम् (गायी जाने वाली श्रुतिओं में) बृहत्साम् (इन्द्रस्तुतिरूप बृहत्साम और) छन्दसाम् (छन्दों में) गायत्री (गायत्रीछन्द) मासानाम् (मासों में) अहम् (मैं) मार्गशीर्षः (अग्रहायण) ऋतूनाम् (ऋतुओं में) कुसुमाकरः (वसन्त ऋतु हूँ)॥ 35॥

टीका—वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तम्, तत्र साम्नामपि मध्यं बृहत् साम—"त्वामृद्धिं हवामहे" च इत्यस्यां ऋचि गीयमानं बृहत् साम, छन्दसां मध्ये गायत्रीनाम छन्दः; कुसुमाकरो वसन्तः।। 35।।

भावानुवाद–श्रीभगवान् ने पहले बताया कि वेदों में मैं सामवेद हूँ। अभी बता रहे हैं कि सामवेद के सारों में बृहत्–साम अर्थात्। 'त्वामृद्धिं हवामहे' जैसी ऋचाओं में गाया जाने वाला बृहत्–साम मैं हूँ। छन्दों में गायत्री नामक छन्द एवं ऋतुओं में, 'कुसुमाकर' अर्थात् वसंत मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ 36॥

मर्मानुवाद – मैं ही परस्पर छल करने वालों में जुआ, तेजस्वियों का तेज, उद्यमवान् पुरुषों में विजय और उद्यम एवं बलवानों का बल हूँ।

अन्वय – छलयताम् (छल करने वालों में) द्यूतम् अस्मि (जुआ हूँ) तेजस्विनाम् (प्रभावशालियों का) अहम् (मैं) तेजः (प्रभाव हूँ) अहम् (मैं) जयः [जीतने वालों में] (जय)[उद्यमियों का] व्यवसायः अस्मि (उद्यम हूँ) सत्त्ववताम् (बलवानों में) अहम् (मैं) सत्त्वम् (बल हूँ)॥ 36॥

टीका—छलयतामन्योऽन्यवञ्चनपराणां सम्बन्धि द्यूतमस्मि, जेतृणां जयोऽस्मि, व्यवसायिनामुद्यमवतां व्यवसायोऽस्मि, सत्त्ववतां बलवतां सत्त्वं बलमस्मि।। 36।।

भावानुवाद–मैं ही 'छलयताम्' – परस्पर छलने में लगे लोगों में जुआ हूँ, तेजस्वियों का तेज हूँ, जय करने वालों में जय हूँ, उद्यमशील लोगों का

उद्यम हूँ तथा 'सत्त्ववताम्' अर्थात् बलवानों का बल हूँ॥ 36 ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना: कविः॥ 37॥

मर्मानुवाद – मैं ही वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास एवं कवियों में शुक्राचार्य हूँ॥ 37 ॥

अन्वय – वृष्णीणाम् (यादवों में) वासुदेवः अस्मि (मैं वासुदेव हूँ) पाण्डवानाम् (पाण्डवों में) धनञ्जयः (अर्जुन) मुनीनाम् अपि (मुनियों में) अहम् (मैं) व्यासः (व्यास) कवीनाम् (कवियों में) उशना: कवि (शुक्राचार्य हूँ) ॥ 37 ॥

टीका—वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवो मत्पिता मद्विभूतिः—'प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्'; 'वृष्णीनामहमेवास्मि' इत्यनुक्तेरस्यान्यार्थता नेष्टा।। 37।।

भावानुवाद– वृष्णियों में मैं वासुदेव कहने का भाव मेरे पिता वसुदेव से है, जो कि मेरी विभूति हैं। यहां यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता कि–वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ, क्योंकि यहां भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं, न कि अपने स्वरूप का। 'वासुदेव' तो उनका एक स्वरूप है विभूति नहीं, विभूति वसुदेव हैं। व्याकरण की दृष्टि से प्रज्ञादि अर्थ में स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके वसुदेव का वासुदेव शब्द बनता है॥ 37॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ 38॥

मर्मानुवाद – मैं ही दमन करने वालों में दण्ड, जय की इच्छा करने वालों में नीति, गोपनीय धर्मों में मौन, एवं ज्ञानियों में ज्ञान हूँ॥ 38॥

अन्वय – दमयताम् (दमन करने वालों में) दण्डः अस्मि (दण्ड मैं हूँ) जिगीषताम् (जयेच्छुक व्यक्तियों में) नीतिः अस्मि (नीति हूँ) गुह्यानाम् (गोपनीय धर्मों में) मौनं च (मौन हूँ) ज्ञानवताम् (एवं ज्ञानियों का) ज्ञानम् (ज्ञान हूँ) ॥ 38 ॥

टीका—दमनकर्त्तृणां सम्बन्धी दण्डोऽहम्।। 38।।

भावानुवाद– मैं दमन करने वालों में दण्ड हूँ॥ 38॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ 39॥

मर्मानुवाद – मैं ही सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति का मूल कारण अर्थात् बीज हूँ, क्योंकि चराचर तमाम वस्तुओं से मुझे अलग करने के पश्चात् किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता ॥ 39॥

अन्वय – अर्जुन (हे अर्जुन) यत् च (और सभी) सर्वभूतानाम् (प्राणियों का) बीजम् (मूल कारण) तत् अपि (भी) अहम् (मैं हूँ) मया विना (मुझसे अलग) यत् स्यात् (जो भी हो सकता है) तत् (वह) चराचरम् (स्थावर जंगम) भूतम् (कोई वस्तु) नास्ति (नहीं है) ॥ 39॥

टीका—बीजं प्ररोहकारणं यत्तदहमस्मि तत्र हेतुः—मया विना यत् स्यात् चरमचरं वा तन्नै

भावानुवाद–बीज का अर्थ है – जन्म का कारण। श्रीभगवान् कहते हैं कि मैं ही समस्त जीवोंके जन्म का कारण हूँ । मेरे बिना किसी चर – अचर का जन्म होता है– यह मिथ्या है॥ 39॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ 40॥

मर्मानुवाद – हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। तुम्हारे सामने केवल अपनी नाम मात्र विभूतियों का ही वर्णन किया है॥40॥

अन्वय – परन्तप (हे परन्तप) मम (मेरी) दिव्यानाम् (उत्कृष्ट) विभूतीनाम् (विभूतियों की) अन्तः (सीमा) नास्ति (नहीं है) एष तु (यह तो) विभूतेः (विभूतियों का) विस्तरः (विस्तार) उद्देशतः (संक्षेप में) मया (मेरे द्वारा) प्रोक्तः (कहा गया है)॥ 40॥

टीका—प्रकरणमुपसंहरन्ति—नान्तोऽस्तीति एष तु विस्तरो बाहुल्यमुद्देशतो नाममात्रत एव कृतः।। 40।।

भावानुवाद–अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है, इसलिए केवल विभूतियों के नाम मात्र वर्णन किये हैं॥ 40॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम्॥ 41॥

मर्मानुवाद – ऐश्वर्य युक्त, सम्पत्ति युक्त, बल प्रभाव आदि आधिक्य युक्त जितनी भी वस्तुयें हैं उन सब को मेरी विभूतियां ही जानना, वे सभी मेरी शक्ति के तेज के अंश से उत्पन्न हैं॥ 41॥

अन्वय – विभूतिमत् (ऐश्वर्ययुक्त) श्रीमत् (सौन्दर्य या सम्पत्ति विशिष्ट) ऊर्जितम् एव वा (बल प्रभाव युक्त) यत् यत् (जो-जो) सत्त्वम् (वस्तु है) तत्-तत् एव (उस-उस को) मम (मेरे) तेजोऽंशसम्भवम् (प्रभाव से उत्पन्न) अवगच्छ (जानना)॥ 41॥

टीका—अनुक्ता अपि त्रै
विभूतिमदै
वस्तुमात्रम्॥41॥

भावानुवाद – यहाँ श्रीभगवान् अपनी न कही गई त्रैकालिक विभूतियों को एकसाथ कह रहे हैं – कि जो जो 'विभूतिमत्' अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, श्रीमत् अर्थात् सम्पत्तियुक्त और उर्जित अर्थात् अधिक बल प्रभावादि से युक्त प्रत्येक वस्तुएं हैं, उन्हें मुझ से उत्पन्न जानो॥ 41॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 42॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – हे अर्जुन! अधिक क्या कहूँ, संक्षेपतः मेरी यह प्रकृति सर्वशक्तिसम्पन्न है, उसके एक-एक प्रभाव द्वारा मैं इस जगत् में प्रविष्ट होकर वर्तमान हूँ, जड़प्रभाव द्वारा जड़सत्ता में एवं जीवप्रभाव द्वारा जैव जगत् में प्रविष्ट होकर इस सृष्ट जगत् में साम्बन्धिकरूप से वर्तमान हूँ॥ 42॥

दसवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय – अथवा (अथवा) अर्जुन (अर्जुन) एतेन (इस) बहुना (पृथक्-पृथक् उपदिष्ट) ज्ञातेन (ज्ञान द्वारा) तब (तुम्हारा) किम् (क्या प्रयोजन है) अहम् (मैं) इदम् (इस) कृत्स्नम् (जड़-चेतन स्मस्त) जगत् (जगत्) एकांशेन (एकांश से) विष्टभ्य (धारणकर) स्थितः (अवस्थित) हूँ॥ 42॥

टीका—बहुना पृथक् पृथग्ज्ञातेन किं फलं समुदितमेव जानीहीत्याह—विष्टभ्येति। एकांशेनै
जगद्विष्ट– भ्याधिष्ठानत्वाद् विधृत्याधिष्ठातृत्वादधिष्ठाय, नियन्तृत्वान्नियम्य, व्यापकत्वाद् व्याप्य, कारणत्वात् सृष्ट्वा स्थितोऽस्मि।।42।।

विश्वं श्रीकृष्ण एवातः सेव्यस्तद्दत्तया धिया।
स एवास्वाद्यमाधुर्य इत्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु दशमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद– भगवान् ने कहा कि तुम्हें सबको अलग – अलग जानने की क्या आवश्यकता है? सब को एक साथ ही जानो। मैं एक ही अंश से प्रकृति के अन्तर्यामी पुरुषरूप से इस सृष्ट जगत् को धारण करता हूँ। मैं ही अधिष्ठानभाव से इसे धारण करके और अधिष्ठाता रूप में स्थित होकर, नियन्ता के रूप में इसे अधीन कर, व्यापकत्व के रूप में व्याप्त होकर, कारणरूप से सृष्टि कार्य कर स्थित हूँ॥ 42 ॥

श्रीकृष्ण से ही सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न है, इस प्रकार उनकी विश्वगत विभूतियों का विचार करते हुए उनके स्वरूपतत्त्व के माधुर्य का आस्वादन करना ही सर्वप्रधान कर्तव्य है। यही इस दशम अध्याय का सारार्थ है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

दसवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

दसवाँ अध्याय समाप्त

ग्यारहवाँ अध्याय

विश्वरूपदर्शनयोग

अर्जुन उवाच-

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ 1॥

मर्मानुवाद - अर्जुन ने कहा - आपका अध्यात्मतत्त्व सम्बन्धी परम गोपनीय उपदेश श्रवण करके मेरा मोह दूर हो गया है, मैं आपके अप्राकृत, अवितर्क्य परमभाव को नहीं जानता था, इसलिए मैं आध्यात्मतत्त्वगत व्यतिरेक चिन्तारूप मोह से पीड़ित था, किन्तु अब स्पष्ट रूप से समझ गया हूँ कि आप हर समय स्वरूप-सम्प्राप्त हैं एवं विश्वरूपादि तो आप के इस श्रीकृष्णस्वरूप के एक अंश मात्र हैं॥ 1॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) मदनुग्रहाय (मुझ पर अनुग्रह करने के लिए) परमं गुह्यम् (परम गोपनीय) अध्यात्मसंज्ञितम् (अपनी विभूतियों से सम्बन्धित) यद् वचः (जो वाक्य) त्वया (आप के द्वारा) उक्तम् (कहे गये) तेन (उनसे) मम (मेरा) अयम् (यह) मोहः (आपका ऐश्वर्य विषयक अज्ञान) विगतः (दूर हो गया है) ॥ 1 ॥

टीका – एकादशे विश्वरूपं दृष्ट्वा संभ्रान्तधीः स्तवन्।
पार्थ आनन्दितो दर्शयित्वा स्वं हरिणा पुनः।।

पूर्वाध्यायान्ते "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति सर्वविभूत्याश्रयमादिपुरुषं स्वप्रियसखस्यांशं श्रुत्वा परमानन्दनिमग्नस्तद्रूपं दिदृक्षमाणो भगवदुक्तमभिनन्दति—मदनुग्रहायेति त्रिभिः। अध्यात्ममिति सप्तम्यर्थे अव्ययीभावादात्मनीत्यर्थः। आत्मनि या या संज्ञा विभूतिलक्षणा, सा संजाता यस्य तद्वचः, मोहस्त्वदै

भावानुवाद–इस ग्यारहवें अध्याय में श्रीभगवान् के विश्वरूप के दर्शन से अर्जुन अत्यन्त भयभीत हुए उसकी स्तुति करने लगे। तब श्रीहरि ने अपने सौम्यरूप के दर्शन कराकर उन्हें हर्षित किया।

दसवें अध्याय के अंत में जब अर्जुन ने अपने सखा श्रीकृष्ण से श्रवण किया कि उन्होंने ही अपने एक अंशसे इस समस्त जगत् को धारण कर रखा है। समस्त जगत् की तमाम विभूतियों के आश्रय आदिपुरुष भी मेरे सखा के ही अंश हैं तो वे आनंद से फूले नहीं समाये और उनके उस रूप को देखने की कामना से तीन श्लोकों से उनके कथन का अभिवादन कर रहे हैं।

'अध्यात्मसंज्ञितम्' अर्थात् आत्मा में विभूति लक्षण वाली जो जो संज्ञा है, वह जिन से उत्पन्न हुई हैं उनके वचनों को सुनकर अर्जुन का भगवान् के ऐश्वर्य के विषय में मोह दूर हो गया ॥ 1 ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ 2 ॥

मर्मानुवाद – इसलिए हे पद्मपलाशलोचन ! मैं आपके सृष्टि–संहार सम्बन्धी साम्बन्धिक–भाव एवं अव्यय माहात्म्यरूपी स्वरूपगतभाव – इन दोनों तत्त्वों से अवगत हो गया हूँ ॥ 2 ॥

अन्वय - कमलपत्राक्ष (हे पद्मपलाश लोचन) तत्त्वतः (आपसे) भूतानाम् (प्राणियों की) भवाप्ययौ (उत्पत्ति और लय के विषय में) मया (मेरे द्वारा) विस्तरशः (विस्तृतरूप से) श्रुतौ (सुना) अव्ययम् (अनश्वर) माहात्म्यम् अपि (माहात्म्य भी)[श्रुतम्][सुना] ॥ 2 ॥

टीका—अस्मिन् षट्के तु भवाप्ययौ
कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' इत्यादिनाऽव्ययं माहात्म्यं सृष्ट्यादि-कर्त्तृत्वेऽप्यविकारासङ्गादिलक्षणम्—'मया ततमिदं सर्वम्' इति 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' इत्यादिना।। 2।।

भावानुवाद-अर्जुन ने कहा- आपने इन छः अध्यायों में कहा कि सृष्टि और संहार, सब का मूल मैं हूँ, 'मैं ही समग्र जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ'। 'सृष्टि करते हुए भी अविकारी और अनासक्त रहता हूँ'। 'मेरे द्वारा ही यह जगत् व्याप्त है' और 'कार्य मुझे बाँध नहीं सकते' इत्यादि ॥ 2 ॥

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ 3 ॥

मर्मानुवाद- हे पुरुषोत्तम ! हे परमेश्वर ! आपके स्वरूप का तत्त्व मैं जान गया हूँ, किन्तु मैं यह देखने की इच्छा करता हूँ कि सृष्टि के समय आपने अपने स्वरूप को जगत् में किस प्रकार स्थित किया है। आपका वही ऐश्वर्यमयरूप मैं देखने की इच्छा करता हूँ॥ 3 ॥

अन्वय - परमेश्वर (हे परमेश्वर) यथा (जिस प्रकार) त्वम् (आपने) आत्मानम् (अपने ऐश्वर्य के विषय में) आत्थ (कहा) एतत् (वह वास्तव में) एवम् (वैसा ही है) [तथापि] पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम) ते (आपके) ऐश्वरम् (उसी ईश्वर) रूपम् (रूप को) द्रष्टुम् (देखने की) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) ॥ 3 ॥

टीका—इदानीमात्मानं त्वं यथात्थ "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितः" इति, तच्चै
कृतार्थबुभूषया तवै
विष्टभ्य वर्त्तसे तस्यै

भावानुवाद-अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोतम! आपने अपने को जिस

प्रकार कहा कि –'मैं ही एकांशमात्र द्वारा व्याप्त होकर इस जगत् में अवस्थान करता हूँ', वह यथार्थ ही है और इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है, फिर भी अपने आपको कृतार्थ करने की इच्छा से आपके उस ईश्वररूप को देखना चाहता हूँ। जिस एकांश ईश्वररूप से आप जगत् में प्रविष्ट होकर विराजते हैं, आपके उसी रूप को अभी अपने नेत्रों से देखना चाहता हूँ॥ 3॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ 4॥

मर्मानुवाद – जीव अणुचैतन्य है इसीलिये वह विभु चैतन्य भगवान् की लीलाओं को सम्पूर्णरूप से नहीं देख सकता है। हे प्रभो! मैं जीव हूँ आप के अनुग्रह से ही मैंने आपके स्वरूपतत्त्व में अधिकार प्राप्त किया है, किन्तु अधिकार प्राप्त करने पर भी जीव के चिन्तन से अतीत आपके ईश्वररूप को समझने में समर्थ नहीं हूँ। आप योगेश्वर हैं और मेरे प्रभु हैं। जो कि स्वरूप से ही अव्यय और चित्स्वरूप हैं। आप अपना योगैश्वर्य मुझे दिखाइए।

अन्वय – प्रभो (हे प्रभो!) यदि (यदि) तत् (वही रूप) मया (मैं) द्रष्टुम् (देख) शक्यम् (सकता हूँ) इति (ऐसा) मन्यसे (आप मानते हैं) ततः (तब) योगेश्वर (हे योगेश्वर) त्वम् (आप) अव्ययम् (अविनाशी) आत्मानम् (अपने को) मे (मुझे) दर्शय (दिखावें)॥ 4॥

टीका—योगेश्वरेति—अयोग्यस्यापि मम तद्दर्शनयोग्यतायां तव योगै कारणमिति भावः।। 4।।

भावानुवाद– अर्जुन कहते हैं कि यद्यपि मैं आपके उस रूप के दर्शन के अयोग्य हूँ, तथापि आपके योगैश्वर्य के प्रभाव से यह संभव है॥ 4॥

श्रीभगवानुवाच–

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ 5॥

मर्मानुवाद – भगवान् ने कहा – हे पार्थ ! तुम मेरे योगऐश्वर्य को देखो। मेरे सैकड़ों–हज़ारों नाना प्रकार के दिव्य नाना वर्ण तथा नाना आकृति वाले दिव्य रूपों को देखो॥ 5॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्री भगवान् ने कहा) पार्थ (हे पार्थ) मे

(मेरे) दिव्यानि (दिव्य) नानाविधानि (नाना प्रकार के) नाना–वर्णाकृतीनि (नाना वर्ण और आकृतियों वाले) शतशः (सैकड़ों–सैकड़ों) अथ सहस्रशः (एवं हजारों–हजारों) रूपाणि (रूपों का) पश्य (दर्शन करो)॥ 5॥

टीका—ततश्च स्वांशस्य प्रकृत्यन्तर्यामिनः प्रथमपुरुषस्य "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इति पुरुषसूक्त–प्रोक्तं रूपं प्रथममिदं दर्शयामि, पश्चात् प्रस्तुतोपयोगित्वेन तस्यै
विमृष्य अर्जुनं प्रति सावधानो भवेत्यभिमुखीकरोति। पश्येति रूपाणीति एकस्मिन्नपि मत्स्वरूपे शतशो मत्स्वरूपाणि मद्विभूतीः।। 5।।

भावानुवाद– भगवान् श्रीकृष्ण ने मन ही मन में यह विचार किया कि सर्वप्रथम इसे अपने अंश, प्रकृति के अन्तर्यामी प्रथम पुरुष के हजारों सिर, हजारों नेत्र एवं हजारों चरण वाले रूप को दिखाता हूँ, जिसका वर्णन वेदोक्त पुरुषसूक्त मंत्र में किया गया है। तत्पश्चात् अर्जुन के कहे अनुसार अपने ही अंश कालरूप के दर्शन कराऊँगा और अर्जुन को सावधान करते हुए कहा अर्जुन! मेरे इस एक ही स्वरूप में मेरे सैंकड़ों स्वरूप और विभूतियों को देखो॥ 5॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ 6॥

मर्मानुवाद – हे भारत ! सभी आदित्यों, सभी वसुओं, सभी रुद्रों और दोनों अश्विनी कुमारों और सभी मरुद्गणों एवम् अनेक पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देखो॥ 6॥

अन्वय – भारत (हे भारत) आदित्यान् (बारह आदित्यों) वसून् (आठ वसुओं) रुद्रान् (ग्यारह रुद्रों) अश्विनौ (दोनों अश्विनी कुमारों) तथा मरुतः (उन्चास मरुद्गणों) बहूनि (बहुत से) अदृष्टपूर्वाणि (पहले न देखे हुये) आश्चर्याणि (आश्चर्यों को) पश्य (देखो)॥ 6॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ 7॥

मर्मानुवाद – हे गुडाकेश ! सचराचर जगत् एवम् जो कुछ तुम देखना चाहते हो वह सब मेरे कृष्ण स्वरूप के एक भाग में दर्शन करो॥ 7॥

अन्वय - गुडाकेश (हे जितनिद्र) इह (इस प्रस्ताव में) एकस्थम् (मेरे देह के एक भाग में स्थित) कृत्स्नम् (समस्त) सचराचरम् (सचराचर) जगत् (जगत्) अन्यत् च (और भी) यत् (जो-जो) [अपनी जय-पराजयादि] मम देहे (मेरे शरीर में) द्रष्टुम् (देखना) इच्छसि (चाहते हो) सो [वह] अद्य (आज) पश्य (दर्शन करो)॥ 7॥

टीका—परिभ्रमता त्वया वर्षकोटिभिरपि द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नमपि जगत् इह प्रस्तावे एकस्मिन्नपि मद्देहावयवे तिष्ठति इति एकस्थं यच्चान्यत् स्वजयपराजयादिकञ्च ममास्मिन् देहे जगदाश्रयभूतकारणरूपे।। 7।।

भावानुवाद- भगवान् ने कहा हे अर्जुन! तुम वर्षों तक भ्रमण करने पर भी जिसे नहीं देख पाओगे वह सारा विश्व मेरे शरीर के एक अंश में ही स्थित है और तुम्हारी जय अथवा पराजय जो कुछ भी है, वह भी जगत् के आश्रय तथा कारणरूप मेरी इस देह में विद्यमान है॥ 7॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ 8॥

मर्मानुवाद - तुम मेरे भक्त हो इसलिए अपने निरुपाधिक प्रेम चक्षुओं से मेरे कृष्ण-स्वरूप का दर्शन करते रहते हो। मेरा योगैश्वर्य स्वरूप साम्बन्धिक भावगत है, इसलिए अप्रयोजनीय होने के कारण निरुपाधिक प्रेम चक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता। स्थूल जड़चक्षु भी मेरे ईश्वर स्वरूप को नहीं देख सकते। जो चक्षु सोपाधिक हैं, किन्तु स्थूल नहीं हैं, उन्हें 'दिव्यचक्षु' कहा जाता है। वही दिव्यचक्षु मैं तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ, इनसे तुम मेरे ईश्वरस्वरूप के दर्शन करो। युक्तिमय दिव्यचक्षु प्राप्त व्यक्तियों को मेरे निरुपाधिक कृष्णस्वरूप की अपेक्षा सोपाधिक ऐश्वर्यरूप में सहज ही प्रीति हो जाती है, क्योंकि उनके निरुपाधिक प्रेममय चक्षु बन्द रहते हैं॥ 8॥

अन्वय - अनेन (इन) स्वचक्षुषा [मेरे माधुर्यैकनिष्ठ] (अपने चक्षुओं द्वारा) माम् [मेरे ऐश्वर्य लीला विशिष्ट हजारों सिर और मुख वाले रूप युक्त] (मुझे) द्रष्टुम् (देख) न शक्यसे (नहीं सकते) [इसलिए मैं] ते (तुम्हें) दिव्यम् (अलौकिक) चक्षुः (चक्षु) ददामि (प्रदान करता हूँ) (जिससे तुम) मे (मेरी) ऐश्वरम् (ईश्वरीय) योगम् (योगशक्ति को) पश्य (देख सकते हो)॥ 8॥

टीका—इदमिन्द्रजालं मायामयं वा रूपमित्यर्जुनो मा मन्यताम्, किन्तु सच्चिदानन्दमयमेव स्वरूपमन्तर्भूतसर्वजगत्कमतीन्द्रियत्वे नै विश्वसितुमित्येतदर्थमाह—न त्विति। अनेनै
द्रष्टुं न शक्यसे न शक्नोषीत्यतस्तुभ्यं दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्ददामि, तेनै
प्राकृतनरमानिनमर्जुनं कमपि चमत्कारं प्रापयितुमेव; यतो हि अर्जुनो भगवत्पार्षदमुख्यत्वात् नरावतारत्वाच्च प्राकृत-नर इव, न चर्मचक्षुष्कः। किञ्च साक्षाद्भगवन्माधुर्यमेव यः स्वचक्षुषा साक्षादनुभवति, सोऽर्जुनो भगवदंशं द्रष्टुं तेनाशक्नुवन् दिव्यं चक्षुर्गृह्णीयादिति कःखलु न्यायः ? एके त्वेवमाचक्षते—भगवतो नरलीलात्वमहामाधुर्यै
देवलीलात्वसम्पदं नै
स्वादयितुं शक्नोति। तस्मादर्जुनाय तत्प्रार्थितश्चमत्कारविशेषं दातुं देवलीलात्वमयै
चक्षुर्ददाविति। तथा दिव्यचक्षुर्दानाभिप्रायोऽध्यायान्ते व्यक्तीभविष्यतीति।।8।।

भावानुवाद-श्रीभगवान् ने कहा हे अर्जुन! तुम मेरे इस रूप को इन्द्रजाल या मायामय नहीं, बल्कि सच्चिदानन्दमय समझना। यह समग्र जगत् जिसके अन्दर समया हुआ है, वह स्वरूप इन्द्रियातीत है। तुम अपने इन चर्म चक्षुओं से चिद्घनाकार मुझे देख नहीं पाओगे। इसलिए मैं तुम्हें दिव्यचक्षु प्रदान करता हूँ। उन दिव्य चक्षुओं से तुम मेरा दर्शन करो, नराभिमानी अर्जुन को चमत्कृतमात्र करना ही ऐसा कहने का अभिप्राय है। क्योंकि अर्जुन भगवान् के मुख्य पार्षद एवं नरावतार हैं इसलिए साधारण मनुष्य के समान चर्म चक्षुओं वाले नहीं हैं। यहां शंका उठती है कि जो अर्जुन अपने चक्षुओं से साक्षात् परमब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के माधुर्य का निरन्तर आस्वादन करते हैं। वे आज भगवान् के अंश विश्वरूप के दर्शन करने के लिये दिव्य चक्षुओं को ग्रहण करें ऐसा क्यों? उत्तर में कहते हैं कि जो सर्वोत्कृष्ट नेत्र भगवान् के एकमात्र नरलीलारूपी महामाधुर्य का आस्वादन करने वाले हैं, अनन्य भक्त की भाँति वे नेत्र भी भगवान् के देवलीलारूप ऐश्वर्य नहीं देख पाते, जैसे कि मिश्री का आस्वादन करने वाली जिह्वा गुड़ का आस्वादन नहीं करना चाहती। उसी प्रकार माधुर्य रस के आस्वादक अर्जुन के नेत्र कभी भी ऐश्वर्यमय अंशस्वरूप विराट् रूप को देखने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए अर्जुन की प्रार्थनानुसार चमत्कार-विशेष प्रदान के लिए ही देवलीलारूप

ऐश्वर्य ग्रहण कराने के लिए भगवान् ने अर्जुन को प्रेमरस के विपरीत दिव्य अर्थात् अमानुष नेत्र ही प्रदान किये थे। जिससे भगवान् के नरलीलारूप महामाधुर्य आस्वादनकारिता लुप्त हो गई। चक्षु प्रदान करने का और भी अभिप्राय है, जो इस अध्याय के अन्त में व्यक्त करेंगे॥ 8॥

सञ्जय उवाच–

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ 9॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ 10॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ 11॥

मर्मानुवाद – संजय ने धृतराष्ट्र से कहा – हे राजन्! महायोगेश्वर श्रीहरि ने इस प्रकार कह कर अर्जुन को परम ऐश्वररूप दिखाया। वह असंख्य मुख और नेत्रों वाला, अनेक दिव्य आभूषणों से अलंकृत एवं अनेक दिव्यास्त्र उठाये हुए था। दिव्य मालाओं, वस्त्रों से सुशोभित एवं दिव्य सुगन्धियों से लिप्त था, सर्व आश्चर्यमय उज्ज्वल, अनन्त और चारों ओर मुख वाले उस रूप के अद्भुत दर्शन थे॥ 9-11॥

अन्वय – संजय उवाच (संजय ने कहा) राजन् (हे राजन्) महायोगेश्वरः (महायोगेश्वर) हरिः (श्रीहरि ने) एवम् (इस प्रकार) उक्त्वा (कह कर) ततः (तत्पश्चात्) पार्थाय (अर्जुन को) परमम् (उत्कृष्ट) ऐश्वरम् (ऐश्वर) रूपम् (रूप) दर्शयामास (दिखाया)॥ 9॥

अनेकवक्त्रनयनम् (अनेक मुख और नेत्रों वाला) अनेकाद्भुतदर्शनम् (अनेक आश्चर्यजनक आकृतियों वाला) अनेक दिव्याभरणम् (असंख्य दिव्य आभूषणों से भूषित) दिव्यानेकोद्यतायुधम् (अनेक दिव्य अस्त्रों वाला) ॥10॥

दिव्यमाल्याम्बरधरम् (दिव्य माला और वस्त्रों से सुशोभित) दिव्यगन्धानुलेपनम् (दिव्य सुगन्धियों से लिप्त) सर्वाश्चर्यमयम् (सब प्रकार से आश्चर्यचकित करने वाला) दिव्यम् (उज्ज्वल) अनन्तम् (अनन्त) विश्वतोमुखम् (सब तरफ मुखों वाला रूप दिखाया)॥ 11॥

टीका—विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य तत्।। 10-11।।

भावानुवाद– 'विश्वतोमुखम्' अर्थात् चारों ओर मुख वाले॥ 11॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ 12॥

मर्मानुवाद – यदि कभी आकाश में हजारों सूर्य एक साथ उदय हो जायें तो उनका प्रकाश भी महान् विश्वरूप के तेज की थोड़ी बहुत ही समानता कर सकता है॥ 12॥

अन्वय – यदि (यदि) दिवि (आकाश में) सूर्यसहस्रस्य (सहस्रों सूर्यों की) भाः (प्रभा) युगपत् (एक साथ) उत्थिता (प्रकट) भवेत् (होती है) [तभी] सा (वह प्रभा) तस्य महात्मनः (उस महात्मा विश्वरूप की) भासः (प्रभा के) सदृशी (समान) स्यात् (हो सकती है)॥ 12॥

टीका—एकदै
विश्वरूपपुरुषस्य भासः प्रभायाः कान्तेः कथञ्चित् सदृशी भवेत्।। 12।।

भावानुवाद– यदि हजारों उदित सूर्यों का प्रकाश एक साथ प्रकट हो, तभी वह उस विश्वरूप पुरुष की 'प्रभा' की थोड़ी बहुत ही समानता कर पायेगा।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ 13॥

मर्मानुवाद – तब अर्जुन ने उन परमदेव के शरीर में अनेक भागों में विभक्त संपूर्ण जगत् को एक जगह स्थित देखा॥ 13॥

अन्वय – तदा (उस समय) पाण्डवः (अर्जुन ने) तत्र (उस युद्धभूमि में) देवदेवस्य (देवों के देव भगवान् के) शरीरे (शरीर में) अनेकधा (अनेक भागों में) प्रविभक्तम् (विभक्त) कृत्स्नम् (सम्पूर्ण) जगत् (ब्रह्माण्ड को) एकस्थम् (एक जगह स्थित) अपश्यत् (देखा)॥ 13॥

टीका—तत्र तस्मिन् युद्धभूमावेव देवदेवस्य शरीरे जगत् ब्रह्माण्डं कृत्स्नं सर्वमेव गणयितुमशक्यमित्यर्थः। प्रविभक्तं पृथक्पृथक्तया स्थित-मेकस्थमेकदेशस्थं प्रतिरोमकूपस्थं प्रतिकुक्षिस्थं वा इत्यर्थः। अनेकधा मृन्मयं हिरण्मयं मणिमयं वा पञ्चाशत्कोटियोजनप्रमाणं शतकोटियोजनप्रमाणं लक्षकोट्यादियोजनप्रमाणं वा इत्यर्थः।। 13।।

भावानुवाद– उस समय उसी युद्धभूमि में ही अर्जुन ने उन सर्वदेव

देव के शरीर में असंख्य ब्रह्माण्डों को देखा। जो कि पृथक्-पृथक् भाव से उनके एक भाग में अर्थात् प्रत्येक रोमकूप में स्थित थे। वे मृत्तिकामय, स्वर्णमय और मणिमय अनेक प्रकार के थे। उनमें कोई पचास योजन, कोई सौ करोड़ योजन तथा कोई-कोई लाख कोटि योजन था॥ 13॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ 14॥

मर्मानुवाद – तब विस्मित और रोमाञ्चित धनञ्जय प्रणाम करते हुये हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगे॥ 14॥

अन्वय – ततः (तत्पश्चात्) सः धनञ्जयः (वह अर्जुन) विस्मयाविष्टः (विस्मित और) हृष्टरोमा (रोमाञ्चित होकर) देवम् (उस देवता को) शिरसा (मस्तक से) प्रणम्य (प्रणाम कर) कृताञ्जलि (हाथ जोड़ कर) अभाषत (कहने लगे)॥ 14॥

श्रीअर्जुन उवाच-

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ 15॥

मर्मानुवाद – हे देव! आपके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं को, सम्पूर्ण प्राणियों को, कमलासन पर बैठे ब्रह्मा, महादेव, तमाम ऋषियों और वासुकि इत्यादि सर्पों को देख रहा हूँ॥ 15॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) देव (हे देव) तव (मैं आप के) देहे (शरीर में) सर्वान् देवान् (सभी देवताओं को) तथा भूतविशेषसंघान् (एवं जरायुजादि प्राणियों के समुदाय को) दिव्यान् (दिव्य) ऋषीन् (ऋषियों को) सर्वान् उरगांश्च (वासुकि इत्यादि सर्पों को) ईशम् (एवम् उनके स्वामी शिवजी को) कमलासनस्थम् (भगवान् के नाभि कमल में स्थित) ब्रह्माणम् (ब्रह्मा जी को) पश्यामि (देख रहा हूँ)॥ 15॥

टीका—भूतविशेषाणां जरायुजादीनां सङ्घान्, कमलासनस्थं पृथ्वीपद्म-कर्णिकायां सुमेरौ

भावानुवाद- 'भूतविशेषाणाम्' का अर्थ है – जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज जीव समूह। 'कमलासनस्थम्' का अर्थ है- पृथ्वीरूपी पद्म की कर्णिकारूपी सुमेरु पर्वत पर स्थित ब्रह्मा॥ 15॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ 16॥

मर्मानुवाद - हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं आपके अनेकानेक भुजाओं, उदर, मुख और नेत्रों वाला सर्वव्यापी अनन्त रूप देख रहा हूँ। लेकिन आपका अन्त, मध्य और आदि नहीं देख पा रहा हूँ॥ 16॥

अन्वय- हे विश्वेश्वर (हे विश्वेश्वर) विश्वरूप (हे विश्वरूप) अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रम् (बहुत सी भुजा, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रों वाले) अनन्तरूपम् (अनन्तरूप धारी) त्वाम् (आपको) सर्वतः (सर्वत्र) पश्यामि (देख रहा हूँ) पुनः (किन्तु) तव (आपका) अन्तम् (अन्त) मध्यम् (मध्य) आदिम् (और आदि) न पश्यामि (नहीं देख पा रहा हूँ)।

टीका—हे विश्वेश्वर, आदिपुरुष।। 16।।

भावानुवाद- 'विश्वेश्वर' का अर्थ है - आदिपुरुष॥ 16॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ 17॥

मर्मानुवाद - आपका यह रूप दुर्निरीक्ष्य (देख पाना कठिन) है, क्योंकि यह सब ओर प्रकाशयुक्त, पूरी तरह देदीप्यमान, अग्नि तथा सूर्य के समान कान्तियुक्त और असीम है। उस पर भी नाना मुकुट गदा, चक्र युक्त है, जिसका तेज चारों ओर फैल रहा है॥ 17॥

अन्वय - किरीटिनम् (मुकुट) गदिनम् (गदा) चक्रिणं च (और चक्रधारी) सर्वत्र (चारों तरफ) दीप्तिमन्तम् (प्रकाशमान) तेजोराशिम् (तेजपुंज) दुर्निरीक्ष्यम् (बहुत कठिनाई से दिखने योग्य) दीप्तानलार्कद्युतिम् (देदीप्यमान अग्नि और सूर्य के समान कान्तिवाले) अप्रमेयम् (असीम और अतर्क्य) त्वाम् (आप को) समन्तात् (चारों ओर) पश्यामि (देख रहा हूँ)॥ 17॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ 18॥

मर्मानुवाद - आप जानने योग्य परम अक्षर तत्त्व हैं। आप इस विश्व के परम निधान हैं। आप अविनाशी हैं। आप सनातन धर्म के रक्षक एवं सनातन पुरुष हैं॥ 18॥

अन्वय – त्वम् (आप) वेदितव्यम् (मुमुक्षुओं के जानने योग्य) परमम् (पर अर्थात श्रीयुक्त) अक्षरम् (ब्रह्म हैं) त्वम् (आप ही) विश्वस्य (विश्व के) परम् (एकमात्र) निधानम् (लय स्थान हैं) त्वम् (आप) अव्ययः (अविनाशी) शाश्वतधर्मगोप्ता [वेदों में कहे] नित्यधर्म–भक्ति के पालक हैं त्वम् (आप) सनातनः (सनातन) पुरुषः (पुरुष हैं) [इति] [यही] मे (मेरा) मतः (मत है) ॥ 18 ॥

टीका—वेदितव्यं मुक्तै

भावानुवाद–'वेदितव्यम्' का अर्थ है – मुक्त पुरुषों के द्वारा जानने योग्य। 'यदक्षरम्' का अर्थ है ब्रह्मतत्त्व तथा 'निधानम्' का अर्थ है लयस्थान ॥ 18 ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥19 ॥

मर्मानुवाद – आप आदि, मध्य और अन्तहीन, अनन्तवीर्य, अनन्त बाहु, चन्द्र और सूर्यरूपी नेत्रों वाले, प्रदीप्त अग्नि के समान मुख वाले, अपने तेज द्वारा इस विश्व को संतप्त कर रहे हैं ॥19 ॥

अन्वय – अनादिमध्यान्तम् (आदि, मध्य और अन्तरहित) अनन्तवीर्यम् (अनन्त ऐश्वर्यशाली) अनन्तबाहुम् (अनन्त भुजाओं वाले) शशि–सूर्य नेत्रम् (चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रों वाले) दीप्तहुताशवक्त्रम् (प्रज्वलित अग्नि के समान मुख वाले) स्वतेजसा (अपने तेज द्वारा) इदम् (इस) विश्वम् (विश्व को) तपन्तम् (सन्तप्त करने वाले) त्वाम् (आपको) पश्यामि (देख रहा हूँ) ॥19 ॥

टीका—अनादीत्यत्र महाविस्मयरससिन्धुनिमग्नस्यार्जुनस्य वचसि पौ
दुष्यति'।। 19।।

भावानुवाद– अर्जुन 'अनादि' इत्यादि शब्दों का बार–बार प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि अर्जुन इस समय महाविस्मयसमुद्र में डूबे हुए हैं, इसलिए उनके वाक्यों में पुनरुक्तिदोष नहीं देखना चाहिये। क्योंकि ऐसा कहा भी गया है कि प्रमाद, विस्मय और हर्ष में एक बात को दो या तीन बार कहना दोष नहीं है ॥ 19 ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ 20॥

मर्मानुवाद – आकाश और पृथ्वी के मध्य में जो कुछ भी है, एक मात्र आप से ही व्याप्त है, हे महात्मन्! आपके इस उग्र अद्‌भुत रूप को देख तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं॥ 20॥

अन्वय – महात्मन् (हे महात्मन्) द्यावापृथिव्योः (आकाश और पृथ्वी के) इदम् (यह) अन्तरम् (मध्यस्थल) सर्वाः दिशश्च (और सब दिशायें) एकेन (एक) त्वया (आपके द्वारा) व्याप्तम् (परिव्याप्त है) तब इदम् (आपके इस) अद्‌भुतम् (अद्‌भुत) उग्रम् (भयानक) रूपम् (रूप को) दृष्ट्वा (देख कर) लोकत्रयम् (तीनों लोक) प्रव्यथितम् (अतिशय भीत हो रहे हैं)॥ 20॥

टीका—अथ प्रस्तुतोपयोगित्वात्तस्यै दर्शयामास—द्यावेत्यादिदशभिः।। 20।।

भावानुवाद– तत्पश्चात् भगवान् प्रस्ताव के अनुरूप होने के कारण (प्रयोजनीय) विश्वरूप की कालरूपता को 'द्यावा' इत्यादि दस श्लोकों में दिखा रहे हैं॥ 20॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ 21॥

मर्मानुवाद – ये सभी देवता आप में ही प्रवेश कर रहे हैं, कोई-कोई भयभीत हुए हाथ जोड़ कर आप का स्तव कर रहे हैं, सभी महर्षि लोग स्वस्ति वाचन कर रहे हैं एवं उत्तम-उत्तम-स्तुतियां करते हुए आप के दर्शन कर रहे हैं॥ 21॥

अन्वय – अमी हि (ये सारे) सुरसङ्घाः (देवताओं के समुदाय) त्वाम् (आप में) विशिन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) केचित् (कोई-कोई) भीताः (भयभीत होकर) प्राञ्जलयः (हाथ जोड़कर) गृणन्ति (स्तुति कर रहे हैं) महर्षिसिद्धसङ्घाः (महर्षि और सिद्धों के समुदाय) स्वस्ति इति उक्त्वा ('विश्व का मंगल हो' कहते हुए) पुष्कलाभिः (अनेक) स्तुतिभिः (स्तुतियों के द्वारा) त्वाम् (आपके) वीक्षन्ते (दर्शन कर रहे हैं)॥ 21॥

टीका—त्वा त्वाम्।। 21।।

भावानुवाद- 'त्वा' अर्थात् 'त्वाम् '॥ 21॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ 22॥

मर्मानुवाद - रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, सभी विश्वेदेव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण पितृगण , गन्धर्व, यक्ष, सुर और सिद्ध सभी विस्मित होकर आपके दर्शन कर रहें हैं ॥ 22॥

अन्वय - ये च (जो सब) रुद्रादित्याः (रुद्र और आदित्य) वसवः (वसु) साध्याः (साध्य) विश्वे (विश्वेदेव) अश्विनौ (दोनों अश्विनी कुमार) मरुतः (मरुद्गण) उष्मपाः च (और पितृगण) गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः (गन्धर्व यक्ष, असुर और सिद्ध) [ते] [वे] सर्वे एव (सभी ही) विस्मिताः (विस्मित होकर) त्वाम् (आपके) वीक्षन्ते (दर्शन कर रहे हैं)॥ 22॥

टीका—उष्माणं पिबन्ति उष्मपाः पितरः—"उष्मभागा हि पितरः" इति श्रुतेः।। 22।।

भावानुवाद- उष्मपा अर्थात् उष्मा पान करने वाले होने से पितरों को उष्मपा कहते हैं, श्रुति में कहा है कि 'उष्मभागाः हि पितरः' - उष्मा पितरों का भाग है॥ 22॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ 23॥

मर्मानुवाद - हे महाबाहो ! आपके अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक भुजाओं जंघाओं पाद एवं उदर और विकराल दाढ़ों वाले रूप को देखकर मेरी तरह सभी लोक व्यथित हो रहे हैं ॥ 23॥

अन्वय - महाबाहो (हे महाबाहो) ते (आपके) बहुवक्त्रनेत्रम् (अनेक मुख और नेत्र वाले) बहुबाहूरुपादम् (बहुत भुजाओं और जंघाओं) बहूदरम् (अनेक उदर) बहुदंष्ट्राकरालम् (बहुत विकराल दाढ़ों वाले) महत् (विशाल) रूपम् (मूर्ति) दृष्ट्वा (देखकर) लोकाः (लोक) प्रव्यथिताः (भयभीत हो रहे हैं) तथा (उसी प्रकार) अहम् (मैं भी) व्यथित हो रहा हूँ॥ 23॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमञ्चविष्णो ॥ 24 ॥

मर्मानुवाद - हे विश्वव्यापिन् ! नभःस्पर्शी, प्रदीप्त, अनेक वर्णों वाले, फैले हुए मुख एवं प्रदीप्त विशाल नेत्रों वाले आपको देखकर धैर्य और शान्ति को अवलम्बन नहीं कर पा रहा हूँ ॥24 ॥

अन्वय - विष्णो (हे विष्णो) नभस्पृशम् (आकाश स्पर्शी) दीप्तम् (तेज-मय) अनेकवर्णम् (नाना वर्णों वाले) व्यात्ताननम् (फैले हुए मुख वाले एवं) दीप्तविशालनेत्रम् (प्रदीप्त विशालनेत्रों वाले) त्वाम् (आपको) दृष्ट्वा (देखकर) प्रव्यथितान्तरात्मा (भयभीत) अहम् (मैं) धृतिम् (धैर्य) शमं च (और शान्ति) न विन्दामि (नही पा रहा हूँ) ॥ 24 ॥

टीका—शमम् उपशमम्।। 24।।

भावानुवाद- 'शम्' का तात्पर्य हैं - उपशम, शान्ति ॥ 24 ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 25 ॥

मर्मानुवाद - आपके कालाग्नि के समान विकराल दाढ़ों वाला मुख देखकर मुझे दिशाओं का भ्रम हो रहा है, क्या करूँ समझ नहीं आ रहा है। हे देव ! हे जगन्निवास ! आप मुझ पर प्रसन्न हों ॥ 25 ॥

अन्वय - देवेश (हे देवेश) दंष्ट्राकरालानि (विकराल दाढ़ों वाला) कालानलसन्निभानि (प्रलयाग्नि के सामान) ते (आपके) मुखानि (मुखों को) दृष्ट्वा एव (देखकर मुझे) दिशो न जाने (दिशाओं का ज्ञान नहीं हो रहा है) शर्म च (और सुख) न लभे (प्राप्त नहीं कर रहा हूँ) जगन्निवास (हे जगत् के आश्रय) प्रसीद (आप प्रसन्न हो जायें) ॥ 25 ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ 26 ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ 27 ॥

मर्मानुवाद - ये सब धृतराष्ट्र के पुत्र समस्त राजाओं सहित तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे पक्ष के प्रधानयोद्धा भी आपके विकराल दाढ़ों

वाले मुख में तेजी से प्रवेश कर रहे हैं एवं दाँतो में फंसे किसी-किसी के तो चूर्ण हुए सिर भी दिखाई दे रहे हैं ॥ 26-27 ॥

अन्वय - अवनिपालसङ्घैः सह (राजाओं सहित) अमी च सर्वे एव (वे सब के सब) धृतराष्ट्रस्य (धृतराष्ट्र के पुत्र) तथा (एवं) भीष्मः (भीष्म) द्रोणः (द्रोण) असौ सूतपुत्रः (और वह कर्ण) अस्मदीयैः (हमारे) योधमुख्यैः सह अपि (प्रधान-प्रधान योद्धाओं सहित) त्वरमाणाः (तेजी से) ते (आपके) दंष्ट्राकरालानि (विकराल दाढ़ों वाले) भयानकानि (भयानक) वक्त्राणि (मुखों में) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) केचित् (कोई-कोई) चूर्णितैः (चूर्ण हुए) उत्तमांगैः (मस्तकों द्वारा) दशनान्तरेषु (दाँतों के बीच में) विलग्नाः (फंसे हुए) सन्दृश्यन्ते (दिख रहे हैं) ॥ 26-27 ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीराः विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥ 28 ॥

मर्मानुवाद - जिस प्रकार बहुत सी नदियां समुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं उसी प्रकार ये सब नरवीर आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं एवं चारों तरफ से जल रहे हैं ॥ 28 ॥

अन्वय - यथा (जिस प्रकार) नदीनाम् (नदियों के) बहवः (बहुत से) अम्बुवेगाः (जलप्रवाह) अभिमुखाः (समुद्राभिमुखी होकर) समुद्रम् एव (समुद्र में ही) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) अमी (ये सब) नरलोकवीराः (वीर पुरुष) तव (आप के) ज्वलन्ति (देदीप्यमान) वक्त्राणि (मुखों में) अभितः (सब तरफ से) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) ॥ 28 ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ 29 ॥

मर्मानुवाद - जिस प्रकार पतंगे मरने के लिए बड़े वेग से प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये सब लोग भी अपना नाश करने के लिए बड़ी तेजी से आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं ॥ 29 ॥

अन्वय - यथा (जिस प्रकार) पतंगाः (पतंगे) नाशाय (मरने के लिए) समृद्धवेगाः (बड़े वेग से उड़ते हुये) प्रदीप्तं ज्वलनम् (प्रज्ज्वलित अग्नि में) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) लोकाः अपि (जीव

समुदाय भी) नाशाय एव (मरने के लिये ही) समृद्धवेगाः (अति वेग से) तव (आप के) वक्त्राणि (मुखों में) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं)॥ 29॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ 30॥

मर्मानुवाद – हे विष्णो ! आप प्रज्वलित मुखों द्वारा इस सम्पूर्ण लोक को ग्रास कर रहे हैं। आप का उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज से आपूरित करके तपा रहा है॥ 30॥

अन्वय – ज्वलद्भिः (आप अपने प्रज्वलित) वदनैः (मुखों द्वारा) समग्रान् (सम्पूर्ण) लोकान् (लोकों को) ग्रसमानः (ग्रास करते हुए) समन्तात् (सब ओर से) लेलिह्यसे (बार-बार चाट रहे हैं) विष्णो (हे विश्वव्यापी) तव (आपका) उग्राः (प्रचण्ड) भासः (प्रकाश) तेजोभिः (अपने तेज द्वारा) समग्रम् (सम्पूर्ण) जगत् (जगत् को) आपूर्य (आपूरित कर) प्रतपन्ति (तपा रहा है)॥ 30॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ 31॥

मर्मानुवाद – हे देव ! कृपा करके मुझे बताइए इस प्रकार उग्ररूप वाले आप कौन हैं? यह मुझसे कहिये, हे देव ! आपको नमस्कार करता हूँ। आप प्रसन्न हों। मैं आपकी चेष्टाओं से अवगत नहीं हूँ। मैं आप को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ 31॥

अन्वय – उग्ररूपः (उग्रमूर्ति) भवान् (आप) कः (कौन हैं) मे (मुझे) आख्याहि (कहिये) ते (आपको) नमः अस्तु (नमस्कार करता हूँ) देववर (हे देवश्रेष्ठ) प्रसीद (आप प्रसन्न हों) आद्यम् (आदि पुरुष) भवन्तम् (आपको) विज्ञातुम् (विशेष रूप से जानने की) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) हि (क्योंकि) तव (आपकी) प्रवृत्तिम् (चेष्टाओं को) न प्रजानामि (भलीभाँति समझ नहीं पा रहा हूँ)॥ 31॥

श्रीभगवानुवाच-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ 32॥

मर्मानुवाद – भगवान् ने कहा – इन विस्तृत लोकों को नाश करने के लिए ही मैं कालरूप से अवतीर्ण हुआ हूँ, दूसरे पक्ष के योद्धाओं का मैं विनाश कर दूँगा। इस विनाश कार्य को करने वाले तुम नहीं हो। मैं ही कर्ता हूँ॥ 32॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) लोकक्षयकृत् (मैं सम्पूर्ण लोकों का नाश करने वाला) प्रवृद्धः (बढ़ा हुआ) कालः अस्मि (काल हूँ) इह (इस समय) लोकान् (सम्पूर्ण लोकों का) समाहर्तुम् (संहार करने में) प्रवृत्तः (प्रवृत्त हुआ हूँ) त्वाम् ऋते अपि (तुम्हारे बिना भी) प्रत्यनीकेषु (तुम्हारे प्रतिपक्ष के) ये योधाः (जितने भी योद्धा) अवस्थितः (खड़े हैं) सर्वे अपि (सभी) न भविष्यन्ति (नहीं रहेंगे)॥ 32॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ 33॥

मर्मानुवाद – इस विनाश कार्य में अगर तुम्हारी अपेक्षा नहीं है तब तुम्हारा युद्ध में खड़े होकर जय से मिलने वाले यश की प्राप्ति और निष्कण्टक राज्य को भोगना उचित है। मैंने सब का विनाश कर दिया है। हे सव्यसाची! तुम तो केवल निमित्त बन जाओ ॥ 33॥

अन्वय – तस्मात् (इसलिए) त्वम् (तुम) उत्तिष्ठ (खड़े हो जाओ) यशो लभस्व (यश की प्राप्ति करो) शत्रून् (शत्रुओं को) जित्वा (जीत कर) समृद्धं राज्यम् (निष्कण्टक राज्य को) भुङ्क्ष्व (भोग करो) मया एव (मेरे द्वारा ही) पूर्वम् एव (पहले ही) एते (ये सारे) निहताः (मारे जा चुके हैं) सव्यसाचिन् (हे बायें हाथ से धनुष चलाने वाले अर्जुन तुम) निमित्तमात्रम् (मात्र निमित्त) भव (बन जाओ)॥ 33॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ 34॥

मर्मानुवाद – मैंने द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण एवं अन्य सब योद्धाओं को नष्ट कर दिया है, तुम व्यथा का त्याग कर युद्ध करो और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो ॥ 34॥

अन्वय – मया (मेरे द्वारा) हतान् (मारे गये) द्रोणम् (द्रोण) भीष्मम्

(भीष्म) जयद्रथम् (जयद्रथ) कर्णम् (कर्ण) तथा (एवं) अन्यान् (अन्य) योधवीरान् अपि (योद्धाओं को भी) जहि (मार दो) मा व्यथिष्ठाः (भयभीत मत होओ) युध्यस्व (युद्ध करो) रणे (युद्ध में) सपत्नान् (शत्रुओं को) जेतासि (जीतोगे) ॥ 34 ॥

सञ्जय उवाच–

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ 35 ॥

मर्मानुवाद – संजय ने धृतराष्ट्र से कहा – हे राजन्! अर्जुन भगवान् के इन सब वाक्यों को श्रवण कर काँपते हुए शरीर से हाथ जोड़कर भयभीत चित्त से पुनः-पुनः श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हुए गद्-गद् वाक्य कहने लगे॥ 35 ॥

अन्वय – संजय उवाच (संजय ने कहा) केशवस्य (केशव के) एतत् (ऐसे) वचनम् (वाक्य) श्रुत्वा (सुनकर) वेपमान (कांपते-कांपते) किरीटी (अर्जुन) कृताञ्जलि (हाथ जोड़कर) कृष्णम् (कृष्ण को) नमस्कृत्वा (नमस्कार करके) भीतभीतः (अति भयभीत चित्त से) प्रणम्य (प्रणाम करते हुए) भूयः एव (पुनः) सगद्गदम् (गद्गद्भाव से) आह (बोले) ॥35 ॥

टीका—नमस्कृत्वा इत्यार्षम्।। 35।।

भावानुवाद– नमस्कृत्वा – यह आर्ष ऋषियों द्वारा प्रयोग किया गया है

अर्जुन उवाच–

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ 36 ॥

मर्मानुवाद – हे हृषीकेश ! आप का यशोगान सुनकर जगत् हर्षित हो रहा है और सभी लोग आपके प्रति अनुरक्त हो रहे हैं। सभी राक्षस भयभीत होकर चारों दिशाओं में इधर-उधर भाग रहे हैं एवं सब सिद्ध लोग नमस्कार कर रहे हैं। ये उनके लिये उचित ही है॥ 36 ॥

अन्वय – हृषीकेश (हे हृषीकेश) तव (आपकी) प्रकीर्त्या (महिमा कीर्तन करके) जगत् (जगत्) प्रहृष्यति (हर्षित) अनुरज्यते च (और अनुरक्त हो रहा है) रक्षांसि (राक्षस समुदाय) भीतानि (भयभीत होकर) दिशः

(चारों दिशाओं में) द्रवन्ति (पलायन कर रहे हैं) सर्वे सिद्धसङ्घाः च (और सभी सिद्धों के समुदाय) नमस्यन्ति (नमस्कार कर रहे हैं) ॥ 36 ॥

टीका— भगवद्विग्रहस्यातिप्रसन्नत्वमतिघोरत्वञ्चेदमुन्मुखविमुख- विषयकमिति सहसै
युक्तमित्यर्थः। हे हृषीकेश, स्वभक्तेन्द्रियाणां स्वाभक्तेन्द्रियाणाञ्च स्वाभिमुख्ये स्ववै
प्रहृष्यत्यनुरज्यते अनुरक्तं भवतीति युक्तमेव जगतोऽस्य त्वदौ
भावः। तथा रक्षांसि राक्षसासुरदानवपिशाचादीनि भीतानि भूत्वा दिशो द्रवन्ति दिशः प्रतिपलायन्ते इत्येतदपि स्थाने युक्तमेव तेषां त्वद्वै
त्वद्भक्त्या ये सिद्धास्तेषां सङ्घाः। सर्वे नमस्यन्ति चेत्यपि युक्तमेव तेषां त्वद्भक्तत्वादिति भावः। श्लोकोऽयं रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः। ।36। ।

भावानुवाद- अर्जुन सहसा भगवान् के उस स्वरूप की ओर उन्मुख लोगों के लिए प्रसन्नता तथा विमुख लोगों के लिए विकरालता को जानकर उस तत्त्व की व्याख्या करते हुए स्तुति करने लगे। 'स्थाने'- अव्यय शब्द है इसका अर्थ है युक्त, उचित तथा ठीक, यह यहां हर पक्ष में लगेगा।

अर्जुन ने कहा, हे हृषीकेश! आप भक्तों की इन्द्रियों को अपनी ओर अभिमुख तथा अभक्तों की इन्द्रियों को विमुख करते हैं, जो कि युक्त ही है। 'तव प्रकीर्त्या' अर्थात् आपकी महिमा संकीर्तन से यह जगत् आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है - यह उपयुक्त ही है, किन्तु राक्षस, असुर, दानव, पिशाचादि भयभीत होकर इधर - उधर चारों दिशाओं में भाग रहे हैं - यह भी उपयुक्त ही है, क्योंकि वे आपसे विमुख हैं। जबकि आपकी भक्ति द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं, उनके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह भी युक्तियुक्त ही है, क्योंकि वे आपके ही भक्त हैं । यह श्लोक मन्त्रशास्त्र में 'रक्षोघ्न' मन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है ॥ 36 ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ 37 ॥

मर्मानुवाद - हे महात्मन् ! आप सबसे श्रेष्ठ, आदि कर्त्ता और ब्रह्म हैं तब वे आप को नमस्कार क्यों न करें ? हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास! आप सत् और असत् दोनों से अतीत तत्त्व एवं अच्युत हैं।

अन्वय - महात्मन् (हे महात्मन्) अनन्त (हे अनन्त) हे देवेश (हे देवेश) जगन्निवास (हे जगन्निवास) ब्रह्मणः अपि (ब्रह्मा से भी) गरीयसे (श्रेष्ठ) आदिकर्त्रे (आदि कर्त्ता) ते (आपको) [सभी] कस्मात् (क्यों) न नमेरन् (न नमस्कार करें) सत् (कार्य) असत् (कारण) तत् परम् (से अलग और श्रेष्ठ) यत् अक्षरम् (जो ब्रह्म है) त्वम् (वह आप हैं)॥ 37॥

टीका—ते कस्मान्न नमेरन्, अपि तु नमेरन्नेव—आत्मनेपदमार्षम्। सत् कार्यमसत् कारणञ्च ताभ्यां परं यदक्षरं ब्रह्म तत् त्वम्।। 37।।

भावानुवाद- अर्जुन ने कहा - वे आपको नमस्कार क्यों करें अर्थात् अवश्य करें। यहाँ 'नमेरन्' का आत्मनेपदी प्रयोग आर्ष है। 'सत्' का तात्पर्य है - कार्य 'असत्' का तात्पर्य है - कारण । इन दोनों में जो श्रेष्ठ है, वह अक्षर ब्रह्म आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ 38॥

मर्मानुवाद - आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप ही इस विश्व के एकमात्र लय स्थान हैं, आप ही वेत्ता और वेद्य एवं गुणातीत स्वरूप हैं। हे अनन्तरूप ! यह विश्व आपके द्वारा ही व्याप्त है॥ 38॥

अन्वय - अनन्तरूप ! (हे अनन्तरूप) त्वम् (आप) आदिदेवः (आदि देव और) पुराणः पुरुषः (सनातन पुरुष) त्वम् (आप) अस्य (इस) विश्वस्य (विश्व के) परम् (एकमात्र) निधानम् (लयस्थल हैं) [आप] वेत्ता (ज्ञाता) वेद्यं च (और ज्ञेय) परं धाम च (और गुणातीत स्वरूप) असि (हैं) त्वया (आपके द्वारा) विश्वम् (जगत्) ततम् (व्याप्त है)॥ 38॥

टीका—निधानं लयस्थानं परं धाम गुणातीतः स्वरूपम्।। 38।।

भावानुवाद- 'निधानम्' का अर्थ है - लयस्थान। 'परं धाम' का अर्थ है - गुणातीत स्वरूप ॥ 38॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ 39॥

मर्मानुवाद - आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति एवं

ब्रह्मा हैं इसलिए मैं आपको हज़ारों बार नमस्कार करता हूँ एवं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ॥ 39॥

अन्वय – त्वम् (आप) वायुः (वायु) यमः (यम) अग्निः (अग्नि) वरुणः (वरुण) शशांकः (चन्द्र) प्रजापतिः (ब्रह्मा) प्रपितामहः च (और उनके जनक हो) ते (आपको) सहस्रकृत्वः (सहस्र सहस्र वार) नमः अस्तु (नमस्कार है) पुनः च नमः (पुनः नमस्कार है) भूयः अपि (पुनः) ते (आपको) नमः नमः (नमस्कार है)॥ 39॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ 40॥

मर्मानुवाद – मैं सामने से, पीछे से, और चारों तरफ से आपको प्रणाम करता हूँ। हे अनन्त वीर्य ! आप असीम शक्तिसम्पन्न हैं, आप ही समस्त जगत् में व्याप्त हैं, इसलिए आप सर्वस्वरूप हैं॥ 40॥

अन्वय – सर्व (हे सर्व) ते (आपको) पुरस्तात् (सामने से) नमः (नमस्कार है) अथ (एवम्) पृष्ठतः (पीछे से) [नमस्कार है] ते (आपको) सर्वतः एव (सब तरफ से ही) नमः अस्तु (नमस्कार है) अनन्तवीर्य (हे असीम सामर्थ्यशाली) त्वम् (आप) अमितविक्रमः (असीम विक्रमशाली हैं) सर्वम् (आप सम्पूर्ण) [जगत् में] समाप्नोषि (परिव्याप्त हैं) ततः (इसी कारण) सर्वः (सर्वस्वरूप हैं) ॥ 40॥

टीका—सर्वं स्वकार्यं जगत् आप्नोषि व्याप्नोषि स्वर्णमिव कटक-कुण्डलादिकमतस्त्वमेव सर्वः।। 40।।

भावानुवाद– जिस प्रकार स्वर्ण अपने कार्य कुण्डलादि गहनों में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आप भी स्वकार्य जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं॥ 40॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ 41॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ 42॥

मर्मानुवाद – हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! अभिमानवश मैंने जो

आप को इन नामों से सम्बोधित किया है, उसका कारण आपके विश्वरूप की महिमा की अज्ञानता ही थी। इसलिए बिना सोचे समझे प्रमादवश ही आपको इस प्रकार सम्बोधन किया है। चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय परिहास करते हुए अकेले या बन्धु-बान्धवों के सामने जो आपका तिरस्कार किया है, ऐसे सहस्र-सहस्र अपराध आप क्षमा करें।

अन्वय - तव (आपकी) इदम् (इस विश्व रूप की) महिमानम् (महिमा को) अजानता (न जानकर) मया (मेरे द्वारा) प्रमादात् (प्रमादवश) अपि वा प्रणयेन (या प्रेम वश) सखा इति मत्वा (सखा मानकर) हे कृष्ण (हे कृष्ण) हे यादव (हे यादव) हे सखे (हे सखे) इति (इस प्रकार) प्रसभम् (हठात् तिरस्कार करते हुये) यत् (जो भी) उक्तम् (कहा गया है)।

अच्युत (हे अच्युत) विहारश्य्यासनभोजनेषु (चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते बैठते, खाते-पीते समय) एकः (अकेले में) अथवा (या) तत्समक्षम् (उन सखाओं के सामने) अवहासार्थम् (हंसी-दिल्लगी में) ये (जो मेरे द्वारा) असत्कृतः (असम्मानित) असि (हुए हो) अहम् (मैं) अप्रमेयम् (अचिन्त्य प्रभावसम्पन्न) त्वाम् (आपसे) तत् (उसके लिए) क्षामये (क्षमा प्रार्थना कर रहा हूँ) ॥ 42 ॥

टीका—हन्त हन्तै
पुञ्जोऽस्मीत्यनुतापमाविष्कुर्वन्नाह—सखेतीति। हे कृष्णेति—त्वं वसुदेवनाम्नो नरस्यार्द्धरथत्वेनाप्यप्रसिद्धस्य पुत्रः कृष्ण इति प्रसिद्धः। अहन्तु नरपतेः पाण्डोरतिरथस्य पुत्रोऽर्जुन इति प्रसिद्धः। हे यादवेति—यदुवंश्यस्य तव नास्ति राजत्वम्, मम तु पुरुवंश्यस्यास्त्येव राजत्वम्; हे सखेति—सन्धिरार्षः, तदपि त्वया सह मम यत्सख्यं तत्र तव पै
तावक एवेत्यभिप्रायतो यत् प्रसभं स तिरस्कारमुक्तं मया तत् क्षामये क्षमयामीत्युत्तरेणान्वयः। तवेदं विश्वरूपात्मकं स्वरूपमेव महिमानं प्रमादाद्वा प्रणयेन स्नेहेन वा, परिहासार्थं विहारादिष्वसत्कृतोऽसि त्वं सत्यवादी निष्कपटः परमसरल इत्यादिवक्रोक्त्या तिरस्कृतोऽसि, त्वमेकः सखीन् विनै
अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं पुरतोऽसि यदा स्थितः तदा जातं तत्सर्वमपराधं सहस्रं क्षामये—हे प्रभो क्षमस्वेत्यनुनयामीत्यर्थः।। 41-42।।

भावानुवाद– 'हाय! हाय! ऐसे महान् से भी महान् ऐश्वर्यवान् आपके चरणों में मैंने अनगिनत अपराध किये हैं' इस प्रकार अनुताप करते हुए अर्जुन कह रहे हैं कि हे सखे! हे कृष्ण! मैं तो समझता रहा कि आप वसुदेव नामक एक मनुष्य के पुत्र हो जो कि अर्धरथी के रूप में भी प्रसिद्ध नहीं हैं, जबकि मैं अतिरथी राजा पाण्डु के पुत्ररूप में प्रसिद्ध हूँ। हे यादव! आप यदुवंशी हैं आपका राजत्व भी नहीं है, किन्तु पुरुवंशी मेरा राजत्व है, फिर भी आपके साथ जो मेरा सखाभाव है, वह आपके पिता या कुलके सम्बन्ध से नहीं, अपितु आप के कारण ही है। सखाभाव के कारण मैंने आप का तिरस्कार किया है, कभी प्रमादवश तो कभी स्नेहवश, एकान्त में या सखाओं के सामने यह कह कर कि तुम बड़े सत्यवादी हो , निष्कपट हो , बड़े सीधे हो ऐसे व्यंगात्मक वचन बोलता रहा। किन्तु आप विश्वरूपात्मक हो, परमपुरुष हो, इसलिए किसी भी कारण से मेरे ऐसे हजारों अपराध, जो आपके चरणों में हुए हैं, हे प्रभो! आप उन सब को क्षमा कर दीजिये।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ 43 ॥

मर्मानुवाद – आप इस जगत् के पिता, पूज्य और प्रधान गुरु हैं। आपसे अधिक होना तो दूर की बात है, आपके तो समान भी कोई नहीं है। इन तीनों लोकों में आपका अमित प्रभाव है ॥ 43 ॥

अन्वय – अप्रतिमप्रभाव (हे अतुलनीय प्रभावशाली) त्वम् (आप) अस्य (इस) चराचरस्य (चराचर) लोकस्य (जगत् के) पिता (पिता) पूज्यः (पूज्य) गुरुः (गुरु) गरीयान् च (और महान् गुरु) असि (हैं) अतः (इसलिए) लोकत्रये (तीनों लोको में) त्वत् समः अपि (आपके समान भी) न अस्ति (कोई नहीं है तब) अत्यधिकः (श्रेष्ठ) अन्यः (दूसरा) कुतः (कहां होगा?) ॥ 43 ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ 44 ॥

मर्मानुवाद – वास्तव में आप ही जीवों के ईश एवं सेव्य हैं, दण्डवत् प्रणाम करता हुआ मैं आप से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। वास्तव में तो जीव और आप सख्य, वात्सल्य और मधुर रस के सम्बन्धों में बँधे हुए

हैं। उन्हीं-उन्हीं सम्बन्धों के कारण नित्यदासरूपी सभी जीव आपके प्रति जो समतापूर्ण व्यवहार करते हैं, वह आप कृपापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं।

अन्वय - देव (हे देव) तस्मात् (इसलिए) अहम् (मैं) कायम् (शरीर को) प्रणिधाय (दण्डवत् नीचे लिटा कर) प्रणम्य (प्रणाम करते हुये) ईड्यम् (वन्दनीय) ईशम् (ईश्वर) त्वाम् (आपको) प्रसादये (प्रसन्न कर रहा हूँ) पिता इव (पिता जैसे) पुत्रस्य (पुत्र के) सखा इव (सखा जैसे) सख्युः (सखा के) प्रियः [इव] (प्रिय जैसे) प्रियायाः (प्रिया के) [अपराध क्षमा करता है] [उसी प्रकार] [मम] मेरे [अपराधम्] अपराधों को सोढुम् अर्हसि (क्षमा कीजिएगा)।

टीका—कायं प्रणिधाय भूमौ
सन्धिरार्षः।। 44।।

भावानुवाद- 'कायं प्रणिधाय' का तात्पर्य है - भूमिपर दण्डकी भाँति लेटकर॥ 44॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 45॥

मर्मानुवाद - आप का यह विश्वरूप जो पहले मैंने कभी नहीं देखा, इसके दर्शन कर मेरे मन में कौतूहल हो रहा है। भक्तों के मन और नयनों में आनन्द उत्पन्न नहीं हो रहा है। साथ ही इसे दर्शन कर मेरा मन भयभीत हो रहा है। हे जगन्निवास! हे देवेश ! आप अपना सच्चिदानन्दमय चतुर्भुज रूप दर्शन करवायें॥ 45॥

अन्वय - देव (हे देव) अदृष्टपूर्वम् (पहले कभी नहीं देखे) [इस विश्वरूप को] दृष्ट्वा (देखकर) हर्षितः (आह्लादित) अस्मि (हो रहा हूँ) भयेन च (एवं भय से) मे (मेरा) मनः (मन) प्रव्यथितम् (व्याकुल हो रहा है) [इसलिए] देवेश (हे देवेश) जगन्निवास (हे जगत् निवास) तत् एव रूपम् (वही पहले वाला रूप ही) मे (मुझे) दर्शय (दर्शन करवाइये और) प्रसीद (प्रसन्न हो जाइये)॥ 45॥

टीका—यद्यप्यदृष्टपूर्वमिदं ते विश्वरूपात्मकं वपुर्दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि, तदप्यस्य घोरत्वाद् भयेन मनः प्रव्यथितमभूत्। तस्मात्तदेव मानुषं रूपं मत्प्राणकोट्यधिकप्रियं माधुर्यपारावारं वसुदेवनन्दनाकारं मे दर्शय प्रसीदेति

अलं तवै
सर्वजगन्निवासो भवस्येवेति मया प्रतीतमिति भावः। अत्र विश्वरूपदर्शनकाले सर्वस्वरूपमूलभूतं नराकारं कृष्णवपुस्तत्रै
न दृष्टमिति गम्यते।

भावानुवाद– अर्जुन ने कहा, 'यद्यपि आपके पहले कभी न देखे गये विश्वरूपात्मक शरीर को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, तथापि पुनः विकरालता को देखकर मेरा मन भय से व्याकुल भी हो रहा है। इसलिए आप मेरे प्राणों से करोड़ों गुणा अधिक प्यारे माधुर्य – पारावार वासुदेवनन्दनाकार रूपको दिखावें'। आप कृपा करें। आपका इतना ऐश्वर्य – दर्शन ही मेरे लिए बहुत है। मुझे प्रतीत हो रहा है कि आप देवेश अर्थात् सभी देवों के ईश्वर, जगन्निवास अर्थात् समस्त जगत् की निवासभूमि हैं – विश्वरूपदर्शनके समय सब स्वरूपों के मूल नराकार श्रीकृष्णस्वरूप उस समय वहां उपस्थित था, किन्तु योगमायाके द्वारा आच्छादित होने के कारण अर्जुन उसे देख नहीं पा रहे थे॥ 45 ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते॥ 46 ॥

मर्मानुवाद – अब मैं आपके चतुर्भुज रूप देखने की इच्छा कर रहा हूँ, उस रूप के मस्तक पर मुकुट, हाथों में गदा और चक्र आदि आयुध हैं।

उसी मूर्ति से ही आप ये सहस्त्र भुजाओं वाले विश्वरूप को समयानुसार प्रकट करते रहते हैं। हे कृष्ण! मैं निःसन्देह समझ गया कि आपका दो भुजाओं वाला सच्चिदानन्दमय रूप ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। सभी जीवों को आकर्षण करने वाला एवं सनातन है। उसी द्विभुजमूर्ति का ऐश्वर्य विलासरूपी चतुर्भुज नारायण मूर्ति नित्य विराजमान है एवं जब जगत् सृष्ट होता है तब उस चतुर्भुजरूप से विश्वरूप विराट्मूर्ति प्रकट होती है। इसी परम ज्ञान के द्वारा ही मेरा कौतूहल चरितार्थ हुआ है॥ 46 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) तथा एव (पहले की तरह ही) किरीटिनम् (मुकुट युक्त) गदिनम् (गदाधर) चक्रहस्तम् (चक्रपाणि) [रूप में] द्रष्टुम् (देखने की) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) सहस्त्रबाहो (हे सहस्त्रबाहो) विश्वमूर्त्ते (हे विश्वमूर्ते) तेन (वही) चतुर्भुजेन रूपेण एव (चतुर्भुजरूप

वाले) भव (हो जाइये) ॥ 46 ॥

टीका— किञ्च, यदै
वसुदेवनन्दनाकारेणै
लोकमनोनयनाह्लादकं दर्शय, न पुनरादृष्टपूर्वमिदं देवलीलाविश्वरूपादिपुरुष–रूपेणाद्यप्रत्यक्षीकृतमै
दिव्य– महार्घ्यरत्नकिरीटयुक्तं, तथै
जन्मसमये च त्वत्पितृभ्यां यथादृष्टः, हे विश्वमूर्ते, हे सहस्रबाहो ! इदं रूपमुपसंहृत्य तेनै

भावानुवाद– ''अर्जुन कहते हैं, आप फिर कभी अपने ऐश्वर्य का दर्शन कराओ, तब अपने नरलीला के वासुदेवनन्दनाकार रूप का ही दर्शन करावें, जो मैंने पहले भी देखा है। आप मुझे उसी परम रसमय मन और नेत्रों को आनन्द प्रदानकारीरूप का दर्शन ही करावें, यह अदृष्टपूर्वरूप नहीं। देवलीला के विश्वरूप पुरुष का ऐश्वर्य मेरे मन और नयनों को रुचिकर नहीं लगा।'' इस अभिप्राय से अर्जुन कहते है –'आप दिव्य महामूल्य रत्नमय मुकुटयुक्त चक्रगदाधारी रूप का ही दर्शन दें, जो मैने पहले कभी देखा था या आपके जन्म के समय आपके माता – पिता ने जो रूप देखा था। हे विश्वमूर्ते! अथवा हे सहस्रबाहो! इस वर्तमान रूपको अप्रकटकर वही चतुर्भुज रूप धारण कीजिये ॥ 46 ॥

श्रीभगवानुवाच–

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ 47 ॥

मर्मानुवाद – श्रीभगवान् ने कहा – हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर तुझे जड़ जगत् के अन्तर्गत आत्मयोगस्वरूप श्रेष्ठ रूप दिखाया। तेरे बिना पहले और किसी ने भी यह अनन्त आदि तेजोमय रूप नहीं देखा ॥ 47 ॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) अर्जुन (हे अर्जुन) प्रसन्नेन (प्रसन्न होकर) मया (मेरे द्वारा) आत्मयोगम् (आत्मयोग स्वरूप) तव (तुम्हें) इदम् (ये) तेजोमयम् (तेजमय) अनन्तम् (अनन्त) आद्यम् (आदिभूत) मे (मेरा) परम् (उत्तम) विश्वरूपम् (विश्वरूप) दर्शितम् (दिखाया गया है) यत् (जो) त्वदन्येन (तुम्हारे बिना और किसी द्वारा)

दृष्टपूर्वम् न (पहले नहीं देखा गया) ॥ 47 ॥

टीका—भो अर्जुन, 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमै
त्वत्प्रार्थनयै
प्रव्यथितमभूत्? यतः प्रसीद प्रसीदेत्युक्त्या तन्मानुषमेव रूपं मे दिदृक्षसे, तस्मात् किमिदमाश्चर्यं ब्रूषे? इत्याह—मयेति। प्रसन्नेनै
रूपं दर्शितम्, नान्यस्मै
त्वमेतन्न स्पृहयसि किमिति भावः।। 47।।

भावानुवाद- भगवान् ने कहा – हे अर्जुन! तुमने मुझसे प्रार्थना की कि हे पुरुषोत्तम! मैं आपके उस ईश्वररूपको देखने की इच्छा करता हूँ (गीता 11/3)। इसलिए मैंने अपने अंशरूप विश्वरूप पुरुष का रूप दिखाया, फिर इससे तुम्हारा मन व्यथित क्यों हो रहा है। 'कृपा करें- कृपा करें' – इस प्रकार कहकर मेरे मनुष्यरूप को देखनेकी इच्छा कर रहे हो, यह कैसी आश्चर्य की बात कह रहे हो? मैने प्रसन्न होकर ही तुम्हें इस रूप को दिखाया, दूसरे को नहीं। तुम्हारे बिना अन्य किसी के द्वारा यह रूप पहले नहीं देखा गया? ॥ 47 ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 48 ॥

मर्मानुवाद – हे कुरुप्रवीर ! वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और तीव्र तपस्या द्वारा इस लोक में अभी तक किसी ने मेरे आत्मयोगजनित इस विश्वरूप के दर्शन नहीं किये। केवल तुम ने ही दर्शन किये हैं जिन सब जीवों ने देवत्व प्राप्त किया है वे ही दिव्य चक्षु और दिव्य मन द्वारा मेरे इस दिव्य रूप के दर्शन और स्मरण करते हैं। जो जड़ संसार में फंसे हुए हैं। वे यह दिव्य रूप नहीं देख पाते किन्तु मेरे भक्त मूढ़ता और दिव्यता को भेदकर मेरे योग में नित्य चित् तत्त्व में अवस्थित रहते हैं इसलिए तुम्हारी तरह विश्वरूप दर्शन करने पर भी सुखी न होकर मेरे चिन्मय नित्यरूप श्रीकृष्ण स्वरूप के दर्शनों की लालसा करते हैं ॥ 48 ॥

अन्वय – कुरुप्रवीर (हे कुरुप्रवीर) वेदयज्ञाध्ययनैः (वेद और यज्ञविज्ञान अध्ययन द्वारा) दानैः (दान द्वारा) क्रियाभिः (अग्निहोत्र आदि कर्म द्वारा) उग्रैः (उग्र) तपोभिः (चान्द्रायणादि व्रत द्वारा) एवं रूपः (इस प्रकार के

विश्वरूप वाला) अहम् (मैं) नृलोके (मनुष्य लोक में) त्वदन्येन (तेरे बिना भक्तिहीन किसी दूसरे द्वारा) द्रष्टुं न शक्यः (दिखने योग्य नहीं होता) ॥48 ॥

टीका—तुभ्यं दर्शितमिदं रूपन्तु वेदादिसाधनै
वेदेति। त्वत्तोऽन्येन न केनाप्यहमेवंरूपः द्रष्टुं शक्यः; शक्य अहमिति—विसर्गलोप आर्षः। तस्मादलभ्यलाभमात्मनो मत्वा त्वमस्मिन्नेवेश्वरे सर्वदुर्लभे रूपे मनोनिष्ठां कुरु एतद्रूपं दृष्ट्वाप्यलं ते पुनर्मे मानुषरूपेण दिदृक्षितेनेति भावः।। 48 ।।

भावानुवाद– श्रीभगवान् कहते हैं अर्जुन! – मैंने तुम्हें जो रूप दिखाया, वह वेदादि साधनों के द्वारा भी दुर्लभ है। नरलोक में तुम्हें छोड़कर और किसी को यह रूप नहीं दिखा सकता। इसलिए मन में ऐसा सोचकर कि मैंने अलभ्य वस्तु को प्राप्त किया है, सर्वदुर्लभ उस रूप के प्रति निष्ठा रखो। तुम मेरे इस रूप को देखकर भी पुनः मेरे मनुष्य रूपको देखने की इच्छा क्यों करते हो ?॥ 48 ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ 49 ॥

मर्मानुवाद – मूढ़ बुद्धि लोग इसी भयंकर विश्वरूप चिन्तन को ही श्रेष्ठ समझते हैं। इस भंयकर रूप को देखकर तुम्हें भय नहीं होना चाहिये। मेरे भक्त शान्ति प्रिय एवं मेरे सच्चिदानन्द रूप के पक्षपाती हैं ,वे मेरे इस उग्र रूप के दर्शन कर चित्त में भयभीत होते हैं। इसलिए मेरे विश्वरूप से तुझे भी इस प्रकार भय न हो और विमूढ़ भाव न हो ऐसा मैं आशीर्वाद देता हूँ। मेरे माधुर्य रस के भक्तों का इस विश्वरूप से कोई लेना-देना नहीं है किन्तु तुम मेरे लीलापोषक सखा हो। तुम्हें मेरी हर लीला का पात्र बनना होगा। तुम्हारा इस प्रकार भयभीत होना उचित नहीं है, इसलिए भय का परित्याग कर प्रसन्न चित्त से मेरे नित्य रूप के दर्शन करो॥ 49 ॥

अन्वय – ईदृक् (इस प्रकार) मम (मेरे) घोरम् (भयानक) इदं रूपम् (इस रूप को) दृष्ट्वा (देखकर) ते (तुम्हें) व्यथा (भय) मा (न हो) विमूढभावः च (एवं मूढ़ता) मा (न हो) व्यपेतभीः (निर्भय) प्रीतमनाः (और प्रसन्न चित्त होकर) पुनः (पुनः) त्वम् (तुम) मे (मेरे) इदम् (इस) तत् रूपमेव (चतुर्भुज रूप को ही) प्रपश्य (देखो)॥ 49 ॥

टीका—भोः परमेश्वर, मां त्वं किं न गृह्णासि? यदनिच्छतेऽपि मह्यं पुनरिदमेव बलाद्दित्ससि; दृष्ट्वेदं तवै
व्याकुलीभवति, मुहुरहं मूर्च्छामि, तवास्मै
नमोऽस्तु, न कदाप्यहमेवं द्रष्टुं प्रार्थयिष्ये, क्षमस्व क्षमस्व; तदेव मानुषाकारं वपुरपूर्वमाधुर्यस्मितहसितसुधासारवर्षिमुखचन्द्रं मे दर्शय दर्शयेति व्याकुलमर्जुनं प्रति साश्वासमाह—मा ते इति।। 49।।

भावानुवाद- अर्जुन ने कहा – 'हे परमेश्वर! आप मुझे क्यों नहीं कृतार्थ करते हैं'। मेरे न चाहने पर भी आप बलपूर्वक अपने इसी रूप का दर्शन कराना चाहते हैं। आपके इस रूप को देखकर मेरा शरीर व्यथित और व्याकुल हो रहा है और बार-बार मुझे मूर्च्छा आने को हो रही है। मैं आपके इस परम ऐश्वर्यमयरूप को दूर से ही नमस्कार करता हूँ, मै पुनः कभी इस रूप को दिखलाने की प्रार्थना नहीं करूंगा। इस बार जो प्रार्थना की उसके लिए आप मुझे क्षमा करें, क्षमा करें। अब मुझे आप उसी मनुष्याकाररूप अपूर्वमाधुरी मन्द-मन्द हास्य से सुधारस की वर्षा करने वाले मुखचन्द्र के दर्शन करायें, उसीका दर्शन करावें'। ऐसे व्याकुल अर्जुन को आश्वासन देते हुए श्रीभगवान् यह श्लोक कह रहे हैं॥ 49॥

सञ्जय उवाच-

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ 50॥

मर्मानुवाद – संजय ने धृतराष्ट्र से कहा – महात्मा वासुदेव ने अर्जुन को इस प्रकार कहकर अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और अन्त में अपना द्विभुज सौम्य रूप प्रकट कर भयभीत मन वाले अर्जुन को साहस प्रदान किया॥ 50॥

अन्वय – संजय उवाच (संजय ने कहा) वासुदेवः (वासुदेव ने) अर्जुनम् (अर्जुन को) इति (इस प्रकार) उक्त्वा (कहकर) भूयः (पुनः) तथा (पहले की तरह) स्वकं रूपम् (अपना चतुर्भुजरूप) दर्शयामास (दिखाया) महात्मा (उदार हृदय) [श्रीकृष्ण ने] सौम्यवपुः (प्रसन्न मूर्ति) भूत्वा (होकर) पुनः (दुबारा) भीतम् (भयभीत) एनम् (इस अर्जुन को) आश्वासयामास (आश्वस्त किया)॥ 50॥

टीका—यथा स्वांशस्य महोग्ररूपं दर्शयामास, तथा महामधुरं स्वकं रूपं चतुर्भजं किरीटगदाचक्रादियुक्तं तत्प्रार्थितं मधुरै
पुनः स महात्मा सौ
भीतमेनमाश्वासयामास।। 50।।

भावानुवाद- श्रीभगवान् ने इस प्रकार अपने अंश महाउग्र रूप को दिखाने के पश्चात् मुकुट - गदा - चक्रादि से विभूषित चतुर्भुज मधुर - ऐश्वर्यमयरूप, जिस के लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहा था उस का दर्शन करवाया और पुनः किरीट कुण्डल - पगड़ी पीताम्बरादि वाले द्विभुज सौम्य वपु के दर्शन देकर भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया॥ 50॥

अर्जुन उवाच-

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ 51॥

मर्मानुवाद - श्रीकृष्ण के परम माधुर्यमय द्विभुजरूप के दर्शन करते हुए अर्जुन ने कहा - हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मनुष्यरूप के दर्शन कर मेरा चित्त स्थिर हो गया है एवं मुझे भक्तप्रकृति पुनः प्राप्त हो गई है॥ 51॥

अन्वय - अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) जनार्दन (हे जनार्दन) तव (आपका) इदम् (यह) सौम्यम् (मनोहर) मानुषम् (मनुष्य) रूपम् (रूप) दृष्टवा (देखकर) इदानीम् (अब) सचेताः (प्रसन्न चित्त) संवृत्तः अस्मि (हो गया हूँ) प्रकृतिम् (और स्वस्थ) गतः (हो गया हूँ)॥ 51॥

टीका—ततश्च महामधुरमूर्त्तिं कृष्णमालोक्यानन्दसिन्धुस्नातः सन्नाह—इदानीमेवाहं सचेताः संवृत्तः सचेता अभूवम्, प्रकृतिं गतः स्वास्थ्यं प्राप्तोऽस्मि।। 51।।

भावानुवाद- तत्पश्चात् महामधुरमूर्ति श्रीकृष्ण के दर्शन कर आनन्दसिन्धु में गोते लगाते हुए अर्जुन ने कहा कि अब मेरा चित्त प्रसन्न हो गया है और मैं अपनी 'प्रकृति' अर्थात् स्वाभाविक अवस्था में आ गया हूँ॥ 51॥

श्रीभगवानुवाच-

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥ 52॥

मर्मानुवाद – श्री भगवान् ने कहा – हे अर्जुन ! तुम अब जो मेरा रूप देख रहे हो इसका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। ब्रह्मा – रुद्रादि देवता भी इस नित्य रूप के दर्शनों की अभिलाषा रखते हैं। यदि कहो कि ये सभी आदमी तो मेरे इस मनुष्यरूप के दर्शन कर रहें हैं तो दुर्लभ कैसे हो गया? तब मैं इस का तत्त्व बतलाता हूँ, सुनो, मेरे इस सच्चिदानन्द कृष्णरूप के सम्बन्ध में दर्शकों की तीन प्रकार की प्रतीति होती है।

(1) विद्वत् प्रतीति (2) अविद्वत् प्रतीति (3) यौक्तिक प्रतीति

अविद्वत् मूढ़ प्रतीति द्वारा मानव मेरे इस मायिक अर्थात् जड़धर्माश्रित और अनित्य प्रतीति को 'सत्य' के रूप में अंगीकार करते हैं, इसलिए इस स्वरूप के परमभाव को जान नहीं सकते। यौक्तिक या दिव्य प्रतीति द्वारा ज्ञानाभिमानी पुरुष और देवता इस प्रतीति को जड़धर्म आश्रित और अनित्य समझते हैं और मेरे विश्वव्यापी विराट् रूप को या फिर विश्वातिरिक्त व्यतिरेक भावगत निर्विशेष ब्रह्म को 'नित्यतत्त्व' के रूप में समझते हैं और मेरे इस मनुष्यरूप को अर्चन के साधन के रूप में निश्चित करते हैं।

विद्वत् प्रतीति द्वारा मेरे इस मनुष्य रूप को साक्षात् 'सच्चिदानन्द –धाम' जान चित् चक्षुओं वाले भक्त मेरा साक्षात्कार करते हैं जो कि देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। देवताओं में से ब्रह्मा और शिव ही मेरे शुद्ध भक्त हैं, इसलिए वे इस रूप के दर्शनों की लालसा करते हैं। क्योंकि तुमने मेरी शुद्धसख्य भक्ति का आश्रय लिया है, इसलिए मेरी कृपा से विश्वरूपादि दर्शन करने के बाद नित्यरूप के सर्वश्रेष्ठत्व को समझ पाये हो।

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) मम (मेरे) इदम् (इस) सुदुर्दर्शम् (अत्यन्त दुर्लभ) रूपम् (रूप के) यत् (जो) दृष्टवान् असि (दर्शन किये हैं) देवाः अपि (देवता भी) अस्य (इस) रूपस्य (रूप के) नित्यम् (नित्य) दर्शनकांक्षिणः (दर्शनों की अभिलाषा रखते हैं) ॥52॥

टीका—दर्शितस्य स्वरूपस्य माहात्म्यमाह—सुदुर्दर्शमिति त्रिभिः। देवता अप्यस्य दर्शनाकाङ्क्षिणः एव, न तु दर्शनं लभन्ते। त्वन्तु नै मन्मूलस्वरूपनराकारमहामाधुर्यनित्यास्वादिने त्वच्चक्षुषे कथमेतद्रोचताम्? अतएव मया "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" इति दिव्यं चक्षुर्दत्तम्, किन्तु दिव्यचक्षुरिव दिव्यं मनो न दत्तम्; अतएव दिव्यचक्षुषापि त्वया न सम्यक्तया रोचितं

मन्मानुषरूपमहामाधुयै
देवलोक इव भवानप्येतद्विश्वरूपपुरुषस्वरूपमरोचयिष्यदेवेति भावः।।52।।

भावानुवाद–श्रीभगवान् दिखाए गए स्वरूप की महिमा बताते हुए कह रहे हैं कि देवता भी इस रूपके दर्शनों की आकांक्षा रखते हैं, किन्तु वे भी इसका दर्शन नहीं कर पाते हैं और तुम इसे देखना नहीं चाहते। एक तरह से यह ठीक ही है, क्योंकि तुम मेरे मूल नराकार स्वरूप के महामाधुर्य का नित्य आस्वादन करनेवाले हो, इसलिए तुम्हारे नेत्रों को यह रूप रुचिकर होता भी कैसे? मैंने तुम्हें दिव्य नेत्र तो दिये जिससे तुम उस रूप को देख सको। किन्तु हे अर्जुन! दिव्य नेत्रों के अनुरूप मन तुम्हें नहीं दिया। इसलिए मेरे महामाधुर्य का आस्वादन करने वाले तुम्हारे मन को वह अच्छा नहीं लगा। यदि तुम्हें दिव्य मन भी प्रदान करता तो देवताओं की तरह तुम्हारी भी मेरे विश्वरूप पुरुष – स्वरूप के प्रति रुचि हो जाती ॥ 52 ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम॥ 53 ॥

मर्मानुवाद – तुमने विज्ञान के सहित मेरे नित्य नराकाररूप का दर्शन किया है, जिसे वेद अध्ययन, तपस्या, दान, इज्या इत्यादि उपायों के द्वारा कोई भी दर्शन करने में समर्थ नहीं हैं॥ 53 ॥

अन्वय – माम् (मुझे तुमने) यथा (जिस प्रकार) दृष्टवान् असि (देखा है) एवंविधः (ऐसे रूप वाला) अहम् (मैं) वेदैः (वेदों द्वारा) तपसा (तपस्या द्वारा) दानेन (दान के द्वारा) इज्यया च (एवं यज्ञ के द्वारा) द्रष्टुं न शक्यः (नहीं देखा जा सकता)॥ 53 ॥

टीका—किञ्च युष्मदस्पृहणीयमप्येतत् स्वरूपमन्ये पुरुषार्थसारत्वेन ये स्पृहयन्ति, तै
प्रतीहीत्याह—नाहमिति।। 53।।

भावानुवाद– भगवान् कहते हैं ‘हे अर्जुन तुम विश्वास करो कि तुम्हारे द्वारा अवाञ्छित इस स्वरूप को यदि कोई पुरुषार्थ – सार समझकर देखने की आकांक्षा करे तो वेदाध्ययनादि साधनों के द्वारा भी इसे नहीं देख सकता॥ 53 ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥ 54॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन ! अनन्या भक्ति द्वारा ही मैं इस प्रकार ज्ञात, दृष्ट और साक्षात्कार होने योग्य होता हूँ॥ 54॥

अन्वय – परन्तप (हे परन्तप) अर्जुन (हे अर्जुन) अनन्या (केवला) भक्त्या तु (भक्ति के द्वारा ही) एवंविधः (इस प्रकार रूप वाला) अहम् (मैं) तत्त्वेन (यथार्थरूप से) ज्ञातुम् (जानने) द्रष्टुम् (देखने) प्रवेष्टुं च (एवं प्रवेश करने) शक्यः (योग्य हूँ) ॥ 54॥

टीका—तर्हि केन साधनेनै
शक्य अहमिति—विसर्गलोप आर्षः। यदि निर्वाणमोक्षेच्छा भवेत्, तदा तत्त्वेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन प्रवेष्टुमपि अनन्यया भक्त्यै
भक्तिरन्तिमसमये ज्ञानसंन्यासानन्तरमुर्वरिता अल्पीयस्य नान्यै
सायुज्यं भवेदिति, "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इत्यत्र प्रतिपादयिष्यामः।। 54।।

भावानुवाद– तो फिर किस साधन से इसे देखा जा सकता है? अर्जुन के ऐसा पूछने पर श्रीभगवान् कहते हैं–अनन्य भक्ति से यह प्राप्त हो सकता है। यदि मोक्ष की कामना हो, तो भी अनन्य भक्ति के द्वारा ही ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश सम्भव हो सकता है: दूसरा कोई उपाय नहीं है। ज्ञानियों की गुणीभूता भक्ति भी अन्तिम समय में ज्ञान संन्यास के बाद अल्प मात्रा में ही विकसित होती है, जिससे उन्हें सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। तत्पश्चात् मुझे स्वरूपतः जानकर वे मुझ में ही प्रवेश करते हैं। यही सिद्धांत मैं आगे (गीता 18/55 में) प्रतिपादित करूँगा॥ 54॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ 55॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शन-योगो नाम एकादशोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – जो मेरी निष्कपट सेवा करते हैं कर्म, ज्ञानफल संग वर्जित होकर सम्पूर्णरूप से मेरी भक्ति की आलोचना करते हैं एवं सब प्राणियों के प्रति दयालु होते हैं वही मेरे सर्वोत्तम श्रीकृष्ण स्वरूप को प्राप्त करते हैं॥55॥

ग्यारहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - पाण्डव (हे पाण्डव) यः (जो) मत्कर्मकृत् (मेरा मन्दिर-निर्माण-मार्जनादि-कर्म करने वाले) मत्परमः (मेरे परायण) मद्भक्तः (मुझ में श्रवणादि नवविधभक्ति युक्त) संगवर्जितः (आसक्ति रहित) सर्वभूतेषु (सब प्राणियों के प्रति) निर्वैरः (शत्रुभाव रहित हैं) सः (वे) माम् (मुझे) एति (प्राप्त करते हैं) ॥ 55 ॥

टीका—अथ भक्तिप्रकरणोपसंहारार्थं सप्तामाध्यायादिषु ये ये भक्ता उक्तास्तेषां सामान्यलक्षणमाह—मत्कर्मकृदिति।सङ्गवर्जितःसङ्गरहितः।।55।।

कृष्णस्यै
इत्यर्जुनो निश्चिकायेत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वेकादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद- इसी प्रकार भक्ति प्रकरण के उपसंहार के लिए सप्तम आदि अध्यायों में जिन-जिन भक्तों के विषय में कहा गया है - उनका सामान्य लक्षण इसी उपर्युक्त श्लोक में बताया गया है ।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण चन्द्र की महैश्वर्यता एवं युद्ध में अपनी विजय निश्चित रूप से जान ली - यही इस एकादश अध्याय का तात्पर्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

ग्यारहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त

बारहवाँ अध्याय

भक्तियोग

अर्जुन उवाच–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥1 ॥

मर्मानुवाद – अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! आपने अब तक जो मुझे उपदेश दिये उन से मालूम हुआ कि योगी दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के योगी वे हैं जो कि अपने सम्पूर्ण शारीरिक और सामाजिक कर्मों को आपकी अनन्या भक्ति की अधीनतारूपी जंजीर से बांध कर निर्मल भक्ति द्वारा आपकी उपासना करते हैं और दूसरे वे जो शारीरिक और सामाजिक सभी कर्मों को निष्काम कर्मयोग द्वारा आवश्यकता के अनुसार स्वीकार करते हुए अक्षर और अव्यक्त स्वरूप अर्थात् निर्विशेष आपकी उपासना करते हैं। इन

दोनों प्रकार के योगियों में से कौन सा योगी श्रेष्ठ है?।।1॥

अन्वय –अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) ये भक्ताः (जो भक्त) एवं (इस प्रकार) सततयुक्ताः (सर्वदा आपमें अनन्य भक्ति के साथ) त्वाम् (आपके श्यामसुन्दर रूप की) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ये च अपि (एवं जो) अव्यक्तम् (निर्विशेष) अक्षरम् (ब्रह्म की) [उपासना करते हैं] तेषां के योगवित्तमाः (इन दोनों प्रकार के योगियों में कौन सा योगी श्रेष्ठ है?)

टीका– द्वादशे सर्वभक्तानां ज्ञानिभ्यः श्रै
भक्तेष्वपि प्रशस्यन्ते येऽद्वेषादिगुणान्विताः।।

भक्तिप्रकरणस्योपक्रमे 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।' इति भक्तेः सर्वोत्कर्षो यथाश्रुतः, तथै
'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति त्वदुक्तलक्षणा भक्तास्त्वां श्यामसुन्दराकारं ये पर्युपासते, ये चाव्यक्तं निर्विशेषमक्षरम्–''एतद्वै
अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्'' इत्यादि श्रुत्युक्तं ब्रह्म उपासते, तेषामुभयेषां योगविदां मध्ये केऽतिशयेन योगविदश्च त्वत्प्राप्तौ
लभन्ते वा, ते योगवित्तरा इति वक्तव्ये योगवित्तमा इत्युक्तिर्योगवित्तराणामपि बहूनां मध्ये के योगवित्तमा इत्यर्थं बोधयति।।1।।

भावानुवाद - इस बारहवें अध्याय में सभी भक्तों को ज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है । उन भक्तों में भी द्वेषशून्य गुणों वाले भक्तों की ही प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार भक्ति प्रकरण के आरम्भ में अर्जुन ने भक्त की सर्वश्रेष्ठता के विषय में भगवान् के मुखारविन्द से श्रवण किया कि सभी प्रकार के योगियों में वही योगी श्रेष्ठ है, जो श्रद्धावान् होकर मुझ में चित्त अर्पण कर मेरा भजन करते हैं, यही मेरा मत है (6/47)। उसी प्रकार भक्ति प्रकरण के अंत में भी उसकी सर्वश्रेष्ठता सुनने की इच्छा से अर्जुन जिज्ञासा कर रहे हैं कि हे कृष्ण! एक तो वे भक्त हैं, जो आपके द्वारा पहले कहे गये भक्तों के सततयुक्ता ''मत्कर्मकृन्मत्परमः'' लक्षणों से युक्त हैं अर्थात् सब से आसक्तिरहित और समस्त प्राणियों में वैरभाव से रहित होकर आपके लिए ही कर्म करते हैं और आपके परायण होकर आपके इस श्यामसुन्दर रूप की उपासना करते हैं और दूसरे वे हैं जो निर्विशेष अक्षरब्रह्म,

जिसे श्रुति में अस्थूल, असूक्ष्म इत्यादि कहा है, की उपासना करते हैं। इन दोनों प्रकार के योगियों में से कौन सा श्रेष्ठ योगी है, अथवा कौन आपको जानने का श्रेष्ठ उपाय जानते हैं ।

दो वस्तुओं के बीच तुलना करने के लिए 'योगवित्तर' का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ योगवित्तम कहा गया है, जिसका अर्थ है बहुत से योगवित्तरों में कौन श्रेष्ठ है ॥1 ॥

श्रीभगवानुवाच-

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥2 ॥

मर्मानुवाद - श्रीभगवान् ने कहा - जो लोग निर्गुण श्रद्धा के साथ सम्पूर्ण जीवन को भक्तिमय करके मुझ में मन लगाते हैं वे भक्तजन ही सभी प्रकार के योगियों से श्रेष्ठ हैं।।2 ॥

अन्वय - श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) ये (जो) परया (निर्गुण) श्रद्धया उपेताः (श्रद्धा के साथ) मयि (मेरे श्यामसुन्दर रूप में) मनः (मन) आवेश्य (लगाकर) नित्ययुक्ताः (अनन्य भक्तियोग के द्वारा) माम् (मेरी) उपासते (उपासना करते हैं) ते (वे ही) युक्ततमाः (सर्वश्रेष्ठ योगी हैं) [यही] मे (मेरा) मताः (अभिमत है) ॥2 ॥

टीका—तत्र मद्भक्ता श्रेष्ठा इत्याह—मयि श्यामसुन्दराकारे मन आवेश्याविष्टं कृत्वा नित्ययुक्ता मन्नित्ययोगकाङ्क्षिणः परया गुणातीतया श्रद्धया; यदुक्तं—"सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा।" इति। ते मे मदीया अनन्यभक्ता युक्ततमा योगवित्तमा इत्यर्थः। तेनानन्यभक्तेभ्यो न्यूना अन्ये ज्ञानकर्मादिमिश्रभक्तिमन्तो योगवित्तमा इत्यर्थोऽभिव्यञ्जितो भवति। ततश्च ज्ञानाद्भक्तिः श्रेष्ठा भक्तावप्यनन्यभक्तिः श्रेष्ठा इत्युपपादितम्।।2।।

भावानुवाद - भगवान् कहते हैं - निःसन्देह उनमें से मेरे भक्त ही श्रेष्ठ हैं, जो मुझ श्यामसुन्दर में मन को लगा कर नित्य मेरे मिलन की इच्छा से निर्गुण श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं, उनको ही मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ। श्रीमद्भागवत(11/25/27) में भी कहा है कि ''आत्मसम्बन्धी

श्रद्धा सात्त्विकी, कर्मसम्बन्धी श्रद्धा राजसी, अधर्मसम्बन्धी श्रद्धा तामसी है एवं मेरी सेवासम्बन्धी श्रद्धा निर्गुणा होती है''। इस श्लोक में भगवान् ने कहा है कि मेरे अनन्य भक्त ही 'युक्ततमाः' अर्थात् श्रेष्ठतम योगी हैं। इनसे ज्ञान कर्मादिमिश्र अन्य भक्ति वाले पुरुष श्रेष्ठतर योगी हैं, श्रेष्ठतम नहीं। इसलिए भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है और भक्ति में भी अनन्य भक्ति सर्वश्रेष्ठ है यही निश्चित हुआ है ॥2 ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥3 ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥4 ॥

मर्मानुवाद - जो सभी इन्द्रियों को नियमित करके सब के प्रति समान दृष्टि रखते हुए सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं और मेरे अक्षर, अनिर्वचनीय, निराकार, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, नित्य और निर्विशेष- स्वरूप की उपासना करते हैं । वे बहुत कष्टों के बाद मुझे ही प्राप्त करते हैं क्योंकि मुझको छोड़कर कोई दूसरी उपास्य वस्तु है ही नहीं। इसलिए जिस-किसी उपाय से भी जीव परमवस्तु को पाने का यत्न करें, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं। ॥3-4 ॥

अन्वय - सर्वत्र (सब जगह) समबुद्धयः (अवस्थित परब्रह्म में बुद्धि युक्त) सर्वभूतहिते रताः (समस्त प्राणियों के मंगल हेतु लगे हुए) ये तु (जो) इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियों को) (सम्यक् रूप से निरोध करके) अनिर्देश्यम् (अनिर्वचनीय) अव्यक्तम् (प्राकृत रूपादि हीन) सर्वत्रगम् (सब जगह व्याप्त) अचिन्त्यम् (तर्क से अतीत) कूटस्थम् (सर्वकाल व्यापी) अचलम् (अचल हमेशा एक अवस्था में स्थिर) ध्रुवम् (नित्य) अक्षरम् (ब्रह्म का) पर्युपासते (ध्यान करते हैं) ते (वे) माम् एव (मुझे ही) प्राप्नुवन्ति (प्राप्त होते हैं) ॥3-4 ॥

टीका—मदीय-निर्विशेषब्रह्मस्वरूपोपासकास्तु दुःखित्वात्ततो न्यूना इत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम्। अक्षरं ब्रह्म, अनिर्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यम्, यतोऽव्यक्तं रूपादिहीनम्, सर्वत्रगं सर्वदेशव्याप्यचिन्त्यं तर्कागम्यम्, कूटस्थं सर्वकालव्यापि,—"एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः" इत्यमरः।

अचलं वृद्ध्यादिरहितम् ध्रुवं नित्यम्। मामेवेत्यक्षरस्य तस्य मत्तो भेदाभावात्।।3-4।।

भावानुवाद - पिछले दो श्लोकों में भगवान् ने कहा है, कि मेरे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप के उपासक मेरे भक्तों की अपेक्षा निम्न स्तर के हैं। 'अक्षर' अर्थात् ब्रह्म अनिर्देश्य है जिसे शब्द द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह अव्यक्त अर्थात् रूपादिहीन है, सर्वव्यापी है, उसे तर्क से नहीं जाना जा सकता। तीनों काल में एक ही रूप से स्थित होने के कारण कूटस्थ है एवं वृद्धि आदि से रहित है एवं नित्य है। वह 'मामेव' मैं ही हूँ वह अक्षर मुझ से भिन्न नहीं है। वह मेरी अंगकान्ति है। वह मेरा ही निर्विशेष रूप है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥5॥

मर्मानुवाद - ज्ञानयोगी और भक्तियोगी में भेद यही है कि साधना के समय भक्तियोगी बड़ी-आसानी से परात्पर वस्तु का अनुशीलन करता हुआ निर्भयता से उन्हें प्राप्त करता है। जबकि ज्ञानयोगी हमेशा अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म में निष्ठावान् होकर साधना के समय व्यतिरेक चिन्तन के कष्ट भोगता है। सहज-प्रतीति के विपरीत चिन्तन को व्यतिरेक चिन्ता कहते हैं। इसलिए जीव के लिए दुःख जनक है, और फल के समय भी उसमें निर्भयता नहीं है क्योंकि साधना का समय व्यतीत होने से पहले ही मेरे नित्य स्वरूप की उपलब्धि न कर पाने के कारण, चरमगति भी उनके लिए असुखजनक है। जीव नित्य चिन्मय वस्तु है। जीव यदि अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म में लीन हो जाये तब उसकी उपादेय अवस्था नष्ट हो जाती है। यदि किसी कारणवश उसका अपना स्वरूप प्रकट होता है तब अंहग्रह-बुद्धि अर्थात् अपने आपको ब्रह्म समझने की जो भावना है उसका परित्याग करने में भी कष्ट होता है। वह जीव साधन करते समय अव्यक्त वस्तु का ध्यान आरम्भ करने में दुःख ही प्राप्त करता है, वस्तुतः जीव चैतन्य स्वरूप और चिद्देह वाला है इसलिए अव्यक्त निर्विशेषभाव को केवल जीव के स्वरूपविरोधी और दुःख का जनक ही समझना, भक्तियोग ही जीव के मंगल का जनक है। भक्ति रहित केवल ज्ञानयोग सर्वत्र अमंगल ही उत्पन्न करता है। इसलिए निराकार,

निर्विकार, सर्वव्यापी और निर्विशेषस्वरूप की उपासना करते हुए जो अध्यात्मयोग किया जाता है वह प्रशंसनीय नहीं है।।5॥

अन्वय - तेषाम् (उन) अव्यक्तासक्तचेतषाम् (ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले व्यक्तियों को) अधिकतरः (अधिकतर) क्लेशः (कष्ट होता है) हि (क्योंकि) देहवद्भिः (देहाभिमानियों के द्वारा) अव्यक्ता (ब्रह्मविषया) गतिः (मनोवृत्ति) दुःखम् (कठिनता से) अवाप्यते (प्राप्त होती है)।।5॥

टीका—तर्हि केनांशे तेषामपकर्षस्तत्राह—क्लेश इति। न केनापि व्यज्यते इत्यव्यक्तं ब्रह्म तत्रै
क्लेशोऽधिकतरः; हि यस्मादव्यक्ता गतिः केनापि प्रकारेण व्यक्तीभवति, सा गतिर्देहवद्भिर्जीवै
एव शक्तिः, न तु विशेषेतरज्ञाने इति। अत इन्द्रियनिरोधस्तेषां निर्विशेषज्ञानमिच्छतामवश्य-कर्त्तव्य एव। इन्द्रियाणां निरोधस्तुस्त्रोतस्वतीनामिव निरोधो दुष्कर एव, यदुक्तं सनत्कुमारेण—"यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः। तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-स्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।""क्लेशो महानिह भवार्णवमप्लवेशं, षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षयन्ति। तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तरदुस्तरार्णम्।" इति तावता क्लेशेनापि सा गतिर्यद्यवाप्यते, तदपि भक्तिमिश्रेणै
लाभो, न तु ब्रह्मप्राप्तिः, यदुक्तं ब्रह्मणा-"तेषामसौ
यथा स्थूलतुषावघातिनाम्" इति।।5।।

भावानुवाद - जब अनन्य भक्त भी आपको ही प्राप्त करते हैं और निर्गुण के उपासक भी, तव निर्गुण उपासक अनन्य भक्तों से निकृष्ट कैसे हुए? अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं - जो किसी के द्वारा व्यक्त नहीं होता वह अव्यक्तब्रह्म है, जो उसमें आसक्त अर्थात् उसे अनुभव करने के अभिलाषी हैं उन्हें उसके लिए अधिकतर क्लेश भोगना पड़ता है, क्योंकि वह किसी प्रकार भी व्यक्त न होने वाली गति है। वह जीवों को बहुत दुःखपूर्वक निर्गुणरूप में प्राप्त होती है। इसलिए निर्विशेष ज्ञान के इच्छुक लोगों के लिए इन्द्रियों का निरोध करना नितान्त आवश्यक है। किन्तु, इन्द्रियों का निरोध नदियों के प्रवाह को निरोध करने के समान ही

अत्यन्त कठिन है। जैसा कि सनत्कुमार ने कहा है – 'भक्त भगवान् के अंगुलि–दल की छिटकती हुई छटा का भक्तिपूर्वक स्मरण करते–करते जिस प्रकार कर्म वासनामय हृदयग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर लेते हैं, भक्तिरहित निर्विषयी योगी इन्द्रियों को संयमित करके भी उस प्रकार उसे छेदन करने में समर्थ नहीं होते। इसलिए तुम इन्द्रियसंयमादि की चेष्टा छोड़कर श्रीवासुदेव का भजन करो।', 'जो मन और इन्द्रिय रूपी मगरमच्छों से भरे हुए इस संसार–समुद्र को मल्लाह रूपी भगवान् की आश्रयरूपी नौका के बिना अन्ययोगादि साधनों के द्वारा पार करने की इच्छा करते हैं, उन्हें अत्यन्त क्लेश होता है। इसलिए हे राजन्! आप भी भजनीय भगवान् के चरणकमलों को नौका बनाकर व्यसनपरिपूर्ण इस सुदुस्तर समुद्र से उत्तीर्ण होवें(भा:4/22/39—40)।' निर्विशेष ब्रह्म की उपासना में इतने क्लेश के बाद भी यदि वह गति प्राप्त होती है, तो केवल भक्ति की सहायता से ही। भगवान् की भक्ति के बिना केवल ब्रह्म की उपासना करने वाले को केवल क्लेश ही प्राप्त होता है, ब्रह्म प्राप्ति नहीं। जैसा कि ब्रह्माजी द्वारा(भा:10/14/4) कहा गया है – 'ऐसे लोगों को चावल की भूसी कूटने के समान केवल क्लेश ही प्राप्त होता है।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥6॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥7॥

मर्मानुवाद – जो मेरे इस भगवत् स्वरूप का सहारा लेते हैं, शारीरिक और सामाजिक सभी कर्मों को सम्पूर्णरूप से मेरी भक्ति के अधीन करके अनन्य भक्ति द्वारा मेरे नित्य विग्रह का ध्यान और उसकी उपासना करते हैं। मुझ में आविष्ट चित्त वाले उन व्यक्तियों को मैं अति शीघ्र ही मृत्यु संसार सागर से पार कर देता हूँ अर्थात् इस देह में रहते–रहते मायिक संसार से मुक्ति प्रदान कर देता हूँ। एवं मायाबन्धन नष्ट हो जाने पर जीवात्मा की अभेद बुद्धि रूपी मृत्यु से रक्षा करता हूँ। अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म में आसक्त चित्त व्यक्तियों की अभेदबुद्धिजनित आश्रयहीनता ही उनके अमंगल का कारण है। मेरी प्रतिज्ञा यह है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"। इस कथन से यह जाना जाता है, कि जो अव्यक्त निर्विशेषरूप का ध्यान करते हैं

वे मेरे अव्यक्त स्वरूप में लीन हो जाते हैं इसमें मेरा नुकसान क्या है? अभेद विचार रखने वाले जीवों को इसी प्रकार गति मिलती है, जिससे उनके स्व-स्वरूपगत मनोरमता दूरीभूत हो जाती है ॥6-7॥

अन्वय - पार्थ (हे पार्थ) ये तु (जो सब व्यक्ति) सर्वाणि (समस्त) कर्माणि (कर्मों को) मयि (मेरी प्राप्ति के लिए) संन्यस्य (त्याग कर देते हैं और) मत्पराः (मेरे परायण होकर) अनन्येन एव (ज्ञान, कर्म-तपः इत्यादि सम्पर्क रहित केवल मात्र) योगेन (भक्तियोग द्वारा) माम् (मेरा) ध्यायन्तः (ध्यान करते हुए) उपासते (उपासना करते हैं) अहम् (मैं) मयि (मुझ में) आवेशितचेतसाम् (लगे चित्तवाले) तेषाम् (उनको) मृत्युसंसारसागरात् (मृत्य रूपी संसार समुद्र से) न चिरात् (जल्दी ही) समुद्धर्ता भवामि (उद्धार कर देता हूँ) ॥6-7॥

टीका—भक्तानान्तु ज्ञानं विनै
संसारान्मुक्तिरित्याह—ये त्विति। मयि मत्प्राप्त्यर्थं संन्यस्य त्यक्त्वा सन्न्यासशब्दस्य त्यागार्थत्वात्, अनन्येनै
भक्तियोगेन। यदुक्तं—"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवै
"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।।" इति, मोक्षधर्मे नारायणीये च—"या वै
पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।" इति। ननु तदपि तेषां संसारतरणे कः प्रकार इति चेत्? सत्यम्, तेषां संसारतरणप्रकारे जिज्ञासा नै
भगवतो भक्तेष्वेव वात्सल्यं न तु ज्ञानिष्विति ध्वनिः।।6-7।।

भावानुवाद - श्रीभगवान् ने कहा - अर्जुन! मेरे भक्तों की तो ज्ञान के बिना केवल भक्ति से ही सुखपूर्वक संसार से मुक्ति हो जाती है। यहां संन्यास का अभिप्राय त्याग से है। मेरी प्राप्ति के लिए जो तमाम कर्मों का परित्याग कर ज्ञान-कर्म-तपस्यादि से रहित होकर अनन्य भक्तियोग से मेरी उपासना करते हैं वे सुखपूर्वक ही संसार से मुक्त हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत(11/20/32-33) में भी कहा गया है - कर्म, तपस्या, ज्ञान एवं वैराग्य से प्राप्त होने वाली तमाम सिद्धियाँ या उनके अतिरिक्त स्वर्ग, मोक्ष या मेरे धाम में से मेरे भक्त जो भी चाहते हैं, भक्ति योग के प्रभाव से उनको वह

सब कुछ अनायास ही प्राप्त हो जाता है। नारायणीय मोक्ष धर्म में भी कहा गया है कि चारों पुरुषार्थों की जो साधन-सम्पत्ति है, श्रीनारायण के आश्रित मनुष्य उन सबको साधन के बिना ही प्राप्त कर लेते हैं।

यदि प्रश्न हो कि बिना साधन के वे कैसे प्राप्त कर लेते हैं? तो सुनो - क्योंकि मैं साधन के बिना ही उनका उद्धार कर देता हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके द्वारा भक्त के प्रति भगवान् का वात्सल्यभाव प्रकट होता है, ज्ञानी के प्रति नहीं॥ 6-7॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः॥8॥

मर्मानुवाद - तुम अपने मन को मेरे नित्य भगवत् स्वरूप में स्थिर करके मेरा ही स्मरण करो। अपनी विवेकमयी बुद्धि को मुझ में ही लगाओ और भगवद् तत्त्व में ही अवस्थित हो जाओ। तभी इस साधनभक्ति के सर्वोच्चफल निरुपाधिक या निर्मल प्रेम को प्राप्त कर पाओगे॥8॥

अन्वय - मयि एव (मुझ श्यामसुन्दर में ही) मनः (मन) आधत्स्व (स्थिर कर मेरा स्मरण करो) मयि (मुझ में) बुद्धिम् (बुद्धि) निवेशय (अर्पण कर अर्थात् मेरा मनन करते हुये) अतः ऊर्द्ध्वं (इसके पश्चात या देहान्त होने पर) मयि एव (मेरे पास ही) निवसिष्यसि (वास करोगे) संशयः न (इसमें कोई सन्देह नहीं है)॥8॥

टीका—यस्मान्मद्भक्तिरेव श्रेष्ठा, तस्मात्त्वं भक्तिमेव कुर्विति तामुपदिशति—मय्येवेति त्रिभिः। एव-कारेण निर्विशेषव्यावृत्तिः। मयि श्यामसुन्दरे पीताम्बरे वनमालिनि मन आधत्स्व मत्स्मरणं कुर्वित्यर्थः। तथा मयि बुद्धिं विवेकवतीं निवेशय, मन्मननं कुर्वित्यर्थः। तच्च मननं ध्यानप्रतिपादकशास्त्र-वाक्यानुशीलनम्, ततश्च मय्येव निवसिष्यसीतिच्छान्दसम्, मत्समीप एव निवासं प्राप्स्यसीत्यर्थः।।8।।

भावानुवाद - भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! 'क्योंकि मेरी भक्ति ही श्रेष्ठ है, इसलिए तुम मेरी भक्ति ही करो'। यहां 'एव' का प्रयोग कर निर्विशेष स्वरूप का निषेध किया गया है। इसीलिए कहा है कि 'मयि' अर्थात् मुझ श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी, वनमाली में ही अपने मन को लगाओ अर्थात् मेरा स्मरण करो, किन्तु वह मनन भी

ध्यानप्रतिपादक शास्त्रवाक्य के अनुसार होना चाहिए । इसके बाद तुम वेदों में कहे अनुसार मेरे समीप ही निवास करोगे॥ 8॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ 9॥

मर्मानुवाद – जिस निरुपाधिक निर्मल प्रेम के विषय का मैंने उल्लेख किया है, उसे मुझ में निष्ठ अन्तःकरण का विषय जानना। उसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। यदि तुम मुझमें चित्त लगाने में समर्थ नहीं हो, तब तुम्हारे लिए अभ्यास योग ही मंगलकर है॥ 9॥

अन्वय – धनञ्जय (हे धनञ्जय) अथ (और यदि) मयि (मुझ में) चित्तम् (चित्त को) स्थिरम् (स्थिररूप से) समाधातुम् (स्थापन) न शक्नोषि (न कर सको) ततः (तब) अभ्यासयोगेन (अभ्यास योग द्वारा) माम् (मुझे) आप्तुम् (पाने की) इच्छ (इच्छा करो)॥ 9॥

टीका—साक्षात्-स्मरणासमर्थं प्रति तत्प्राप्त्युपायमाह अथेति। अभ्यासयोगेन अन्यत्रान्यत्र गतमपि मनः पुनः पुनः प्रत्याहृत्य मद्रूप एव स्थापनमभ्यासः, स एव योगस्तेन। प्राकृतत्वादिति कुत्सितरूपरसादिषु चलन्त्या मनो-नद्यास्तेषु चलनं निरुध्यातिसुभद्रेषु मदीयरूपरसादिषु तच्चलनं शनै सम्पादयेत्यर्थः। हे धनञ्जयेति—बहून् शत्रून् जित्वा धनमाहृतवता त्वया मनोऽपि जित्वा ध्यानधनं ग्रहीतुं शक्यमेवेति भावः।।9।।

भावानुवाद – जो लोग सीधा स्मरण नहीं कर सकते उन्हें अपनी प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए भगवान् कहते हैं – बार-बार इधर-उधर भागते हुए चंचल मन को रोककर उसे मेरे रूप में स्थिर करने का अभ्यास करो, इसे ही योग कहते हैं । इसके द्वारा संसार के घृणित रूप, रस, गन्धादि विषयों की ओर दौड़ती हुई मनरूपी नदी के प्रवाह को रोक कर धीरे -धीरे मेरे अति सुन्दर-रूप रसादि की तरफ मोड़िये । हे धनञ्जय! धनञ्जय सम्बोधन कर मानो भगवान् कहना चाहते हैं कि तुम बहुत से शत्रुओं को जीत कर धन लानेवाले हो, इसलिए अब तुम मनको जीत कर ध्यानरूपी धन एकत्र करो, जो कि तुम्हारे लिए कोई कठिन कार्य नहीं हैं॥ 9॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥10॥

मर्मानुवाद – यदि तुम अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तब मेरे में अर्पित कर्म करने वाले बनो, इसप्रकार अभ्यास करते–करते अन्त में मेरे सविशेष तत्त्व में चित्त स्थैर्यरूपा सिद्धि प्राप्त कर सकोगे॥10॥

अन्वय – अभ्यासे अपि (और यदि अभ्यास योग में भी) असमर्थः (असमर्थ) असि (हो) मत्कर्मपरमः (तब मेरे कर्मपरायण) भव (हो जाओ) मदर्थम् (मेरी प्रसन्नता के लिए) कर्माणि (श्रवण कीर्तनादि कर्म) कुर्वन् अपि (करके भी) सिद्धिम् (सिद्धि) अवाप्स्यसि (प्राप्त कर लोगे)।

टीका—अभ्यासेऽपीति—यथा पित्तदूषिता रसना मत्स्यण्डिकां नेच्छति तथै

महाप्रबलेन मनसा सह योद्धुं मया नै

मत्कर्माणि परमाणि यस्य सः। कर्माणि मदीय–श्रवणकीर्त्तन–वन्दनार्चन–मन्मन्दिरमार्जनाभ्युक्षणपुष्पाहरणादि–परिचरणानि कुर्वन् विनापि मत्स्मरणं सिद्धिं प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणां प्राप्स्यसीति।।10।।

भावानुवाद – भगवान् ने कहा – हे अर्जुन! यदि तुम समझते हो कि जिस प्रकार पित्त से दूषित जिह्वा मिश्री की इच्छा नहीं करती है, उसी प्रकार अविद्या से दूषित मन आपके मधुर रूपादिको ग्रहण नहीं करता, इसलिए महाबलवान् दुर्निग्रह इस मन के साथ युद्ध करने की मेरी ताकत नहीं है, तो सुनो – तुम मेरे लिए श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए मेरी लीलाओं का श्रवण कीर्तन करो, मेरी वन्दना–अर्चना करो, मेरा मन्दिर मार्जन करो, मेरे लिए पुष्प चयन करो एवं परिचर्या आदि करो। ऐसा करते–करते मेरे स्मरण के बिना भी प्रेमवत्–पार्षद – लक्षण वाली सिद्धि प्राप्त करोगे॥ 10॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥11॥

मर्मानुवाद – यदि मदर्पित–कर्म करने में भी असमर्थ हो तो चित्त को संयत करते हुए सब कर्मों के फल का त्याग करो॥11॥

अन्वय – अथ (यदि) एतत् अपि (यह भी) कर्त्तुम् (करने में) अशक्तः (असमर्थ) असि (हो) ततः (तो) मद्योगम् (मुझ में सब कर्म अर्पणरूपी योग का) आश्रितः (आश्रय लेकर) यतात्मवान् (संयत चित्त से) सर्वकर्मफलत्यागम् (सब कर्मों के फल का त्याग) कुरु (करो)।।11॥

टीका—एतदपि कर्त्तुमशक्तश्चेत्तर्हि मद्योगमाश्रितः मयि सर्वकर्मसमर्पणम्, मद्योगस्तमाश्रितः सन् सर्वकर्मफलत्यागं प्रथमषट्कोक्तं कुरु। अयमर्थः—प्रथमषट्के भगवदर्पितनिष्कामकर्मयोग एव मोक्षोपाय उक्तः; द्वितीयषट्केऽस्मिन् भक्तियोगे एव भगवत्प्राप्त्युपाय उक्तः। स च भक्तियोगो द्विविधः—भगवन्निष्ठोऽन्तःकरणव्यापारो बहिष्करणव्यापारश्च। तत्र प्रथमस्त्रिविधः—स्मरणात्मको, मननात्मकश्चाखण्ड- स्मरणासामर्थ्ये तदनुरागिणां तदभ्यासरूपश्चेति त्रिक एवायं मन्दधियां दुर्गमः, सुधियां निरपराधानान्तु सुगम एव; द्वितीयः श्रवणकीर्त्तनात्मकस्तु सर्वेषामेव सुगम एवोपायः। एवमुभयोपायवन्तोऽधिकारिणः सर्वतः प्रकृष्टा द्वितीयषट्केऽस्मिन्नुक्ताः। एतत्कृत्येऽसमर्था इन्द्रियाणां भगवन्निष्ठीकृतावश्रद्धालवश्च भगवदर्पितनिष्कामकर्मिणः प्रथमषट्कोक्ताधिकारिणोऽस्मान्निकृष्टा एवेति।

भावानुवाद - भगवान् ने कहा - हे अर्जुन! यदि तुम इतना करने की भी शक्ति नहीं रखते, तो पहले छः अध्याय में कहे गये मेरे भक्तियोग का आश्रय लो और फल का परित्याग करते हुए सब कर्मों को मुझे समर्पित करो।

पहले छः अध्यायों में भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगको ही मोक्ष प्राप्ति का साधन कहा गया है। द्वितीय छः अध्यायों में भक्तियोग को ही भगवत्प्राप्ति का साधन कहा गया है। वह भक्तियोग दो प्रकारका है - भगवत्-निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार और बहिष्करण का व्यापार। इनमें से प्रथम तीन प्रकार का है । (1) स्मरणात्मक (2) मननात्मक एवं निरन्तर स्मरण या इनमें असमर्थ होने पर (3) भगवद् अनुरागी लोगों का अभ्यासरूप भक्तियोग। मन्दबुद्धिवालों के लिए ये तीनों ही अत्यन्त कठिन हैं, किन्तु निरपराध सुबुद्धिपरायण व्यक्तियों के लिए सरल हैं। किन्तु दूसरा श्रवण-कीर्तनात्मक बहिष्करण भक्तियोग सभी के लिए सरल उपाय है। इन दोनों प्रकार के उपायों में मग्न व्यक्ति अन्य सभी की तुलना में श्रेष्ठ हैं - यह इन द्वितीय छः अध्यायों में कहा जा रहा हैं। जो इन दोनों साधनों को करने में असमर्थ तथा इन्द्रियों को भगवन्निष्ठ करने में अश्रद्धालु हैं। वे भगवान् में अर्पित निष्काम कर्म करने के अधिकारी हैं। जो पहले छः अध्यायों में कह आये हैं वे इनसे निम्नस्तर के हैं॥ 11॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥12 ॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन ! एकमात्र साधन भक्ति ही निरुपाधिक प्रेम की प्राप्ति का उपाय है। वह भक्ति योग दो प्रकार का है। भगवन्निष्ठ अन्तःकरण व्यापार और बहिष्करण व्यापार। भगवन्निष्ठ अन्तःकरण व्यापार तीन प्रकार का है— स्मरणात्मक, मननात्मक एवं अभ्यासात्मक। किन्तु मन्द बुद्धि जीवों के लिए ये तीनों प्रकार के अन्तःकरण अत्यन्त कठिन हैं, जब कि श्रवण कीर्तनरूपी बहिष्करण व्यापार अर्थात् बाह्य इन्द्रियों से होने वाला योग सबके लिए सुगम है, इसलिए मेरा मनन या मुझ से सम्बन्धित बुद्धि ही उत्कृष्ट ज्ञान है जोकि अभ्यास से श्रेष्ठ है। अभ्यास के समय बड़ी मुश्किल से ही ध्यान होता है किन्तु अभ्यास के फलस्वरूप मनन हो जाने पर फिर मनन से ध्यान अनायास ही हो जाता है। केवल ज्ञान की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है कारण, ध्यान स्थिर होने से सामान्य स्वर्गसुख या मोक्षसुख की इच्छा समाप्त हो जाती है। ये दोनों इच्छायें समाप्त होने से मेरे रूप-गुण आदि को छोड़कर सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों से उपरति रूपी शान्ति प्राप्त होती है ॥12 ॥

अन्वय – अभ्यासात् (अभ्यास की अपेक्षा) ज्ञानम् ('मयि बुद्धिं निवेशय' – इस सन्दर्भ में कहे "ध्यान प्रतिपादक शास्त्रानुशीलनरूपी" मनन) श्रेयः (श्रेष्ठ है) ज्ञानात् (ज्ञान से) ध्यानम् (मेरा स्मरण) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) ध्यानात् (ध्यान से) कर्मफलत्यागः [स्यात्] (स्वर्गादि सुख और मोक्ष की अकांक्षा नहीं रहती) त्यागात् (त्याग से) अनन्तरम् (तत्काल ही) शान्तिः (मुझ से अभिन्न सब विषयों से इन्द्रियों की उपरति हो जाती है) ॥12 ॥

टीका—अथोक्तानां स्मरणमननाभ्यासानां यथापूर्वं श्रै
श्रेयो हीति। अभ्यासाज्ज्ञानं मयि बुद्धिं निवेशयेत्युक्तं मन्मननं श्रेयः श्रेष्ठम्; अभ्यासे सत्यायासत एव ध्यानं स्यात्, मनने सति त्वनायासत एव ध्यानमिति विशेषात्; तस्मात् ज्ञानादपि ध्यानं विशिष्यते—श्रेष्ठमित्यर्थः, कुतः ? इत्यत आह—ध्यानात् कर्मफलानां स्वर्गादिसुखानां निष्कामकर्मफलस्य मोक्षस्य च त्यागस्तत्स्पृहाराहित्यं स्यात्, स्वतः प्राप्तस्यापि तस्योपेक्षा। निश्चलध्यानात् पूर्वन्तु भक्तानामजातरतीनां मोक्षत्यागेच्छै
मोक्षोपेक्षा, सै

शुभदा" इत्यत्र षडभि: पदै
न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौ
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् " इति। मय्यर्पितात्मा मद्ध्याननिष्ठ:। त्यागाद् वै
सर्वविषयेष्वेवेन्द्रियाणामुपरति:। अत्र पूर्वार्द्धे 'श्रेय:' इति 'विशिष्यते' इति पदद्वयेनान्वयादुत्तरार्द्धे तु 'अनन्तरम्' इत्यनेनै
सम्यगुपपद्यते नान्येत्यवधेयम्।। 12।।

भावानुवाद – श्रीभगवान् बताये गये अभ्यास, मनन और स्मरण तीनों की क्रमश: श्रेष्ठता के विषय में स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि अभ्यास से ज्ञान अर्थात् मुझ में बुद्धि निवेश करना या मेरा मनन करना श्रेष्ठ है, क्योंकि अभ्यास में ध्यान बड़े परिश्रम से ही होता है। किन्तु मनन होने पर ध्यान सहजता से ही हो जाता है यही ज्ञान की श्रेष्ठता है। उस ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि ध्यान से 'कर्मफलत्याग' अर्थात् स्वर्गसुखरूपी कर्मफल, यहां तक कि निष्काम कर्म के फल मोक्ष की चाहना भी दूर हो जाती है, यदि मोक्ष स्वयं भी आये तो उसकी उपेक्षा कर दी जाती है, किन्तु निश्चल ध्यान होने के पूर्व, जिनकी भक्तिमें रति उत्पन्न नहीं हुई है, उन्हें मोक्ष–त्यागकी इच्छा मात्र होती है। किन्तु जिनका ध्यान निश्चल हो गया है, उन्हें तो मोक्ष की अपेक्षा ही नहीं रहती। ऐसी भक्ति को ही 'मोक्षलघुताकारिणी' कहा गया है – जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ (1/1/17) में 'क्लेशघ्नी शुभदा' इत्यादि छ: पदों में इसकी महिमा वर्णित हुई है।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुकृतसुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा कृष्णाकर्षिणी हि सा।।

अर्थात् साधनभक्ति समस्त क्लेशों को नाश करने वाली तथा समस्त शुभ मंगलों की प्रदाता है, भावभक्ति मोक्ष को तुच्छ कर देती है एवं अति सुदुर्लभा है। प्रेमभक्ति घनीभूत आनन्द स्वरूपा है और श्रीकृष्ण को भी आकर्षण करने वाली है। इसीप्रकार श्रीमद्भागवत (11/14/14) में भी कहा गया है कि जिन्होंने अपने आपको मुझे समर्पित कर दिया है, वे मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माजी का पद चाहते है न देवराज इन्द्र का, उनके मन में न तो पृथ्वी का एकच्छत्र सम्राट् बनने की इच्छा है और न वे स्वर्ग से भी श्रेष्ठ रसातल का स्वामी होना चाहते हैं। अणिमा आदि योगसिद्धियां अथवा

मोक्षपद को भी प्राप्त करने की इच्छा नही रखते हैं। उपर्युक्त श्रीमद्भागवत के श्लोक के 'मय्यर्पितात्मा' का अर्थ है– मेरे ध्यान में निष्ठावान् पुरुष 'त्यागात्' सम्पूर्ण इच्छाओं से रहित हो जाने के पश्चात् शान्ति प्राप्त करते हैं। मेरे रूप–गुणादि के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों से इन्द्रियों की उपरति हो जाती है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'श्रेयः' और 'विशिष्यते' – इन दोनो पदों के साथ अन्वय और उत्तरार्द्ध में 'अनन्तरम्' पदके साथ अन्वय – होने के कारण उपर्युक्तव्याख्या ही युक्तिसंगत हैं, अन्य प्रकार की व्याख्या नहीं॥ 12॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥13॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥14॥

मर्मानुवाद – वे शान्त भक्त– सब प्राणियों के प्रति स्वाभाविक ही द्वेषशून्य होते हैं। यहां तक कि जो लोग उनसे द्वेष करते हैं उनके प्रति भी वे द्वेष नहीं करते। अपितु सब के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार रखते हैं। कुपथ गामी जीवों की दुर्गति से रक्षा कैसे होगी, इस विषय में वह कृपालु होते हैं। शरीर में ममतारहित अर्थात् अहंकारशून्य रहते हैं। वह दूसरों द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी उस कष्ट को प्रारब्ध फल समझ कर क्षोभ नहीं करते, इसलिए क्षमावान् हैं। उन्हें जैसे जितना मिले उसी से देहयात्रा निर्वाह करते हुए सदा संतुष्ट रहते हैं एवं अवलम्बित उपायानुसार फलोद्देशनिष्ठरूपी योगपरिनिष्ठित एवं दृढ़निश्चय पूर्वक निरुपाधिक प्रेम प्राप्ति के लिए सदा यत्नशील रहते हैं।

अन्वय – सर्वभूतानाम् (तमाम प्राणियों के प्रति) अद्वेष्टा (द्वेषरहित) मैत्रः (समान व्यक्ति के साथ मित्र जैसा व्यवहार) करुणः (हीन व्यक्ति के प्रति कृपालु) निर्ममः (स्त्री पुत्रादि के प्रति ममता शून्य) निरंहकारः (देह में अहंकार रहित) समदुःखसुखः (सुख और दुःख को प्रारब्ध का फल समझकर दोनों को समान मान) क्षमी (सहनशील)॥13॥

संतुष्टः (थोड़े से प्रयास से मिली वस्तु से संतुष्ट) सततम् (सर्वदा) योगी (भक्तिसिद्धि की प्राप्ति के लिए भक्ति योग में लगा हुआ) यतात्मा (भाग्यवश भोजन न मिलने पर संयतचित्त) दृढनिश्चयः (अनन्य भक्ति में

स्थिर निश्चय वाला) मयि (मुझ में) अर्पित (मनोबुद्धि समर्पणकारी या मेरे मनन और स्मरण परायण) यः (जो) मद्भक्तः (मेरा भक्त है) सः (वह) मे (मेरा) प्रियः (प्रिय है) ॥14॥

टीका—एतादृश्याः शान्त्या भक्तः कीदृशो भवतीत्यपेक्षायां बहुविधभक्तानां स्वभावभेदानाह—अद्वेष्टेत्यष्टभिः। अद्वेष्टा द्विषत्स्वपि द्वेषं न करोति, प्रत्युत मै
तेष्वपि कृपालुः। ननु कीदृशेन विवेकेन द्विषत्स्वपि मै
विवेकं विनै
वाद् देहे चाहङ्काराभावात् तस्य मद्भक्तस्य क्वापि द्वेष एव नै
पुनर्द्वेषजनितदुःखशान्त्यर्थं तेन विवेकः स्वकर्त्तव्य इति भावः। ननु तदप्यन्यकृतपादुकामुष्टिप्रहारादिभिर्देहव्यथाधीनं दुःखं किञ्चिद्भवत्येव? तत्राह—समदुःखसुखः यदुक्तं भगवता चन्द्रार्द्धशेखरेण—"नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः।।" इति। सुखदुःखयोः साम्यं समदर्शित्वम्, तच्च मम प्रारब्धफलमिदमवश्यभोग्यमिति भावनामयं, साम्येऽपि सहिष्णुनै
नन्वेतादृशस्य भक्तस्य जीविका कथं सिध्येत्? तत्राह सन्तुष्टः—यदृच्छोपस्थिते किञ्चिद् यत्नोपस्थिते वा भक्ष्यवस्तुनि सन्तुष्टः। ननु समदुःखसुख इत्युक्तम् तत् कथं स्वभक्ष्यमालक्ष्य सन्तुष्ट इति तत्राह—'सततं योगी' भक्तियोगयुक्तो भक्तिसिद्ध्यर्थमिति भावः। यदुक्तम्—"आहारार्थं यतेतै
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय परं व्रजेत्" इति। किञ्च दै
'यतात्मा' संयतचित्तः क्षोभरहित इत्यर्थः। दै
तदुपशमार्थमष्टाङ्गयोगाभ्यासादिकं नै
मे कर्त्तव्येति निश्चयस्तस्य न शिथिलीभवतीत्यर्थः। सर्वत्र हेतुः—मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मत्स्मरणमननपरायण इत्यर्थः। ईदृशो भक्तस्तु मे प्रियो मामतिप्रीणयतीत्यर्थः।।13-14।।

भावानुवाद - उपरोक्त शान्तिवान् पुरुष कैसे होते हैं इसके उत्तर में बहुत प्रकार के भक्तों के स्वभाव-भेद को आठ श्लोकों में बताते हुए कहते हैं। 'अद्वेष्टा' अर्थात् जो अपने से द्वेष करनेवाले से भी द्वेष तो रखते ही नहीं अपितु 'मैत्रः' मित्रता पूर्ण व्यवहार करते हैं। उन व्यक्तियों की असद्‌गति न हो इस विचार से उनपर करुणावश वे कृपालु भी होते हैं। यदि प्रश्न हो कि

किस विवेक के उदय होने से द्वेषी के प्रति मित्रता और करुणा का भाव उदित होता है, तो उसके उत्तर में कहते हैं – भक्तों में यह भाव बिना विवेक के ही होता है। 'निर्ममः' अर्थात् पुत्र, पत्नी आदि में ममता एवं देह में अहंकार न होने के कारण मेरे उन भक्तों का किसी से द्वेष होता ही नहीं। जब द्वेष है ही नहीं, तो फिर वे द्वेषजनित दुःख की शान्ति के लिए विवेक क्यों स्वीकार करेंगे। अच्छा यदि कोई दूसरा व्यक्ति उन पर जूते या घूसों द्वारा प्रहार करे, तो क्या शारीरिक पीड़ा के कारण उन्हें तनिक भी दुःख नहीं होगा, तो इसके उत्तर में कहते हैं – वे 'समदुःखसुखम्' अर्थात् सुख-दुःख में समान रहते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (6/17/28) में चन्द्रार्द्धशेखर शिवजी ने भी कहा है –

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ।।

'नारायणपरायण भक्त किसी भी प्रकार भयभीत नहीं होते हैं, क्योंकि वे स्वर्ग, मोक्ष एवं नरकको एक समान देखते हैं। इसप्रकार सुख और दुःख में समभाव ही उनकी 'समदर्शिता' है और साथ-साथ उनके मन में यह भावना भी होती है कि यह तो मेरा प्रारब्ध फल है, इसे मुझे अवश्य भोगना ही पड़ेगा। वे समदर्शी होकर सहनशील व्यक्ति की तरह दुःख को सहन करते हैं। इस अभिप्राय से श्रीभगवान् कहते हैं कि वे 'क्षमी' अर्थात् क्षमावान् होते हैं, सहनशील होते हैं 'क्षम्' धातु का प्रयोग 'सहन करना' के अर्थ में होता हैं।

यदि यहां प्रश्न हो कि इस प्रकार के भक्त की जीविका निर्वाह कैसे होती है? इसके उत्तर में कहते हैं – 'सन्तुष्टः' अर्थात् बिना प्रयास अपने आप या समान्य प्रयास से प्राप्त थोड़े-बहुत भोजन से ही वे संतुष्ट रहते हैं। अच्छा, पहले तो 'समदुःख-सुख' कहा, किन्तु भोजन के सम्बन्ध में किस प्रकार सन्तुष्ट रहते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं – 'सततं योगी' अर्थात् वे भक्तियोग करने वाले व्यक्ति भक्ति में सिद्धि प्राप्त करने के लिए ही ऐसा करते हैं। जैसा कि शास्त्र में कहा गया है – 'प्राण धारण के उद्देश्य से आहार के लिए प्रयत्न करें' तभी तत्त्व-विषय का चिन्तन सम्भव हो सकेगा और ब्रह्म प्राप्ति होगी।' दैवात् यदि उन्हें खाने के लिए न भी मिले तो 'यतात्मा' – संयतचित्त व्यक्ति क्षोभरहित होते हैं। दैवात् चित्त में क्षोभ उपस्थित होने पर

भी वे इसे शान्त करने के लिए अष्टाङ्गयोगाभ्यास आदि नहीं करते हैं। क्योंकि वे – 'दृढनिश्चयः' अर्थात् मेरी अनन्य भक्ति में उनका स्थिर निश्चय कभी शिथिल नहीं होता। वे मेरे स्मरण–मनन परायण होते हैं। ऐसे भक्त मुझे प्रिय हैं अर्थात् मुझे अत्यन्त आनन्द प्रदान करते हैं॥ 13–14॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥15॥

मर्मानुवाद – जिनके द्वारा किसी भी प्राणी को उद्वेग प्राप्त नहीं होता एवं जो लोगों के द्वारा उद्वेग को प्राप्त नहीं होते इस प्रकार हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से पूरी तरह मुक्त मेरे शान्त भक्त ही मुझे प्रिय हैं॥15॥

अन्वय – यस्मात् (जिससे) लोक (कोई भी प्राणी) न उद्विजते (उद्वेग को प्राप्त नहीं होता) यः च (और जो) लोकात् (किसी के द्वारा) न उद्विजते (उद्वेग को प्राप्त नहीं होता) यः च (और जो) हर्षामर्षभयोद्वेगैः (प्राकृत हर्ष, असहनशीलता, भय और उद्वेगसे) मुक्तः(मुक्त है) सः (वह) मे (मेरा) प्रियः (प्रिय है)॥15॥

टीका—किञ्च,"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वै सुराः" इत्याद्युक्तेर्मत्प्रीतिजनका अन्येऽपि गुणा मद्भक्त्या मुहुरभ्यस्तया स्वत एवोत्पद्यन्ते, तानपि त्वं शृण्वित्याह—यस्मादिति पञ्चभिः। हर्षादिभिः प्राकृतै

पुनराह—यो न हृष्यतीति।।15।।

भावानुवाद – श्रीमद्भागवत (5/18/12) में कहते हैं कि "**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।**" अर्थात् भगवान् में जिनकी अकिञ्चना भक्ति है, देवता भी समस्त गुणोंके साथ उनमें ही निवास करते हैं।' इत्यादि । इन वाक्यों से भी पुष्ट होता है कि बारम्बार मेरी भक्ति के अभ्यास द्वारा मुझे प्रीतिदायक अन्य गुण भी मेरे भक्तों में स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। उन गुणों को तुम श्रवण करो – 'प्राकृत हर्ष–अमर्ष, भय–उद्वेगों से वे मुक्त होते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त भी कुछ गुणों के दुर्लभत्व को बताते हुए पुनः कहते हैं – 'यो न हृष्यति' इत्यादि ॥ 15॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥16॥

मर्मानुवाद – व्यावहारिक कार्यों की अपेक्षा न रखने वाले, पवित्र, निपुण, उदासीन, व्यथाशून्य एवं आरम्भ किये हुए सभी कार्यों में फल की इच्छा रहित मेरे भक्त ही मुझे प्रिय हैं॥16॥

अन्वय – अनपेक्ष (व्यावहारिक कार्यों में अपेक्षा शून्य) शुचिः (बाहर-भीतर से पवित्रता सम्पन्न) दक्षः (निपुण) उदासीनः (व्यावहारिक लोगों के प्रति अनासक्त) गतव्यथः (उद्वेग शून्य) सर्वारम्भपरित्यागी (भक्ति के प्रतिकूल तमाम उद्यमों से रहित) यः (जो है) सः (ऐसा) मद्‌भक्तः (मेरा भक्त) मे (मेरा) प्रियः (प्रिय है) ॥16॥

टीका—अनपेक्षो व्यावहारिककार्यापेक्षारहित:, उदासीनो व्यावहारिक-लोकेष्वनासक्त:, सर्वान् व्यावहारिकान् दृष्टादृष्टार्थांस्तथा पारमार्थिकानपि कांश्चित् शास्त्राध्यापनादीनारम्भानुद्यमान् परिहर्त्तुं शीलं यस्य सः।।16।।

भावानुवाद – भगवान् कहते हैं कि वे व्यावहारिक कार्यों की अपेक्षा नहीं रखते। व्यावहारिक लोगों में आसक्त नहीं होते हैं। समस्त व्यावहारिक दृष्ट और अदृष्ट फल तथा शास्त्र – अध्यापनादि किसी-किसी आरम्भिक उद्यमों को भी छोड़ने का उनका स्वभाव हो जाता है॥16॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥17॥

मर्मानुवाद – जो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति पर हर्षित नहीं होता और उनके न मिलने पर द्वेष या शोक नहीं करता एवं सभी प्रकार के शुभाशुभ की प्राप्ति को अंगीकार करता है वह भक्तिमान् व्यक्ति ही मेरा प्रिय है॥17॥

अन्वय – यः (जो) न हृष्यति (सांसारिक प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्षित नहीं होता) न द्वेष्टि (अप्रिय वस्तु के मिलने पर द्वेष नहीं करता) न शोचति (लौकिक प्रिय वस्तु के नाश होने पर शोक नहीं करता) न कांक्षति (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा नहीं करता) शुभाशुभपरित्यागी (पुण्य और पाप कर्म त्यागी) भक्तिमान् (भक्तिमान्) सः (वह) मे (मेरा) प्रियः (प्रिय है)।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥18॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥19॥

मर्मानुवाद - जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दु:ख में समान एवं आसक्ति रहित है। जो ममता शून्य, तथा निन्दा और स्तुति में समान बुद्धि रखने वाला, जो कुछ मिले उसमें संतुष्ट, तथा गृहादि में आसक्ति रहित स्थिर बुद्धि वाला वह भक्त सहज ही मेरा प्रिय हो जाता है।

अन्वय – शत्रौ च (शत्रु में) मित्रे च (मित्र में) तथा (एवं) मानापमानयोः (मान और अपमान में) समः (समान बुद्धि वाले) शीतोष्णसुखदु:खेषु (सर्दी, गर्मी, सुख, दु:ख में) समः (हर्ष और विषाद रहित) संगविवर्जितः (आसक्ति रहित)।।18॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः (निन्दा और स्तुति में समान भाव वाला) मौनी (इष्टमननशील) येन केनचित् (शरीर निर्वाह हेतु मात्र यथा लाभ) सन्तुष्टः (संतुष्ट) अनिकेतः (गृह में आसक्ति रहित) स्थिरमतिः (परमार्थ विषय में निश्चित ज्ञान वाला) भक्तिमान् (भक्ति वाला) नरः (मनुष्य) मे (मेरा) प्रियः (प्रिय है) ॥19॥

टीका—अनिकेतः प्राकृतस्वास्पदासक्तिशून्यः।।19।।

भावानुवाद - 'अनिकेतः' :- घर परिवार में आसक्तिशून्य॥ 19॥

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥20॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्ति-योगो नाम द्वादशोऽध्यायः।

मर्मानुवाद - जो मेरे परायण होकर श्रद्धा के साथ मेरे द्वारा पहले वर्णित धर्मामृत की उपासना करते हैं वे ही मेरे भक्त हैं। इसलिए मेरे अत्यन्त प्रिय हैं । मेरे द्वारा कही क्रम उन्नति की पद्धति ही जीव द्वारा आश्रय करने योग्य है। क्रमोन्नति पद्धति द्वारा जीव को निरुपाधिक प्रेम प्राप्त होता है ॥20॥

वारहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - श्रद्धधानाः (श्रद्धावान्) मत्परमाः (मेरे परायण होकर) ये तु (जो सब व्यक्ति) यथोक्तम् (उपरोक्त वर्णनानुसार) इदम् (इस) धर्मामृतम् (धर्मरूपी अमृत की) पर्युपासते (श्रवणादि द्वारा उपासना करते हैं) ते भक्ताः (वे भक्त) मे (मुझे) अतीव (अतिशय) प्रियाः (प्रिय हैं) ॥20॥

टीका—उक्तान् बहुविध-स्वभक्तनिष्ठान् धर्मानुपसंहरन् कार्तस्नेनै

ल्लिप्सूनां तच्छ्रवणविचारणादिफलमाह—ये त्विति। एते भक्त्युत्थशान्त्युत्थ-धर्मा:, न प्राकृता गुणा:—"भक्त्या तुष्यति कृष्णो न गुणै इत्युक्तिकोटित:। 'तु'-भिन्नोपक्रमे उक्तलक्षणा भक्ता एकै
एते तु तत्सर्वसल्लक्षणेप्सव: साधका अपि तेभ्य: सिद्धेभ्योऽपि श्रेष्ठा:, अतएवातीवेति पदम्।।20।।

सर्वश्रेष्ठा सुखमयी सर्वसाध्यसुसाधिका ।
भक्तिरेवाद्भुतगुणेत्यध्यायार्थो निरूपित: ।।
निम्बद्राक्षे इव ज्ञानभक्ती यद्यपि दर्शिते ।
आद्रीयेते तदप्येते तत्तदास्वाद-लोभिभि: ।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु द्वादशोऽध्याय: सङ्गत: सङ्गत: सताम्।।

भावानुवाद - पहले कहे गये अनेक प्रकार के स्वभक्तिनिष्ठ धर्मों के उपसंहार की पूर्णता में इनका लाभ उठाने की इच्छा करनेवालों के श्रवण, पाठ और विचारादिके फल को बताते हुए भगवान् कहते हैं -जो भक्ति से उत्पन्न शान्ति प्रदान करने वाले धर्म कहे गये हैं, ये प्राकृत गुण नहीं है, क्योंकि 'भक्त्या तुष्यति कृष्णो न गुणै:' अर्थात् 'कृष्ण भक्ति से संतुष्ट होते हैं, गुणों से नहीं'। यहाँ 'तु' भिन्न उपक्रम में आया है। कहे गये लक्षणों वाले भक्त एक-एक सुन्दर स्वभाव में निष्ठ होते हैं। उन सभी लक्षणों के पिपासु साधक भक्त भी उन समस्त सिद्धों से श्रेष्ठ हैं। इसलिए यहाँ 'अतीव' पद का प्रयोग हुआ है॥ 20॥

सर्वश्रेष्ठ सुखमयी सर्वसाध्यसुसाधिका भक्ति के ऐसे गुण इस अध्यायमें निरूपित हुए हैं यद्यपि निम्ब और अंगूर की क्रमश: ज्ञान और भक्ति से तुलना की गई है तथापि उन-उन के आस्वादन के लोभी साधक अपनी अपनी आकांक्षानुसार ही उन्हें ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

बारहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

बारहवाँ अध्याय समाप्त

तेरहवाँ अध्याय

प्रकृतिपुरुषविवेकयोग

अर्जुन उवाच–

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव ॥1 ॥

मर्मानुवाद – अर्जुन ने कहा – हे केशव ! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय–इन सब का तत्त्व जानने की इच्छा करता हूँ ॥1 ॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) केशव (हे केशव) प्रकृतिम् (प्रकृति) पुरुषं च एव (और पुरुष) क्षेत्रम् (क्षेत्र) क्षेत्रज्ञम् एव च (और क्षेत्रज्ञ) ज्ञानम् (ज्ञान) ज्ञेयं च (और ज्ञेय) एतत् (इन सबको) वेदितुम्

(जानने की) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) ॥1॥

टीका— नमोऽस्तु भगवद्भक्तौ
ज्ञानादिष्वपि तिष्ठेत्तत् सार्थकीकरणाय या।।
षट्के तृतीयेऽत्र भक्तिमिश्रं ज्ञानं निरूप्यते।
तन्मध्ये केवला भक्तिरपि भङ्ग्या प्रकृष्यते।।
त्रयोदशे शरीरञ्च जीवात्म-परमात्मनोः।
ज्ञानस्य साधनं जीवः प्रकृतिश्च विविच्यते।।

तदेवं द्वितीयेन षट्केन केवलया भक्त्या भगवत्प्राप्तिः; ततोऽन्या अहंग्रहोपासनाद्यास्तिस्त्र उपासनाश्चोक्ताः। अथ प्रथमषट्कोदितानां निष्कामकर्मयोगिनां भक्तिमिश्रज्ञानादेव मोक्षस्तच्च ज्ञानं संक्षेपादुक्तमपि पुनः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञादिविवेचनेन विवरितुं तृतीयं षट्कमारभते।।1।।

भावानुवाद - श्रीभगवान् की भक्ति को मेरा नमस्कार है जो कि कृपा करके अपने अंश के लेशमात्र द्वारा ज्ञानादि साधनों को सार्थक करने के लिए उनमें भी अवस्थान करती है। क्योंकि भक्ति के अधिष्ठान के बिना वे सार्थक नहीं हो सकते। इन अन्तिम छः अध्यायों में भक्तिमिश्रित ज्ञान का निरूपण हुआ है, फिर भी बीच-बीच में चतुरता पूर्वक केवला भक्ति की श्रेष्ठता भी प्रदर्शित हुई है। इस अध्याय में शरीर, जीवात्मा, परमात्मा, ज्ञान के साधन, जीव और प्रकृतिके विषयमें विशेषरूप से विवेचना की गई है।

द्वितीय छः अध्यायों में केवला भक्ति द्वारा भगवान् की प्राप्ति एवं अहंग्रहोपासनादि तीन प्रकार की उपासनाओं के विषय में भी बताया गया था। प्रथम छः अध्यायों में निष्काम कर्मयोगियों को भक्तिमिश्रित ज्ञान द्वारा मोक्ष होने की बात संक्षिप्त रूप से बतायी गई थी, 'अब पुनः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञादि के विचारपूर्वक वर्णन के लिए तीसरा षट्क आरम्भ किया जा रहा हैं' ॥1॥

श्रीभगवानुवाच-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥2॥

मर्मानुवाद - भगवान् ने कहा - हे अर्जुन! तुम्हें परमरहस्य स्वरूप भक्तितत्त्व को स्पष्टरूप से समझाने के लिये मैंने पहले आत्मा का 'स्वरूप'

फिर बद्धजीव के सभी प्रकार के कर्मों की व्याख्या की है। निरुपाधिक भक्ति के स्वरूप के बारे में भी कहा है, उसमें ज्ञान, कर्म और भक्तिरूप ये तीन प्रकार का अभिधेय-विचार समाप्त हो गया है। अब विज्ञानपूर्ण विचार करते हुए ज्ञान और वैराग्य की विशेष रूप से व्याख्या कर रहा हूँ, जिसे श्रवण कर तुम्हारी निरुपाधिक भक्तितत्त्व में अधिकतर दृढ़ता आ जायेगी। जब मैंने ब्रह्मा जी को श्रीमद्भागवत के मूल चार श्लोक सुनाये थे, तब भी "ज्ञानं मे परमं गुह्यं यद्विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदंगञ्च गृहाण गदितं मया।" इस वाक्य द्वारा ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और उनके अंग इन चार विषयों का उपदेश दिया था।

जब तक ये चारों विषय अच्छी तरह समझ नहीं आते तब तक रहस्य प्रकट नहीं होता। इसलिए तुम्हें भी विज्ञान का उपदेश देते हुए रहस्य समझ पाने हेतु उपयोगिनी बुद्धि अर्पण कर रहा हूँ। विशुद्ध भक्ति के उदित होने से अहैतुक ज्ञान और वैराग्य सहज ही उदित हो जाते हैं। तुम भक्ति करते हुए इन दोनों आनुषंगिक फलों का अनुभव करो। हे कौन्तेय ! इस शरीर को ही 'क्षेत्र' और जो इस क्षेत्र के विषय में जानता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ॥2 ॥

अन्वय - श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) कौन्तेय (हे कौन्तेय) इदम् (इस) शरीरम् (शरीर को) क्षेत्रम् (क्षेत्र) इति (नाम से) अभिधीयते (कहा जाता है) यः (जो) एतत् (इसे) वेत्ति (जानते हैं) तद्विदः (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति) तम् (उन्हें) क्षेत्रज्ञः इति (क्षेत्रज्ञ) प्राहुः (कहते हैं) ॥2 ॥

टीका—तत्र किं क्षेत्रं कः क्षेत्रज्ञः? इत्यपेक्षायामाह—इदमिति। इदं सेन्द्रियं भोगायतनं शरीरं क्षेत्रम्, संसारवृक्षस्य प्ररोहभूमित्वात्। तद्यो वेत्ति बन्धदशायामहं ममेत्यभिमन्यमानं स्वसम्बन्धित्वेनै
ममेत्यभिमानरहितः स्वसम्बन्धरहितमेव यो जानाति, तम् उभयावस्थं जीवं क्षेत्रज्ञमिति प्राहुः—कृषीबलवत् स एव क्षेत्रज्ञस्तत्फलभोक्ता च; यदुक्तं भगवता—"अदन्ति चै
बहुरूपमिज्यै
ग्रामेचराः बद्धजीवाः अस्य वृक्षस्यै
दुःखरूपत्वात्, अरण्यवासा हंसा मुक्तजीवा एकफलं सुखमदन्ति, सर्वथा

सुखरूपस्यापवर्गस्याप्येतज्जन्यत्वात्। एवमेकमपि संसारवृक्षं बहुविध-नरकस्वर्गापवर्गप्रापकत्वाद् बहुरूपं मायाशक्तिसमुद्भूतत्वान्मायामयम्। इज्यै पूज्यै

भावानुवाद – अर्जुन के इस प्रश्न पर कि क्षेत्र क्या है? क्षेत्रज्ञ क्या है? श्री भगवान् कहते हैं – 'इदम्' इन्द्रियों सहित भोगों का घर एवं संसाररूपी वृक्ष का अंकुरस्थल यह शरीर ही क्षेत्र है। मायापाश में बँधा जीव संसार से सम्बन्ध मान कर शरीर में 'मैं' और शरीर सम्बन्धी वस्तुओं में 'मेरा' अभिमान करता है, जबकि मायापाश से मुक्त अवस्था में सांसारिक सम्बन्ध रहित होने के कारण 'मैं' 'मेरा' के अभिमान से रहित होता है। दोनों अवस्थाओं के जीव को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। किसान के समान ही वह क्षेत्र का ज्ञाता भी है तथा उसके फलों का भोक्ता भी है। अर्थात् शरीर क्षेत्र है और जीवात्मा क्षेत्रज्ञ। श्रीमद्भागवत (11/12/23) में श्रीभगवान् कहते हैं – 'अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः। हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥' इसका अर्थ है – जो विषयों में फंसे हुए हैं वे बद्धजीव कामनाओं से भरे होने के कारण गीध के समान हैं। वे इस संसाररूपी वृक्षके दुःखरूपी फल भोगते हैं। स्वर्गादि भी परिणाम में दुःखकर ही है, जबकि जो अरण्यवासी परमहंस विषयों से विरक्त हैं। वे इस वृक्ष पर राजहंस के समान हैं, वे मुक्त जीव अपवर्गरूपी सुखरूपी फल का भक्षण करते हैं, क्योकि अपवर्ग सर्वथा सुखस्वरूप है । इस प्रकार एक ही संसाररूपी यह वृक्ष अनेक प्रकार के स्वर्ग, नरक, अपवर्ग को प्राप्त करानेवाला होनेके कारण बहुरूप एवं माया शक्तिसे उत्पन्न होने के कारण मायामय है। पूज्य गुरु की कृपा से जो इस रहस्य को जान लेता है वही 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' का ज्ञाता है॥2॥

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥3॥

मर्मानुवाद – 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के विषय में विचार करते समय तीन तत्त्व देखेने को मिलेंगे। उन तीन तत्त्वों के नाम हैं – 'ईश्वर', 'जीव' और 'जड़'। जिस प्रकार एक-एक शरीर में एक-एक जीवात्मा क्षेत्रज्ञ के रूप में विद्यमान है उसी प्रकार सब क्षेत्रों में ईश्वररूप से अवस्थित होने के

कारण मुझे ही सम्पूर्ण जगत् के प्रधान क्षेत्रज्ञ के रूप में जानना। अपनी ऐश्वर्यमयी शक्ति द्वारा मैं परमात्मा रूप से सर्वक्षेत्रज्ञ अर्थात् सब क्षेत्रों को जानने वाला हूँ। इसी प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करते हुए जिनको इन तीन तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है, उन्हीं का ज्ञान ही 'विज्ञान' है ॥3 ॥

अन्वय - भारत (हे भारत) अपि (और) सर्वक्षेत्रेषु (सम्पूर्ण क्षेत्रों में) मां च [अवस्थित] (मुझे भी) क्षेत्रज्ञम् (क्षेत्रज्ञ) विद्धि (जानो) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (क्षेत्र सहित जीव और ईश्वर इन दोनों क्षेत्रज्ञों का) यत् (जो) ज्ञानम् (ज्ञान है) तत् (वही) मम (मेरे) मतम् (मत में) ज्ञानम् (ज्ञान है)।

टीका—एवं क्षेत्रज्ञानाज्जीवात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम्, परमात्मनस्तु ततोऽपि कात्स्र्न्येन सर्वक्षेत्रज्ञत्वात् क्षेत्रज्ञत्वमाह—क्षेत्रज्ञमिति। सर्वक्षेत्रेषु नियन्तृत्वेन स्थितं मां परमात्मानं क्षेत्रज्ञं विद्धि। जीवानां प्रत्येकमेकै
कृत्स्नम्। मम त्वेकस्यै
ज्ञानमित्यपेक्षायामाह—क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयोर्जीवात्मपरमात्मनोर्यज्ज्ञानं क्षेत्रजीवात्मपरमात्मनां यज्ज्ञानमित्यर्थः। तदेव ज्ञानं मम मतं सम्मतं च। तत्र "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्युत्तरग्रन्थविरोधात् व्याख्यान्तरेणै

भावानुवाद - क्षेत्र का ज्ञान होने के कारण जीवात्मा का क्षेत्रज्ञत्व कहा गया है, किन्तु उससे भी अधिक पूर्णरूप से सभी क्षेत्रों को जानने वाला होने के कारण परमात्मा का सर्व - क्षेत्रज्ञत्व कहा गया है। श्रीभगवान् कहते हैं - ''सभी क्षेत्रों में नियन्ता के रूप से स्थित मुझ परमात्मा को क्षेत्रज्ञ समझो। प्रत्येक जीव एक-एक अपने-अपने क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है वह भी पूरा नहीं है, किन्तु मैं अकेले ही सभी क्षेत्रों को सम्पूर्णरूप से जानने वाला हूँ, यही विशेष जानने योग्य बात है।'' ज्ञान क्या है? इसे बताते हुए कहते हैं कि - क्षेत्र सहित दोनों क्षेत्रज्ञों अर्थात् आत्मा और परमात्मा का जो ज्ञान है, मेरे मत में वही ज्ञान है। वही ज्ञान मेरे सम्मत है, किन्तु, ''उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।'' अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों में परमात्मा ही उत्तम-पुरुष है। यहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद निरूपण किया गया है। अतः यहाँ एकात्मवाद परक व्याख्या करना संगत नहीं है। क्षेत्रज्ञ जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा उससे अलग क्षेत्रज्ञ परमात्मा के स्वरूप का जो ज्ञान है,

श्रीभगवान् ने उसी ज्ञान को ही अपना सम्मत ज्ञान कहा है, न कि ऐक्यज्ञान को। विरोधाभास होने के कारण एकात्मवाद- व्याख्या अनुकरणीय नहीं है'' ॥3 ॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥4 ॥

मर्मानुवाद - वह क्षेत्र क्या है, किस प्रकार का है, कैसे उसके विकार हैं, वह कहां से उत्पन्न हुआ है, एवं उसका प्रभाव क्या है, मैं संक्षेप में कहता हूँ, श्रवण करो ॥ 4 ॥

अन्वय - तत् (वह) क्षेत्रम् (क्षेत्र) यत् (जो) यादृक् च (जैसे धर्म वाला है) यद्विकारि (जैसा विकारी है) यतः च (जिससे) यत् (जिस रूप में उत्पन्न है) स च (वही क्षेत्रज्ञ) यः (जिस प्रकार स्वरूप वाला है) यतः प्रभावः च (जैसे प्रभाव वाला है) तत् (वह) मे (मुझ से) समासेन (संक्षेप में) शृणु (सुनो) ॥ 4 ॥

टीका—संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरितुमारभते—तत् क्षेत्रं शरीरं यच्च महाभूतप्राणेन्द्रियादि संघातरूपम्, यादृक् यादृशमिच्छादिधर्मकम्, यद्विकारि वै
स्थावरजङ्गमादिभेदै
नपुंसकमनपुंसकेनै

भावानुवाद - पहले संक्षेप में कहे गए अर्थ का विस्तृत वर्णन कर रहे हैं। शरीर क्या है? शरीर पंचमहाभूत प्राण और इन्द्रियों का परिणाम है, जोकि इच्छा आदि धर्मवाला एवं शत्रुता-मित्रता आदि विकारों वाला है एवं प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। स्थावर-जङ्गम आदि भेद से भिन्न है। क्षेत्रज्ञ के जीवात्मा तथा परमात्मा दो भेद हैं, जो जैसा है उसे संक्षेप में सुनो। यहाँ क्षेत्रके लिए नपुंसकलिंगका व्यवहार होनेके कारण 'क्षेत्रज्ञ' के लिए भी जो नपुंसकलिंगका व्यवहार हुआ है, वह केवल व्याकरणगत है या व्याकरण में नपुंसकलिंग के अतिरिक्त किसी अन्य लिंग के साथ नपुंसकलिंग का प्रयोग करने से नपुंसकलिंग ही शेष रहता है और एकत्व प्राप्त हो जाता है ॥ 4 ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ 5 ॥

मर्मानुवाद – स्मृतिशास्त्र में ऋषियों द्वारा इस क्षेत्र तत्त्व का नाना प्रकार से वर्णन हुआ है। वेदवाक्यों द्वारा नाना प्रकार से अलग-अलग वर्णन हुआ है,एवं ब्रह्मसूत्रों अर्थात् वेदान्तसूत्रों द्वारा युक्ति-युक्त निश्चित सिद्धान्त वाक्यों में परिणत हुआ है ॥5 ॥

अन्वय – ऋषिभिः (ऋषियों द्वारा) विविधैः (विविध) छन्दोभिः (वेदों द्वारा) हेतुमद्भिः (युक्ति-युक्त और) विनिश्चितैः (विशेष रूप से निश्चित ज्ञान उत्पादक) ब्रह्मसूत्रपदैः (ब्रह्मसूत्र पद अर्थात् वेदान्त वाक्यों के द्वारा) पृथक् (पृथक्) बहुधा (बहुत प्रकार से) गीतम् (कहा गया है) ॥5 ॥

टीका—कै
र्वशिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु, छन्दोभिर्वेदै
इत्यादीनि तान्येव सूत्राणि, ब्रह्म पद्यते ज्ञायते एभिरिति तानि तथा तै
कीदृशै "ईक्षतेर्नाशब्दम्", ''आनन्दमयोऽभ्यासात्" इति
युक्तिमद्भिर्विनिश्चितै

भावानुवाद – ''किन्होंने इसका विस्तार से वर्णन किया था, जिसे आप मुझे संक्षेप में सुना रहे हैं?'' – अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – 'ऋषिभिः' अर्थात् वशिष्ठ आदि ऋषियों ने योगशास्त्रों में इसका वर्णन किया है तथा 'छन्दोभिः' वेदों में भी इसका वर्णन है। ब्रह्मसूत्र (1/1/(1) 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि वेदान्त सूत्रों द्वारा ब्रह्म निश्चित प्रतिपादित होता है। वह (ब्रह्म) कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि हेतुकगण द्वारा ईक्षतेर्नाशब्दम् (ब्रह्मसूत्र 1/1/5) 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्रह्मसूत्र 1/1/12) इत्यादि पदों अर्थात् निश्चित अर्थ वाले वाक्यों द्वारा इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है॥ 5॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥6 ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥7 ॥

मर्मानुवाद – उन सभी ऋषिवाक्यों, वेदान्त वाक्यों और वेदान्तसूत्र वाक्यों से यही मिलता है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत, अहंकार, महत्तत्त्व और महत्तत्त्व की कारण प्रकृति, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा इत्यादि दस बाह्य इन्द्रियां, मन रूपी एक अन्तरिन्द्रिय एवं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय हैं। ये 24 प्राकृत तत्त्व ही 'क्षेत्र' हैं। इन 24 तत्त्वों की आलोचना करने से यह जान पाओगे कि 'क्षेत्र' क्या है और वह कैसा है ? इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख तथा पांच महाभूतों के परिणाम स्वरूप देह–कार्य, चेतना अर्थात् चिदाभास रूपी मनोवृत्ति और धैर्य इत्यादि को क्षेत्र के विकार ही जानना, इसलिए यह सब क्षेत्र हैं॥ 6–7॥

अन्वय – महाभूतानि (आकाशादि सूक्ष्म महाभूत) अहंकारः (उनका कारण अहंकार) बुद्धिः (अहंकार का कारण बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व) अव्यक्तम् एव च (और प्रकृति) दश इन्द्रियाणि (दस इन्द्रियां) एकं च (एक मन) पञ्च (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पाँच) इन्द्रियगोचराः (इंन्द्रियों के विषय) इच्छा (इच्छा) द्वेषः (द्वेष) सुखम् (सुख) दुःखम् (दुःख) संघातः (देह) चेतना (ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति) धृतिः (धैर्य) सविकारम् (जन्मादि छः विकारों सहित) एतत् (यह) क्षेत्रम् (क्षेत्र) समासेन (संक्षेप में) उदाहृतम् (कहा गया है)॥ 6–7॥

टीका—तत्र क्षेत्रस्य स्वरूपमाह–महाभूतान्याकाशादीन्यहङ्कारस्तत्कारणम्, बुद्धिर्विज्ञानात्मकं महत्तत्त्वमहङ्कारकारणमव्यक्तं प्रकृतिर्महत्तत्त्वकारणमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दशै
चतुर्विंशतितत्त्वात्मकमिति। इच्छादयः प्रसिद्धाः, संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामो देहः, चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिर्धृतिधै
त्वात्मधर्माः। अतः क्षेत्रान्तःपातिन एव उपलक्षणञ्चै
च श्रुतिः—"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव" इति अनेन यादृगिति प्रतिज्ञाताः क्षेत्रधर्मा दर्शिताः। एतत् क्षेत्रं सविकारं जन्मादिषड्विकारसहितम्।। 6–7।।

भावानुवाद – उपरोक्त दो श्लोकों में श्रीभगवान् क्षेत्रका स्वरूप बताते हुए कह रहे हैं – पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, अहङ्कार, बुद्धि यानि विज्ञानात्मक वृत्ति, अहंकार का कारण महत्तत्त्व,

महत्तत्त्व का कारण प्रकृति। नेत्र, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् , हाथ, पैर, गुदा एवं उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलाकर कुल दश इन्द्रियाँ तथा एक मन, इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पश और शब्द, पाँच विषय – ये चौबीस तत्त्वों वाला शरीर क्षेत्र है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, पञ्च महाभूतों का परिणाम शरीर, ज्ञानमय मनोवृत्ति चेतना, धैर्य – ये सब मनोधर्म हैं, आत्मधर्म नहीं। इसलिए ये लक्षण क्षेत्र के लक्षणों के ही अन्तर्गत हैं एवं इनके द्वारा सङ्कल्प आदि भी उपलक्षित होते हैं। श्रुतिमें कहा गया है – 'काम, सङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, विरक्ति, लज्जा, बुद्धि और भय-ये सभी मन हैं।' इनके द्वारा पहले कहे गये क्षेत्र के धर्म प्रदर्शित हुए हैं। यह क्षेत्र जन्म, वृद्धि, बाल्यावस्था, यौवन, जरावस्था तथा मृत्यु इन छः विकारों वाला है ॥6-7 ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥8 ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥9 ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥10 ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥11 ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥12 ॥

मर्मानुवाद –मानशून्यता, दम्भहीनता, अहिंसा, सहनशीलता, सरलता, आचार्य की उपासना अर्थात् गुरुसेवा, पवित्रता, सन्मार्ग में अचलनिष्ठा, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकारशून्यता, जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधि में दुःख रूपी दोष का पुनः पुनः दर्शन, स्त्री-पुत्रादि में आसक्तिशून्यता, पुत्रादि के सुख-दुःख में उदासीन, प्रिय-अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में सर्वदा समान चित्त, मुझ में अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जन स्थान में रुचि, जनसमुदाय वाले स्थान में अरुचि, अध्यात्मविषयक ज्ञान में नित्य बुद्धि, तत्त्वज्ञान प्रयोजनस्वरूप मोक्ष का अनुसन्धान, इन बीसों

को अनभिज्ञ लोग क्षेत्र के ही विकार समझते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। वस्तुतः ये प्रत्यक् ज्ञान स्वरूप हैं इनका आश्रय करने पर विशुद्ध तत्त्व की प्राप्ति होती है। ये क्षेत्र के विकारों का नाश करने वाली औषधस्वरूप हैं। इन बीसों में से एक मात्र मेरी अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति ही ग्रहणनीय है बाकी उन्नीस भक्ति के गौण फल के रूप में क्षेत्र की शुद्धता एंव चरम में जीव के अशुद्ध क्षेत्र का नाश कर नित्यसिद्ध क्षेत्र को प्रकट कराते हैं। भक्तिदेवी के सिंहासन स्वरूप इन 19 व्यापारों को ज्ञान अर्थात् 'स-विज्ञान' ज्ञान समझना। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब अज्ञान है।

अन्वय - अमानित्वम् (अपने सम्मान की चाहना न होना) अदम्भित्वम् (दम्भहीनता) अहिंसा (दूसरों को कष्ट न देना, ख्याति प्रदानकारी कर्मों को करने के लिये आतुरता) क्षान्तिः (अपमान सहने की शक्ति) आर्जवम् (कपटियों के प्रति भी सरलता) आचार्योपासनम् (निष्कपटता से सद्गुरु की सेवा) शौचम् (बाहर और अन्दर की पवित्रता) स्थैर्यम् (सन्मार्ग में स्थिर निष्ठा) आत्मविनिग्रहः (शरीर संयम) इन्द्रियार्थेषु (शब्दादि प्रतिकूल विषयों में) वैराग्यम् (रुचि का अभाव) अनहंकारः एव च (और देहादि में आत्माभिमान का त्याग) जन्म-मृत्यु जरा-व्याधि दुःख-दोषानुदर्शनम् (जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःखरूपी दोष का पुनः-पुनः चिन्तन) पुत्र-दार-गृहादिषु (पुत्र स्त्री और घर आदि में) असक्तिः (प्रीति त्याग) अनभिष्वंगः (दूसरों के सुख-दुःख में अभिनिवेश रहित) इष्टानिष्टोपपत्तिषु (अनुकूल और प्रतिकूलता की अवस्था में) नित्यम् (सर्वदा) समचित्तत्वम् (हर्षविषाद रहित अर्थात् सम रहना) ॥ 8-10 ॥

मयि (मेरे प्रति) अनन्ययोगेन (ज्ञान, कर्म, तपः-योग इत्यादि के मिश्रण रहित होने के कारण) अव्यभिचारिणी (ऐकान्तिकी) भक्तिः (भक्ति) विविक्तदेशसेवित्वम् (निर्जनस्थान प्रियता) जनसंसदि (प्राकृत लोगों की सभा में) अरतिः (अरुचि)।। 11 ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् (आत्म-विषयक ज्ञान का नित्य अनुशीलन) तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् (तत्त्वज्ञान का प्रयोजन मोक्ष है, उसकी आलोचना) एतत् (ये बीस) ज्ञानम् (ज्ञान के साधन हैं) इति (ऐसा) [ऋषियों द्वारा] प्रोक्तम् (कहा गया है) अतः (इसके) यत् (जो) अन्यथा (विपरीत है) अज्ञानम्

(वह अज्ञान है) ॥ 12 ॥

टीका—उक्तलक्षणात् क्षेत्राद् विविक्ततया ज्ञेयौ
क्षेत्रज्ञौ
पञ्चभिः। अत्राष्टादश भक्तानां ज्ञानिनाञ्च साधारणानि किन्तु भक्तै
चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी" इत्येकमेव भगवदनुभवसाधनत्वेन यत्नतः क्रियते। अन्यानि सप्तदशोक्ताभ्यासवतां तेषां स्वत एवोत्पद्यन्ते न तु तेषु यत्न इति साम्प्रदायिकाः। अन्तिमे द्वे तु ज्ञानिनामसाधारणे एव। अत्रामानित्वादीनि विस्पष्टार्थानि। शौ
प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।।" इति, आत्मविनिग्रहः शरीरसंयमः; जन्मादिषु दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनः पुनः पर्यालोचनम्; असक्तिः पुत्रादिषु प्रीतित्यागोऽनभिष्वङ्गः पुत्रादीनां सुखे दुःखे चाहमेव सुखी दुःखीत्यध्यासाभाव; इष्टानिष्टयोर्व्यावहारिकयोरुपपत्तिषु प्राप्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम्; मयि श्यामसुन्दराकारेऽनन्ययोगेन ज्ञानकर्मतपोयोगाद्यमिश्रणेन भक्तिः चकाराद् ज्ञानादि- मिश्रणप्राधान्येन च। आद्या भक्तै
साधनं तथा परमात्मानुभवस्यापीति ज्ञापनार्थमत्र षट्केऽप्युक्तिरिति भक्ता व्याचक्षते, ज्ञानिनस्त्वनन्येन योगेन सर्वात्मदृष्ट्येति। 'अव्यभिचारिणी'—प्रतिदिनमेव कर्त्तव्या, 'केनापि निवारयितुमशक्या' इति मधुसूदनसरस्वतीपादाः। आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानां ज्ञानमध्यात्मज्ञानम्, तस्य नित्यत्वं नित्यानुष्ठेयत्वं पदार्थशुद्धिनिष्ठत्वमित्यर्थः। तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षस्तस्य दर्शनं स्वाभीष्टत्वेनालोचनमित्यर्थः। एतद्विंशतिकं ज्ञानं साधारण्येन जीवात्म- परमात्मनोर्ज्ञानस्य साधनम्। असाधारणं परमात्मज्ञानं त्वग्रे वक्तव्यम्। ततोऽन्यथास्माद् विपरीतं मानित्वादिकम्।। 8-12।।

भावानुवाद - इन पाँच श्लोकों में पहले कहे गये क्षेत्र के अतिरिक्त जानने योग्य दो क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा हैं। जिन के विषय में सविस्तार वर्णन करते हुए भगवान् ने अमानित्व इत्यादि बीस साधन कहे हैं, इनमें से अमानित्व इत्यादि अठारह गुण ज्ञानी और भक्त दोनों के लिए साधारण हैं, किन्तु ''मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'' भगवान् के इस कथनानुसार भगवान् के अनुभवप्राप्तिहेतु यत्नपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति

करनी चाहिये, क्योंकि इस अव्यभिचारिणी भक्ति का अभ्यास कर रहे भक्तों में अमानित्वादि सत्रह गुण तो स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए भक्तों को कोई अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता, यही भक्ति सम्प्रदाय का अभिप्राय है। किन्तु, जो अन्तिम दो गुण हैं, वे ज्ञानियों के लिए असाधारण गुण हैं। इस श्लोकके 'अमानित्व' इत्यादि शब्दोंका अर्थ तो स्पष्ट ही है। 'शौचम्' का अर्थ है – अन्दर–बाहर की पवित्रता। स्मृतिमें पाया जाता है – ''बाह्य और अन्तःके भेदसे शौच दो प्रकारका कहा गया है । मिट्टी और जल इत्यादिसे बाहर की पवित्रता होती है तथा भाव की शुद्धता को अन्तःकरण की पवित्रता कहा जाता है।'' 'आत्मविनिग्रह' का अर्थ है – शरीरका संयम। 'जन्म–मृत्यु दुःखरूप दोष के अनुदर्शन का अर्थ है पुनः–पुनः उनकी पर्यालोचना करना कि जन्म–मरण महादुःखरूप है। 'असक्तिः'– पुत्रादि में प्रीति का त्याग करना, 'अनभिष्वङ्गः' अर्थात् पुत्रादि के सुख–दुःख से सुखी–दुःखी न होना। 'इष्टानिष्टोपपत्तिषु' का अर्थ है – व्यावहारिक भली –बुरी वस्तुओं की प्राप्ति में सर्वदा समान भावका होना। 'मयि' का अर्थ है – श्यामसुन्दर आकारवाले मुझमें, 'अनन्ययोगेन' यानि – ज्ञानयोग – तपोयोग आदि से रहित भक्ति द्वारा आराधना। यहाँ 'च' – कार द्वारा ज्ञानादि मिश्रप्रधानीभूता भक्ति से भी रहित होना बता रहे हैं। ऐसा किसी–किसी भक्त का मत है कि इन दोनों में प्रथम प्रकारकी अनन्या भक्ति ही भक्तोंके द्वारा करणीय है, दूसरे प्रकार की भक्ति ज्ञानियों के लिए अवलम्बनीय है। भक्तों के अनुसार – ''अनन्या भक्ति जिस प्रकार प्रेम का साधन है, उसी प्रकार परमात्मा के अनुभव के भी अनुकूल है।'' इसी रहस्य को जाननेके लिए इन अन्तिम छः अध्यायों में भी अव्यभिचारिणी भक्ति की महिमा गाई गई है, किन्तु ज्ञानियोंके मतमें 'अनन्य योग' का अर्थ है – सर्वत्र आत्मदृष्टि होना और 'अव्यभिचारिणी' का अर्थ है – निरन्तर प्रतिदिन की जाने वाली। श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती 'अव्यभिचारिणी' का अर्थ बताते हैं – 'किसी भी कारण से जिसका निवारण न किया जा सके वही अव्यभिचारिणी भक्ति है, 'अध्यात्मज्ञानम्' का तात्पर्य है – आत्माका आश्रयकर विद्यमान ज्ञान। पदार्थकी शुद्धिके लिए यह नित्य करणीय है। 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' – तत्त्वज्ञान के प्रयोजन मोक्ष को अपना अभीष्ट जानकर उसे आलोचना का विषय बनाना। ये बीस ज्ञान साधारण भावसे जीवात्मा और परमात्माके ज्ञान के साधन हैं ।

असाधारण परमात्म-ज्ञान के विषय में आगे बताया जाएगा । ऊपर बताये गये लक्षणों के विपरीत जो 'मानित्वादि' लक्षण हैं – वे सब अज्ञानके लक्षण हैं।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥13 ॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन! मैंने तुम्हें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व समझाया। शरीर को क्षेत्र कहा गया है। उस क्षेत्र के स्वरूप, विकार और विकार नाशक प्रक्रिया भी तुम्हें बतायी। उस क्षेत्र के ज्ञाता जीवात्मा और परमात्मा के विषय में भी बताया। अब उसी विज्ञान द्वारा जो तत्त्व जानने योग्य हैं, वह कहने जा रहा हूँ, श्रवण करो। वह जानने योग्य वस्तु है, 'ब्रह्म' जो कि अनादि, मत्पर अर्थात् मेरे आश्रित तत्त्व है एवं सत् और असत् दोनों से अतीत है। जिससे अवगत होने पर मेरी भक्ति-रूपी अमृत का आस्वादन होता है।॥13 ॥

अन्वय - यत् (जो) ज्ञेयम् (जानने योग्य है) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अमृतम् (मुमुक्षु लोग मोक्ष) अश्नुते (प्राप्त करते हैं) तत् (वह) प्रवक्ष्यामि (मैं अच्छी तरह से कहूँगा) तत् (वह) अनादि (नित्य) मत्परम् (मेरे आश्रित) ब्रह्म ('ब्रह्म' शब्द वाच्य है) न सत् (कार्य से अतीत) नासत् (कारण से अतीत) उच्यते (कहा जाता है)।

टीका—एवं साधनै
'ब्रह्म' शब्देनोच्यते। तच्च ब्रह्म 'निर्विशेषं' 'सविशेषञ्च' क्रमेण ज्ञानिभक्तयोरुपास्यम्।देहगतोऽपि चतुर्भुजत्वेन ध्येयः'परमात्म'—शब्देनोच्यते। तत्र प्रथमं ब्रह्माह—ज्ञेयमिति। अनादि न विद्यते आदिर्यस्य मत्स्वरूपत्वान्नित्यमित्यर्थः। 'मत्परम्' अहमेव पर उत्कृष्ट आश्रयो यस्य तत् 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इति मदग्रिमोक्तेः। तदेव किमित्यपेक्षायामाह—तद् ब्रह्म—न सत्, नाप्यसत् कार्यकारणातीतमित्यर्थः।।13।।

भावानुवाद - इस प्रकार के उपायों से जीवात्मा और परमात्मा जानने योग्य है। इनमें परमात्मा को ही सर्वगत ब्रह्म शब्द से कहा गया है। वह ब्रह्म निर्विशेष और सविशेष के भेद से क्रमशः ज्ञानी और भक्त के उपासनीय हैं। देहगत होनेपर भी चतुर्भुजरूपमें ध्येय होने के कारण उन्हें परमात्मा शब्द से

कहा जाता है। उनमें से सर्वप्रथम 'ब्रह्म' के विषयमें बताते हुए कहते हैं कि वह अनादि यानि उसका आदि नहीं है, मेरा स्वरूप होने के कारण नित्य भी है। 'मत्परम्' अर्थात् मैं ही उस 'ब्रह्म' का उत्कृष्ट आश्रय हूँ। जैसा कि आगे कहा है 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ही ब्रह्म का आश्रय हूँ, 'किन्तु, वह ब्रह्म क्या है?'- इस के उत्तर में कहते हैं- वह 'ब्रह्म' न सत् है न असत् अर्थात् कार्यकारण दोनों से अतीत है॥ 13॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 14॥

मर्मानुवाद - किरणें जिस प्रकार सूर्य को आश्रय कर प्रकाश प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार मेरे ही प्रभाव स्वरूप 'ब्रह्म' ने मुझसे व्यापकता प्राप्त की है। ब्रह्मा से चींटी तक अनन्त जीवों का अवस्थान स्वरूप वह ब्रह्मतत्त्व चारों और असंख्य हाथ-पैर, चक्षु, सिर, मुख और कर्ण इत्यादि संयुक्तरूप में सब को आवृत कर विराजमान है।

अन्वय - सर्वतः पाणिपादम् (सर्वत्र प्राणियों के हस्त पादादि द्वारा ही हस्त पाद वाले) सर्वतः (चारों तरफ) अक्षिशिरोमुखम् (चक्षु, मस्तक और मुखों वाले) सर्वतः श्रुतिमत् (सर्वत्र कर्णों वाले) तत् (वह) लोके (जगत् में) सर्वम् (सभी पदार्थों को) आवृत्य (व्याप्त करके) तिष्ठति (स्थित हैं)।

टीका—नन्वेवं ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणत्वे सति "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" 'ब्रह्मै
शक्तिशक्तिमतोरभेदात् कार्यकारणात्मकमपि तदित्याह—सर्वत एव पाणयः पादाश्च यस्य तत्, ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानां पाणिपादवृन्दै
तद्ब्रह्मै

भावानुवाद - यदि ऐसा कहा जाये कि ब्रह्म के सत् और असत् से विलक्षण होने पर तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छाः 3/14/1) अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, एवं 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' अर्थात् ब्रह्म ही सब है - इन श्रुति - वाक्यों से इसका विरोध होता है? तो इस आशंका को लेकर निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि स्वरूपतः कार्यकारण से अतीत होने पर भी शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने के कारण वही कार्यकारणात्मक भी है, इसका सर्वत्र ही उसके हस्त - पाद आदि हैं अर्थात् सर्वत्र दृश्यमान ब्रह्मा से चींटी

पर्यन्त सभी के हाथों, पैरों द्वारा वह ब्रह्म ही असंख्य हाथ-पैर वाला है। इसी प्रकार सर्वत्र आँख आदिवाला भी जानना चाहिए।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ 15॥

मर्मानुवाद - वह बृहत् तत्त्व समस्त इन्द्रियों का प्रकाशक है। सांसारिक जड़ इन्द्रियों से रहित, अनासक्त, श्रीविष्णु रूप से सब का पालन करने वाला, निर्गुण अर्थात् स्वयं प्राकृत गुणों से रहित है, इसलिए त्रिगुणातीत और भग शब्द वाच्य छः ऐश्वर्यों का आस्वादक है।

अन्वय - सर्वेन्द्रिगुणाभासम् (सब इन्द्रियों और विषयों में विराजमान) सर्वेन्द्रियविवर्जितम् (जड़ इन्द्रियों से रहित) असक्तम् (लगाव रहित) सर्वभृत् (सब के पालक) निर्गुणम् (त्रिगुण रहित आकार) गुणभोक्तृ च (एवं त्रिगुणातीत भग शब्द से कहे जाने वाले छः ऐश्वर्यों का आस्वादक है) ॥15॥

टीका—किञ्च सर्वाणीन्द्रियाणि गुणानिन्द्रियविषयांश्चाभासयतीति "तच्चक्षुषश्चक्षुः" इत्यादि श्रुतेः, यद्वा सर्वेन्द्रियै
विराजतीति तत्। तदपि सर्वेन्द्रियविवर्जितं प्राकृतेन्द्रियादिरहितम्, तथा च श्रुतिः—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादि, "परास्य शक्तिर्बहुधै
श्रुतिप्रसिद्धस्वरूपशक्त्यास्पदत्वादिति भावः। असक्तमासक्तिशून्यं, सर्वभृत् श्रीविष्णुस्वरूपेण सर्वपालकं, निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहिताकारम्। किञ्च गुणभोक्तृत्रिगुणातीत—'भग' शब्द वाच्य—षड्गुणास्वादकम्।। 15।।

भावानुवाद - वह सभी इन्द्रियों तथा उनके विषयों का प्रकाशक है। श्रुति कहती है कि वह तत्त्व चक्षुओं का भी चक्षु है(के1/12) अथवा शब्दादि द्वारा इन्द्रियों के गुणों के प्रकाशकरूप से विराजमान होते हुए भी प्रकृत इन्द्रियों से रहित है। वह सर्वेन्द्रियवर्जित यानि प्राकृत इन्द्रियों वाला नहीं है। श्रुति (श्वे-3/9)भी कहती है कि हाथ-पैर आदि प्राकृत इन्द्रियां न होने पर भी वह लेना - देना, आना -जाना इत्यादि कार्य करने वाला है। बिना आँखों के देखने वाला, एवं बिना कानों से सुनने वाला है,तथा उस ब्रह्म की अनेक प्रकार की पराशक्तियों के वारे में सुना जाता है। वह स्वभाविक

ही बल और क्रियाशक्ति – सम्पन्न है, (श्वे–6/8)क्योंकि उनका वह श्रुति प्रसिद्ध स्वरूप शक्ति का आश्रय स्थल है। वह आसक्तिशून्य है। श्रीविष्णुस्वरूप में सबका पालक है। 'निर्गुण' अर्थात् सत्त्व आदि गुणों से रहित आकारवाला है तथा गुणातीत 'भग' शब्दवाच्य है – छः गुणोंका आस्वादक है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥16 ॥

मर्मानुवाद – वह तत्त्व समस्त प्राणियों के अन्दर और बाहर विद्यमान है। वही इस चराचर जगत् का कारण है। अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् प्राकृतरूप आदिरहित होने के कारण जानने में नहीं आता। एक ही साथ दूर से दूर भी है एवं समीप से समीप भी ॥16 ॥

अन्वय - तत् (वह) भूतानाम् (सब प्राणियों के) बहिः (बाहर) अन्तः च (और अन्दर स्थित है) [कारण से कार्य अभिन्न होने के कारण] अचरम् (स्थावर) चरम् एव च (एवं जंगम) [वह] सूक्ष्मत्वात् (प्राकृतरूप आदिरहित होने के कारण) अविज्ञेयम् (दुर्ज्ञेय) तत् (वे अज्ञानियों के लिए) दूरस्थम् (दूर)[जबकि विद्वानों के लिए] अन्तिके (नजदीक है)

टीका—भूतानां स्वकार्याणां बहिश्चान्तश्च यथा देहानामाकाशादिकम्, अचरं स्थावरं चरं जङ्गमञ्च भूतजातं तदेव कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। एवमपि रूपादिभिन्नत्वात् तदविज्ञेयमिदं तदिति स्पष्टं ज्ञानार्हं न भवतीत्यतएवाविदुषां योजनकोट्यन्तरमिव दूरस्थम्, विदुषां पुनः स्वगृहस्थित- मिवान्तिके च तत्स्वदेह एवान्तर्यामित्वात्,—"दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यतस्विहै गुहायाम्" इत्यादि—श्रुतिभ्यः।।16।।

भावानुवाद - वह तत्त्व विश्व के बाहर तथा भीतर सर्वत्र उसी प्रकार अवस्थित है, जिस प्रकार देह आदि में आकाश रहता है। स्थावर जंगम जितनी वस्तुएं हैं सबका कारण वही है। कार्य-कारण अभेद दृष्टि से चराचर रूप में विद्यमान सब वह ही है। किन्तु ऐसा होने पर भी रूप आदि से भिन्न होने के कारण वह स्पष्ट ज्ञान का विषय नहीं है, इसलिए अज्ञानियों के लिए वह करोड़ों योजन दूर तथा विद्वानों के लिए अपनी ही देह में अन्तर्यामी होने के कारण उनके घर में बैठे व्यक्ति के समान समीप है। वह दूर से भी दूर एवं निकट से भी निकट है। जैसा कि मुण्डक उपनिषद् (3/1/7) में कहा

गया है कि जो देखने में सक्षम हैं,उनके लिए वह उनकी हृदयरूपी गुफा में दिखता है॥ 16॥

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्त्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ 17॥

मर्मानुवाद –तमाम चराचर प्राणियों में विभक्त हुआ प्रतीत होते हुए भी, अविभक्त है प्रत्येक जीवात्मा के साथ व्यष्टिपुरुष रूप से रहने पर भी वह सब प्राणियों में एक अखण्ड विराट् समष्टिरूप परमेश्वर है, जो कि सब प्राणियों को उत्पन्न, पालन और संहार करने वाला है॥ 17॥

अन्वय – तत् (वह) भूतेषु (परस्पर भिन्न जीवों में) अविभक्तम् (एक होते हुए भी) विभक्तम् (अलग-अलग) स्थितम् (प्रतीत होता है) [वह] भूतभर्तृ (वह प्राणियों का पालक) ग्रसिष्णु (संहारक) प्रभविष्णु च (सृष्टि कर्त्ता के रूप में) ज्ञेयम् (जानने योग्य है)॥ 17॥

टीका—भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वविभक्तं कारणात्मना भिन्नं कार्यात्मना विभक्तं भिन्नमिव स्थितम्, तदेव श्रीनारायणस्वरूपं सत्, भूतानां 'भर्त्तृ' स्थितिकाले पालकम्,प्रलयकाले'ग्रसिष्णु'संहारकम्;स्थितिकाले'प्रभविष्णु' च —नानाकार्यात्मना प्रभवनशीलम्।। 17।।

भावानुवाद – चराचर भूतसमूह में कारणरूप में अभिन्न अविभक्त अर्थात् अखण्ड रहता है। कार्यरूप से 'विभक्त' अर्थात् भिन्न-भिन्नभाव से विराजमान है, वही श्रीनारायणस्वरूप होकर स्थितिकाल में भूतों का पालक, प्रलयकाल में 'ग्रसिष्णु' यानि संहारक एवं सृष्टिकाल में 'प्रभविष्णु' यानी नाना कार्यरूप में उत्पत्तिशील है॥ 17॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥ 18॥

मर्मानुवाद – वही तत्त्व समस्त ज्योतियों की परम ज्योति अर्थात् प्रकाशक है। वह सम्पूर्ण अन्धकार के अतीत अव्यक्त स्वरूप है। वह ही ज्ञान, ज्ञानगम्य और ज्ञेय है वह ही सब के हृदय में स्थित है॥ 18॥

अन्वय – तत् (वह) ज्योतिषाम् अपि (चन्द्र सूर्यादि का भी) ज्योतिः (प्रकाशक है) तमसः (अज्ञान से) परम् (अतीत) उच्यते (कहा गया है)

ज्ञानम् (वह बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त ज्ञान) ज्ञेयम् (रूपादि आकार में परिणत होकर ज्ञेय) ज्ञानगम्यम् (अमानित्व आदि में बताये ज्ञान के साधन द्वारा प्राप्य) सर्वस्य (सब के) हृदि (हृदय में) धिष्ठितम् (नियन्ता के रूप में अवस्थित है) ॥ 18 ॥

टीका—ज्योतिषां चन्द्रादित्यादीनामपि तज्ज्योतिः प्रकाशकं येन सूर्यस्तपति तेजसेन्द्रः—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।" इत्यादि श्रुतेः। अतएव तमसोऽज्ञानात् परं तेनास्पृष्टम् उच्यते—"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि—श्रुतेः। ज्ञानं तदेव बुद्धिवृत्तावभिव्यक्तं सत् ज्ञानमुच्यते, तदेव रूपाद्याकारेण परिणतं ज्ञेयञ्च, तदेव ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादि-ज्ञानसाधनेन प्राप्यमित्यर्थः। तदेव परमात्मस्वरूपं सत् सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितं नियन्तृतयाधिष्ठाय स्थितमित्यर्थः।। 18।।

भावानुवाद - वह चन्द्र एवं सूर्यादि का भी प्रकाशक है। श्रुति में इसका प्रमाण है - जिसके तेज से तेजियान होकर सूर्य ताप वितरण करता है - 'सूर्यस्तपति तेजसेन्द्रः', वहां सूर्य, चन्द्र, तारे एवं विद्युत् आदि अपना प्रकाश कर शोभा नहीं पाते, फिर अग्नि की तो बात ही क्या? उसी के प्रकाश से ये सब विशेषरूप से प्रकाश प्राप्त करते हैं - वह अज्ञान से परे है अर्थात् अज्ञान उसे छू भी नहीं सकता। श्रुति भी कहती है - वह आदित्य वर्णवाला है तथा अज्ञान से परे है। 'ज्ञान' - बुद्धिवृत्ति में सर्वतोभाव से अभिव्यक्त होने पर ज्ञान कहलाता है तथा रूप आदिके आकार में परिणत होकर ज्ञेय और ज्ञानगम्य है अर्थात् वह ही पहले कहे गये अमानित्व इत्यादि ज्ञान के साधन से प्राप्त होने वाला परमात्मा स्वरूप होकर प्राणिमात्र के हृदय में स्थित है॥ 18॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ 19॥

मर्मानुवाद - हे अर्जुन! मैनें तुम्हें संक्षेप में क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय तीनों के तत्त्व के विषय में बताया - इसी का नाम ही विज्ञान सहित ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त कर मेरे भक्त मेरी निरुपाधिक प्रेम भक्ति प्राप्त करते हैं और जो भक्त नहीं है, वे केवल निरर्थक साम्प्रदायिक अभेदवाद का आश्रय लेकर यथार्थ

ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। ज्ञान और कुछ भी नहीं केवल भक्ति देवी की पीठ स्वरूप – भक्ति की आश्रय स्वरूप जीवात्मा के हृदय की शुद्धि मात्र है, जो आगे पुरुषोत्तम तत्त्व के बारे में विचार करते समय यह और भी स्पष्ट हो जायेगा॥ 19॥

अन्वय – इति (इस प्रकार) क्षेत्रम् (क्षेत्र), तथा ज्ञानम् ('अमानित्व' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' श्लोक तक उल्लिखित) ज्ञेयं च (पीछे श्लोक नं0 13 से 18 तक भगवान् परमात्मा शब्द से कहे जाने वाला ज्ञेय) समासतः (संक्षेप में) उक्तम् (कहा गया है) मद्भक्तः (मेरा भक्त) एतत् (यह) विज्ञाय (जानकर) मद्भावाय (सायुज्य या मेरी प्रेमभक्ति) (प्राप्ति के) उपपद्यते (योग्य हो जाता है)॥ 19॥

टीका—उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिफलसहितमुपसंहरति—इतीति। 'क्षेत्रं'—महाभूतादि धृत्यन्तम् (6-7), 'ज्ञानम्'—अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम्(8-12),'ज्ञेयं''ज्ञानगम्यञ्च'—अनादीत्यादि धि ाष्ठितमित्यन्तम्(13-18),एकमेव तत्त्वं ब्रह्म-भगवत्-परमात्म-शब्दवाच्यञ्च संक्षेपेणोक्तम्। मद्भक्तो भक्तिमज्ज्ञानी मद्भावाय मत्सायुज्याय, यद्वा मद्भक्तो ममै
उपपद्यते उपपन्नो भवति।। 19।।

भावानुवाद – भगवान् यहाँ पहले बताये गये क्षेत्र आदिका ज्ञान एवं उसके अधिकारी आदि का फल सहित उपसंहार कर रहें हैं। इस अध्याय के छः से सातवें श्लोक तक क्षेत्र के विषय में बताया गया है। अष्टम श्लोक से लेकर द्वादश श्लोक तक ज्ञान के विषय में बताया गया है। त्रयोदश श्लोक से अष्टादश श्लोक तक ज्ञेय और 'ज्ञानगम्य' के विषय में कहा गया। एक ही तत्त्व ब्रह्म, भगवान् और परमात्मा शब्दवाच्य है – यह संक्षेप में कहा गया हैं। 'मद्भक्तः' अर्थात् मेरे ऐकान्तिक दास, 'मद्भावाय' अर्थात् मेरा सायुज्य प्राप्त करते हैं अथवा मेरे प्रभु का ऐश्वर्य इतना अधिक है – ऐसा जानकर प्रेमाभक्ति प्राप्ति करने के अधिकारी हो जाते हैं॥ 19॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ 20॥

मर्मानुवाद – क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से क्या लाभ होगा उसे कहता हूँ

– मायाबद्ध अवस्था में तीन तत्त्व लक्षित होते हैं– प्रकृति, पुरुष और परमात्मा। सभी क्षेत्र प्रकृति और जीव ही पुरुष है और परमात्मा उन दोनों के बीच मेरा आविर्भाव है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं, जड़ीय काल के पहले से ही हैं। जड़ीय काल में उनका जन्म नहीं है। मेरी ही शक्ति से मेरे परम अस्तित्वस्वरूप चिन्मय काल में उनकी उत्पत्ति हुई है, उस समय यह जड़ प्रकृति मुझ में लीन थी। कार्यकाल में जड़ीयकाल को आश्रय करते हुए प्रकाशित हुई है, जीव–मेरा नित्यशक्तिगत तत्त्व है, वास्तविकता में जीव शुद्ध चित् तत्त्व है, किन्तु मुझ से विमुख होने के कारण संसार में गिर गया है। मेरी पराशक्ति होने के कारण उसमें लेशमात्र तटस्थ धर्म निहित है जिस कारण उसने जड़ प्रकृति में भी उपयोगिता प्राप्त की है। चिद् जीव कैसे जड़ माया से बँध गया यह तुम बद्ध अवस्था में युक्तियों और ज्ञान द्वारा निर्णय नहीं कर पाओगे, क्योंकि मेरी अचिन्त्य शक्ति तुम्हारे ज्ञान के अधीन नहीं है। तुम्हारा यहीं तक जानना आवश्यक है कि बद्ध जीव के सभी विकार और गुण, जड़–प्रकृति से उत्पन्न हैं – जीव के स्वधर्मगत तत्त्व नहीं हैं ॥ 20 ॥

अन्वय - प्रकृतिम् (प्रकृति) पुरुषम् (और पुरुष) उभौ अपि (दोनों को ही) अनादी (अनादि) विद्धि (जानना) विकारान् च (देह में इन्द्रियादि विकारों) गुणान् एंव च (और सुःख दुःख मोहादि को) प्रकृतिसम्भवान् (प्रकृति से उत्पन्न) विद्धि (जानना) ॥ 20 ॥

टीका—परमात्मानमुक्त्वा क्षेत्रज्ञ–शब्दवाच्यं जीवात्मानं वक्तुं कुतस्तस्य मायासंश्लेषः कदारम्भः तदभूदित्यपेक्षायामाह—प्रकृतिं मायां पुरुषं जीवञ्च उभावपि अनादि न विद्यते आदिकारणं ययोः तथाभूतौ
मम शक्तित्वात्। "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।" इति मदुक्तेः मायाजीवयोरपि मत्शक्तित्वेन अनादित्वात् तयोः संश्लेषोऽप्यनादिरिति भावः। तत्र मिथः संश्लिष्टयोरपि तयोर्वस्तुतः पार्थक्यमस्त्येव इत्याह—विकारांश्च देहेन्द्रीयादीन् गुणांश्च गुणपरिणामान् सुखदुःखशोकमोहादीन् प्रकृतिसम्भूतान् प्रकृत्युद्भूतान् विद्धीति क्षेत्राकारपरिणतायाः प्रकृतेः सकाशाद्भिन्नमेव जीवं विद्धीति भावः।। 20।।

भावानुवाद – यहां तक परमात्मा के विषय में बताने के पश्चात् अब 'क्षेत्रज्ञ' जीवात्मा के विषय में यह बता रहे हैं कि उसका सम्बन्ध माया से क्यों और कब हुआ? 'प्रकृति' अर्थात् माया और 'पुरुष' अर्थात् जीव दोनों ही अनादि हैं, अर्थात् इनका आदि कारण नहीं है। ऐसा जान लो कि मुझ अनादि ईश्वर की शक्ति होने के कारण ही ये भी अनादि हैं। मेरे द्वारा सप्तम अध्याय के चतुर्थ और पंचम श्लोक में कहा जा चुका है, कि माया और जीव मेरी शक्ति होने के कारण अनादि हैं, इस कारण परस्पर सम्बन्ध भी अनादि है, फिर भी वस्तुत: दोनो अलग अलग हैं, इसलिए कहते हैं – देह, इन्द्रियों तथा गुणों के परिणाम सुख–दु:ख शोक और मोह आदि को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जानो। जीव को क्षेत्र के आकार में परिणत शरीर से अलग ही समझो ॥ 20 ॥

कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ 21॥

मर्मानुवाद – जड़ीय कार्य और कारण एवं कर्तृत्व प्रकृति के धर्म हैं इसलिए प्रकृति ही उनकी हेतु है। पुरुष के तटस्थ स्वभाववश ही सांसारिक अभिमान से सुख दु:ख भोगने का भाव उत्पन्न होता है। शुद्ध जीव में भोक्ता का भाव नहीं होता, किन्तु बद्ध अवस्था में अपने आपको शरीर समझने के कारण जीव ने तटस्थ–स्वभाववश भोक्ताभाव को स्वीकार किया है ॥ 21 ॥

अन्वय - कार्यकारण–कर्तृत्वे [शरीर, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृ देवताओं के] (कार्यादि रूप में परिणत होने में) प्रकृति (प्रकृति ही) हेतु: (हेतु) उच्यते (कही जाती है) पुरुष: (जीव) सुखदु:खानाम् (सुख और दु:ख के)भोक्तृत्वे (भोगने में) हेतु: (कर्ता) उच्यते (कहा गया है) ।। 21 ॥

टीका—तस्य माया संश्लेषं दर्शयति—कार्यं शरीरं कारणानि सुखदुःख–साधनानीन्द्रियाणि कर्त्तार इन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्तत्र तथाध्यासेन पुरुषस्य तद्भावापत्तौ

परिणता स्यात्, अविद्याख्यया स्ववृत्त्या तदध्यासप्रदा च स्यादित्यर्थः। तत्कृतसुखदुःखानां भोक्तृत्वे तु पुरुषो जीव एव हेतुः। अयं भावः—यद्यपि कार्यत्वकारणत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वानि प्रकृतिधर्मा एव स्युस्तदपि कार्यत्वादिषु जडांशप्राधान्यात्, सुखदुःखसंवेदनरूपे भोगे तु चै

प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् कार्यत्वादिषु प्रकृतिर्हेतुर्भोक्तृत्वे पुरुषो हेतुरित्युच्यत इति।। 21।।

भावानुवाद – अब श्रीभगवान् यहाँ दिखा रहे हैं कि जीव का माया से क्या सम्बन्ध है? 'कार्य' यानि शरीर, 'कारण' यानि सुख–दुःख की साधन – इन्द्रियाँ, और 'कर्त्ता' यानि इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवता। इनमें पुरुष जो कर्त्तापन का अभिमान करता है वह मिथ्या ज्ञान के कारण ही है। वस्तुतः प्रकृति ही इस का कारण है। प्रकृति ही पुरुष के संसर्ग से कार्य इत्यादि के रूप में परिणत होती है। अविद्या नाम की माया अपनी वृत्ति से उस मिथ्या ज्ञान को प्रदान करती है। पुरुष ही मायाकृत सुःख–दुःख के भोक्तृत्व में हेतु होता है। यद्यपि कार्य, कारण, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्वादि प्रकृति के ही धर्म हैं, तथापि 'कार्यत्व' इत्यादि में जड़ – अंश की ही प्रधानता होती है। सुख – दुःख संवेदनरूप भोग में चैतन्य अंश की प्रधानता होती है और प्रधानता के अनुसार ही किसी वस्तु का नामकरण होता है। कार्यत्व इत्यादिमें प्रकृति तथा 'भोक्तृत्व' में पुरुष को हेतु कहा गया है॥21॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ 22॥

मर्मानुवाद – तटस्थ स्वभाववश ही शुद्ध जीव वैकुण्ठ की शुद्धता को त्यागकर माया में फंस कर प्रकृति से उत्पन्न सभी गुणों को भोगता है, त्रिगुणों के संगवश ही सद् असद् योनियों में उसका जन्म होता है॥ 22॥

अन्वय – हि (जिस कारण) पुरुषः (पुरुष) प्रकृतिस्थ (शरीर को ही अपना स्वरूप समझ) प्रकृतिजान् (प्रकृति से उत्पन्न) गुणान् (सुख दुःखादि विषयों को) भुंक्ते (भोगता है) गुणसंगः (गुणमय देह–इन्द्रियों में आसक्ति ही) अस्य (इस पुरुष के) सदसद्योनिजन्मसु (देवादि सद् और पशु आदि असद्योनियों में जन्म लेने का) कारणम् (कारण है)॥ 22॥

टीका—किन्तु तत्रानाद्यविद्या–कृतेनाध्यासेनै
तदीयमपि धर्मं स्वीयं मन्यते तत एवास्य संसार इत्याह—पुरुष इति। प्रकृतिस्थः प्रकृतिकार्यदेहे तादात्म्येन हि स्थितः। प्रकृतिजान् अन्तःकरणधर्मान् शोकमोहसुखदुःखादीन् गुणान् स्वीयानेवाभिमन्यमानो भुङ्क्ते। तत्र कारणं गुणसङ्गः, गुणमयदेहेषु अस्यानासङ्गस्याप्यात्मनः सङ्गोऽविद्याकल्पितः। क्व

भुङ्क्ते? इत्यपेक्षायामाह—सतीषु देवादियोनिषु असतीषु तिर्यगादियोनिषु शुभाशुभकर्मकृतासु यानि जन्मानि तेषु।। 22।।

भावानुवाद - अनादि अविद्याकृत 'अध्यास' द्वारा ही जीव कर्त्तृत्व - भोक्तृत्व आदि प्रकृति के धर्मों को अपना मानता है। इसी कारण से जीव का यह संसार है। जीव प्रकृति के कार्य 'देह' को ही अपना स्वरूप समझ बैठा है अर्थात् ऐसा समझ बैठा है कि मैं शरीर हूँ और प्रकृति से उत्पन्न अन्तःकरण के शोक–मोह इत्यादि गुणों को अपना मानकर अभिमानपूर्वक उनका भोग करता है। उसका कारण है 'गुणसङ्ग' अर्थात् गुणमय शरीर में आसक्ति। आत्मा का त्रिगुणमय देह में यह सङ्ग अविद्या–कल्पित है। कहाँ भोगता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि शुभ–अशुभ किये कर्मों के अनुसार देव– पशु– पक्षी आदि अच्छी–बुरी योनियों में सुख–दुःख भोग करता है॥ 22॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ 23॥

मर्मानुवाद - जीव मेरा सखा है। जब उसका तटस्थ–स्वभाव विशुद्धभाव में बदल जाता है, तब वह मेरी सन्मुखता प्राप्त करता है। उसका तटस्थ स्वभाव ही उसकी स्वाधीनता है। उसके द्वारा यदि वह मेरा विमल प्रेम प्राप्त करता है तभी जीव के धर्म की सार्थकता है, किन्तु जब वह अपनी इस स्वाधीनता के अपव्यवहार के कारण संसार में प्रवेश करता है, तब मैं भी परमात्मा रूप से उसका सहचर हो जाता हूँ। जीव के सभी कार्यों का साक्षी, अनुमोदन करने वाला धारक, पालक, महेश्वरस्वरूप में 'परमात्मा' नाम से परमपुरुष के रूप में सदा लक्षित होता हूँ। मायाबद्ध अवस्था में जीव जो भी कर्म करता है, सभी कर्मों का फल मैं प्रदान करता हूँ॥ 23॥

अन्वय - अस्मिन् देहे (इस देह में) परः (जीव से भिन्न) पुरुषः (पुरुष) उपद्रष्टा (जीव के साथ पृथक् अवस्थान करते हुए साक्षी) अनुमन्ता (अनुमोदनकारी) भर्त्ता (भरण–पोषण करने वाला) भोक्ता (पालक) महेश्वर (महेश्वर) अपि परमात्मा इति च उक्तः (और परमात्मा भी कहा जाता है)।

टीका—जीवात्मानमुक्त्वा परमात्मानमाह—उपद्रष्टेति। यद्यपि अनादि मत् परम् ब्रह्मेत्यादिना हृदि सर्वस्य धिष्टितमित्यनेन च सामान्यतो विशेषतश्च परमात्मा प्रोक्त एव, तदपि तस्य जीवात्मसाहित्येनापि पृथगेव स्पष्टतया

देहस्थत्वज्ञापनार्थमियमुक्तिर्ज्ञेया। अस्मिन् देहे परोऽन्यः पुरुषो यो महेश्वरः स परमात्मेति चाप्युक्तः, परमात्मेति च नाम्नाप्युक्तो भवतीत्यर्थः, अत्र परम-शब्द एकात्मवादपक्षे स्वांश इति द्योतनार्थः जीवस्य उप-समीपे पृथक् स्थित एव द्रष्टा साक्षी। अनुमन्तानुमोदनकर्त्ता सन्निधिमात्रेणानुग्राहकः- "साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुतेः। तथा भर्त्ता धारको भोक्ता पालकः।।23।।

भावानुवाद - जीवात्मा के सम्बन्ध में कहने के बाद अब परमात्मा के विषय में बता रहे हैं। यद्यपि 'अनादि मत्परं ब्रह्म' (गीता 13/13) से लेकर 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' (गीता 13/18) तक के श्लोंकों के द्वारा सामान्य और विशेष भाव से परमात्मा के ही विषय में कह चुके हैं, तथापि जीवात्मा के निकट रहकर भी उसकी पृथकता यहां स्पष्ट बताई गई है - इस देह में 'पर' अर्थात् अन्य 'पुरुषः' पुरुष महेश्वर हैं, वह परमात्मा हैं। 'परमात्मा' कहने से आत्मा से इनकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यहाँ 'परम' शब्द एकात्मवाद के पक्ष में स्वांश है, जीव के साथ एक नहीं है, इसे ही स्पष्ट करने के लिए कहते हैं, कि जीवके समीप पृथक् रहते हुए भी वे द्रष्टा अर्थात् साक्षी हैं। 'अनुमन्ता' अर्थात् अनुमोदनकर्त्ता हैं, जिसका तात्पर्य है कि निकट अवस्थान करते हुए ही वे अनुग्रह करने वाले हैं। गोपालतापनी में कहा गया है - 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' अर्थात् श्रुति उन्हें साक्षी चैतन्य, केवल निर्गुण कह कर जीव से उन का पार्थक्य निरूपण करती है। वे 'भर्त्ता' अर्थात् धारक एवं पालक हैं॥ 23॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ 24॥

मर्मानुवाद - जो इस प्रणाली से निर्गुण पुरुष के तत्त्व और सगुण प्रकृति के तत्त्व से अवगत हो जाता है वह जड़ जगत् के सम्पर्क में रहता हुआ भी बार-बार जन्म ग्रहण नहीं करता अर्थात् प्रत्यक् धर्म का आश्रय लेकर मेरी कृपा से मेरे परम धाम को प्राप्त होता है।। 24॥

अन्वय - यः (जो मनुष्य) एवं (इस प्रकार) पुरुषम् (परमात्मा को) गुणैःसह (सुख-दुःख आदि परिणाम के साथ) प्रकृतिं च (मायाशक्ति और जीव शक्ति को) वेत्ति (जानता है) सः (वह) सर्वथा (हर प्रकार से) वर्तमानः अपि (वर्तमान रहता हुआ भी) भूयः (पुनः) न अभिजायते (देह

धारण नहीं करता) ॥ 24 ॥

टीका—एतज्ज्ञानफलमाह—य इति। पुरुषं परमात्मानं प्रकृतिं मायाशक्तिं, च—कारात् जीवशक्तिञ्च सर्वथा वर्त्तमानोऽपि लयविक्षेपादि-पराभूतोऽपि।। 24।।

भावानुवाद - ज्ञानका फल कहते हैं - जो परमात्माको, मायाशक्ति को तथा जीवशक्ति ('च' कारसे जीव- शक्तिको भी समझना चाहिए) को जान लेते हैं, 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' यानि लय - विक्षेप द्वारा पराभूत होनेपर भी उनका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ 24 ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ 25 ॥

मर्मानुवाद - हे अर्जुन ! परमार्थ के सम्बन्ध में बद्ध जीव दो प्रकार के हैं - बहिर्मुख और अन्तर्मुख। नास्तिक, जड़वादी, सन्देहवादी, केवल नीतिवादी, जितने भी लोग हैं, ये सब प्रकार के लोग परमार्थ से बहिर्मुख कहे जाते हैं। नितान्त अभेदवाद परायण सांख्ययोगी भी परमार्थतः बहिर्मुख के अन्तर्गत ही आते हैं और दूसरी तरफ जो विश्वासयुक्त जिज्ञासु पुरुष, कर्मयोगी और भक्त हैं ये सभी अन्तर्मुख हैं। इन में भी भक्त ही सब से श्रेष्ठ है, क्योंकि वे प्रकृति के अतिरिक्त आत्मतत्त्व में चिदाश्रय द्वारा परमात्मा का ध्यान करते हैं। ईश्वर की खोज करने वाले सभी सांख्ययोगी भी इस दूसरी श्रेणी में ही आते हैं। वे लोग 24 तत्त्वों वाली प्रकृति की आलोचना करते हुए 25वें तत्त्व जीव को शुद्ध चित् स्वरूप जानकर 26वें तत्त्व, जो भगवान् हैं उनमें क्रमशः भक्तियोग का पालन करते हैं, कर्मयोगी सभी इनसे न्यूनतम श्रेणी में आते हैं। वे निष्काम कर्मयोग द्वारा भगवद् अलोचना का सुयोग प्राप्त करते हैं ॥ 25 ॥

अन्वय - केचित् (कोई) ध्यानेन (भगवान् के चिन्तन के द्वारा) आत्मनि (हृदय में अवस्थित) आत्मानम् (परमात्मा को) आत्मना (स्वयं ही) पश्यति (दर्शन करता है) अन्ये (अन्य कई) सांख्येन (आत्म अनात्म विवेक के द्वारा) अपरे (अन्य कोई-कोई) योगेन (अष्टांगयोग के द्वारा) कर्मयोगेन च (अथवा निष्काम कर्मयोग के द्वारा परमात्मा का दर्शन करता है) ॥ 25 ॥

टीका—अत्र साधन-विकल्पमाह—ध्यानेनेति द्वाभ्याम्—केचिद्भक्ता ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनै
मनस्यात्मना स्वयमेव नत्वन्येन केनाप्युपकारकेणेत्यर्थः। 'अन्ये' ज्ञानिनः सांख्यमात्मानात्मविवेकस्तेन 'अपरे' योगिनो योगेनाष्टांगेन कर्मयोगेन निष्कामकर्मणा च। अत्र सांख्याष्टाङ्गयोगनिष्कामकर्मयोगाः परमात्मदर्शने परस्परमेव हेतवो न तु साक्षाद्धेतवस्तेषां सात्त्विकत्वात् परमात्मनस्तु गुणातीतत्वात्। किञ्च, "ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्" इति भगवदुक्तेर्ज्ञानादि- संन्यासानन्तरमेव "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इत्युक्तेर्ज्ञानं विमुच्य तया भक्त्यै

भावानुवाद – इन दो श्लोकोंमें आत्मज्ञान के विभिन्न साधनोंके विषयमें बता रहें हैं । कई भक्त भगवान् के चिन्तन द्वारा ही भक्ति से मुझे जान लेते हैं। जैसा कि आगे कहा गया है 'भक्त्या मामभिजानाति' (गीता 18/15)। वे 'आत्मनि' अर्थात् मन में 'आत्मना' अर्थात् स्वयं ही बिना किसी दूसरे सहारे के, मुझे जान लेते हैं, किन्तु , अन्य किसी उपासक द्वारा मैं दर्शनीय नहीं हूँ। 'अन्ये' अर्थात् ज्ञानी लोग 'सांख्येन' अर्थात् आत्म-अनात्म विवेक द्वारा मुझे जान लेते हैं 'अपरे' अर्थात् योगिगण 'योगेन' अष्टाङ्गयोग द्वारा एवं कोई 'कर्मयोगेन'- कर्मयोगी निष्काम कर्मयोग द्वारा मेरे दर्शनों के लिये प्रयास करते हैं। यहाँ सांख्य, अष्टाङ्गयोग और निष्काम कर्मयोग परस्परभाव से परमात्मा के दर्शन के कारण हैं, साक्षात् कारण नहीं हैं। क्योंकि ये सब सात्त्विक हैं और परमात्मा गुणातीत है। श्रीमद्भागवत (11/19/1) में भी कहा गया है 'ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्' अर्थात् ज्ञान को मुझ में संन्यस्त कर दो। और भी कहा है कि 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (भा० 11/14/21) अर्थात् मैं ऐकान्तिकी भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता हूँ। भगवान् के इन कथनों से स्पष्ट है कि ज्ञान आदिका संन्यास कर ज्ञानशून्य भक्ति से ही साक्षात् दर्शन होता है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ 26 ॥

मर्मानुवाद – उनकी अपेक्षा न्यूनतम परलोक में विश्वास रखने वाले लोग इधर-उधर से ज्ञानसंग्रह करते हैं। साधुसंग और सद् चर्चा करने के कारण ही अन्त में ये लोग भी भक्ति प्राप्त करते हैं॥ 26 ॥

अन्वय - अन्ये तु (अन्य व्यक्ति) एवम् (इन सब उपायों को)

अजानन्तः (न जान कर) अन्येभ्यः (अन्य आचार्यों से) श्रुत्वा (सुनकर) उपासते (उपासना करते हैं) अपि (वे भी) श्रुतिपरायणाः (उन उपदेशों के श्रवण से श्रद्धालु होकर) मृत्युम् (नाशवान् संसार का) अतितरन्ति (अतिक्रमण कर जाते हैं)॥ 26॥

टीका—अन्य इतस्ततः कथा-श्रोतारः।। 26।।

भावानुवाद – 'अन्ये' का अर्थ है, जहाँ-तहाँ कथा श्रवण करने वाला।

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ 27॥

मर्मानुवाद – हे भारत कुल दीपक! स्थावर जंगम जो कुछ भी हैं सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न जानो॥ 27॥

अन्वय – भरतर्षभ! (हे भरत श्रेष्ठ!) यावत् किञ्चित् (जो कुछ भी) स्थावरजंगमम् (स्थावर जंगम) सत्त्वम् (प्राणी) संजायते (उत्पन्न होते हैं) तत् (उन्हें) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोगात् (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न) विद्धि (जानना)॥ 27॥

टीका—उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति यावदध्यायसमाप्तिः। यावदिति यत्प्रमाणकं निकृष्टमुत्कृष्टं वा सत्त्वं प्राणिमात्रम्।। 27।।

भावानुवाद – पहले वर्णित विषय का ही अध्याय की समाप्ति तक विस्तृतरूप से वर्णन करते हैं। निकृष्ट अथवा उत्कृष्ट प्राणि मात्र सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोगसे उत्पन्न होते हैं॥ 27॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 28॥

मर्मानुवाद – जो इस प्रकार दर्शन करता है कि परमात्मा रूप परमेश्वर सब भूतों में समानभाव से स्थित होते हुए भी उन विनाशशील वस्तुओं के विनाशधर्म को स्वीकार नहीं करते, वही उनके तत्त्व को जान सकता है ॥28॥

अन्वय – सर्वेषु भूतेषु (ब्रह्मादि से स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों में) समम् (एक रूप में) तिष्ठन्तम् (अवस्थित) विनश्यत्सु (सब पदार्थ नाश होने पर भी) अविनश्यन्तम् (अविनाशी) परमेश्वरम् (परमेश्वर का) यः

(जो) पश्यति (दर्शन करते हैं) सः (वे) पश्यति (यथार्थ द्रष्टा हैं) ॥ 28 ॥

टीका—परमात्मानं त्वेवं जानीयादित्याह—सममिति। विनश्यत्स्वपि देहेषु यः पश्यति स एव ज्ञानीत्यर्थः।। 28।।

भावानुवाद – जो परमात्मा को विनाशशील देह में समभाव से स्थित देखते हैं, वही ज्ञानी हैं ॥ 28 ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ 29 ॥

मर्मानुवाद – प्रकृति के धर्म को अंगीकार करने के कारण ही तमाम बद्ध जीवों के अवस्थान में पार्थक्य हुआ है। उनमें से जो विवेक द्वारा सब प्राणियों में स्थित मेरे ईश्वरभाव को सर्वत्र समान समझते हैं, वे अपने कुपथ गामिमन के द्वारा अपनी जैवसत्ता का पतन नहीं होने देते ॥ 29 ॥

अन्वय – हि (क्योंकि) [वे] सर्वत्र (प्राणिमात्र में) समम् (समान भाव से) समवस्थितम् (अवस्थित) ईश्वरम् (ईश्वर को) पश्यन् (देखकर) आत्मना (कुपथगामिमन के द्वारा) आत्मानम् (अपने आप को) न हिनस्ति (अधः पतित नहीं करते) ततः (इसी कारण) परां गतिम् (उत्तमा गति) याति (प्राप्त करते हैं) ॥ 29 ॥

टीका—आत्मना मनसा कुपथगामिनात्मानं जीवं न हिनस्ति नाधःपातयति।। 29।।

भावानुवाद – 'आत्मना' अर्थात् कुपथगामी मन द्वारा 'आत्मानं'– स्वयं को 'न हिनस्ति'– अधःपतित नहीं होने देते ॥ 29 ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ 30 ॥

मर्मानुवाद – देह इन्द्रियादि के रूप में परिणता प्रकृति ही समस्त कर्म कर रही है किन्तु शुद्धात्मस्वरूप मैं कुछ नहीं करता। इस प्रकार जानने वाले समस्त कर्मों में अपने को अकर्त्ता देखते हैं ॥ 30 ॥

अन्वय – यः (जो) सर्वशः (समस्त) कर्माणि (कर्मों को) प्रकृत्या एव [ईश्वर प्रेरिता और मेरे द्वारा अधिष्ठित प्रकृति द्वारा] क्रियमाणानि (होता देख) आत्मानम् (आत्मा को) अकर्तारम् (अकर्ता) पश्यति (देखते हैं) सः

(वे ही) पश्यति (यथार्थ देखते हैं) ॥ 30 ॥

टीका—प्रकृत्यै
जीवं देहाभिमानेनै

भावानुवाद – 'प्रकृत्यैव' अर्थात् देह और इन्द्रियों के रूपमें परिणत प्रकृति ही सभी कार्य करती है। जो जीव देहमें आत्मबुद्धि होने के कारण अपने को कर्ता समझता है, वह गलत दर्शन करता है, किन्तु जो यह देखता है कि कर्म करनेवाला 'मैं नहीं हूँ', वही ठीक देखता है ॥ 30 ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ 31 ॥

मर्मानुवाद – जब विवेकी पुरुष स्थावरजंगमात्मक सभी प्राणियों के आकारगत पार्थक्य को प्रलय के समय एक मात्र प्रकृति में ही अवस्थित एवं सृष्टि के समय उसी एक प्रकृति से ही उत्पन्न जानते हैं । तब वह प्रकृतिगतभेद बुद्धिरहित हो जाते हैं। उस समय वे शुद्ध चित्‌तत्त्व में निष्ठा युक्त हो जाने से ब्रह्म के साथ चिदाकार सम्बन्ध में ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं। यह अभेद–बुद्धि प्राप्त कर जीव परमात्मा का किस रूप में दर्शन करते हैं उसे आगे कहता हूँ॥ 31 ॥

अन्वय – यदा (जब वे) भूतपृथग्भावम् (स्थावर जंगम प्राणियों के उन आकृतिगत अलग–अलग भावों को) एकस्थम् [प्रलय काल में एकमात्र प्रकृति में स्थित] ततः एव च (एवं सृष्टिकाल में उसी प्रकृति से ही सभी प्राणियों की) विस्तारम् (उत्पत्ति) अनुपश्यति (देखते हैं) तदा (तब) ब्रह्म सम्पद्यते (ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं) ॥ 31 ॥

टीका—यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथक् भावः तत्तदाकारगतं पार्थक्यमेकस्थमेकस्यां प्रकृतावेव स्थितं प्रलयकाले अनुपश्यत्यालोचयति। ततः प्रकृतेः सकाशादेव भूतानां विस्तारं सृष्टिसमयेऽनुपश्यति तदा ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मै

भावानुवाद – जब स्थावर–जङ्गमादि के आकारगत भेद होने पर भी उन्हें प्रलय काल में एक ही प्रकृति में अवस्थित देखते हैं तथा सृष्टिकाल में उन्हें प्रकृति से ही विस्तारित समझते हैं, वे 'ब्रह्म सम्पद्यते' –ब्रह्म जैसे ही हो जाते हैं ॥ 31 ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥32॥

मर्मानुवाद – ब्रह्मसम्पन्न जीव तब यह देख पाता है कि परमात्मा अव्यय, अनादि और निर्गुण हैं, वे इस शरीर में जीवात्मा के साथ रहते हुये भी बद्धजीव की तरह क्षेत्रधर्म में लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार ब्रह्म सम्पन्न जीव भी क्षेत्रधर्म में लिप्त नहीं होते। लिप्त न होकर भी जीव किस प्रकार शारीरिक व्यवहार करता है? उसे सुनो॥ 32॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कोन्तेय) अनादित्वात् (अनादि होने से) निर्गुण त्वात् (गुण और सम्बन्धरहित होनें के कारण) अयम् (इस) अव्ययः (अव्यय) परमात्मा (परमात्मा) शरीरस्थः अपि (शरीर में रहते हुए भी) न करोति (कुछ नहीं करते) न लिप्यते (अर्थात् लिप्त नहीं होते)॥ 32॥

टीका—ननु "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" इत्युक्तम्। तत्र देहगतत्वेन तुल्यत्वेऽपि जीवात्मै
इत्यत आह—अनादित्वादिति। न विद्यते आदिः कारणं यतः स अनादिः—यथा पञ्चम्यन्तपदार्थेन 'अनुत्तम' शब्देन परमोत्तम उच्यते, तथै
परमकारणमुच्यते। ततश्चानादित्वात् परमकारणत्वात्– निर्गुणत्वान्निर्गता गुणाः सृष्ट्यादयो यतस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्च जीवात्मनो विलक्षणोऽयं परमात्मा। अव्ययः सर्वदै
तद्धर्माग्रहणान्न करोति, जीववन्न कर्त्ता न भोक्ता च भवति न च लिप्यते शरीरगुणलिप्तश्च न भवति।। 32।।

भावानुवाद – श्रीभगवान् ने कहा – हे अर्जुन! 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु' अर्थात् गुणों की आसक्ति के कारण जीव का अच्छी बुरी योनियों में जन्म होता है (13/22)। ऐसा अभी मैंने कहा है यहाँ यदि प्रश्न हो कि जीवात्मा और परमात्मा समानरूप से एक ही देह में रहते हैं किन्तु फिर भी जीवात्मा ही गुणलिप्त होकर संसार-दशाको प्राप्त होता है, परमात्मा नहीं। ऐसा क्यों? तो इसका उत्तर है 'अनादित्वात्' – परमात्मा का कोई आदि कारण है ही नहीं, वह अनादि हैं। सब के कारण तो वही हैं, फिर उस पर भी 'निर्गुणत्वात्' – सृष्टि आदि सभी गुण उन्हीं से निकले हैं। यही कारण है कि परमात्मा आत्मा से विलक्षण हैं । वह अव्यय हैं अर्थात्

वह सर्वदा सभी प्रकार के अपने ज्ञान और आनन्द आदि के व्यय से रहित हैं। शरीर में स्थित होकर भी शरीर के धर्म को ग्रहण नहीं करते हैं इसलिए 'न करोति' अर्थात् जीव की तरह न तो कर्ता हैं न भोक्ता इसलिए 'न च लिप्यते' अर्थात् शरीरके गुणों से लिप्त नहीं होते । जिस प्रकार पञ्चम्यन्त पदार्थके साथ अनुत्तमका प्रयोग होने पर उसका अर्थ होता है,– परमोत्तम, इसी प्रकार यहाँ 'अनादि' शब्द का तात्पर्य है– परमकारण॥ 32॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ 33॥

मर्मानुवाद – सूक्ष्म होने के कारण आकाश जिस प्रकार हर जगह विद्यमान होने पर भी किसी वस्तु में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विवेकी ब्रह्मसम्पन्नजीव परमात्मा के धर्म का अनुकरण करने के कारण सब शरीरों में रहते हुए भी देह धर्म में लिप्त नहीं होता ॥ 33॥

अन्वय – यथा (जिस प्रकार) सर्वगतम् (हर जगह विद्यमान) आकाशम् (आकाश) सौक्ष्म्यात् (असंगत्व के कारण) न उपलिप्यते(उपलिप्त नहीं होता) तथा (उसी प्रकार) सर्वत्र (सब) देहे (देहों में) अवस्थितः (अवस्थित) आत्मा (आत्मा) न उपलिप्यते (उनमें लिप्त नहीं होता)।

टीका—अथ दृष्टान्तमाह—यथा सर्वत्र पङ्कादिष्वपि स्थितमप्याकाशं सौ
युज्यत इत्यर्थः।। 33।।

भावानुवाद – दृष्टान्त दे रहे हैं –'यथा सर्वत्र' अर्थात् जिस प्रकार कीचड़ इत्यादि सभी पदार्थों में स्थित आकाश असङ्गवश कीचड़ से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार परमात्मा देह से सम्बन्धितगुण – दोषसे निर्लिप्त रहते हैं॥ 33॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ 34॥

मर्मानुवाद – हे भारत! एक सूर्य जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है। क्षेत्री आत्मा भी उसी प्रकार सारे क्षेत्र को प्रकाशित करता है॥ 34॥

अन्वय – भारत (हे भारत) यथा (जैसे) एकः (एक) सूर्यः (सूर्य)

इमम् (इस) कृत्स्नम् (समग्र) लोकम् (जगत् को) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है) तथा (उसी प्रकार) क्षेत्री (परमात्मा) कृत्स्नम् (समग्र) क्षेत्रम् (क्षेत्र को) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है)।

टीका—प्रकाशकत्वात् प्रकाश्यधर्मै
रविर्यथा प्रकाशकः प्रकाश्यधर्मै
सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै
लिप्यते शोकदुःखेन बाह्यः।।" इति श्रुतेः।। 34।।

भावानुवाद - प्रकाशित करने वाला प्रकाशित होने वाली वस्तुओं से लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, किन्तु प्रकाशित होने वाली वस्तु के धर्म से युक्त नहीं होता , उसी प्रकार 'क्षेत्री' - परमात्मा भी क्षेत्र शरीर के धर्म से युक्त नहीं होता। कठोपनिषद् में भी कहा है- 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः'। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। (कठ. 2 /2 /11) अर्थात्, जिस प्रकार सूर्य सब के चक्षुस्वरूप होकर भी किसी के चक्षु के भीतरी या बाह्य दोषसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार एक ही परमात्मा सर्वभूतों में अविस्थत होकर भी लोगोंके सुख-दुःख से सदा परे हैं॥ 34॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥35॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

मर्मानुवाद - जड़ प्रकृति के सारे कार्य ही क्षेत्र हैं और परमात्मा और आत्मा दोनों ही क्षेत्रज्ञ हैं जो इस अध्याय में लिखित प्रणाली के अनुसार ज्ञान चक्षुओं द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में भेद को जानता है, एवं सभी प्राणियों की जड़निष्ठ प्रवृत्ति से मोक्ष का उपाय जानता है, वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञद्वय जीवात्मा और भगवान् के तत्त्व से अनायास ही अवगत हो जाता है।॥35॥

तेरहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - ये (जो) एव (इस प्रकार) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (क्षेत्र सहित क्षेत्रज्ञ दोनों के) अन्तरम् (भेद को) भूतप्रकृतिमोक्षं च (एवं प्राणियों के प्रकृति से मोक्ष के उपाय को) ज्ञानचक्षुषा (ज्ञान चक्षुओं के द्वारा) विदुः (जानते हैं)

ते (वे) परम (परमपद को) यान्ति (प्राप्त करते हैं)॥ 35॥

टीका—अध्यायार्थमुपसंहरति—क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयोर्जीवात्म-परमात्मनोर्यथा भूतानां प्राणिनां प्रकृतेः सकाशान्मोक्षं मोक्षोपायं ध्यानादिकञ्च ये विदुस्ते परं पदं यान्ति।। 35।।

द्वयोः क्षेत्रज्ञयोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रधर्मभाक्।
वध्यते मुच्यते ज्ञानादित्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
त्रयोदशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद - यहाँ अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि जो क्षेत्र के साथ-साथ 'क्षेत्रज्ञयो:' जीवात्मा और परमात्मा को भी जानते हैं तथा प्रकृति से प्राणियों के मोक्ष के उपाय ध्यानादि के विषय में जानते हैं, वे परमपद को प्राप्त करते हैं।

आत्मा और परमात्मा दोनों क्षेत्रज्ञों में से केवल शरीर भोगी जीवात्मा बन्धन में बँधता है और ज्ञान के उदय होने से मुक्त होता है। यही इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है॥ 35॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

तेरहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त

चौदहवाँ अध्याय

गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवानुवाच–

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥1 ॥

मर्मानुवाद – श्रीभगवान् ने कहा – सप्तम से द्वादश अध्याय तक परमतत्त्व से सम्बन्धित विषय में सब कुछ कहा है। ज्ञान के द्वारा वह भगवत् तत्त्वरूपी उत्तम ज्ञान जिस प्रकार प्राप्त होता है वह मैं पुनः कह रहा हूँ, जिसे जानने के बाद ज्ञाननिष्ठ सनकादि मुनियों ने परासिद्धिरूपा भक्ति प्राप्त की थी ।

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) ज्ञानानाम् [तपस्या इत्यादि] (ज्ञान साधनों में से) परम् (अति) उत्तमम् (उत्तम) ज्ञानम् (उपदेश) भूयः (पुनः) वक्ष्यामि (कहूंगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) सर्वे मुनयः (सभी मुनियों ने) इतः (इस देहबन्धन से) परां सिद्धिम् (मोक्ष) गताः (प्राप्त किया है)

टीका — गुणाः स्युर्बन्धकास्ते तु फलै
गुणात्यये चिह्नतिर्हेतुर्भक्तिश्च वर्णिता।।

पूर्वाध्याये ''कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'' इत्युक्तम्। तत्र के गुणाः, कीदृशो गुणसङ्गः, कस्य गुणस्य सङ्गात् किं फलं स्यात्, गुणयुक्तस्य किं किं वा लक्षणम्, कथं वा गुणेभ्यो मोचनमित्यपेक्षायां वक्ष्यमाणमर्थं स्तुवानो वक्तुं प्रतिजानीते—परमिति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं परमत्युत्तमम्।।1।।

भावानुवाद – मायाके तीनों गुण ही बाँधने वाले हैं, ऐसा उनके फल से ही अनुमान होता है। भक्ति इनके विनाश का कारण है, यही इस अध्याय में वर्णित हुआ है ।

पिछले अध्याय (गीता 13/22) में गुणों में आसक्ति को ही जीवके योनियों में भ्रमण करने का कारण बताया गया है। वह गुण कौनसे हैं, गुणसंग किस प्रकार का है, किस गुण के संग का क्या फल है, गुणों से बँधे हुए व्यक्ति के क्या लक्षण हैं, और इन गुणों से मुक्ति किस प्रकार होगी? इन विषयों को लेकर प्रस्ताव द्वारा आगे कहने योग्य उपदेश की प्रतिज्ञा करते हैं। 'ज्ञानम्' – जिसके द्वारा जाना जाता है अर्थात् उपदेश । 'परम्' का अर्थ है अति उत्तम।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।2।।

मर्मानुवाद – ज्ञान साधारणतः 'सगुण' होता है जबकि निर्गुण ज्ञान को 'उत्तम ज्ञान' कहा जाता है। उस निर्गुण ज्ञान का आश्रय लेने पर जीव मेरे समान गुण और मेरे जैसे रूप को प्राप्त कर लेता है। माया में फंसे जड़बुद्धि व्यक्ति ये समझते हैं कि प्राकृतिक धर्म, प्राकृतिक रूप और प्राकृतिक

अवस्था का परित्याग करने के पश्चात् जीव, धर्म, रूप और अवस्था शून्य हो जाता है। वे यह नहीं जानते कि जड़ जगत् में जिस प्रकार 'विशेष' नामक धर्म द्वारा तमाम वस्तुओं का पार्थक्य है ,उसी प्रकार इस जड़ प्रकृति से अतीत मेरा जो वैकुण्ठ धाम है वहां भी एक विशुद्ध 'विशेष धर्म' है । उसी विशेष के द्वारा वहां अप्राकृत धर्म, रूप और अवस्था नित्य व्यवस्थापित है। उसे मेरा निर्गुण साधर्म्य कहते हैं। निर्गुण ज्ञान द्वारा पहले सगुण जगत् का अतिक्रमण करते हुए निर्गुण ब्रह्म प्राप्त होता है, तत्पश्चात् सभी अप्राकृत गुण प्रकट होते हैं। ऐसा होने पर सृष्टि के समय जीव फिर कभी जड़-जगत् में जन्म नहीं लेता एवं प्रलय में आत्म विनाशरूप व्यथा से व्यथित नहीं होता।

अन्वय - इदम् (इस) ज्ञानम् (ज्ञान का) उपाश्रित्य (आश्रय कर) मम (मेरे) साधर्म्यम् (समान गुणों को) आगताः (प्राप्त हो कर) सर्गे अपि (सृष्टिकाल में भी) न उपजायन्ते (उत्पन्न नहीं होते) प्रलये (और न ही प्रलय काल में) न व्यथन्ति च (मृत्यु यन्त्रणा को प्राप्त नहीं होते) ॥2॥

टीका—साधर्म्यं सारूप्यलक्षणां मुक्तिम्, न व्यथन्ति न व्यथन्ते।।2।।

भावानुवाद - 'साधर्म्य' का अर्थ है - सारूप्य लक्षणा मुक्ति, इस में जीव के बहुत से गुण भगवान् के समान ही हो जाते हैं। 'न व्यथन्ति' अर्थात् वे व्यथित नहीं होते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥3॥

मर्मानुवाद - जड़ प्रकृति का मूल तत्त्व ही इस जगत् की मातृयोनि है। मैं उस जगत् योनि प्रकृति जिसे श्रुतियों में कहीं-कहीं ब्रह्म भी कहा गया है उसमें गर्भाधान करता हूँ, उसी से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है। मेरी परा प्रकृति का जड़ प्रभाव ही यह ब्रह्म है। उसी में तटस्थ- प्रभावरूप जीव स्थापन करता हूँ , उसी से ही ब्रह्मादि सब जीवों का जन्म होता है।

अन्वय - भारत (हे भारत) महत् (देश काल के प्रभाव से रहित) ब्रह्म (त्रिगुणात्मिका प्रकृति में) मम (मैं) योनिः (गर्भाधान के स्थान योनि) तस्मिन् (में) गर्भम् (चेतन पुंज रूपी बीज) दधामि (अर्पण करता हूँ) ततः

(उससे) सर्वभूतानाम् (सब प्राणियों की) सम्भवःभवति (उत्पत्ति होती है)॥ 3॥

टीका — अथानाद्यविद्याकृतस्य गुणसङ्गस्य बन्धहेतुताप्रकारं वक्तुं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः सम्भवप्रकारमाह— मम परमेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानं महद्ब्रह्म देशकालानवच्छिन्नत्वात् महत्, बृंहणात् कार्यरूपेण वृद्धेर्हेतोर्ब्रह्म प्रकृतिरित्यर्थः। श्रुतावपि क्वचित् प्रकृतिर्ब्रह्मेति निर्दिश्यते। तस्मिन्नहं गर्भं दधाम्यादधामि। ''इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूताम्'' इत्यनेन चेतनपुञ्जरूपा या जीव-प्रकृतिस्तटस्थशक्तिरूपा निर्दिष्टा, सा सकलप्राणिजीवतया गर्भशब्देनोच्यते, ततो मत्कृतात् गर्भाधानात् सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां सम्भवः उत्पत्तिः।।3।।

भावानुवाद - अनादि अविद्याकृत त्रिगुणों का संग किस प्रकार बन्धनका कारण होता है? इसे बताने के लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की उत्पत्ति के विषय में कह रहे हैं - महत् - ब्रह्म मुझ परमेश्वर के गर्भाधान का स्थान है। देश और कालके द्वारा जिसकी सीमा निर्धारित न की जा सके, वही 'महत्' है एवं वही कार्यरूप में वृद्धिहेतु प्रकृति योनि है। श्रुति में भी कहीं-कहीं प्रकृति को ब्रह्म कहा गया है। उस प्रकृति में मैं गर्भाधान करता हूँ। ''इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में परां जीवभूताम्''- (गीता 7/5) इस श्लोक में चेतनपुंजरूप जीवशक्ति को तटस्था शक्ति के रूप में कहा गया है । वही सभी प्राणियों का जीवन है , जिसे गर्भ शब्द से कहा गया है। मेरे द्वारा किए हुए गर्भाधान से ब्रह्मादि जीवों की उत्पत्ति होती है॥ 3॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥4॥

मर्मानुवाद - देवतिर्यग् आदि सभी योनियों में जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, ब्रह्मरूप योनि ही उन सबकी माता एवं चैतन्य स्वरूप मैं ही उन सब का बीजप्रद पिता हूँ॥ 4॥

अन्वय - कौन्तेय (हे कौन्तेय) सर्वयोनिषु (सब योनियों में) यतः (जो सब) मूर्तयः (शरीर) सम्भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) तासाम् (उनकी) महत् ब्रह्म (प्रकृति) योनिः (जन्म देने के कारण माता) अहम् (मैं) बीजप्रदः

(गर्भाधान कर्ता) पिता (पिता हूँ) ॥4॥

टीका — न केवलं सृष्ट्युत्पत्तिसमय एव सर्वभूतानां प्रकृतिर्माता अहं पिता, अपि तु सर्वदै
जङ्गमस्थावरात्मिका उत्पद्यन्ते, तासां मूर्त्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः—योनिरुत्पत्तिस्थानं माता, अहं—बीजप्रदः गर्भाधानकर्त्ता पिता।।4।।

भावानुवाद - भगवान् अर्जुन से कहते हैं - ऐसा नहीं है कि मात्र सृष्टिके समय ही प्रकृति सभी भूतों की माता तथा मैं पिता हूँ, अपितु सर्वदा ही प्रकृति माता है एवं मैं पिता हूँ। देवताओंसे लेकर घास-पौधों तक तमाम योनियों में जो स्थावर-जङ्गम शरीर उत्पन्न होते हैं। महत् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति ही उन सबकी 'योनि' अर्थात् उत्पत्ति स्थान माता और मैं बीजप्रद अर्थात् गर्भाधान करने वाला पिता हूँ॥ 4॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ 5॥

मर्मानुवाद - जड़ जगत् की उत्पत्ति करने वाली प्रकृति से सत्त्व, रजस और तमस ये तीनों गुण निःसृत होते हैं। तटस्था शक्ति से जो तमाम जीव जड़ प्रकृति के गर्भ से उत्पन्न होते हैं उन अव्यय चित्स्वरूप जीवों को देही रूप से प्राप्त कर उपरोक्त तीन गुण ही बाँधते हैं ॥ 5॥

अन्वय - महाबाहो (हे महाबाहो) प्रकृतिसम्भवाः (प्रकृति से उत्पन्न) सत्त्वं रजस्तमः इति (सत्त्व, रजस, तमस ये) गुणाः (तीनों गुण) देह (शरीर में) [अवस्थित] अव्ययम् (निर्विकार) देहिनम् (जीवात्मा को) निबध्नन्ति (सुख-दुःख मोहादि द्वारा बाँधते हैं)।

टीका — तदेवं प्रकृतिपुरुषाभ्यां सर्वभूतोत्पत्तिं निरूप्य इदानीं के गुणा उच्यन्ते? तेषु सङ्गात् जीवस्य कीदृशो बन्ध इत्यपेक्षायामाह—सत्त्वमिति। देहे प्रकृतिकार्ये गुणाः तादात्म्येन स्थितं देहिनं जीवं वस्तुतोऽव्ययं निर्विकारमसङ्गिनमप्यनाद्यविद्यया कृताद्गुणसङ्गादेव हेतोर्गुणा निबध्नन्ति।।5।।

भावानुवाद - प्रकृति और पुरुषसे सभी जीवोंकी उत्पत्ति का निरूपण करने के बाद अब बता रहे हैं कि वे गुण क्या हैं? उनके सङ्ग से जीव कैसे

बँधता है? अर्जुन से इन प्रश्नों की अपेक्षा कर उनके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं, कि जीव अपने आप को शरीर मान बैठता है और प्रकृति के गुणों से किये कर्मों को अपने द्वारा किया हुआ मानता है, इसलिए गुणों में बँधता है। वास्तविकता में तो यह जीव अव्यय निर्विकार और निर्लिप्त है, फिर भी अनादि अविद्यावश किये त्रिगुणों के संङ्ग के कारण गुणों द्वारा बँध जाता है।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥6॥

मर्मानुवाद - प्रकृति का सत्त्वगुण - अन्य दोनों गुणों की अपेक्षा निर्मल, प्रकाशकारी और पापशून्य है। सत्त्व गुण ही चैतन्यस्वरूप जीव को ज्ञान और सुख के संग से बाँधता है॥ 6॥

अन्वय - अनघ (हे निष्पाप) तत्र (उन गुणों में से) निर्मलत्वात् (स्वच्छता के कारण) प्रकाशकम् (प्रकाशक) अनामयम् (और शान्त) सत्त्वम् (सत्त्व गुण) सुखसंगेन (सुख आसक्ति) ज्ञानसंगेन च (ज्ञानशक्ति द्वारा) बध्नाति (जीव को बाँधता है)।

टीका — तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्वप्रकारञ्चाह—तत्रेति अनामयं निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः, शान्तत्वात् स्वकार्येण सुखेन यः सङ्गः प्रकाशकत्वात् स्वकार्येण ज्ञानेन च यः सङ्गः 'अहं सुखी, अहं ज्ञानी' चेत्युपाधिधर्मयोरपि सुखज्ञानयोरविद्यये
अनघेति—त्वन्तु 'अहं सुखी, अहं ज्ञानी' इत्यभिमानलक्षणमघं मा स्वीकुर्विति भावः।।6।।

भावानुवाद - उपरोक्त तीनों गुणों में से सत्त्वगुण के क्या लक्षण हैं और वह जीव को किस प्रकार बाँधता है? यह बता रहे हैं-सत्त्वगुण 'अनामयम्' अर्थात् उपद्रवरहित या शान्त। शान्त होने कारण उत्पन्न सुख तथा प्रकाशक होने से स्वकार्य ज्ञान के साथ जीव को बाँधता है। मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ इस प्रकार के सुख और ज्ञान के औपाधिक धर्मों में जीव का अभिमान उत्पन्न होता है। यही अभिमान उसे बाँध लेता है। किन्तु 'हे अनघ!' - इस सम्बोधन से यह अभिप्राय है कि तुम निष्पाप हो। इस लिए तुम 'मैं सुखी

हूँ', मैं ज्ञानी हूँ –ऐसे अभिमान लक्षण वाले पाप को स्वीकार मत करना।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ 7॥

मर्मानुवाद – रजोगुण को विषयों की तृष्णा और विषयासक्ति से उत्पन्न अभिलाषात्मक धर्म जानो। हे कौन्तेय! रजोगुण ही देही को कर्मों की आसक्ति से बाँधता है॥ 7॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कौन्तेय) रजः (रजोगुण को) रागात्मकम् (अनुरागस्वरूप) तृष्णासंगसमुद्भवम् (अभिलाषा और राग उत्पन्न करने वाला) विद्धि (जानो) कर्मसंगेन (कर्मासक्ति द्वारा) देहिनम् (जीव को) निबध्नाति(बाँधता है) ॥ 7॥

टीका — रजोगुणं रागात्मकमनुरञ्जनरूपं विद्धि। 'तृष्णा' अप्राप्तेऽर्थे अभिलाषः,'सङ्गः 'प्राप्तेऽर्थे आसक्तिः, तयोः समुद्भवो यस्मात् तद्रजः देहिनं दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गेनासक्त्या बध्नाति तृष्णासङ्गाभ्यां कर्मस्वासक्तिर्भवति।।7।।

भावानुवाद – रजोगुण को रागात्मक अर्थात् सांसारिक आनन्द उत्पादन करने वाला जानो। अप्राप्त विषयों को प्राप्ति की अभिलाषा को तृष्णा कहते हैं, और प्राप्त विषयों में आसक्ति को सङ्ग कहते हैं। इन दोनों से उत्पन्न रजोगुण ही जीवात्मा को कर्मों की आसक्ति द्वारा बाँधता है, तृष्णा और सङ्ग द्वारा ही कर्मों में आसक्ति होती है॥ 7॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ 8॥

मर्मानुवाद – तमाम देहधारी जीवों को मोहित करने वाले अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा जीव को बाँधता है।

अन्वय – भारत (हे भारत) तमः (तमोगुण) अज्ञानजम् (अज्ञान से उत्पन्न है) सर्वदेहिनाम् (सब प्राणियों को) मोहनम् (भ्रान्ति में डालने वाला) विद्धि (जानना) तत् (वह जीव को) प्रमादालस्यनिद्राभिः (प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा) निबध्नाति (बांधता है)।

टीका — अज्ञानजमज्ञानात् स्वीयफलात् जातं प्रतीतमनुमितं भवतीत्यज्ञानजमज्ञानजनकमित्यर्थः। 'मोहनं' भ्रान्तिजनकम्, 'प्रमादः' अनवधानम् 'आलस्यम्' अनुद्यमो, 'निद्रा' चित्तस्यावसादः।।8।।

भावानुवाद – 'अज्ञानजम्' – अज्ञान से ही तमोगुण का अनुमान होता है, यह तमोगुण अज्ञान को जन्म देने वाला है। 'मोहनम्' का अर्थ है भ्रान्तिजनक। 'प्रमादः' का अर्थ है अनमने मन से। 'आलस्यम्' का अर्थ है उद्यमहीनता। 'निद्रा' – का अर्थ है चित्त की शिथिलता – ये सब तमोगुण के लक्षण हैं ॥ 8 ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ 9 ॥

ममानुवाद – सत्त्वगुण जीव को 'सुख' देकर बांधता है, रजोगुण जीव को कर्म से बांधता है एवं तमोगुण प्रमाद से बांधता है॥ 9 ॥

अन्वय – भारत (हे भारत) सत्त्वम् (सतोगुण) [जीव को] सुखे (सुख में) सञ्जयति (आसक्त करता है) रजः (रजोगुण) कर्मणि (कर्म में) [आसक्त करता है] उत (एवं) तमः तु (तमोगुण) ज्ञानम् (ज्ञान को) आवृत्य (ढक कर) प्रमादे (कर्तव्य को न करने में) सञ्जयति (आसक्त करता है)॥ 9 ॥

टीका — उक्तमेवार्थं संक्षेपेण पुनर्दर्शयति—सत्त्वं कर्त्तृसुखे स्वीयफले आसक्तं जीवं 'सञ्जयति' वशीकरोति निबध्नातीत्यर्थः, 'रजः' कर्त्तृकर्मणि आसक्तं जीवं बध्नाति, 'तमः' कर्त्तृप्रमादेऽभिरतं तं ज्ञानमावृत्य अज्ञानमुत्पाद्येत्यर्थः।।9।।

भावानुवाद – उपरोक्त अर्थों को ही पुनः संक्षेप में कह रहे हैं – सत्त्वगुण अपने फल–सुखमें जीव को वश में करता या बाँधता है। रजोगुण कर्म में बाँधता है और तमोगुण ज्ञान को ढक, अज्ञान को पैदा कर जीव को प्रमाद में बाँधता है॥ 9 ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥10॥

मर्मानुवाद - जहां सत्त्वगुण प्रबल होता है, वहां रजः और तमः दोनों गुण पराजित हो जाते हैं। जहाँ रजोगुण प्रबल होता है वहां सत्त्व और तमोगुण दब जाते हैं एवं जहां तमोगुण प्रबल होता है वहां सत्त्व और रजोगुण दब जाते हैं। इस प्रकार सभी गुणों की पृथक्-पृथक् स्थिति और परस्पर सम्बन्ध की स्थिति को जानना होगा॥ 10॥

अन्वय - भारत (हे भारत) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) रजः तमः च (रजोगुण और तमोगुण को) अभिभूय (परास्त करके) भवति (प्रधान बनता है) रजः (रजोगुण) सत्त्वं तमः च (सत्त्व और तमोगुण को) तथा (एवं) तमः (तमोगुण) सत्त्वं रजः (सत्त्व और रजोगुण को परास्त कर) भवति (प्रकट होता है) ॥10॥

टीका — उक्तं स्व-स्वकार्यं सुखादिकं प्रति गुणाः कथं प्रभवन्तीत्य-पेक्षायामाह—रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवति—अदृष्टवशादुद्भवति, एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति तमोऽपि सत्त्वं रजश्चोभावपि गुणावभिभूयोद्भवति।।10।।

भावानुवाद - पूर्वकथित तीनों गुण अपने-अपने सुखादि कार्यों पर किस प्रकार प्रभाव का विस्तार करते हैं? इस के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं - सत्त्वगुण रजः और तमः गुणोंको पराजित कर भाग्यफलसे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रजोगुण भी सात्त्विक और तामसिक गुण को पराभूत करके भाग्यफल से उत्पन्न होता है,और तमोगुण सत्त्व और रजोगुण को पराजित कर प्रकट होता है॥10॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥11॥

मर्मानुवाद - सत्त्वगुण के बढ़ने से इस जड़ शरीर के इन्द्रियरूपी सभी द्वारों में प्रकाश-गुण वृद्धि को प्राप्त होता है,अर्थात् वेदादि शब्दों का यथार्थ ज्ञान होने लगता है वही ऐन्द्रिय ज्ञान है॥11॥

अन्वय - यदा (जब) अस्मिन् देहे (इस देह में) सर्वद्वारेषु (सभी ज्ञानेन्द्रियों में शब्दादि का यथार्थ प्रकाशरूप) ज्ञानम् (ज्ञान) उपजायते (उत्पन्न होता है) तदा (तब) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) विवृद्धम् (बढ़ा हुआ) विद्यात् (जानना) उत (एव) (आत्मा से उत्पन्न सुखात्मक प्रकाश जब उत्पन्न हो तब भी यही जानना) ॥11॥

टीका — वर्द्धमानो गुण एव स्वापेक्षया क्षीणावितरौ गुणावभिभवतीत्युक्तम्। अतस्तेषां वृद्धिलिङ्गान्याह—सर्वेति त्रिभिः। सर्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा प्रकाशः स्यात्, कीदृशः? ज्ञानं वै
तदा तादृशज्ञानलिङ्गेनै
उत-शब्दादात्मोत्थसुखात्मकः प्रकाशश्च यदेति।।11।।

भावानुवाद - यह कहा जा चुका है कि वृद्धिप्राप्त गुण ही अपने से कमजोर अन्य दोनों गुणों को पराजित करता है। अभी तीन श्लोकोंमें उनकी वृद्धिप्राप्ति के लक्षणों को बताया जा रहा है। 'सर्वद्वारेषु' - नेत्र -कान आदि ज्ञानेन्द्रियों में जब प्रकाश होता है, अर्थात् वैदिक शब्दों का यथार्थ ज्ञान होने लगता है, तब उन ज्ञानचिह्नों के द्वारा ऐसा समझना चाहिए कि सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है। 'उत' शब्द का अर्थ है - आत्मासे उत्पन्न सुखात्मक प्रकाश।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥12॥

मर्मानुवाद - जिनमें रजोगुण बढ़ता है उनकी लोभ प्रवृत्ति, संसारिक व्यवहार में नानाप्रकार की प्रयत्नशीलता, कर्मों में आग्रह और विषय स्पृहा बढ़ जाती है।।12॥

अन्वय - भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ) लोभः (लोभ) प्रवृत्तिः (नाना प्रयत्न पूर्वक) कर्मणाम् आरम्भः (कर्मों का आरम्भ) अशमः (भोगों से अशान्ति) स्पृहा (विषयों की अभिलाषा) एतानि (ये सब) रजसि (रजोगुण के) विवृद्धे (बढ़ने से) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)।।12॥

टीका — प्रवृत्तिर्नाना प्रयत्नपरता; कर्मणामारम्भः गृहादिनिर्माणोद्यमः, अशमो विषयभोगानुपरतिः।।12।।

भावानुवाद – 'प्रवृत्ति'– संसारिक व्यवहार में नानाप्रकार प्रयत्नशीलता 'कर्मणामारम्भः'– गृह आदि के निर्माण के लिए उद्यम या चेष्टा, अशम– विषय भोगों से उपरत न होना ये सब रजोगुण वृद्धि के लक्षण हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥13॥

मर्मानुवाद – हे कुरुनन्दन! तमोगुण बढ़ने से अविवेक, प्रयत्नहीनता, प्रमाद और मोह इत्यादि उत्पन्न होते हैं ॥13॥

अन्वय – कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन) अप्रकाशः (विवेकहीनता) अप्रवृत्तिः च (प्रयत्नहीनता) प्रमादः (कर्तव्य कर्म में लगन न होना) एतानि (ये सब) तमसि (तमोगुण) विवृद्धे (के बढ़ने से) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)

टीका – 'अप्रकाशो' विवेकाभावः, शास्त्रविहितशब्दादिग्रहणम् 'अप्रवृत्तिः' प्रयत्नमात्रराहित्यम्, 'प्रमादः' कण्ठादिधृतेऽपि वस्तुनि नास्तीति प्रत्ययः, 'मोहो' मिथ्याभिनिवेशः।।13।।

भावानुवाद – 'अप्रकाशः' अर्थात् विवेक का अभाव, वेद–उपनिषदादि शास्त्रों में निषिद्ध शब्दादि विषयों को ग्रहण करना 'अप्रवृत्तिः' – कर्त्तव्य पालन का अभाव, 'प्रमादः' – कण्ठादि में पड़े हार या सामने रखी वस्तु को भूल जाना, ऐसा विश्वास कर लेना कि वह न जाने कहां खो गई है, 'मोहः' – मिथ्या विषयों में मन का फंसना॥ 13॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥14॥

मर्मानुवाद – सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति देह त्याग करने के पश्चात् हिरण्यगर्भादि के उपासकों को प्राप्त होने वाले सुखप्रद लोक को प्राप्त होता है।

अन्वय – यदा (जब) सत्त्वे (सत्त्वगुण) प्रवृद्धे (बढ़ा हो) तदा (तब यदि) देहभृत् (जीव) प्रलयम् (मृत्यु को) याति (प्राप्त होता है) तदा (तब वह) उत्तमविदाम् (हिरण्यगर्भादि के उपासकों वाले) अमलान् (रजस्तमोरहित) लोकान् (दिव्य भोगों वाले लोकों को) प्रतिपद्यते (प्राप्त

होता है)।। 14 ॥

टीका — 'प्रलयं याति' मृत्युं प्राप्नोति। तदा उत्तमं विन्दति लभन्ते इत्युत्तमविदो हिरण्यगर्भाद्युपासकास्तेषां लोकानमलान् सुखप्रदान्।।14।।

भावानुवाद - सत्त्वगुण वृद्धि की अवस्था में मृत्यु प्राप्त व्यक्ति 'उत्तमविदाम् ' – उत्तम लाभकारी हिरण्यगर्भादि के उपासकों को प्राप्त होने वाले सुखप्रद लोकों में जाता है ॥ 14 ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥15 ॥

मर्मानुवाद – रजोगुण सम्पन्न अवस्था में व्यक्ति की मृत्यु होने पर वह कर्मों में आसक्त ब्राह्मणादि कुल में जन्म ग्रहण करता है। तमोगुण सम्पन्न व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् चार पाँव वाले पशुओं की योनि में जन्म लेता है।

अन्वय – रजसि (रजो गुण की वृद्धि के समय) प्रलयम् (मृत्यु को) गत्वा (प्राप्त कर) कर्मसंगिषु (कर्मों में आसक्त मनुष्य योनि में) जायते (जन्म ग्रहण करता है) तथा (एवं) तमसि (तमोगुण की वृद्धि के समय) प्रलीनः (मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति) मूढ़योनिषु (पशु आदि योनियों में) जायते (उत्पन्न होता है)।

टीका — कर्मसङ्गिषु कर्मासक्तमनुष्येषु ॥15 ॥

भावानुवाद – 'कर्मसङ्गी' – कर्म में आसक्त मनुष्य को कहा गया है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥16 ॥

मर्मानुवाद – सुन्दररूप से किये गये सात्त्विक कर्म का फल भी सात्त्विक निर्मल कहा गया है, राजसिक कर्म का फल दुःख, एवं तामसिक कर्म का फल अज्ञान है या अचेतना।

अन्वय – सुकृतस्य कर्मणः (सात्त्विक कर्म का) निर्मलम् (सुखकर) सात्त्विकं फलम् (सात्त्विक फल होता है) रजसः तु (और राजसिक कर्म का) दुःखं फलम् (दुःख फल) तमसः (तामसिक कर्म का) अज्ञानं फलम् (फल अज्ञान है) [ऐसा पण्डितों ने] आहुः (कहा है)

टीका — सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकमेव निर्मलं निरुपद्रवम्, अज्ञानमचेतनता।।6।।

भावानुवाद - सुकृत सात्त्विक कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल यानि उपद्रवरहित होता है। अज्ञान का अर्थ है - अचेतनता ।

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥17॥

मर्मानुवाद - सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ एवं तमोगुण से अज्ञान, प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है।

अन्वय - सत्त्वात् (सत्त्वगुण से) ज्ञानम् (ज्ञान) संजायते (उत्पन्न होता है) रजसः (रजोगुण से) लोभ एव च (लोभ और) तमसः (तमोगुण से) प्रमादमोहौ (प्रमाद और मोह) भवतः (होता है) अज्ञानम् एव च (और अज्ञान) [भवति] (होता है)।।17॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥18॥

मर्मानुवाद - सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति उच्च लोकों को प्राप्त करता है अर्थात् सत्यलोक तक जाता है, राजसिक लोग नरलोकों में जाते हैं , जबकि तामसिक व्यक्ति अधः पतित होकर नरक में जाते हैं।

अन्वय - सत्त्वस्थाः (सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति) ऊर्ध्वं गच्छन्ति (उच्चलोकों को जाते हैं) राजसाः (रजोगुण प्रधान व्यक्ति) मध्ये (मनुष्य लोक में) तिष्ठन्ति (अवस्थान करते हैं) जघन्या गुणवृत्तिस्थाः (प्रमाद आलस्यादि परायण) तामस (तामसिक व्यक्ति) अधोगच्छन्ति (पशु आदि योनि में उत्पन्न होते हैं) ॥18॥

टीका — सत्त्वस्थाः सत्त्वतारतम्येनोर्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तम्, मध्ये मनुष्यलोक एव। जघन्यश्चासौ
स्थिता अधोगच्छन्ति नरकं यान्ति।।18।।

भावानुवाद - सत्त्वगुणके तारतम्यके अनुसार ही व्यक्ति उच्च सत्यलोक

तक जाते हैं, रजोगुणी मध्य लोक यानि मनुष्यलोक में ही रहते हैं। 'जघन्य' का अर्थ है – निकृष्ट एवं प्रमाद, आलस्यादि इसकी वृत्तियाँ है – इनमें स्थित तामसिक व्यक्ति नरक में जाते हैं ॥18 ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥19 ॥

मर्मानुवाद – तीनों गुण ही कर्त्ता हैं, गुणों के सिवाय और कोई कर्त्ता नहीं है। जिस समय जीव इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि द्वारा इन तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अतीत मेरे भगवद्भाव को जान लेता है,तो मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है ॥19 ॥

अन्वय – यदा (जब) द्रष्टा (जीव) गुणेभ्यः (गुणों के) अन्यम् (सिवाय अन्य किसी को) कर्तारम् (कर्ता) न अनुपश्यति (नहीं देखता) गुणेभ्यः च (और तीनों गुणों से) परम् (अलग आत्मा को) वेत्ति (जान सकता है) सः (वही जीव) मद्भावम् (मेरा सायुज्य) अधिगच्छति (प्राप्त करता है) ॥19 ॥

टीका — गुणकृतं संसारं दर्शयित्वा गुणातीतं मोक्षं दर्शयति—नान्यमिति द्वाभ्याम्। गुणेभ्यः कर्त्तृकरणविषयाकारेण परिणतेभ्योऽन्यं कर्त्तारं द्रष्टा जीवो यदा नानुपश्यति, किन्तु गुणा एव सदै
गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तमेवात्मानं वेत्ति, तदा स द्रष्टा मद्भावं मयि सायुज्यमधिगच्छति प्राप्नोति। तत्र तादृश–ज्ञानानन्तरमपि मयि परां भक्तिं कृत्वै

भावानुवाद – गुण से निर्मित संसार के विषय में कहने के बाद अब इन दो श्लोकों में गुणातीत मोक्ष के विषय में बता रहे हैं। जब जीव कर्त्ता – करण – विषयाकार के रूप में परिणत गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता है, अपितु गुणों को ही सर्वदा कर्त्ता के रूप में दर्शन करता है, अनुभव करता है एवं आत्मा को इन गुणों से अतीत और भिन्न ही देखता है, तब वह 'जीव' मुझमें सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। उस ज्ञान के अनन्तर भी वह मेरी परा भक्ति करता हुआ मुझ में सायुज्य प्राप्त कर लेता है – इस प्रकार का अभिप्राय आगे छब्बीसवें श्लोक का अर्थ देखने से स्पष्ट होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतश्नुते ॥20 ॥

मर्मानुवाद – देहधारी जीव निर्गुण – निष्ठाद्वारा सत्त्व, रजस और तमस इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि इत्यादि देह से उत्पन्न दुःखों से पूरी तरह मुक्त होकर निर्गुण प्रेमरूपी अमृत का भोग करते हैं ॥ 20 ॥

अन्वय – देही (जीव) देहसमुद्भवान् (देह को उत्पन्न करने वाले) एतान् (इन) तीन गुणान् (तीनों गुणों का) अतीत्य (अतिक्रमण कर) जन्म–मृत्यु–जरा दुःखैः (जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख से) विमुक्तः (मुक्त होकर) अमृतम् (मोक्ष) अश्नुते (प्राप्त करते हैं) ॥ 20 ॥

टीका — ततश्च सोऽपि गुणातीत एवोच्यते इत्याह—गुणानिति। ।20। ।

भावानुवाद – उपरोक्त पराभक्ति प्राप्त करनेके बाद वह भी गुणातीत हो जाता है ॥ 20 ॥

अर्जुन उवाच–

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ 21 ॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार श्रवण करने के पश्चात् अर्जुन ने कहा – हे प्रभो! जो उपरोक्त तीन गुणों का अतिक्रमण कर लेते हैं, उनके क्या लक्षण हैं? वे किस प्रकार आचरण करते हैं? एवं त्रिगुणों का अतिक्रमण किस प्रकार करते हैं? ॥ 21 ॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) प्रभो (हे प्रभो) कैः लिंगैः (किन किन लक्षणों द्वारा) एतान् (इन) त्रीन् गुणान् (त्रिगुणों से) अतीतः भवति (अतिक्रमणकारी) किमाचारः (कैसा आचरण करते हैं?) कथं च (और किस उपाय से) एतान् (इन) त्रीन् गुणान् (तीनों गुणों का) अतिवर्तते (अतिक्रमण करते हैं) ॥21 ॥

टीका — 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?' इत्यादिना द्वितीयाध्याये पृष्टमप्यर्थं पुनस्ततोऽपि विशेषबुभुत्सया पृच्छति 'कै

कै ज्ञेय इत्यर्थः,'किमाचारः?'इति द्वितीयः,'कथञ्चै
इति तृतीयः, गुणातीतत्त्वप्राप्तेः किं साधनमित्यर्थः। 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?' इत्यादौ
विशेषः।।21।।

भावानुवाद – द्वितीय अध्याय (2/54) में 'स्थिप्रज्ञ' के क्या लक्षण हैं – इसका उत्तर पाने के बाद भी उसे विशेषपूर्वक जानने को उत्सुक अर्जुन पुनः प्रश्न कर रहे हैं कि यह किन–किन लक्षणों से जाना जाता है कि वे गुणातीत हैं। 'उनका आचरण कैसा होता है?' एवं तीनों गुणों को कैसे पार करता है? एवं गुणातीत होने का क्या उपाय है? द्वितीय अध्याय में जब अर्जुन ने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण है? उस समय यह नहीं पूछा था कि वे किस प्रकार गुणातीत होते हैं, अब, यहाँ जिज्ञासा कर रहे हैं, यही विशेष है॥21॥

श्रीभगवानुवाच–

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥22॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥23॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥24॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥25॥

मर्मानुवाद – अर्जुन के तीनों प्रश्नों को श्रवण करने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगे – तुम्हारा प्रथम प्रश्न यह है कि गुणातीत व्यक्ति के क्या लक्षण हैं? तो सुनो–ऐसा व्यक्ति द्वेष और आकांक्षा से रहित होता है। यही उसके लक्षण हैं मायाबद्ध जीव संसार में रहता हुआ प्रकृति के सत्त्व रजस और तमस इन तीनों गुणों में ही रहता है। केवल सम्पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने पर ही उसके तीनों गुणों का विनाश होता है, किन्तु जब तक भगवान् की इच्छा से लिंगभंग यानि सूक्ष्म शरीर से मुक्ति प्राप्त न करे तब तक एक

मात्र द्वेष और आकांक्षा के परित्याग को ही निर्गुणता प्राप्त करने का उपाय जानना। जब तक शरीर रहेगा तब तक प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (सब सत्त्व रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं इसलिए) अवश्य ही देह के साथ संलग्न रहेंगे, किन्तु इच्छा कर के इनमें प्रवृत्त नहीं होना एवं द्वेष करके इनसे निवृत्ति की चेष्टा भी नहीं करना। ये दोनों लक्षण जिनमें देखे जाते हैं, वही निर्गुण हैं। जो चेष्टा एवं विशेषस्वार्थपर आग्रह द्वारा संसार में प्रवृत्त हैं या जो संसार को मिथ्या जान यत्नपूर्वक वैराग्य का अभ्यास करते हैं वे निर्गुण नहीं है।

तुम्हारा दूसरा प्रश्न है कि गुणातीत व्यक्ति का आचरण कैसा होता है, सुनो, – तीनों गुण उसके शरीर, मन और व्यवहार में अपना–अपना कार्य कर रहे हैं, वह गुणों को कार्य करने देता है और स्वंय उनसे अलग रहकर चैतन्य स्वरूप उदासीनों की तरह उनमें लिप्त नहीं होता। वह देहचेष्टा द्वारा दुःख–सुख, मिट्टी का ढेला, पत्थर, स्वर्ण, प्रिय, अप्रिय, निन्दा और स्तुति – इन सबके उपस्थित होने पर सब के प्रति समान दृष्टि रखता है एवं स्वरूप में स्थित होकर सब को एक जैसा ही समझता है। सांसारिक व्यवहार में जो मान–अपमान, शत्रु और मित्र मिलते हैं उन्हें ऐसा समझकर कि इनका मुझ आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, उनसे व्यवहारमात्र ही करता है। आसक्ति और वैराग्य से हर प्रकार के आरम्भ का परित्याग करने वाला गुणातीत कहलाता है॥ 22–25॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) पाण्डव (हे पाण्डव) प्रकाशं च (सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश और) प्रवृत्तिञ्च (रजोगुण के प्रकाश रूप प्रवृत्ति) मोहम् एव च (एवं तमोगुण के कार्यरूप मोह) सम्प्रवृत्तानि (स्वतः उपस्थित होने पर) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते) निवृत्तानि (और उनकी निवृत्ति की) न कांक्षति (आकांक्षा भी नहीं करते) ॥22॥

यः (जो) उदासीनवत् (उदासीन की तरह) आसीनः (रहते हुए) गुणैः (गुणों के कार्य, सुख दुःखादि द्वारा) न विचाल्यते (विचलित नहीं होते) गुणाः (गुण) [अपने अपने कार्य में] वर्तन्ते (वर्त रहे हैं) इति एवम्

(ऐसा जान) अवतिष्ठति (स्थिर रहते हैं) न इंगते (चंचल नहीं होते)।।23।।

[जो] समदुःखसुखः (दुःख और सुख में समान बुद्धि वाले) स्वस्थः(स्वरूप में स्थिर रहते हैं) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने में समान भाव रखते हैं) तुल्यप्रियाप्रियः (प्रिय और अप्रिय वस्तु में सम ज्ञान रखते हैं) धीर (जो बुद्धिमान्) तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः (निन्दा और स्तुति में एक समान रहते हैं) ॥24॥

मानापमानयोः (मान और अपमान में) तुल्यः (समान) मित्रारिपक्षयोः (मित्र और शत्रु दोनों में) तुल्य (समान रहते हैं) सर्वारम्भपरित्यागी (देह धारण के लिए आवश्यक कर्म के अतिरिक्त सभी कर्मों का परित्यागी हैं) सः (वही व्यक्ति) गुणातीत (गुणातीत) उच्यते (कहलाते हैं) ॥25॥

टीका — तत्र 'कै
प्रश्नस्योत्तरमाह—प्रकाशं सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते इति सत्त्वकार्यम् प्रवृत्तिञ्च रजःकार्यम्, मोहञ्च तमःकार्यम्—उपलक्षणमेतत् सत्त्वादीनां सर्वाण्यपि कार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वतःप्राप्तानि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, गुणकार्याण्येतानि निवृत्तानि भवन्तीति सुखबुद्ध्या च यो न काङ्क्षति, स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः। संप्रवृत्तानीति क्लीवत्वमार्षम्। 'किमाचारः?'इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह— उदासीनवदिति त्रिभिः। गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिर्यो न विचाल्यते स्वरूपावस्थानान्न च्यवते अपि तु गुणा एव स्व-स्व-कार्येषु वर्त्तन्ते इत्येवेति। एभिर्मम सम्बन्ध एव नास्तीति विवेकज्ञानेन यस्तूष्णीमवतिष्ठति—परस्मै
'गुणातीतः स उच्यते' इति गुणातीतस्यै
गुणातीतो वक्तव्यो न तु गुणातीतत्वोपपत्तिः, वावदूको गुणातीतो वक्तव्य इति भावः।।22-25।।

भावानुवाद - वे किन लक्षणोंसे गुणातीत दिखते हैं? इस प्रथम प्रश्न के उत्तरमें कहते हैं - 'इस शरीर की तमाम इन्द्रियों में जब प्रकाश यानि ज्ञान प्रकाशित होता है' (गीता 14/11) तो यह सत्त्वगुणका कार्य होता है। रजोगुणका कार्य - प्रवृत्ति है तथा तमोगुण का कार्य - मोह - ये सब इन तीनों गुणों के उपलक्षण हैं। तीनों गुणोंके समस्त कार्यों द्वारा यथायोग्यरूप में

स्वतः प्रवृत्त होने पर भी दुःख आने पर जो द्वेष नहीं करते तथा उनके चले जाने पर भी सुख वृद्धि की कामना नहीं करते, वे गुणातीत कहलाते हैं। पच्चीसवें श्लोक के साथ इस का सामञ्जस्य है। 'किम् आचारः ?' इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं–सुख–दुःख आदि गुणकार्यों द्वारा जो विचलित नहीं होते हैं अर्थात् अपनी – स्वरूपावस्था से विचलित नहीं होते, अपितु ऐसा विचार करते हैं कि गुण ही अपने अपने कार्य में लगे हैं, इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं हैं – इस प्रकार विचारपूर्वक विवेकज्ञान होनेसे वे मौनी बने रहते हैं ('अवितिष्ठति' पदका परस्मैपद प्रयोग आर्ष–प्रयोग है,) 'नेङ्गते' जो किसी प्रकारके शारीरिक कार्योंके लिए प्रयास नहीं करते हैं, वे ही गुणातीत कहलाते हैं। इन वाक्योंमें गुणातीत व्यक्तिके इन सभी लक्षणों एवं आचारोंको देखकर ही उन्हें गुणातीत कहा जाता है, किन्तु अपने आप को गुणातीत कह कर प्रचार करने वाले वाचाल व्यक्तियों को गुणातीत नहीं कहा जाता है ॥ 22–25 ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥26 ॥

मर्मानुवाद – वह त्रिगुण का अतिक्रमण कर किस प्रकार वर्तमान रहता है, इस तीसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि अव्यभिचारी भक्तियोग अर्थात् शुद्ध भक्ति उद्देशक ज्ञान और कर्म द्वारा मेरी सेवा करते करते वह मेरे समान गुण या ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है ॥26 ॥

अन्वय – यः (जो) मां च (मुझ परमेश्वर की) अव्यभिचारेण (ज्ञान कर्मादि से रहित) भक्तियोगेन (भक्ति योग के द्वारा) सेवते (सेवा करते हैं) सः (वह) एतान् (इन) गुणान् (तीनों गुणों का) समतीत्य (अतिक्रमण करके) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्म का अनुभव करने में) कल्पते (समर्थ हो जाते हैं) ।। 26 ॥

टीका — 'कथञ्चै
माञ्चेति। 'च'—एवार्थे, मामेव श्यामसुन्दराकारं परमेश्वरं भक्तियोगेन यः सेवते, स एव ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय ब्रह्मानुभवायेति यावत्, "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इति मद्वाक्ये एकयेति विशेषणोपन्यासात् "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां

तरन्ति ते'' इत्यत्रापि एव-कारप्रयोगात् भक्त्या विना प्रकारान्तरेण ब्रह्मानुभवो न भवतीति निश्चयात्; भक्तियोगेन कीदृशेन ? अव्यभिचारेण कर्मज्ञानाद्यमिश्रेण निष्कामकर्मणो न्यासश्रवणात्। ''ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्'' इति ज्ञानिनां चरमदशायां ज्ञानस्यापि न्यासश्रवणात्, भक्तियोगस्य तु क्वापि न्यासाश्रवणात् भक्तियोग एव सोऽव्यभिचारः, तेन कर्मयोगमिव ज्ञानयोगमपि परित्यज्य यद्यव्यभिचारेण केवलेनै

नान्यथा। अनन्यभक्तस्तु ''निर्गुणो मदपाश्रयः''इत्येकादशोक्तेर्गुणातीतो भवत्येव अत्रेदं तत्त्वम् ''सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः।।'' इत्यत्रासङ्गिनः कर्मिणो ज्ञानिनो वा सात्त्विकत्वेनै

भक्तः साधक एवावगम्यते, ततश्च ज्ञानी ज्ञानसिद्धः सन्नेव सात्त्विकत्वं परित्यज्य गुणातीतो भवति। भक्तस्तु साधकदशामारभ्यै

च-कारोऽवधारणार्थ इति स्वामिचरणाः। ''मामेवेश्वरं नारायणमव्यभिचारेण भक्तियोगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते'' इति मधुसूदनसरस्वतीपादाश्च व्याचक्षते स्म।।26।।

भावानुवाद - तीसरे प्रश्न ''किस प्रकार तीनों गुणोंको लांघा जा सकता है?'' के उत्तर में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि जो 'मां च' श्यामसुन्दर मुझ परमेश्वर की ही भक्तियोगसे सेवा करते हैं, केवल वे ही 'ब्रह्मभूयाय' - ब्रह्म के अनुभव के योग्य होते हैं। मैं ऐकान्तिकी भक्ति से ही प्राप्त होने वाला हूँ'' (भा 11/14/21) इस वाक्य में 'एकया' इस विशेषण के प्रयोगसे यही सिद्ध होता है एवं जो 'मामेव' मेरे ही प्रपन्न होते हैं, वही मायासे उत्तीर्ण होते है' (गीता 6/24) दोनों वाक्यों में भी 'एव' के प्रयोग से निश्चित होता है कि भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे ब्रह्मका अनुभव नहीं होता है। भक्तियोग कैसा हो, उसके विषय में कहते हैं, 'अव्यभिचारेण' अर्थात् - कर्म - ज्ञान आदिके मिश्रणसे रहित । निष्काम कर्म तक का त्याग सुना जाता है। 'ज्ञान को भी मुझमें संन्यस्त करो' (भा 11/19/9) इस वाक्यके अनुसार ज्ञानियों की चरम दशामें ज्ञानका भी त्याग सुना जाता है, किन्तु भक्तियोग का न्यास कहीं सुनने में नहीं आता है। भक्तियोग को ही अव्यभिचारी

कहा गया है । इसलिए कर्मयोग के समान ज्ञानयोग का भी परित्याग कर के यदि 'अव्यभिचार' अर्थात् केवला भक्तिकी ही सेवा करने से ज्ञानी भी गुणातीत हो जाते हैं, इसका कोई अन्य उपाय नहीं है । श्रीमद्भागवत (11/15/26) में कहा गया है कि मेरे आश्रित कर्त्ता निर्गुण होते हैं। भागवत के इस वाक्य अनुसार भी अनन्य भक्त ही गुणातीत होते हैं। इस पूरे श्लोक में अनासक्त होकर कर्म करने वाले कर्ता को सात्त्विक, राग में अन्धे होकर कर्म करने वाले कर्त्ता को राजसिक, स्मृतिभ्रष्ट हुए कर्म करनेवाले कर्त्ता को तामसिक एवं मेरे आश्रित कर्त्ता को 'निर्गुण' कहा गया हैं। इस श्लोकमें अनासक्त कर्मी या ज्ञानी सात्त्विक होनेके कारण सात्त्विक साधक के रूप में परिचित हुए हैं और 'मेरे' आश्रय में कर्म करनेवाले निर्गुण। ज्ञानी ज्ञान में सिद्ध होकर सात्त्विकता परित्याग कर गुणातीत होते हैं, परन्तु भक्त साधन-अवस्था के प्रारम्भ से ही गुणातीत होते हैं ऐसा समझना चाहिए । श्रीधरस्वामिपाद ने कहा हैं - इस श्लोक में 'च' अवधारणके अर्थ में प्रयोग हुआ है। श्रीमधुसूदनसरस्वतीपाद व्याख्या करते हैं - जो मुझ ईश्वर नारायण की ही द्वादश अध्यायमें कथित अव्यभिचार भक्तियोग से सेवा करते हैं, वही गुणातीत होते हैं।। 26 ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।27 ।।

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्याय: ।

मर्मानुवाद - यदि कहो कि ब्रह्मसम्पत्ति ही जीव के सब प्रकार की साधनाओं का फल है, तो ब्रह्मभूत व्यक्ति आपके निर्गुणप्रेम का किस प्रकार संभोग करता है? तब सुनो--अपनी नित्य निर्गुण अवस्था में मैं - स्वरूपत: भगवान् हूँ, जड़शक्ति के गर्भ में मैं अपनी तटस्था शक्ति के चैतन्य बीज का आधान करते समय प्रथमोक्त शक्ति का जो आदि प्रकाश है वही मेरा 'ब्रह्म'-स्वभाव है। बद्ध जीव ज्ञान की आलोचना करते समय उत्तरोत्तर उच्च अवस्था प्राप्त करते हुए जब मेरा ब्रह्मधाम प्राप्त करता है तब निर्गुण अवस्था की प्रथम सीमा प्राप्त होती है। उस सीमा को प्राप्त करने से पहले जड़भाव त्यागरूपी एक निर्विशेषभाव उपस्थित होता है। उसमें अवस्थित

होकर शुद्ध भक्तियोग के आश्रित होने पर वह निर्विशेषता दूर हो चिद्विशेष में बदल जाती है। इसी क्रम से ज्ञानमार्ग के सनकादि ऋषिगण और वामदेव इत्यादि निर्विशेष की चर्चा करने वालों ने निर्गुण भक्तिरूपी अमृत प्राप्त किया है। जिनकी मुमुक्षारूपी दुर्वासनावश दुर्भाग्य से ब्रह्मतत्त्व में सम्यक् स्थिति नहीं होती, वे ही चरम अवस्था में निर्गुण भक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। वस्तुतः निर्गुण सविशेषतत्त्व स्वरूप मैं ही ज्ञानियों की चरम गति ब्रह्म की प्रतिष्ठा व आश्रय हूँ। अमृतत्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्यधर्मरूप प्रेम एवं ऐकान्तिक सुख रूप व्रज रस–ये सभी निर्गुण सविशेष–तत्त्वरूप कृष्णस्वरूप को आश्रय कर के रहते हैं।।27॥

चौदहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - हि (क्योंकि) अहम् (मैं) ब्रह्मणः (निर्विशेष ब्रह्म के) अव्ययस्य (अव्यय) अमृतस्य (मोक्ष के) शाश्वतस्य (नित्यसाधन और फल वाले) धर्मस्य (भक्ति नामक परम धर्म का) ऐकान्तिकस्य (ऐकान्तिक भक्त सम्बन्धित) सुखस्य (प्रेम रूपी सुख का) प्रतिष्ठा (आश्रय हूँ)।। 27॥

टीका – ननु त्वद्भक्तानां कथं निर्गुणब्रह्मत्त्वप्राप्तिः, सा त्वद्वितीयतदेकानुभवेनै
प्रसिद्धं यद्ब्रह्म तस्याप्यहं प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति प्रतिष्ठा आश्रयोऽन्नमयादिषु श्रुतिषु सर्वत्रै
प्रतिष्ठा किं स्वर्गीय–सुधायाः न अव्ययस्य नाशरहितस्य मोक्षस्येत्यर्थः, तथा शाश्वतस्य धर्मस्य साधनफलदश– योरपि नित्यस्थितस्य भक्त्याख्यस्य परमध र्मस्याहं प्रतिष्ठा, तथा तत्प्राप्यस्यै
प्रतिष्ठा, अतः सर्वस्यापि मदधीनत्वात् कै
लीयमानो ब्रह्मत्वमपि प्राप्नोति। अत्र "ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा घनीभूतं ब्रह्मै यथा घनीभूतप्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः" इति स्वामिचरणाः। सूर्यस्य तेजोरूपत्वेऽपि यथा तेजस आश्रयत्त्वमप्युच्युते, एवं मे कृष्णस्य ब्रह्मरूपत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वमपि, अत्र श्रीविष्णुपुराणमपि प्रमाणम्–"शुभाश्रयः स चित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः" इति, व्याख्यातञ्च तत्रापि

स्वामिचरणै

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'' इति। तथा विष्णुधर्मेऽपि नरकद्वादशीप्रसङ्गे–''प्रकृतौ पुरुषे चै

इति; तत्रै

परात्मा''इति; तथा हरिवंशेऽपि विप्रकुमारानयनप्रसङ्गे अर्जुनं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम् (विष्णुपर्व 114 अ:, 11-12) ''तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्। ममै तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत।।'' इति; ब्रह्मसंहितायामपि–''यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड- कोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्। तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।'' इति; अष्टमस्कन्धे–''मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नै

स्म यथा–''ननु त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याह–ब्रह्मणो हीति।'प्रतिष्ठा' पर्याप्तिरहमेवेति–पर्याप्तिः परिपूर्णता इत्यमरः। पराकृतमनद्वन्द्वं परं ब्रह्म नराकृतिः। सौ

इत्युपश्लोकयामासुश्च।।27।।

अनर्थ एव त्रै

तच्च भक्त्यै

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
चतुर्दशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद - श्री भगवान् कहते है- हे अर्जुन! यदि प्रश्न हो कि आपके भक्तोंको निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है, वह प्राप्ति तो अद्वितीय तदेकात्मा अनुभव से ही सम्भव है, तो इसके उत्तर में कहते हैं - क्योंकि, परमप्रतिष्ठा प्राप्त प्रसिद्ध जो ब्रह्म है उसकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ या जिसमें वह ब्रह्म प्रतिष्ठित है, वह आश्रय मैं हूँ। अन्नमय आदि समस्त श्रुतिवाक्यों में भी सर्वत्र प्रतिष्ठा शब्द का यही अर्थ है और 'अमृतस्य' - अमृत की प्रतिष्ठा भी मैं हूँ, तो इस अमृत का अर्थ क्या स्वर्ग वाली सुधा है? नहीं! इसका अर्थ तो नाशरहित मोक्ष है।'शाश्वतस्य धर्मस्य' - साधन और फलदशा

में भी नित्य स्थित भक्ति नामक परम धर्म की भी प्रतिष्ठा मैं हूँ तथा उससे प्राप्त होने वाले ऐकान्तिक भक्त - सम्बन्धित 'सुखस्य' अर्थात् प्रेम की प्रतिष्ठा भी मैं हूँ। इसलिए सभी मेरे अधीन होनेके कारण कैवल्य भक्ति की कामनासे किये गये मेरे भजन से ब्रह्म में लीनता भी प्राप्त हो जाती है। इस श्लोक पर श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं - ''मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् मैं घनीभूत ब्रह्म ही हूँ, जैसे कि सूर्यमण्डल घनीभूत प्रकाश है।'' जैसे सूर्य तेजोरूप होनेपर भी तेजके आश्रय के रूपमें जाना जाता है, उसी प्रकार मै कृष्णस्वरूप होनेपर भी ब्रह्म का आश्रय हूँ। इस विषयमें विष्णुपुराण में भी प्रमाण है - ''विष्णु सभी मङ्गलोंके आधारस्वरूप हैं, वह चित्त एवं सर्वव्यापी आत्मा का आश्रय हैं'।

इस श्लोक की भी व्याख्या श्रीधरस्वामिपाद इस प्रकार करते हैं - ''सर्वज्ञ आत्मा परब्रह्म के भी आश्रय या प्रतिष्ठा विष्णु हैं। जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है- मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ।'' विष्णुधर्मपुराण में नरक द्वादशी के प्रसङ्ग में कहा गया हैं- ''प्रकृति, पुरुष एवं ब्रह्म में भी वही एकमात्र पुरुष श्री वासुदेव ही प्रभु हैं , यही स्थिर हुआ है।'' इसी पुराण में मास पक्ष - पूजा के प्रसङ्ग में कहा गया है - परमतत्त्व एवं ब्रह्मभूत होने से परमात्मा का अच्युतत्व है और हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व (114/11-12) में भी विप्रकुमार को लाने के प्रसङ्ग में अर्जुन से श्रीभगवान् कहते हैं कि वही सर्वश्रेष्ठ परम ब्रह्म समस्त जगत् का विभाग करते हैं। हे अर्जुन! उस घनज्योति को मेरा ही तेजस्वरूप जानना चाहिए। ब्रह्मसंहिता में भी पाया जाता है- ''जिनकी प्रभा उपनिषदों में वर्णित निर्विशेष ब्रह्म का स्रोत है तथा जो करोड़ों ब्रह्माण्डों में अनन्त विभूतियों के रूप में भेद को प्राप्त होने के नाते पूर्ण अनन्त सत्य के रूप में प्रकट हैं, उन्हीं आदिपुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।'' श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में भी राजा सत्यवान् से मत्स्य भगवान् ने कहा है कि मेरी कृपा से अपने प्रश्नों के उत्तरस्वरूप अपने हृदय में विस्तारित परब्रह्म नाम से विख्यात मेरी महिमा को जान सकोगे।

श्रीमधुसूधन सरस्वतीपाद की टीका में कहा गया है- ''भगवन्! आपके भक्त आपके भाव को प्राप्त होकर भी फिर ब्रह्मभावके योग्य कैसे होते हैं,

क्योंकि आप ब्रह्म से भिन्न ही हो? इसी आशंका से आप कहते हैं– ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् 'प्रतिष्ठा' अर्थात् मैं ही पर्याप्त हूँ। 'पर्याप्ति' का अर्थ अमरकोषके अनुसार– परिपूर्णता है अर्थात् मैं ही परिपूर्ण ब्रह्म हूँ इसके अतिरिक्त एक और श्लोक कहते हैं –

'पराकृतमनद्वन्द्वं परं ब्रह्म नराकृतिः।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजमहम् ॥'

अर्थात् जिस नराकार परब्रह्म ने मेरे मन के विवाद को अधीन किया है, नष्ट कर दिया है, मैं सर्वसौन्दर्य के सारभूत तेजःस्वरूप उन नन्दनन्दन की वन्दना करता हूँ। उन्होंने (मधुसूधन सरस्वती ने) ऐसे श्लोक की भी रचना की है ॥ 27 ॥

त्रिगुण ही अनर्थ है,निर्गुणता ही जीव की सार्थकता है एवं उसी का अन्य नाम भक्ति है यही इस अध्याय में कहा गया है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के चौदहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

चौदहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त

पन्द्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

श्रीभगवानुवाच–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥1॥

मर्मानुवाद – श्रीभगवान् ने कहा– हे अर्जुन! यदि तुम वेदवाक्यों का अवलम्बन करते हुए संसार का आश्रय लेना ही अच्छा समझते हो तो सुनो– कर्मनिर्मित यह संसार एक पीपल वृक्ष विशेष है। कर्मपरायण व्यक्तियों के लिए इसका अन्त नहीं है। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर हैं,कर्मप्रतिपादक सभी वेदवाक्य इसके पत्ते हैं और इसकी शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं अर्थात् यह वृक्ष सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मुझ से जीवों के कर्मप्रापक रूप में स्थापित है। जो लोग इस वृक्ष की नश्वरता से परिचित हैं, वही तत्त्वविद् है।।1॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने) [इस संसार को]

ऊर्ध्वमूलम् (ऊपर की ओर जड़ों वाला) अधःशाखम् (नीचे की ओर शाखाओं वाला) अव्ययम् (नित्य) अश्वत्थम् (विनश्वर पीपल का वृक्ष) प्राहुः (कहा है) छन्दांसि (कर्मप्रतिपादक सब वेदवाक्य) यस्य (जिस संसाररूपी पीपल वृक्ष के) पर्णानि (पत्ते हैं) तम् (उस वृक्ष को) यः (जो) वेद (जानता है) सः (वह) वेदवित् (वेदज्ञ है) ॥ 1 ॥

टीका – संसारच्छेदकोऽसङ्ग आत्मेशांशः क्षराक्षरात्।
उत्तमः पुरुषः कृष्णः इति पञ्चदशे कथा।।

पूर्वाध्याये "माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यै
कथं ब्रह्मभाव इति चेत्, सत्यमहं; मनुष्य एव किन्तु ब्रह्मणोऽपि तस्य प्रतिष्ठा परमाश्रय इत्यस्य सूत्ररूपस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशाध्याय आरभ्यते तत्र सगुणान् समतीत्य इत्युक्तमिति, गुणमयोऽयं संसारः कः, कुतो वायं प्रवृत्तः, त्वभक्त्या संसारमतिक्राम्यन् जीवो वा कः, ब्रह्मभूयाय कल्पते इत्युक्तं ब्रह्म वा किं, ब्रह्मणः प्रतिष्ठा त्वं वा क इत्याद्यपेक्षायां प्रथममतिशयोक्त्यलङ्कारेण संसारोऽयमद्भुतोऽश्वत्थवृक्ष इति वर्णयति–ऊर्द्ध्वे सर्वलोकोपरितले सत्यलोके प्रकृतिबीजोत्थ–प्रथम–प्ररोहरूप–महत्–तत्त्वात्मकश्चतुर्मुख एक एव मूलं यस्य तम्, अधः–स्वर्भुवोभूर्लोकेष्वनन्ताः देवगन्धर्वकिन्नरासुरराक्षसप्रेतभूत–मनुष्यगवाश्वादिपशुपक्षिकृमिकीटपतङ्गस्थावरान्ताः शाखा यस्य तमश्वत्थं धर्मादिचतुर्वर्गसाधकत्वादश्वत्थमुत्तमं वृक्षम्, श्लेषेण–भक्तिमतां न श्वः स्थास्यतीत्यश्वत्थं नष्टप्रायमित्यर्थोऽभक्तानां त्वव्ययमनश्वरम्। छन्दांसि "वायव्यं श्वेतमालभेत, भूमिकाम ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः" इत्याद्याः कर्मप्रतिपादका वेदाः संसारवर्द्धकत्वात् पर्णानि,–"वृक्षो हि पर्णै शोभते; यस्तं जानाति, स वेदज्ञः। तथा च उद्ध्र्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इति कठवल्ली श्रुतिः।। 1।।

भावानुवाद – श्रीकृष्ण सांसारिक बन्धन को काटनेवाले हैं, वे निर्लिप्त हैं। आत्मा अर्थात् जीव ईश्वर की शक्ति का अंश है। श्रीकृष्ण क्षर तथा अक्षर दोनों से उत्तम पुरुष हैं। यही विषय इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

पिछले अध्याय (14/26)में कहा गया है कि जो अनन्य भक्तियोग से मेरी आराधना करते हैं, वे तीनों गुणों को लांघकर ब्रह्मानुभूति के योग्य हो

जाते हैं। यदि यह प्रश्न हो कि आपके इस मनुष्यरूप की भक्ति करके फिर वे ब्रह्मभाव को कैसे प्राप्त होते हैं? तो इसका उत्तर है – यह सत्य है कि मैं मनुष्य ही हूँ, किन्तु मैं उस ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा अर्थात् परम आश्रय हूँ। 'मैं ब्रह्म का भी आश्रय हूँ', इस सूत्र की व्याख्या के रूप में यह पन्द्रहवां अध्याय आरम्भ हो रहा है। पिछले अध्याय (14/26) में यह भी कहा गया है कि भक्ति का आश्रय लेने वाले गुणमय संसार को लांघकर ब्रह्मानुभव के योग्य होते हैं, यह गुणमय संसार क्या है, यह कहां से उत्पन्न हुआ है? आपकी भक्ति द्वारा संसारका अतिक्रमण करने वाले जीव ही कौन हैं? 'ब्रह्मानुभूति के योग्य होते हैं' – इस वाक्य में कहा गया 'ब्रह्म' ही क्या है? ब्रह्म की प्रतिष्ठा आप ही कौन हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में सर्वप्रथम अतिशयोक्ति अलङ्कार का प्रयोग कर संसार का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि यह संसार अद्भुत पीपल का वृक्ष है। सभी लोकों से ऊपर सत्यलोक में प्रकृतिरूप बीज से उत्पन्न प्रथम अंकुररूप से महत् – तत्त्वात्मक चतुर्मुख एक ही मूलवाला है। 'अध:शाखम्' अर्थात् स्वर्ग– भुवः, भूलोक आदि में अनन्त देवता, गन्धर्व, किन्नर, असुर, राक्षस, प्रेत , भूत, मनुष्य, गाय, घोड़ा आदि पशु, पक्षी, कृमि, कीट,पतङ्ग और स्थावर ये सब इसकी शाखाएँ हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— इन चारों पुरुषार्थों का साधक होने के कारण इस पीपल वृक्ष को उत्तम वृक्ष कहा गया है। इसका श्लेष अर्थ इस प्रकार है– 'अ' का अर्थ है नहीं, 'श्वः' का अर्थ है आने वाला कल एवं 'त्थ' का अर्थ है जो रहेगा अर्थात् जो कल नहीं रहेगा। भक्तिमान् लोगों के लिए यह संसार आगामी कल को नहीं रहेगा अर्थात् नष्टप्राय है, किन्तु अभक्तों के लिए यह 'अव्ययम्' अर्थात् अनश्वर है।'छन्दांसि' – 'ऐश्वर्यकामी पुरुष सफेद छाग द्वारा वायुदेवता का यज्ञ करें, सन्तान चाहने वाले व्यक्ति हवियुक्त एकादश कपाल (मिट्टी के कसोरे) से इन्द्र देवता का यजन करें' (आपस्तम्बश्रौ 19/16/3) इत्यादि कर्मों का प्रतिपादन करने वाले वेद संसारवर्द्धक हैं अर्थात् पत्ते हैं। वृक्ष पत्तों से ही शोभा पाता है। जो संसार को इस प्रकार जानता है, वह वेदज्ञ है। श्रुति में भी कहा गया है–यह संसार ऊपर की ओर जड़ों वाला और नीचे की ओर शाखाओं वाला सनातन पीपल का वृक्ष है (कठ 2/3/1)।

अधश्चोद्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 2॥

मर्मानुवाद – इस वृक्ष की कुछ शाखायें तमोगुण को आश्रय कर नीचे की ओर कुछ रजोगुण का आश्रय कर मध्य में एवं कुछ सत्त्व गुण का आश्रय कर ऊपर की और फैली हुई हैं। ये सभी प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा पुष्ट हो रही हैं। जड़ीय विषय ही इन शाखाओं के पत्ते हैं। वटवृक्ष की तरह इस पीपल के वृक्ष की सभी जटायें कर्मफल का अनुसन्धान करती हुई नीचे की ओर फैल रही हैं॥ 2॥

अन्वय – गुणप्रवृद्धाः – (सत्त्व, रजस और तमस गुण रूपी जल से बढ़ी हुई) विषयप्रवाला (शब्दादि विषय रूपी अंकुरों वाली) तस्य (उस पीपल वृक्ष की) शाखाः (जीवरूपी शाखायें) अधः (मनुष्य पशु योनियों में) ऊर्ध्वं च (और देवादि योनियों में) प्रसृताः (फैली हुई हैं) मनुष्यलोके (मनुष्य लोक में) कर्मानुबन्धीनि (धर्म और अधर्म प्रवृत्तिकारक) मूलानि (भोगवासनारूपी जटायें) अधः च (नीचे की ओर) अनुसन्ततानि (फैली हुई हैं)॥ 2॥

टीका — अधः पश्वादियोनिषु ऊद्ध्वर्वदेवादियोनिषुप्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखा गुणै
शब्दादयःप्रवालाःपल्लवस्थानीया यासां ताः। किञ्च तस्य मूले सर्वलोकै महानिधिः कश्चिदस्तीत्यनुमीयते। यमेव मूलजटाभिरवलम्ब्य स्थितस्य तस्याश्वत्थवृक्षस्यापि वटवृक्षस्येव शाखास्वपि बाह्या जटाः सन्तीत्याह—अधश्चेति। ब्रह्मलोकमूलस्यापि तस्याधश्च मनुष्यलोके कर्मा-नुबन्धीनि कर्मानुलम्बीनि मूलान्यनुसन्ततानि निरन्तरं विस्तृतानि भवन्ति। कर्मफलानां यतस्ततो भोगान्ते पुनर्मनुष्यजन्मन्येव कर्मसु प्रवृत्तानि भवन्तीत्यर्थः।।2।।

भावानुवाद – 'अधः' यानि पशु-आदि योनियों में, 'ऊर्ध्वम्' यानि देव आदि योनियों में इस संसाररूपी वृक्ष की शाखायें फैली हुई हैं। 'गुणैः' यानि सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन त्रिगुणरूपी जल से यह वृक्ष सिंचित होता है। रूप, रस, गन्ध एवं शब्दादि विषय इस के पल्लव हैं। ऐसा लोगों द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि इस वृक्ष के मूल में अलक्षित कोई

महानिधि है, यह वृक्ष मूल जटाओं के सहारे स्थित है। वटवृक्ष के समान किसी - किसी पीपल में भी जटायें होती है, इसलिए इस पीपल वृक्ष की भी बाह्य जटायें और शाखाएँ हैं। ब्रह्मलोक में इसका मूल होने पर भी इसकी जड़ें मनुष्यलोक में कर्मों का सहारा लेती हुई स्थित हैं और 'अनुसन्ततानि' निरन्तर विस्तार को प्राप्त हो रही हैं। जहां-तहां कर्मफलों का भोग समाप्त होने पर जीव पुनः कर्म में प्रवृत्त होने के लिए मनुष्यजन्म को प्राप्त होता है ॥ 2 ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ 3 ॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ 4 ॥

मर्मानुवाद - मनुष्य लोक में इस वृक्ष के स्वरूप से अवगत होना कठिन है, क्योंकि इसका आदि, अन्त और स्थिति देखने में नहीं आती। वास्तव में विनश्वर और मज़बूत जड़ों वाले इस पीपल वृक्ष को तीव्र वैराग्य रूपी कुठार द्वारा काटकर सत्य वस्तु का अन्वेषण करना कर्तव्य है। उस सत्य तत्त्व में अवस्थित होने से जीव फिर वहां से कभी संसार में नहीं आते। उस आदि पुरुष से ही यह पुरातन संसाररूपी वृक्ष फैल रहा है। यदि इस प्रवृत्ति से निवृत्ति चाहते हो, तो उस आदिपुरुष की शरण ग्रहण करो ॥ 3-4 ॥

अन्वय - इह (इस मनुष्यलोक में) अस्य (इस वृक्ष का) रूपम् (रूप ऊपर जैसा कहा गया है) तथा (वैसा) न उपलभ्यते (नहीं पाया जाता) अन्तः (इसका विनाश) आदिः (उत्पत्ति) प्रतिष्ठा च (और स्थिति भी) न (नहीं देखी जाती) एनम् (इस) सुविरूढमूलम् (सुदृढ़ मूल वाले) अश्वत्थम् (पीपल का) दृढेन (तीव्र) असङ्गशस्त्रेण (वैराग्यरूपी कुठार द्वारा) छित्त्वा (छेदन करो) ॥ 3 ॥

तत् (उसके उपरान्त) यस्मिन् गताः (जिस पद को प्राप्त कर कोई) भूयः (दुबारा) न निवर्त्तन्ति (संसार में नहीं आते) यतः (जिससे) एषा (यह) पुराणी (पुरातन) प्रवृत्तिः (संसार वृक्ष का प्रवर्तन) प्रसृता (हुआ है) तम् एव च (वही) आद्यम् (आदि) पुरुषम् (पुरुष की) प्रपद्ये (शरण लेता हूँ) [इति एवम्] [इस प्रकार] [एकान्त भक्ति द्वारा] तत् पदम् (उस वस्तु

का) परिमार्गितव्यम् (अन्वेषण करना कर्तव्य है)॥ 4॥

टीका — किञ्चेह मनुष्यलोकेऽस्य रूपं स्वरूपं तथा सनिश्चयं नोपलभ्यते सत्योऽयं मिथ्यायं नित्योऽयमिति वादिमतवै
चान्तोऽवसानोऽपर्यन्तत्वात्, न चादिरनादित्वात्, न च संप्रतिष्ठाश्रयः, किं वाधारः कोऽयमित्यपि नोपलभ्यते तत्त्वज्ञानाभावादिति भावः। यथा तथायं भवतु जीवमात्रदुःखै
मूलतलस्थो महानिधिरन्वेष्टव्य इत्याह—अश्वत्थमिति। असङ्गोऽत्र अनासक्तिः सर्वत्र वै
ततस्तस्य मूलभूतं तत्पदं वस्तु महानिधिरूपं ब्रह्म परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यम्, कीदृशं तदत आह—यस्मिन् गता यत् पदं प्राप्ताः सन्तो भूयो न निवर्त्तन्ते न चावर्त्तन्ते इत्यर्थः। अन्वेषणप्रकारमाह—यत एषा पुराणी चिरन्तनी संसारप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता तमेवाद्यं पुरुषं प्रपद्ये भजामीति भक्त्यान्वेष्टव्यमित्यर्थः। ।3-4।।

भावानुवाद - 'अस्य' इस वृक्ष का यह स्वरूप 'इह' मनुष्य लोक में निश्चित रूप से वैसा नहीं पाया जाता जैसा कि ऊपर बताया गया है क्योंकि - यह सत्य है, यह मिथ्या है, यह नित्य है- ऐसे अनेक प्रकार के मत देखे जाते हैं। 'न च अन्तः' सीमा नहीं होने से अन्तहीन तथा 'न च आदि' इसका आदि भी नहीं है। 'न च सम्प्रतिष्ठा' इसका आधार क्या है? यह क्या है? तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण यह भी जाना नहीं जाता। जो कुछ भी हो, यह संसार जीवमात्र के दुःख का कारण है। इस संसाररूपी वृक्ष को असंगरूप अस्त्र से काट कर इस वृक्ष के मूल में स्थित महानिधि की खोज करनी चाहिए। यहाँ 'असङ्ग' शब्द का अर्थ है- वैराग्य। इस वैराग्यरूप कुठार से उसे काटकर अपने से अलग कर देनेके बाद उसके मूलस्वरूप वस्तु महानिधिरूपी ब्रह्म का 'परिमार्गितव्यम्' अन्वेषण करना चाहिए। उस परमपद का स्वरूप क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं 'यस्मिन् गताः' - उस पद को प्राप्त करने से दुबारा इस संसार में लौटना नहीं पड़ता। उसकी खोज किस प्रकार की जाये? तरीका बताते हुए कहते हैं कि जिससे यह अनन्तकालीय संसारप्रवृत्ति 'प्रसृता'- विस्तृत हुई है, 'तमेवाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' उन आदिपुरुष की शरण लेनी चाहिए, भक्तिमय भावसे उनका अन्वेषण करना चाहिए॥ 3-4॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ 5॥

मर्मानुवाद – अभिमान एवं मोहशून्य, संगदोषरहित नित्य-अनित्य विचारपरायण, कामनाहीन, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से मुक्तपुरुष उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं॥ 5॥

अन्वय – निर्मानमोहाः (दम्भ और मिथ्या वस्तुओं में अभिनिवेश-रहित) जितसंगदोषाः (आसक्तिरूपदोषशून्य) अध्यात्मनित्याः (आत्मानुशीलन में लगे) विनिवृत्तकामाः (भोगविलासवर्जित) सुखदुःखसंज्ञैः (सुख और दुःख नामक) द्वन्द्वैः (द्वन्द्वों से) विमुक्ताः (मुक्त) अमूढाः (मुक्त पुरुष) तत् (उस) अव्ययम् (अव्यय) पदम् (पद को) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं)॥ 5॥

टीका — तद्भक्तौ
आह—निर्मानेति। अध्यात्मनित्याः अध्यात्मविचारो नित्यानित्यकर्त्तव्यो येषां ते परमात्मालोचनतत्पराः।। 5।।

भावानुवाद – उन भगवान् की भक्ति प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति किन लक्षणों से युक्त होकर उस पद को प्राप्त करते हैं, इसके उत्तर में कहते हैं जो व्यक्ति नित्य-अनित्य वस्तु का विचार करते हुए परमात्मा की आलोचना अर्थात् उनके रूप ,गुण और लीला आदि के गान में मग्न रहते हैं, वही परमपद की प्राप्ति करते हैं॥ 5॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ 6॥

मर्मानुवाद – सूर्य चन्द्र और अग्नि इन तीनों में से कोई भी मेरे उस अव्यय धाम को प्रकाशित नहीं कर सकता। मेरे उस धाम को प्राप्त करके जीव नित्यानन्द प्राप्त करता है। मूल तत्त्व यह है, कि जीव की दो अवस्थायें हैं बद्ध और मुक्त। संसार में बद्ध अवस्था में जीव अपने आपको देह समझकर जड़ विषयों का संग करने के लिए लोलुप रहता है, जबकि मुक्त अवस्था में शुद्ध जीव निरन्तर मेरी सेवा का आस्वादन करता है। इस अवस्था को प्राप्त करना है तो सांसारिक व्यक्ति को वैराग्यरूपी कुठार द्वारा संसाररूपी पीपल के वृक्ष को काटना चाहिये। सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति

को ही संग कहा जाता है। संसार में रहता हुआ जो सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति या संग का परित्याग करने में समर्थ हैं उनका स्वभाव निर्गुण है। वही व्यक्ति निर्गुण भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। सत्संग को भी असंग कहा जाता है। इसलिए बद्ध जीव को सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति में त्याग और सत्संग अर्थात् भक्तसंग का आश्रय लेकर संसार का समूल छेदन करना चाहिये। केवल संन्यास–वेश धारण करके जो वैराग्य का आचरण करते हैं, उनकी संसार में आसक्ति नष्ट नहीं होती। भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य तृष्णाओं का परित्याग कर परमरस रूप मेरी भक्ति का अवलम्बन करने से संसारनाशरूपी मुक्ति जीव को आनुषंगिक फल के रूप में प्राप्त हो जाती है। 12वें अध्याय में जो भक्ति का उपदेश दिया गया है, मंगलाकांक्षी व्यक्ति के लिए वही एक मात्र प्रयोजन है। पिछले अध्याय में समस्त ज्ञान की सगुणता और भक्ति के सेवक स्वरूप शुद्ध ज्ञान की निर्गुणता कही गई है। इस अध्याय में सभी प्रकार के वैराग्य की सगुणता एवं भक्ति के आनुषंगिक फल के रूप में इतर–वैराग्य की भी निर्गुणता प्रदर्शित हुई है ॥6 ॥

अन्वय - यत् (जिस वस्तु को) गत्वा (प्राप्त होकर) [शरणागत व्यक्ति वहां से] न निवर्तन्ते (संसार में वापस नहीं आते हैं) तत् (वह) मम (मेरा) परमम् (सब को प्रकाशित करने वाला) धाम (तेज है) तत् (उसको) सूर्यः (सूर्य) चन्द्रः (चन्द्र) पावकः (और अग्नि कोई भी) न भासयते (प्रकाशित नहीं कर पाते हैं) ॥ 6 ॥

टीका — तत्पदमेव कीदृशमित्यपेक्षायामाह— न तदिति। औ दुःखरहितं तत् स्वप्रकाशमिति भावः। तन्मम परमं धाम सर्वोत्कृष्टम् अजड़म् अतीन्द्रियं तेजः सर्वप्रकाशम्, यदुक्तं हरिवंशे—"तत् परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्। ममेव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत।।" इति, न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।" इति श्रुतिभ्यश्च।। 6।।

भावानुवाद - वह पद या धाम कैसा है? इस के उत्तर में कहते हैं, वह पद सर्दी–गर्मी इत्यादि दुःखों से रहित और स्वयंप्रकाशित है। वह मेरा परमधाम है, वह सब से श्रेष्ठ है एवं जड़ नहीं चेतन है, इन्द्रियातीत है और

वह सब को प्रकाशित करने वाला है। हरिवंशपुराण में कहा गया है कि वह श्रेष्ठ परब्रह्म समस्त जगत् को विभक्त करता है । हे भारत! उस ब्रह्म को मेरा ही घनीभूत तेज समझना चाहिए। श्रुति (कठ 2/2/15) में कहा गया है कि उस धाम को न तो सूर्य प्रकाशित करता है न हि चाँद , सितारे और विद्युत्, तो अग्नि की तो बात ही क्या? वह तो स्वयं प्रकाशित है उसी के तेज से सब प्रकाशित हैं॥ 6॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ 7॥

मर्मानुवाद - यदि कहो कि जीव की दो प्रकार की अवस्थायें कैसे हुई? तो सुनो- मैं पूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् हूँ। मेरे अंश दो प्रकार के हैं स्वांश और विभिन्नांश। अपने अंश से ही मैं राम, नृसिंहादि रूप से लीला करता हूँ जबकि विभिन्नांश से मेरे नित्यकिंकर के रूप में जीव प्रकट होते हैं। स्वांश प्रकाश अर्थात् राम-नृसिंह आदि अवतारों में मेरा अहं-तत्त्व सम्पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है जबकि विभिन्नांश प्रकाश अर्थात् जीवों में मेरा परमेश्वरीय अहं तत्त्व नहीं रहता। इससे जीवों में स्वसिद्ध एक अहं-तत्त्व उदित होता है। उसी विभिन्नांशगत तत्त्व स्वरूप जीवों की दो अवस्थायें है-मुक्त अवस्था एवं बद्ध अवस्था। दोनों अवस्थाओं में ही जीव सनातन अर्थात् नित्य है। मुक्त दशा में जीव सम्पूर्णरूप से मेरे आश्रित और सांसारिक सम्बन्धशून्य होते हैं जबकि बद्ध अवस्था में उपाधिग्रस्त जीव अपनी उपाधिरूपी स्वभाव में स्थित मन सहित पाँचों इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करता है॥ 7॥

अन्वय - मम एव (मेरे ही) सनातनः (नित्य) जीवभूतः (जीवरूपी) अंश (विभिन्न अंश) जीवलोके (जीव लोक में) प्रकृतिस्थानि (प्रकृति में स्थित हुआ) मनः षष्ठानि (मन सहित छः) इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को आकृष्ट करता है)।

टीका — त्वद्भक्त्या संसारमतिक्राम्यन् तत्पदगामी जीवः कः इत्यपेक्षायामाह—ममै
द्वेधायमिष्यते। विभिन्नांशस्तु जीवः स्यात्''इति। सनातनो नित्यः स च बन्ध
ादशायां मन एव षष्ठं येषां तानीन्द्रियाणि प्रकृतावुपाधौ

ममै

भावानुवाद – यहां प्रश्न उठता है कि हे भगवन्! आपकी भक्ति से संसार को पारकर आपके धाम पहुँचने वाले जीव कौन हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं– ममैवांश अर्थात् मेरे ही अंश हैं। जैसा कि वराह पुराणमें कहा गया है–भगवान् के दो प्रकार के अंश हैं स्वांश और विभिन्नांश। इनमें से विभिन्नांश ही जीव हैं। जीव सनातन अर्थात् नित्य है, किन्तु बद्ध दशा में वह प्रकृति की उपाधि में स्थित हुआ मन और पाँचो इन्द्रियों को आकर्षित करता है। 'यह सब कुछ मेरा है' – इस अभिमानरूप जंजीर से पाँव बन्धे की भान्ति खिंचा चला जाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ 8॥

मर्मानुवाद – ऐसी बात नहीं है कि मरने पर ही मायाबद्धता समाप्त होती है। जीव कर्मों के अनुसार स्थूल शरीर को प्राप्त करता है एवं समय आने पर परित्याग कर देता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय पहले शरीर सम्बन्धी कर्मवासना लेकर जाता है। वायु जिस प्रकार पुष्प–चन्दन से गन्ध लेकर अन्यत्र गमन करती है, उसी प्रकार जीव सूक्ष्म अवयवों सहित इन्द्रियों को लेकर एक से दूसरे स्थूल शरीर में गमन करता रहता है।। 8॥

अन्वय – ईश्वर (देहादि का स्वामी जीव) यत् (जिस) शरीरम् (शरीर को) अवाप्नोति (प्राप्त होता है) यत् च अपि (और जिस शरीर को) उत्क्रामति (त्यागता है) वायुः (वायु के) आशयात् (पुष्पादि से) [त्यागे हुये शरीर से] गन्धान् इव (गन्ध ग्रहण की तरह) एतानि (इन छः इन्द्रियों को) गृहीत्वा (ग्रहण करते हुए) शरीरान्तरे (दूसरे शरीर में) संयाति (गमन करता है)।। 8॥

टीका – तान्याकृष्य किं करोतीत्यपेक्षायामाह—शरीरमिति। यत् स्थूलशरीरं कर्मवशादवाप्नोति, यच्च यस्माच्च शरीरादुत्क्रामति निष्क्रामति ईश्वरः देहेन्द्रियादिस्वामिजीवः, तस्मात्तत्र एतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मै
गृहीत्वै
सकाशात् सूक्ष्मावयवै

भावानुवाद – इन छः इन्द्रियों को आकर्षित करके वह क्या करता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि जब कर्मों के वशीभूत होकर जीव जिस स्थूल शरीर को प्राप्त करता है और जिस पूर्व शरीर का त्याग करता है तब देह–इन्द्रियों का स्वामी वह जीव पहले शरीर से सूक्ष्म शरीर और छः इन्द्रियों के साथ ही नये शरीर में गमन करता है। ठीक वैसे ही जैसे वायु चन्दनादि से सूक्ष्म अवयवों के साथ गन्ध ग्रहण कर दूसरे स्थान पर जाता है।

श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ 9॥

मर्मानुवाद – दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त करके कर्ण, आँखें, त्वचा, रसना और नासिका इत्यादि बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से मन ही विषयों का सेवन करता रहता है॥ 9॥

अन्वय – अयम् (यह जीव) श्रोत्रम् (कर्ण) चक्षुः (आँख) स्पर्शनम् (त्वचा) रसनम् (जिह्वा) घ्राणम् (नासिका) मनः च (और मन को) अधिष्ठाय (आश्रय करके) विषयान् (शब्दादि विषयों का) उपसेवते (भोग करता है)

टीका — तत्र गत्वा किं करोतीत्यत आह— श्रोत्रमिति। श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि मनश्चाधिष्ठायाश्रित्य विषयान् शब्दादीनुपभुङ्क्ते।।9।।

भावानुवाद – नये शरीर में जाकर क्या करता है– इसके उत्तर में कहते हैं कि नये शरीर में गमनकर आँख, कान, नाक, त्वचा, रसना आदि इन्द्रियों और मनका आश्रय लेकर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि विषयोंका सेवन करता है॥ 9॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ 10॥

मर्मानुवाद –मूढ़ लोग विवेकपूर्ण विचार करने पर भी जीव की विभिन्न अवस्थाओं जैसे कि –शरीर छोड़कर जाते हुए , शरीर में रहते हुए या विषय भोगते हुए, को नहीं समझ पाते हैं जबकि शुद्ध ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति ही इन सब का अनुभव कर निश्चित कर पाते हैं कि बद्ध अवस्था जीव के लिए बड़ी कष्टदायक है॥10॥

अन्वय – उत्क्रामन्तम् (शरीर से जाते हुए) व स्थितम् (शरीर में रहते

हुए) वा भुञ्जानम् (या विषयों को भोगते हुए) गुणान्वितम् (इन्द्रियों से युक्त जीव को) विमूढा: (अज्ञानी जन) न अनुपश्यन्ति (देख नहीं पाते) ज्ञान-चक्षुष: (केवल विवेकी पुरुष ही) पश्यन्ति (देखते हैं) ॥10॥

टीका — ननु यस्मात् देहान्निष्क्रामति यस्मिन् देहे वा तिष्ठति तत्र स्थित्वा वा यथा भोगान् भुङ्क्ते इत्येवं विशेषं नोपलभामहे? तत्राह—उत्क्रामन्तं देहान्निष्क्रामन्तं स्थितं देहान्तरे वर्त्तमानञ्च विषयान् भुञ्जानञ्च गुणान्वितमिन्द्रियादिसहितं विमूढा अविवेकिनः ज्ञानचक्षुषो विवेकिनः।। 10।।

भावानुवाद - जिस देह का त्याग करते हैं एवं जिस देह में प्रवेश करते हैं, उस शरीर में रहते हुए जिस प्रकार उनके विषयों को भोगने की बात आपने कही वह मैं समझ नहीं पाया? इसके उत्तर में कहते हैं कि मूढ़ व्यक्ति माया मे फंसे होने के कारण जीव-तत्त्व को समझ नहीं पाते, जबकि विवेकवान् व्यक्ति ज्ञानचक्षुओं द्वारा उसकी सभी अवस्थाओं का अनुभव करते हैं॥10॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ 11॥

मर्मानुवाद - आत्मतत्त्व में अवस्थित होने के कारण यत्नवान् योगी ही बद्धजीव की इस प्रकार की गति की चर्चा करते हैं, जबकि अशुद्ध चित्त संन्यासी तो चित्तत्त्व की चर्चा के अभाव में जीवात्मा के तत्त्व से अवगत ही नहीं होते॥ 11॥

अन्वय - यतन्तः (यत्नशील) योगिनः (योगिजन) आत्मनि (शरीर में) अवस्थितम् (अवस्थित) एनम् (इस आत्मा का) पश्यन्ति (दर्शन करते हैं); अकृतात्मानः (अशुद्ध चित्त) अचेतसः (अज्ञानी) यतन्तः अपि (यत्न करने पर भी) एनम् (इस आत्मा को) न पश्यन्ति (नहीं देख पाते हैं)।। 11॥

टीका — ते च विवेकिनो यतमाना योगिन एवेत्याह—यतन्त इति। अकृतात्मानोऽशुद्धचित्ताः।। 11।।

भावानुवाद - प्रयत्नशील विवेकी योगी शरीर में स्थित आत्मा को जान लेते हैं, किन्तु प्रयत्नहीन अशुद्ध चित्त वाले लोग नहीं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ 12॥

मर्मानुवाद - यदि कहो कि संसार में फंसा जीव जड़ वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी विषय की भी आलोचना करने में समर्थ नहीं है तब उसके द्वारा चिद् वस्तु की आलोचना कैसे सम्भव हो सकेगी? तब सुनो! जड़ संसार में भी मेरी चित् सत्ता देदीप्यमान है। उसका सहारा लेने मात्र से ही क्रमशः शुद्धचित्त की प्राप्ति और जड़चित्त का नाश सम्भव है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि में जो अखिल जगत् को प्रकाशित करने वाला तेज देख रहे हो वह तेज मेरा ही है, किसी दूसरे का नहीं ॥ 12 ॥

अन्वय - आदित्यगतम् (सूर्य में स्थित) यत् (जो) तेजः (तेज) चन्द्रमसि (चन्द्र में) यत् (जो तेज) अग्नौ च (और अग्नि में) यत् (जो तेज) अखिलम् (समस्त) जगत् (जगत् को) भासयते (प्रकाशित करता है) तत् (वह) तेजः (तेज) मामकम् (मेरा ही) विद्धि (जानना)।। 12 ॥

टीका — तदेवं जीवस्य बद्धावस्थायां यत् यत् प्राप्यवस्तु, तत्राहमेव सूर्यचन्द्राद्यात्मकः सन् उपकरोमीत्याह—यदिति त्रिभिः। आदित्यस्थितं तेज एवोदयपर्वते प्रातरुदित्य जीवस्य दृष्टादृष्टभोगसाधनकर्मप्रवर्त्तनार्थं जगद्भासयते एवञ्च यच्चन्द्रमसि अग्नौ
भवामीत्यर्थः। मत्तेजस एव तत्तद्विभूतिरिति भावः।। 12।।

भावानुवाद - जीव की बद्धावस्था में उसको प्राप्त होने योग्य जो जो वस्तुएँ है, उन सब में मैं ही सूर्य, चन्द्र आदि के रूप में उपकार करता हूँ। यही बात इन तीन श्लोकों में कही गई है। 'आदित्यगतं तेजः' श्रीभगवान् बोले - सूर्य में तेजरूप से अवस्थित होकर प्रातः उदय - पर्वत से उदित होकर जीव के दृष्ट और अदृष्ट के भोगसाधन कर्मों के प्रवर्त्तन के लिए मैं जगत् में प्रकाश करता हूँ एवं अग्नि और चन्द्र में जो तेज है, वह 'मामकम्' मेरा ही तेज है, उनका अपना या किसी और का नहीं। सूर्य-चन्द्रादि नामों से मैं ही विद्यमान हूँ। मेरे ही तेजसे सम्पन्न वे सब मेरी विभूतियां मानी गई हैं।। 12 ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ 13 ॥

मर्मानुवाद - मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति द्वारा समस्त प्राणियों को धारण कर रहा हूँ। रसमय चन्द्र के रूप में मैं ही धान्य आदि तमाम औषधियों का पोषण कर रहा हूँ॥ 13 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) ओजसा (शक्ति द्वारा) गाम् (पृथ्वी में) आविष्य (अधिष्ठित होकर) भूतानि (चराचर प्राणियों को) धारयामि (धारण करता हूँ) रसात्मकः (और अमृतमय) सोमः भूत्वा (चन्द्र होकर) सर्वाः (समस्त) ओषधीः (सम्पूर्ण औषधियों को) पुष्णामि (पुष्ट कर रहा हूँ) ॥ 13 ॥

टीका — गां पृथ्वीम् ओजसा स्वशक्त्या आविश्य अधिष्ठाय अहमेव चराचराणि भूतानि धारयामि तथाहमेवामृतरसमयः सोमो भूत्वा ब्रीह्याद्योषधीः संवर्द्धयामि।। 13।।

भावानुवाद – श्रीभगवान् कह रहे हैं 'गाम्' अर्थात् पृथ्वी का, 'ओजसा' अपनी शक्ति द्वारा 'आविश्य' अधिष्ठान करके मैं ही चराचर जगत् को 'धारयामि' धारण करता हूँ एवं मैं ही अमृतरसमय 'सोम' चन्द्र होकर धान इत्यादि ओषधियों का भलीभाँति पोषण करता हूँ ॥ 13 ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 14 ॥

मर्मानुवाद – मैं प्राणियों के शरीर में जठराग्नि के रूप में प्रवेश कर प्राण और अपान वायु के संयोग से 'भक्ष्य', 'भोज्य', 'लेह्य' और 'चूष्य' चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ। इसलिए मैं ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य के अनुसार ब्रह्म हूँ।। 14 ॥

अन्वय – अहम् (मैं) वैश्वानरः (जठराग्नि) भूत्वा (होकर) प्राणिनाम् (प्राणियों के) देहम् (शरीर को) आश्रितः (आश्रय करके) प्राणापानसमायुक्तः (प्राण और अपान वायु के संयोग से) चतुविर्धम् (चार प्रकार के) अन्नम् (अन्न को) पचामि (पचाता हूँ) ।। 14 ॥

टीका — वै
चतुर्विधं 'भक्ष्यं' 'भोज्यं' 'लेह्यं' 'चूष्यम्'—'भक्ष्यं' दन्तछेद्यं भ्रष्टचणकादि, 'भोज्यं' ओदनादि, 'लेह्यं' गुड़ादि, 'चूष्यम्' इक्षुदण्डादि।। 14।।

भावानुवाद – 'वैश्वानर' जठर यानि पेट की अग्नि के रूप में मैं ही 'प्राणापानसमायुक्तः' उसके उत्प्रेरक प्राण–अपान वायु के सहयोग से 'भक्ष्यम्' दांतों के द्वारा चबाये जाने वाले जैसे भुने चने इत्यादि, 'भोज्यम्' चपाती, चावल इत्यादि, 'लेह्यम्' गुड़–रबड़ी आदि और 'चूष्यम्' गन्ना

इत्यादि, 'चतुर्विधम्' इन चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।। 14॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ 15॥

मर्मानुवाद – मैं ही सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर के रूप में विद्यमान हूँ। मुझ से ही जीवों को कर्मफलानुसार स्मृति और ज्ञान होता है एवं इन दोनों की विस्मृति होती है। इसलिए मैं केवल जगत् में व्याप्त ब्रह्ममात्र नहीं हूँ, अपितु जीव के हृदय में स्थित कर्मफल प्रदान करने वाला परमात्मा भी हूँ। केवल ब्रह्म और परमात्मा रूप से जीव का उपास्य ही नहीं अपितु जीव का नित्य मंगल विधाता स्वरूप मैं जीव को उपदेश करने वाला भी हूँ। मैं ही सब वेदों का जानने योग्य विषय, वेदों का रचने वाला और वेदों का ज्ञाता भी मैं ही हूँ इसलिए सब जीवों के मंगल के लिए 'प्रकृतिगत ब्रह्म', जीव के हृदय में स्थित ईश्वर या परमात्मा एवं परमार्थदाता भगवान् इन तीन रूपों में प्रकाशित होकर मैं ही बद्ध जीवों का उद्धार करने वाला हूँ ॥ 15॥

अन्वय – अहम् (मैं) सर्वस्य (सभी प्राणियों के) हृदि (हृदय में) सन्निविष्टः(अन्तर्यामी रूप में प्रविष्ट हूँ) मत्तः (मुझ से ही) स्मृति (स्मरण) ज्ञानम् (ज्ञान) अपोहनं च (स्मृति और ज्ञान का नाश होता है) सर्वैः वेदैः (समस्त वेदों द्वारा) अहम् एव (मैं ही) वेद्यः (जानने योग्य हूँ) वेदान्तकृत् (वेदव्यास रूप से वेद के अर्थ का निर्णय करने वाला) वेदविद् च (और वेदों को जानने वाला भी) अहम् एव (मैं ही हूँ) ॥ 15॥

टीका — यथै जठरे जठराग्निरहं तथै
सन्निविष्टो बुद्धितत्त्वरूपोऽहमेव; यतः मत्तो बुद्धितत्त्वादेव पूर्वानुभूतार्थ— विषयानुस्मृतिर्भवति, तथा विषयेन्द्रिययोगजं ज्ञानञ्च अपोहनं स्मृतिज्ञानयोरपगमश्च भवतीति। जीवस्य बद्धावस्थायां स्वस्योपकारकत्वमुक्त्वा मोक्षावस्थायां यत्प्राप्यं तत्राप्युपकारकत्वमाह—वेदै
वेदान्तकृदहमेव, यतो वेदवित् वेदार्थतत्त्वज्ञोऽहमेव—मत्तोऽन्यो वेदार्थं न जानातीत्यर्थः।। 15।।

भावानुवाद – श्रीभगवान् कहते हैं– जिस प्रकार मैं पेट में जठराग्नि के रूप में रहता हूँ, उसी प्रकार चराचर प्राणियों के हृदय में बुद्धि–तत्त्व रूप से

विराजमान हूँ, इसलिऐ मेरे द्वारा ही पहले सम्पूर्ण अनुभव किये गये विषयों की स्मृति होती है और विषयों सहित इन्द्रियों के संयोग द्वारा ज्ञान होता है। स्मृति और ज्ञान का नाश भी मेरे द्वारा ही होता है। आगे भगवान् बद्ध दशावाले जीवों पर अपने द्वारा किया गया उपकार बता कर मोक्ष–अवस्था में प्राप्त होने योग्य उपकारों के विषय में कहते हैं– वेदव्यास द्वारा मैं ही वेदान्त का कर्त्ता हूँ इसलिए 'वेदार्थतत्त्वज्ञोऽहमेव' वेदों का यथार्थ अर्थ जानने वाला मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और कोई भी वेदों का यथार्थ अर्थ नहीं जानता है ॥ 15 ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ 16 ॥

मर्मानुवाद – यदि कहो कि प्रकृति एक ही है – यह तो समझ में आ गया किन्तु चैतन्य स्वरूप पुरुष कितने हैं, यह समझ में नहीं आया, तो सुनो। 'क्षर' और 'अक्षर' इन दोनों को छोड़ और कोई पुरुष नहीं है। मेरे विभिन्न अंश जीव को ही 'क्षर पुरुष' कहा जाता है । जो अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है वह 'क्षर' है। अपने वास्तविक स्वरूप भगवद् दास्य के स्तर से गिर कर तटस्थ स्वभाववश ही जीव को 'क्षर' पुरुष कहा गया है और दूसरी तरफ जो अपने स्वरूप से कभी क्षरित अर्थात् गिरते नहीं वही 'स्वांश' तत्त्व ही अक्षर पुरुष है। अक्षर पुरुष का ही दूसरा नाम कूटस्थ पुरुष है। उसी कूटस्थ अक्षर पुरुष के तीन प्रकाश हैं। जगत् की सृष्टि होने पर जगत् में सर्वव्यापी सत्ता के स्वरूप में एवं उसके तमाम धर्मों की विपरीत अवस्थाओं में जो अक्षर पुरुष लक्षित होता है, वही 'ब्रह्म' है, इसलिए ब्रह्म – जगत्सम्बन्धी तत्त्व विशेष है, स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है, और जगत् में चित्स्वरूप जीवों को आश्रय प्रदान कर जो प्रकाश किञ्चित् परिमाण में शुद्धचित्तत्त्व का प्रकाशक है वही 'परमात्मा' है वह भी जगत्सम्बन्धी तत्त्व विशेष है, स्वतन्त्र नहीं है।

अन्वय – लोके (चौदह भुवनों में) क्षरः (क्षर) अक्षरः एव च (और अक्षर) इमौ द्वौ (ये दोनों) पुरुषौ (चेतन) स्तः (हैं) सर्वभूतानि (जड़ वस्तु से ब्रह्मा जी तक सभी स्वरूप भूल जाने के कारण) क्षर (क्षर हैं) कूटस्थ (और अविच्युत रूप से सर्वकाल व्यापी पुरुष) [ज्ञानियों द्वारा](अक्षर शब्द से) उच्यते (कहे जाते हैं) ॥ 16 ॥

टीका – यस्मादहमेव वेदवित् तस्मात् सर्ववेदार्थनिष्कर्षं संक्षेपेण ब्रवीमि शृणु इत्याह—द्वाविमाविति त्रिभिः। लोके चतुर्द्दशभुवनात्मके जडप्रपञ्चे इमौ
भवतीति क्षरो जीवः स्वरूपान्न क्षरतीत्यक्षर ब्रह्मै
ब्राह्मणा विविदिषन्ति'' इति श्रुतेः ''अक्षरं ब्रह्म परमम्'' इति स्मृतेश्च अक्षर-शब्दो ब्रह्मवाचक एव दृष्टः। क्षराक्षरयोरर्थं पुनर्विशदयति सर्वाणि भूतानि एको जीव एव अनाद्यविद्ययास्वरूपविच्युतः सन् कर्मपरतन्त्रः समष्ट्यात्मको ब्रह्मादिस्थावरान्तानि भूतानि भवतीत्यर्थः। जात्या वा एकवचनम्। द्वितीयपुरुषोऽक्षरस्तु कूटस्थ एकेनै
''एकरूपतया तु यः कालव्यापी, स कूटस्थः'' इत्यमरः।।16।।

भावानुवाद – भगवान् कहते हैं–क्योंकि मैं ही वेदों को जानने वाला हूँ इसलिए संक्षेपमें सभी वेदों का निष्कर्ष इन तीन श्लोकों में कह रहा हूँ । सुनो! चौदह भुवनों वाले इस जड़ प्रपञ्च में दो चेतन पुरुष हैं। वे कौन हैं, बता रहे हैं- पहला चेतन पुरुष है जीव, जो कि अपने स्वरूप से पतित हो जाने के कारण 'क्षर' कहलाता है तथा दूसरा चेतन पुरुष है 'ब्रह्म', जो कभी भी स्वरूपसे विच्युत नहीं होने के कारण 'अक्षर' कहलाता है। श्रुति कहती है – 'ब्रह्मविद् ब्राह्मणगण इन्हें ही अक्षर कहते हैं।' स्मृतिमें भी ब्रह्मको ही अक्षर कहा गया है – 'अक्षरं ब्रह्म परमम् ।' 'क्षर' और 'अक्षर' शब्दों के अर्थ को विशेषभाव से बताते हुए पुनः कहते हैं कि 'सर्वाणि भूतानि' समस्त जीव अनादि अविद्या द्वारा स्वरूप से पतित होकर कर्म परतन्त्र हुए समष्टि स्वरूप ब्रह्मासे लेकर स्थावर तक योनियों में भ्रमण करता है । यहाँ जातिवाचक संज्ञाके लिए एकवचन का प्रयोग हुआ है, किन्तु द्वितीय, अक्षर पुरुष 'कूटस्थ' अर्थात् एक ही स्वरूप से सर्वकालव्यापी है। अमरकोष में पाया जाता है – जो एक ही रूप से सर्वकालव्यापी है, वही कूटस्थ है ।।16।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 17 ॥

मर्मानुवाद – परमात्मा ही द्वितीय अक्षर पुरुष है। सामान्यतः अक्षर-पुरुषरूप ब्रह्म से उत्तम है। वही ईश्वर है एवं तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर पालकरूप से विराजमान है॥ 17 ॥

अन्वय – यः (जो) ईश्वरः (ईश्वर) अव्ययः (निर्विकार होकर) लोकत्रयम् (तीनों लोकों में) आविश्य (प्रवेश कर सबका) बिभर्त्ति (पालन करता है) [सः] [वह] उत्तमः (उत्तम) पुरुषः (पुरुष) तु अन्यः [अक्षर प्रकाश से] (विलक्षण प्रकाश वाला) [योगियों द्वारा] परमात्मा (परमात्मा) इति (शब्द से) उदाहृतः (कहा गया है) ॥ 17 ॥

टीका — ज्ञानिभिरुपास्यं ब्रह्मोक्त्वा योगिभिरुपास्यं परमात्मानमाह— उत्तम इति। तु-शब्दः पूर्ववै
वै
ईशनशीलोऽव्ययो निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नमाविश्य बिभर्त्ति धारयति पालयति च।।17।।

भावानुवाद – ज्ञानियोंके उपास्य ब्रह्म के विषय में कहने के बाद अब योगियों के उपास्य परमात्मा के विषय में कहते हैं, 'तु' शब्द पहले की अपेक्षा विशेष होने का प्रतीक है। 'ज्ञानिभ्यश्चाधिको योगी' (गीता 6/46) अर्थात् योगी ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ है। उपासक की विशेषता से उपास्य की विशेषता भी जानी जाती है। परमात्मतत्त्व के बारे में कहते हैं, कि जो ईश्वर है, शासक है, निर्विकार भाव से सम्पूर्ण विश्व में प्रविष्ट होकर उसको धारण एवं पालन करता है, वह परमात्मा है ।।17।।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥18॥

मर्मानुवाद – तृतीय एवं सर्वश्रेष्ठ अक्षर पुरुष का नाम 'भगवान्' है। मैं ही वह भगवान् हूँ, मैं ही क्षर पुरुष जीव से अतीत हूँ एवं अक्षर पुरुष ब्रह्म और परमात्मा से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोकों में और वेदों में मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं। इसलिए यही सिद्धान्त जानना कि क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। इनमें अक्षर पुरुष के तीन प्रकार हैं– समान्य प्रकाश 'ब्रह्म', उत्तम प्रकाश 'परमात्मा' और सर्वोत्तम प्रकाश 'भगवान्' हैं॥ 18 ॥

अवन्य – यस्मात् (क्योंकि) अहम् (मैं) क्षरम् (क्षर से) अतीतः (अतीत हूँ) अक्षरात् (अक्षर ब्रह्म) अपि च (एवं परमात्मा से भी) उत्तमः (उत्तम हूँ) अतः (इसलिए) लोके च (लोक) वेदे च (और वेदों में) पुरुषोत्तमः (पुरुषोत्तम नाम से) प्रथितः (प्रसिद्ध) अस्मि (हूँ) ॥ 18 ॥

टीका — योगिभिरुपास्यं परमात्मानमुक्त्वा भक्तै
भगवत्त्वेऽपि स्वस्य कृष्णस्वरूपस्य पुरुषोत्तम इति नाम व्याचक्षाणः सर्वोत्कर्षमाह—यस्मादिति। क्षरं पुरुषं जीवात्मानम् अतीतः अक्षरात् पुरुषात् ब्रह्मत उत्तमादविकारात् परमात्मनः पुरुषादप्युत्तमः। "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।" इति उपासकवै
सकाशादपि "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति सूतोक्तेरहमुत्तमः। अत्र यद्यप्येकमेव सच्चिदानन्द-स्वरूपं वस्तु ब्रह्मपरमात्मभगवत्शब्दै
"स्वरूपद्वयाभावात्" (श्रीमद्भा॰ 6/9/36) इति षष्ठस्कन्धोक्तेः, तदपि तत्तदुपासकानां साधनतः फलतश्च भेददर्शनात् भेद इव व्यवह्रियते। तथा हि ब्रह्मपरमात्मभगवदुपासकानां क्रमेण तत्तत्प्राप्तिसाधनं ज्ञानं योगो भक्तिश्च, फलञ्च ज्ञानयोगयोर्वस्तुतो मोक्ष एव, भक्तेस्तु प्रेमवत् पार्षदत्वञ्च, तत्र भक्त्या विना ज्ञानयोगाभ्यां "नै
बहवोऽपि योगिनः" इत्यादि दर्शनात् न मोक्ष इति। ब्रह्मोपासकै
स्वसाध्यफलसिद्ध्यर्थं भगवतो भक्तिरवश्यं कर्त्तव्यै
स्वसाध्यफलसिद्ध्यर्थं न ब्रह्मोपासनापि परमात्मोपासना क्रियते,—"न ज्ञानं न च वै
यत्" इत्यादौ
कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।।" इति, "या वै
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।" इत्यादि वचनेभ्यः। अतएव भगवदुपासनया स्वर्गापवर्गप्रेमादीनि सर्वफलान्येव लब्धुं शक्यन्ते। ब्रह्म-परात्मोपासनया तु न प्रेमादीनीत्यत एव ब्रह्मपरमात्माभ्यां भगवदुत्कर्षः खलु अभेदेऽप्युच्यते, यथा तेजस्त्वेनाभेदेऽपि ज्योतिर्दीपाग्निपुञ्जेषु मध्ये शीताद्यार्त्तिक्षयाद्धेतोरग्निपुञ्जएव श्रेष्ठ उच्यते, तत्रापि भगवतः श्रीकृष्णस्य तु परम एवोत्कर्षः, यथा अग्निपुञ्जादपि सूर्यस्य, येन ब्रह्मोपासना-परिपाकतो लभ्यो निर्वाण-मोक्षः स्वद्वेष्टृभ्योऽप्यघबक-जरासन्धादिभ्यो महापापिभ्यो दत्तः इति। अत एव "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इत्यत्र यथावदेव व्याख्यातं श्रीधर-स्वामिचरणै
श्रुतिगिरां, व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम्। विहन्तुं भूभारं विदध

ादवतारं मुहुरहो ततो वारं वारं भजत कुशलारम्भकृतिनः।।" इति, "वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुण- विम्बफलाधरोष्ठात्। पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।" इति, "प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः।।" इत्युक्तवद्भिः कृष्णे सर्वोत्कर्ष एव व्यवस्थापितः इत्यतः "द्वाविमौ इत्यादि श्लोकत्रयस्यास्य व्याख्यायामस्यामभ्यसूया नाविष्कर्त्तव्या, नमोऽस्तु केवलविद्भ्यः।। 18।।

भावानुवाद - योगियों के उपास्य परमात्माके विषय में बताकर अब भक्तों के उपास्य भगवान् के विषय में बताते हुए अपने श्रीकृष्णस्वरूप की व्याख्या करते हैं कि मैं पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही क्षर पुरुष जीवात्मा और 'अक्षर' ब्रह्म से उत्तम हूँ तथा अविकारी परमात्मा से भी उत्तम हूँ। 'योगिनामपि...' अर्थात् योगियों में भी वे योगी उत्तम हैं, जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करते हैं (6/47)। इस वाक्य के अनुसार उपासक की विशेषता से उपास्य की विशेषता भी समझी जाती है। 'च' से वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण से भी श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, क्योंकि सब अवतारों में से कोई तो कृष्ण का अंश है, कोई कला है, किन्तु कृष्ण स्वयं-भगवान् हैं-श्रीमद्भागवत (1/3/28)की सूत गोस्वामी की इस उक्तिके अनुसार श्रीकृष्ण ही उत्तम हैं। यद्यपि यहाँ पर सच्चिदानन्द स्वरूपविशिष्ट वस्तु ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन शब्दों द्वारा कही गई है, तथापि उनमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। श्रीमद्भागवत (6/9/35) में कहा गया है - 'स्वरूपद्वयाभावात्' अर्थात् वस्तुतः स्वरूप में कोई भी भेद नहीं है, उसके दो स्वरूप नहीं हैं। फिर भी ब्रह्म-परमात्मा-भगवान् इन तीनों के उपासको, उनकी प्राप्ति के साधन और फल का भेद देखने से भेद के समान व्यवहार होता है। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीनों की प्राप्ति के साधन क्रमशः ज्ञान, योग और भक्ति हैं। ज्ञान और योग का फल मोक्ष है जबकि भक्ति का फल है श्रीकृष्ण के प्रेमयुक्त पार्षदरूप की प्राप्ति।

श्रीमद्भागवत (1/5/12) में कहा गया है - अच्युत भगवान् की भक्ति के बिना 'नैष्कर्म्यरूप ब्रह्मज्ञान शोभा नहीं पाता,' तथा श्रीमद्भागवत (10/14/5) में कहा है, 'हे भूमन्! प्राचीनकाल में इस लोक में अनेक योगी हुए हैं, किन्तु जब उन्हें योग आदि द्वारा आपकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने अपने

समस्त कर्म आपके चरणों में समर्पित कर दिए, तब उन्हें आपकी भक्ति की प्राप्ति हुई फिर उस भक्ति से आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें बड़ी सुगमता से आपके पद की प्राप्ति हुई ।' इन वाक्यों से यह जाना जाता है कि भक्ति के बिना ज्ञान और योग से मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता है। ब्रह्म और परमात्मा दोनों के उपासकों के लिए अपने-अपने साधनों के फल की सिद्धि के लिए भगवान् की भक्ति अत्यन्त अनिवार्य है। किन्तु भगवान् के उपासकों को अपने फल की सिद्धि के लिए ब्रह्म और परमात्मा की उपासना करणीय नहीं है। श्रीमद्भागवत (11/20/31) में भगवान् ने कहा है - 'मेरे भक्तियोगी के लिए ज्ञान या वैराग्य को मंगल का साधन नहीं माना जाता है' श्रीमद्भागवत (11/20/32-33)में और भी कहा है - 'कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म एवं अन्य कल्याण साधनों द्वारा स्वर्ग, मोक्ष जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब मेरे भक्त मेरे भक्तियोग द्वारा सहज ही प्राप्त कर लेते हैं, चाहे मेरा वैकुण्ठधाम ही क्यों न हो। 'चारों पुरुषार्थों के लिए जो साधन सम्पत्ति है, श्रीनारायण के आश्रित व्यक्ति उससे अधिक ही प्राप्त करते हैं— कहने का भाव यह है कि भगवान् की उपासना से स्वर्ग, मुक्ति एवं प्रेम इत्यादि सभी प्रकार के फल प्राप्त होते हैं, जबकि ब्रह्म और परमात्मा की उपासना से प्रेमभक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव ब्रह्म और परमात्मा से भगवान् का अभेद होने पर भी भगवान् को ही श्रेष्ठ कहा गया है। जिस प्रकार ज्योति, दीपक, अग्नि - सभी तेजस्वी पदार्थ हैं। सभी पदार्थ अभिन्न होने पर भी ठण्ड इत्यादि क्लेशों को दूर करने के कारण अग्नि को ही श्रेष्ठ कहा जाता है और अग्नि से अधिक सूर्य की प्रधानता है, इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ही परमोत्कर्ष हैं। ब्रह्म की उपासना के सिद्ध होने पर जो निर्वाणरूप मोक्ष प्राप्त होता है, वह श्रीकृष्ण ने अपने विद्वेषी, महापापी, अघासुर, बकासुर, जरासन्ध आदिको मार कर प्रदान किया है। अतएव श्रीधरस्वामिपाद ने - 'मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' - इस वाक्य की यथायथ विस्तृत व्याख्या की है। श्रीमधुसूदनसरस्वती पाद ने भी निम्नलिखित उक्तियों द्वारा श्रीकृष्ण की ही सर्वश्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है, यथा - 'श्रुतियों में कहा गया है कि कुशल चाहने वाले साधक चिदानन्दाकार, जलदरुचिसार, व्रजगोपियोंके कण्ठ के हारस्वरूप, बुद्धिमान् लोगों के लिए भवसमुद्र से पार होने के उपायस्वरूप, भूभारहरण के लिए बार-बार

अवतारलीला ग्रहण करने वाले श्रीकृष्णचन्द्र का ही बार–बार भजन करें।' वंशीविभूषितकरयुक्त, नवनीरदवर्ण, पीताम्बरवस्त्रधारी, अरुण बिम्बफल जैसे होठों वाले, पूर्णिमा के चाँद जैसे मुखवाले कमलनयन श्रीकृष्ण से भी कोई श्रेष्ठ तत्त्व है— मैं नहीं जानता अर्थात् है ही नहीं'। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के द्वारा भी श्रीकृष्ण की अद्भुत महिमा गायी गई है, जिनके लिए यह असहनीय है, वे मूढ़ एवं नरकगामी हैं।' उपर्युक्त शास्त्र–प्रमाणों द्वारा श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठता ही स्थापित हुई है। इसलिए इस अध्याय के तीन श्लोकों की इस व्याख्या के प्रति द्वेष करना उचित नहीं हैं। अभेदवादियों को नमस्कार है।। 18।।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ 19॥

मर्मानुवाद – जो विभिन्न मतवादों से मोह को प्राप्त नहीं होते एवं मेरे इसी सच्चिदानन्द स्वरूप को पुरुषोत्तम तत्त्व के रूप में जानते हैं। वही सब जानने वाले और हर प्रकार से मेरा भजन करने में समर्थ है॥ 19॥

अन्वय – भारत (हे भारत) यः (जो) एवं (इस प्रकार) असंमूढः (निःसन्देह) माम् (मुझे) पुरुषोत्तमम् (पुरुषोत्तम के रूप में) जानाति (जानते हैं) सः (वह) सर्वविद् (सर्वज्ञ) माम् (मुझ को) सर्वभावेन (हर प्रकार से) भजति (भजन करते हैं)।

टीका — नन्वेतस्मिंस्त्वया व्यवस्थापितेऽप्यर्थे वादिनो विवदन्त एव, तत्र विवदन्तां ते मन्मायामोहिताः, साधुस्तु न मुह्यतीत्याह—यो मामिति। असंमूढो वादिनां वादै
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः। तदन्यः किलाधीताध्यापितसर्वशास्त्रोऽपि संमूढः सम्यङ्मूर्ख एवेति भावः। तथा य एवं जानाति, स एव मां सर्वतोभावेन भजति, तदन्यो भजन्नपि न मां भजतीत्यर्थः।। 19।।

भावानुवाद – यदि कहो कि आपके इस व्यवस्थापित अर्थ में अभेदवादी विवाद कर सकते हैं, तो सुनो– मेरी माया से मोहित होने के कारण मूढ़ व्यक्ति भले ही विवाद करें, किन्तु साधुजन विवाद नहीं करेंगे। इन वादियों की तरह जिनको संमोह नहीं हुआ है, वे शास्त्राध्ययन न करने पर भी सब

शास्त्रों के ज्ञाता हैं एवं इसके विपरीत अन्य व्यक्ति सभी शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन करने पर भी निरे मूर्ख ही हैं। जो इस प्रकार सर्वोत्तम तत्त्व मुझे जानते हैं, वे हर प्रकार से मेरा ही भजन करते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य लोग भजन करते हुए भी मेरा भजन नहीं करते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ 20॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – हे निष्पाप! यह पुरुषोत्तम योग ही सबसे गुह्यतम शास्त्र है। इससे अवगत होने पर बुद्धिमान् जीव धन्य हो जाता है। हे भारत! इस योग के विषय में जानने पर भक्ति के आश्रयगत और विषयगत सभी मल दूर हो जाते हैं। भक्ति एक वृत्तिविशेष है। भक्ति सुचारुरूप से करने के लिए इसका आश्रयस्थान जीव की शुद्धता और विषयस्थानीय भगवान् का पूर्ण आविर्भाव दोनों ही नितान्त आवश्यक हैं। जब तक भगवान् को ब्रह्म या परमात्मा समझता रहे, तब तक जीव विशुद्ध भक्तिक्रिया प्राप्त नहीं करता। पुरुषोत्तम बुद्धि होने पर ही भक्ति विशुद्धरूप से होनी शुरू होती है॥ 20॥

पन्द्रहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय – अनघ (हे निष्पाप) भारत (हे भारत) इति (इस संक्षिप्त रूप से) गुह्यतमम् (अति रहस्यमय) इदम् (तीनों लोकों में) शास्त्रम् (शास्त्र) मया (मेरे द्वारा) उक्त (कहा गया है) एतत् (यह) बुद्ध्वा (मालूम पड़ने पर (मानव) बुद्धिमान् (सम्यक् ज्ञानी) कृतत्कृत्यः च (कृतार्थ) स्यात् (होते हैं) ॥ 20॥

टीका — अध्यायार्थमुपसंहरति — इतीति। विंशत्या श्लोकै शास्त्रमेव सम्पूर्णं मयोक्तम्।। 20।।

जडचै
कृष्ण एव महोत्कर्ष इत्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वयं पञ्चदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद – अध्याय का उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं – इन बीस श्लोकों में अतिरहस्यपूर्ण शास्त्र सम्पूर्ण रूप से मेरे द्वारा

कहा गया है।। 20।।

इस अध्याय में जड़ और चेतनसमूह का विवरण युक्त विचार करने के बाद यही निर्णित हुआ है कि श्रीकृष्ण ही सबसे उत्कृष्ट हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

पन्द्रहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त

सोलहवाँ अध्याय

दैवासुरसम्पद्विभागयोग

श्रीभगवानुवाच–

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ 1॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ 2॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ 3॥

मर्मानुवाद – श्रीभगवान् ने कहा –अब तुम्हारे मन में यह संशय हो सकता है कि सभी शास्त्रों में सात्त्विक धर्म का पालन करते हुए ज्ञान प्राप्त

करने की व्यवस्था है। उसका तात्पर्य क्या है? इस संशय को दूर करने के अभिप्राय से मैं कह रहा हूँ कि संसाररूपी पीपल वृक्ष के दो फल हैं–एक संसारबन्धन को मजबूती देने वाला और दूसरा संसार से मुक्ति देने वाला। जीव शुद्धचित्त वाला है, परन्तु बद्ध अवस्था में उसका शुद्धचित्त गुणमय हो गया है। चित्तशुद्धि ही जीवों के लिए 'अभय' स्वरूप है। चित्त को शुद्ध करने के अभिप्राय से सभी शास्त्रों में ज्ञानयोग की व्यवस्था दी गई है। चित्तशुद्धि के लिए जिन सभी कर्मों की व्यवस्था दी गई है। वे सभी दैवी सम्पदा के अन्तर्गत हैं और जिन सब कर्मों से जीव के शुद्धचित्त पर बुरा असर पड़ता है,वे सभी आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत हैं। निर्भयता, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन, दान, दम, यज्ञ, तपस्या, सरलता, वेदपाठ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरों की निन्दा न करना, दया और लोभ न होना, मृदुता, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह और अनभिमानता— ये दैवी सम्पदा के अन्तर्गत हैं। शुभ क्षण में जन्म होने पर ये गुण प्राप्त होते हैं॥ 1–3॥

अन्वय– श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) अभयम् (निर्भयता) सत्त्वसंशुद्धिः (चित्त की प्रसन्नता) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (ज्ञान मार्ग में निष्ठा) दानम् (दान) दमः (बाह्य इन्द्रियों का दमन) यज्ञः (यज्ञ) स्वाध्यायः (वेदपाठ) तपः (18वें अध्याय में कही तपस्या) आर्जवम् (सरलता)॥ 1॥

अहिंसा (अहिंसा) सत्यम् (सत्य) अक्रोधः (क्रोधशून्यता) त्यागः (सांसारिक वस्तुओं में ममता का त्याग) शान्तिः (मनः संयम) अपैशुनम् (पीठ के पीछे किसी की निन्दा न करना) भूतेषु (प्राणियों के प्रति) दया (दया) अलोलुप्त्वम् (निर्लोभ) मार्दवम् (अक्रूरता) ह्रीः (असत् कर्म में लज्जा) अचापलम् (व्यर्थ चेष्टायें न करना) भारत (हे भारत) तेजः (तेज) क्षमा (सहनशीलता) धृतिः (दुःख में मन स्थिर रखना) शौचम् (बाहर और अन्दर की पवित्रता) अद्रोहः (किसी के प्रति भी हिंसाभाव न होना) नातिमानिता (अपने में अतिशय पूज्यता के अभिमान का न होना, ये सब गुण) दैवीम् (दैवी) सम्पदम् (संपद के) अभि (साथ) जातस्य (उत्पन्न व्यक्ति में उदित होते हैं)॥ 2–3॥

टीका – षोडशे सम्पदं दै
सर्गञ्च द्विविधं दै

अनन्तराध्याये''ऊद्ध्र्वमूलमध:शाखम्''इत्यादिना वर्णितस्य संसाराश्वत्थवृक्षस्य फलानि न वर्णितानि इत्यनुस्मृत्यास्मिन्नध्याये तस्य द्विविधानि मोचकानि बन्धकानि च फलानि वर्णयिष्यन् प्रथमं मोचकान्याह–अभयमिति त्रिभि:। त्यक्तपुत्रकलत्रादिक एकाकी निर्जने वने कथं जीविस्यामीति भयराहित्यमभयम्, सत्त्वसंशुद्धि: चित्तप्रसाद:, ज्ञानयोगे ज्ञानोपाये अमानित्वादौ परिनिष्ठा, दानं स्वभोज्यस्यान्नादे: यथोचितं संविभाग:, 'दमो' बाह्येन्द्रियसंयम:, 'यज्ञो'देवपूजा, 'स्वाध्याय:'वेदपाठ:, आदीनि स्पष्टानि, 'त्याग:'पुत्रकलत्रादिषु ममता–त्याग:, अलोलुपत्वं लोभाभाव:—एतानि षड्विंशतिरभयादीनि दै सात्त्विकीं सम्पदमभिलक्ष्य जातस्य सात्त्विका: सम्पद: प्राप्तिव्यञ्जके क्षणे जन्मलब्धवत: पुंसो भवन्ति।। 1–3।।

भावानुवाद– इस अध्याय में परमब्रह्म श्रीकृष्ण ने दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन किया है एवं साथ–साथ दैव और आसुर इन दो प्रकार के सर्गों का भी वर्णन किया है।

पिछले अध्याय में 'ऊद्ध्र्वमूलमध:शाखम्' श्लोक में वर्णित संसाररूप पीपल वृक्ष के फलों का वर्णन नहीं किया गया। इसी को स्मरण कर इन तीन श्लोकों में उस वृक्ष के मोचक और बंधक दो फलों के बारे में बता रहे है। 'अभय:'– पुत्र–स्त्री आदि के बिना अकेला मैं निर्जन वन में किस प्रकार जीवन–रक्षा कर पाऊँगा, इस प्रकार का भय न होना अभय कहलाता है। 'सत्त्वसंशुद्धि' का अर्थ है चित्तकी प्रसन्नता। 'ज्ञानयोगे' – ज्ञान के उपाय मानस्पृहाशून्यता आदि में परिनिष्ठा, 'दानम्'– अपने भोज्य अन्न आदि का यथायोग्य विभाग कर दूसरे को अर्पण करना ही दान है! 'दम:' – बाह्य इन्द्रियों का संयम, 'यज्ञम्' – देवपूजा ही यज्ञ है। 'स्वाध्याय:–' वेदपाठ, 'त्याग:' स्त्री–पुत्रादि पारिवारिक जनों में ममता का त्याग, 'अलोलुपत्वम्' – लोभशून्यता आदि – ये छब्बीस गुण दैवी सात्त्विकी सम्पदा को लक्ष्यकर कहे गए हैं। सात्त्विकी सम्पदा के प्रकाशक क्षण में जन्म ग्रहण करने वाले व्यक्ति को ये गुण प्राप्त होते हैं!॥ 1–3 ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ 4॥

मर्मानुवाद – दम्भ, दर्प, अभिमान क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ही अशुभ क्षणों में जात आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति के लक्षण हैं॥ 4॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) दम्भः (ख्याति प्राप्ति के लिए धर्म का अनुष्ठान करना) दर्पः (विद्या, धन और कुल का गर्व) अभिमानः (अपने आप को पूज्य समझना) क्रोधः (क्रोध) पारुष्यम् (रूखी भाषा) अज्ञानं च (और अज्ञान) [ये सब असद् गुण] आसुरीम् (आसुरी) सम्पदम् (संपदा) अभि जातस्य (प्राप्त व्यक्ति में होते हैं)॥ 4॥

टीका – बन्धकानि फलान्याह–'दम्भः' स्वस्याधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वप्रख्यापनम्, 'दर्पो' धनविद्यादिहेतुको 'गर्वोऽभिमानो'ऽन्यकृत–सम्माननाकाङ्क्षित्वं कलत्रपुत्रादिष्वासक्तिर्वा, 'क्रोधः' प्रसिद्धः, 'पारुष्यं' निष्ठुरता, अज्ञानमविवेकः, आसुरीमित्युपलक्षणं राक्षसीमपि सम्पदमभिजातस्य राजस्यास्तामस्याश्च सम्पदः प्राप्तिसूचकक्षणे जन्मलब्धवतः पुंसः एतानि दम्भादीनि भवन्तीत्यर्थः।। 4।।

भावानुवाद – अब परमब्रह्म भगवान् संसार बन्धन में डालने वाले बंधक फल का वर्णन कर रहे हैं। 'दम्भः' अधार्मिक होने पर भी अपने को धार्मिक के रूप में प्रसिद्ध करना, 'दर्पम्'– धन, विद्या आदि का गर्व, 'अभिमानः' दूसरों से सम्मान की चाहत एवं पुत्र – स्त्री आदि में आसक्ति, 'क्रोध' का अर्थ है – गुस्सा। 'पारुष्य' – निष्ठुरता, 'अज्ञानम्'– अविवेक ये सब 'आसुरी' राक्षसी सम्पदा के उपलक्षण हैं। 'अभिजात' इसी प्रकार राजसिक और तामसिक सम्पदा समूह के सूचक क्षण में उत्पन्न व्यक्ति में ये दम्भ आदि लक्षण उदित होते हैं॥ 4॥

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ 5॥

मर्मानुवाद – दैवी सम्पदा के द्वारा ही मोक्ष के लिए चेष्टा सम्भव हो सकती है, जबकि आसुरी सम्पदा से तो बन्धन होता है। हे अर्जुन! वर्णाश्रम धर्म का आचरण करते हुए ज्ञानयोग द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है। क्षत्रिय होने

के कारण तुम्हें दैवी सम्पदा प्राप्त हुई है। धर्मयुद्ध में बाणों से प्रहार और बन्धुओं का नाश आदि कार्य शास्त्र के अनुसार होने से उन्हें आसुरी सम्पदा की श्रेणी में नहीं गिना जाता, इसलिए इस उपदेश को सुनकर तुम शोक का परित्याग करो।। 5॥

अन्वय – दैवी सम्पत् (दैवी सम्पदा) विमोक्षाय (मोक्ष का) आसुरी (आसुरी सम्पद्) निबन्धाय (बन्धन का कारण) मता (कही गई है) पाण्डव (हे पाण्डव) मा शुचः (शोक न करो क्योंकि तुम) दैवीम् (दैवी) सम्पदम् (सम्पद्) अभि (के अन्तर्गत) जातः असि (जन्मे हो)।। 5॥

टीका – एतयोः सम्पदोः कार्यं दर्शयति—दै
शरप्रहारै
प्रापिका दृश्यते इति खिद्यन्तमर्जुनमाश्वासयति—मा शुच इति। पाण्डवेति तव क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य संग्रामे पारुष्यक्रोधाद्या धर्मशास्त्रे विहिता एव, तदन्यत्रै हिंसाद्या आसुरी सम्पदिति भावः।।5।।

भावानुवाद – अब दोनों प्रकार की सम्पदाओं के कार्यों को बता रहे हैं। अर्जुन के मन में यदि यह संशय हो कि हाय! हाय! बाणों से अपने बन्धुओं की हत्या करने की इच्छा करने वाले मुझ में संसार बंधन में डालने वाली निष्ठुरता और क्रोध आदि आसुरी सम्पदा नजर आ रही है, तो इस संशय को दूर करने के लिए श्रीभगवान् आश्वासन देते हुए अर्जुन से कहते हैं 'मा शुचः' अर्थात् शोक मत करो। क्षत्रियकुल में उत्पन्न तुम्हारे लिए युद्ध में निष्ठुरता, क्रोध आदि का रहना धर्मशास्त्रविहित है। युद्ध के अतिरिक्त अन्य स्थानों में हिंसा आदि आसुरी सम्पदा मानी जाती है ॥5॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ 6॥

मर्मानुवाद – हे पार्थ! इस जगत् में दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि हुई है— दैवी और आसुरी। दैवी सम्पदा के सम्बन्ध में मैंने तुम्हें विशेष रूप से कहा है, अब आसुरी सम्पदा के विषय में कह रहा हूँ श्रवण करो॥ 6॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) अस्मिन् (इस) लोके (संसार में) दैवः (दैव) आसुरः (असुर) द्वौ (दो प्रकार के) भूतसर्गौ (प्राणी सृष्ट हुए हैं)

दैवः (दैव स्वभाव के विषय में) विस्तरशः प्रोक्तः (विस्तारपूर्वक कहा गया है और अब) आसुरम् (आसुरस्वभाव को भी) मे (मुझ से) शृणु (सुनो) ॥6॥

टीका — तदपि विषण्णमर्जुनं प्रति आसुरीसम्पदं प्रपञ्चयितुमाह—द्वाविति। विस्तरशः प्रोक्त इति अभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादि।।6।।

भावानुवाद – श्रीभगवान्! दुःखी अर्जुन के समक्ष आसुरी सम्पदा का विस्तृत रूप से वर्णन कर रहे हैं। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' आदि श्लोकों में दैवी सम्पदा का विस्तृत रूप से वर्णन कर चुके है॥ 6॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ 7॥

मर्मानुवाद – आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्तिरूपी धर्म का भेद नहीं जानते। पवित्रता, आचार और सत्य का उनके पास कोई आदर नहीं है॥ 7॥

अन्वय – आसुराः (असुर) जनाः (लोग) प्रवृत्तिम् (धर्म में रुचि) निवृत्तिं च (और अधर्म न करना) न विदुः (इस के बारे में कुछ नहीं जानते) तेषु (उनमें) शौचम् (पवित्रता) न (नहीं है) आचारः अपि (आचरण भी) न (नहीं है) सत्यं च (सत्य भी) न विद्यते (नहीं है)॥ 7॥

टीका — धर्मे प्रवृत्तिम्, अधर्मान्निवृत्तिम्।। 7।।

भावानुवाद – 'प्रवृत्ति' यानि धर्म में लगाव और 'निवृत्ति' यानि अधर्म में अलगाव॥ 7॥

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥8॥

मर्मानुवाद – आसुर स्वभाव के लोग ही इस संसार को 'असत्य', 'आश्रयहीन' और 'ईश्वररहित' समझते हैं, उनका सिद्धान्त यह होता है कि कार्य–कारण का परस्पर सम्बन्ध विश्वसृष्टि का कारण नहीं है अर्थात् कारणशून्य, कार्य में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई कहे भी कि ईश्वर है तो वे कहते हैं, उसने काम के वशीभूत होकर सृष्टि की है, इसलिए वह हमारी उपासना के योग्य नहीं है॥ 8॥

अन्वय – ते (उनमें से कई) जगत् (जगत् को) असत्यम् (शुक्ति में चाँदी का भ्रम) अप्रतिष्ठम् (आकाशपुष्प की तरह निराश्रय) अनीश्वरम् (ईश्वरशून्य) [कोई-कोई तो जगत् को] अपरस्परसम्भूतम् (स्वभावतः उत्पन्न हुआ मानते हैं और कोई-कोई तो) कामहैतुकम् (अपनी इच्छा से कल्पित परमाणु माया इत्यादि ही इसका कारण) आहुः (ऐसा कहते हैं) अन्यत् किम् (और इसके सिवाय क्या है?)।।8।।

टीका – असुराणां मतमाह—असत्यं मिथ्याभूतम्। भ्रमोपलब्धमेव, जगत्ते वदन्ति। 'अप्रतिष्ठं' प्रतिष्ठा आश्रयस्तद्रहितम्—न हि खपुष्पस्य किञ्चदधिष्ठानमस्तीति भावः। अनीश्वरं मिथ्याभूतत्वादेवेश्वरकर्त्तृकमेतन्न भवति। स्वेदजादीनामकस्मादेव जातत्वात् अपरस्परसम्भूतमन्यत् किं वक्तव्यम्? कामहेतुकं—कामो वादिनामिच्छै
कल्पयितुं शक्नुवन्ति, तथै
नास्ति सत्यं वेदपुराणादिकं प्रमाणं यत्र तत्, तदुक्तं—"त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनिभण्डनिशाचराः" इत्यादि, 'अप्रतिष्ठं' नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्था यत्र तत् धर्माधर्मावपि भ्रमोपलब्धाविति भावः। 'अनीश्वरम्' ईश्वरोऽपि भ्रमेणै
उत्पन्नं दृश्यते, तत्र नै
उत्पद्यत इत्यपि भ्रम एव कुलालस्य घटोत्पादने ज्ञानमिव मातापित्रोस्त्वादृश-बालोत्पादने किल नास्ति ज्ञानमिति भावः। 'किमन्यत्' अन्यत् किं वक्तव्यमिति भावः। तस्मादिदं जगत् 'कामहेतुकं' कामेन स्वेच्छयै हेतुका हेतुकल्पका यत्र तत्, युक्तिबलेन ये यत् परमाणुमायेश्वरादिकं जल्पयितुं शक्नुवन्ति, ते तदेव तस्य हेतुं वदन्तीत्यर्थः।। 8।।

भावानुवाद – असुरों का मत है कि यह जगत् 'असत्यम्'– मिथ्याभूत भ्रम से उत्पन्न हुआ है। आश्रय को प्रतिष्ठा कहते हैं, जिसका कोई आश्रय नहीं, उसे 'अप्रतिष्ठ' कहते हैं। वे कहते हैं जिस प्रकार आकाशकुसुम का कोई आश्रय नहीं है, उसी प्रकार जगत् का भी कोई आश्रय नहीं है। 'अनीश्वरम्'– मिथ्या से उत्पन्न होने के कारण यह किसी ईश्वर द्वारा रचित नहीं है, अपितु पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ इत्यादि जीवों की तरह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है या परस्पर संसर्ग के बिना उत्पन्न हुआ है। इतना ही नहीं, वे

कहते हैं कि काम अर्थात् वादियों की इच्छा ही इसका कारण है। मिथ्याभूत कहने से लोग अपनी- अपनी कल्पना के द्वारा मनचाही व्याख्या करते हुए कहते हैं-'असत्यम्' जगद् विषयक जो वेद-पुराणादि प्रमाण हैं वे सत्य नहीं हैं। एसी कहावत भी है - त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनिभण्डनिशाचराः अर्थात् मुनि, भण्ड और निशाचर लोगों ने वेदों की रचना की है। 'अप्रतिष्ठम्' - अर्थात् उनमें धर्म - अधर्म की कोई व्यवस्था नहीं हैं। धर्म-अधर्म भ्रम से प्राप्त हुए हैं। 'अनीश्वरम्' अर्थात् ईश्वर भी भ्रम से ही कल्पित किया गया है। यदि कहा जाए कि यह जगत् स्त्री -पुरुष के परस्पर प्रयत्न से उत्पन्न दिखता है, तो वे इसे नकारते हुए कहते हैं कि 'अपरस्परसम्भूतम्' अर्थात् ऐसा नहीं हैं। माता - पिता से बालक का जो जन्म देखा जाता है, वह भी भ्रम ही है। उनका कहना है कि जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाते समय यह ज्ञान रखता है कि मैं क्या बना रहा हूँ, वैसा ज्ञान सन्तान के उत्पादन में माता - पिता को नहीं रहता । अतः सन्तान उत्पत्ति में जो प्रक्रिया देखी जाती है, वह भी भ्रम ही है 'किमन्यत्' और क्या कहा जाए! वे तो कहते हैं कि स्वेच्छा ही जगत् का हेतु है। अपनी युक्ति के बल पर कोई परमाणु द्वारा, कोई माया द्वारा और कोई ईश्वर आदि द्वारा जैसी कल्पना कर सकते हैं, उसे ही जगत् का कारण कहते हैं॥ 8॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ 9॥

मर्मानुवाद - इस प्रकार के सिद्धान्त को अवलम्बन करके आत्मतत्त्व ज्ञान शून्य, अल्पबुद्धि और हिंसक कर्म करने वाले असुर स्वभाव के व्यक्ति जगत् का नाश करने के लिए ही जन्म लेते हैं।॥ 9॥

अन्वय - एताम् (ये असुर स्वभाव वाले लोग व्यासदेवजी द्वारा रचित श्रीमद्भागवतरूपी भाष्यसहित वेदान्तदर्शन से अलग मायावाद आदि) दृष्टिम् (सभी दर्शनों का) अवष्टभ्य (आश्रय कर) नष्टात्मानः (आत्म तत्त्व ज्ञान को न जानने वाले) अल्पबुद्धयः (देह में आत्मा का अभिमान करने वाले) उग्रकर्माणः (हिंसक कर्म करने वाले) अहिताः (शत्रु होकर) जगतः (जगत् का) क्षयाय (परमार्थ नष्ट करने के लिए) प्रभवन्ति (प्रकट होते हैं)॥ 9॥

टीका — एवं वादिनोऽसुराः केचिन्नष्टात्मानः केचिदल्पज्ञानाः केचिदुग्रकर्माणःस्वच्छन्दाचारा महानारकिनो भवन्तीत्याह–एतामित्येकादशभिः। अवष्टभ्यालम्ब्य।।9।।

भावानुवाद – उन असुर मत वालो में से कई नष्टात्मा, अल्पज्ञानी, उग्र कर्म करने वाले एवं स्वेच्छाचारी महानारकी होते हैं, इसलिए ग्यारह श्लोकों में इसे ही वर्णन कर रहे हैं॥ 9॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ 10॥

मर्मानुवाद – कभी न पूर्ण होने वाले काम का आश्रय लेकर दम्भ, मान और मदयुक्त वे पुरुष अपवित्र कार्यों का निश्चय कर मोहवश (शराब, मांस–सेवन और श्मशान घाट में वास इत्यादि अपवित्र) असद् विषयों में लगे रहते हैं॥ 10॥

अन्वय – मोहात् (वे मोहवश) दुष्पूरम् (कभी भी पूर्ण न होने वाली) कामम् (विषय–तृष्णा का) आश्रित्य (आश्रय लेकर) असद्ग्राहान् (असद् विषयों में आग्रह)) गृहीत्वा (ग्रहण कर) दम्भमानमदान्विताः (दम्भ, मान और मद से युक्त हुए) अशुचिव्रताः (शराब, मांस सेवन और श्मशान घाट में वास इत्यादि अपवित्र नियम अपनाकर क्षुद्र देवताओं की आराधना में) प्रवर्तन्ते (लगे रहते हैं)।। 10॥

टीका — असद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्ते कुमते एव प्रवृत्ता भवन्ति। अशुचीनि शौ

भावानुवाद – असद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्ते – कुत्सित् मतों में प्रवृत्त होते हैं। 'अशुचिव्रताः' –पवित्र आचार को छोड़कर अत्यंत निन्दित व्रतों को करने वाले॥ 10॥

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ 11॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ 12॥

मर्मानुवाद – मृत्यु तक असंख्य चिन्ताओं से चिन्तित एवं विषयभोगों

को ही अपना परम कार्य समझकर सैंकड़ों आशाओं की पाश में बंधे काम क्रोध–परायण वे व्यक्ति अन्यायपूर्ण ढंग से धन बटोरने में लगे रहते हैं।

अन्वय – प्रलयान्ताम् (मृत्युकाल तक रहने वाली) अपरिमेयाम् (असंख्य) चिन्ताम् (चिन्ताओं को) उपाश्रित्य (आश्रय कर) कामभोगपरमाः (विषयों के भोगों में ही उनका परम पुरुषार्थ है) एतावत् इति (इस प्रकार) निश्चिताः (निश्चय करके)॥ 11॥

आशापाशशतैः (सैंकड़ों आशाओं रूपी रस्सियों द्वारा) बद्धाः (बंधे) कामक्रोधपरायणाः (काम क्रोध के परायण होकर) कामभोगार्थम् (काम भोगों की पूर्ति के लिए) अन्यायेन (अन्याय पूर्वक) अर्थसञ्चयान् (धन को संचय करने की) ईहन्ते (इच्छा करते हैं)॥ 12॥

टीका — प्रलयान्तां प्रलयो मरणं तत्पर्यन्ताम्। एतावदितीन्द्रियाणि विषयसुखे मज्जन्तु नाम, का चिन्तेत्येतावदेव शास्त्रार्थतात्पर्यमिति निश्चितं येषां ते॥ 12॥

भावानुवाद – उनके अनुसार शास्त्रों का तात्पर्य यही है कि मृत्यु आने तक इन्द्रियों के विषय सुख में ही डूबे रहो, इस में चिन्ता करने की क्या बात है?॥ 11–12॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ 13॥

मर्मानुवाद – वे ऐसा सोचते हैं कि अभी मुझे इतना धन मिला है, इससे मैं अपनी यह इच्छा पूरी करूँगा, अभी मेरे पास इतना धन आया है, दुबारा अपनी योजनाओं से और धन कमाऊँगा इत्यादि॥ 13॥

अन्वय – अद्य (आज) मया (मेरे द्वारा) इदम् (यह) लब्धम् (प्राप्त हुआ है और) इदम् (यह) मनोरथम् (मनोरथ) प्राप्स्ये (प्राप्त करूँगा) इदम् (यह धन) अस्ति (है) पुनः (दूसरी बार) मे (मेरा) इदं धनम् अपि (यह धन भी) भविष्यति (मेरा हो जायेगा)॥ 13॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥ 14॥

मर्मानुवाद – अभी इस शत्रु का नाश किया है दूसरे शत्रुओं का भी

जल्दी ही नाश करूँगा। मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगी, मैं ही सिद्ध एवं मैं ही सुखी हूँ॥ 14॥

अन्वय – मया (मेरे द्वारा) असौ (यह) शत्रुः (शत्रु) हतः (मारा गया है) अपरान् अपि (अन्य शत्रुओं का भी) हनिष्ये (विनाश करूँगा) अहम् (मैं) ईश्वरः (प्रभु हूँ) अहम् (मैं) भोगी (भोगी हूँ) अहम् (मैं) सिद्धः (सिद्ध हूँ) बलवान् (बलवान हूँ) सुखी (सुखी हूँ)॥ 14॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ 15॥

मर्मानुवाद – वह सोचता है, मैं बड़ा धनवान् हूँ, मैं बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान करूंगा और आनन्द करूँगा। वे इस प्रकार अज्ञान से मोहित रहते हैं॥ 15॥

अन्वय – आढ्यः (मैं बड़ा धनवान्) अभिजनवान् (बड़े कुटुम्बवाला) अस्मि (हूँ) मया सदृशः (मेरी तरह) अन्यः (दूसरा) कः (कौन) अस्ति (है)? यक्ष्ये (मैं यज्ञ करके दूसरों को पराजित करूँगा) दास्यामि (स्तावकों को दान दूँगा और) मोदिष्ये (आनन्द प्राप्त करूँगा) इति (इस प्रकार के) अज्ञानविमोहिता (अज्ञान से मोहित है)॥ 15॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ 16॥

मर्मानुवाद – अनेक चिन्ताओं से ग्रस्त चित्त, मोहजाल में फंसे और विषयभोगों में बुरी तरह आसक्त ये अज्ञानी लोग वैतरणी इत्यादि अपवित्र नरकों में गिरते हैं॥ 16॥

अन्वय – अनेकचित्तविभ्रान्ताः (अनेक प्रकार की चिन्ताओं से ग्रस्त चित्त वाले) मोहजालसमावृताः (मोहजाल में फंसे) कामभोगेषु (और काम को भोगने में) प्रसक्ताः (अत्यन्त आसक्त होकर) अशुचौ (अपवित्र) नरके (वैतरणी इत्यादि नरक में) पतन्ति (गिरते हैं)॥ 16॥

टीका — अशुचौ

भावानुवाद – 'अशुचौ नरके' यानि वैतरणी आदि नरकों में॥ 16॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ 17॥

मर्मानुवाद – वे अपने आपको श्रेष्ठ मानने वाले, अनम्र, धन और मान के मद में चूर पुरुष दम्भ के साथ शास्त्रविधि को छोड़कर बड़े गर्व के साथ नाममात्र यज्ञद्वारा यजन करते हैं॥ 17॥

अन्वय – आत्मसम्भाविताः (अपने आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले लोग) स्तब्धाः (नम्रतारहित) धनमानमदान्विताः (धन और मान के मद में चूर) ते (वे असुर लोग) दम्भेन (दम्भ के साथ) नामयज्ञैः (नाममात्र के यज्ञों द्वारा) अविधिपूर्वकम् (अविधिपूर्वक) यजन्ते (यज्ञ करते रहते हैं) ॥17॥

टीका — आत्मनै

कै

नामयज्ञास्तै

भावानुवाद – वे स्वयं को पूज्य मानते हैं। कोई साधु उन्हें सम्माननीय नहीं मानता, वे अनम्र और दम्भी होते हैं। वे विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं। ऐसा भी वे नाम कमाने के लिए ही करते है॥ 17॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ 18॥

मर्मानुवाद – अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के वशीभूत, अपने एवं दूसरों की देह में स्थित परमेश्वर स्वरूप मुझ से द्वेष करते हैं एवं साधुओं के गुणों में दोषारोपण करते हैं॥ 18॥

अन्वय – अहंकारम् (अहंकार) बलम् (बल) दर्पम् (दर्प) कामम् (काम) क्रोधं च (और क्रोध का) संश्रिताः (आश्रय कर) आत्मपरदेहेषु (परमात्मा के परायण साधुओं की देह में अवस्थित)। माम् (मुझसे) प्रद्विषन्तः (द्वेष करते हुए) अभ्यसूयकाः (साधुओं के गुणों में दोषारोपण करते रहते हैं)।। 18॥

टीका — मां परमात्मानममानयन्त एव प्रद्विषन्तः, यद्वा आत्मपराः परमात्मपरायणाः साधवस्तेषां देहेषु स्थितं मां प्रद्विषन्तः साधुदेहद्वेषादेव मद्द्वेष इति भावः। अभ्यसूयकाः साधूनां गुणेषु दोषारोपकाः।।18।।

भावानुवाद – वे 'माम्' मुझ परमात्मा को नहीं मानते, अपितु मुझसे द्वेष करते हैं। वे परमात्मपरायण साधुओं के हृदय में अवस्थित मुझसे द्वेष करते हैं। साधुओं से द्वेष करना ही मुझसे द्वेष करना है। इसके साथ-साथ वे साधुओं के गुणों में भी दोषारोपण करते हैं॥ 18॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ 19॥

मर्मानुवाद – उन विद्वेषी, क्रूर और नराधम व्यक्तियों को मैं हमेशा इस संसार में ही अशुभ आसुरी योनियों में गिराता रहता हूँ अर्थात् उनकी स्वभावजनित क्रियाओं द्वारा उनका आसुर भाव क्रमशः बढ़ता ही रहता है॥ 19॥

अन्वय – अहम् (मैं) द्विषतः (साधुओं से विद्वेष करने वाले) क्रूरान् (निष्ठुर) नराधमान् (नराधम) अशुभान् (अशुभ कर्म करने वाले) तान् (उन असुर व्यक्तियों को) आसुरीषु (आसुरी) योनिषु (योनियों में) अजस्रम् (निरन्तर) क्षिपामि (गिराता हूँ)॥ 19॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ 20॥

मर्मानुवाद – आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे सब मूढ़ लोग जन्मों तक मुझ को प्राप्त करने में असमर्थ होकर पहले से भी अधिक अधम गति को प्राप्त होते हैं॥ 20॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) मूढाः (वे अज्ञानी लोग) जन्मनि जन्मनि (जन्म-जन्म में) आसुरीं योनिम् (आसुरी योनि को) आपन्नाः (प्राप्त होते हैं) माम् (मुझे) अप्राप्य (प्राप्त न होकर) ततः (उसकी अपेक्षा भी) अधमाम् (नीच) गतिम् (गति को) यान्ति (प्राप्त करते हैं)॥ 20॥

टीका — मामप्राप्यै
चतुर्युगद्वापरान्तेऽवतीर्णं मां कृष्णं कंसादिरूपास्ते प्राप्य प्रद्विषन्तोऽपि मुक्तिमेव प्राप्नुवन्तीति। भक्तिज्ञानपरिपाकतो लभ्यामपि मुक्तिं तादृशपापिभ्योऽप्यहमपार-कृपासिन्धुर्ददामि। "निभृत-मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्" इति श्रुतयोऽप्याहुः। अतः पूर्वोक्तो ममै

वरीवर्त्तीति भागवतामृतकारिका यथा—"मां कृष्णरूपिणं यावन्नाप्नुवन्ति मम द्विषः। तावदेवाधमां योनिं प्राप्नुवन्तीति हि स्फुटम्।।" इति।। 20।।

भावानुवाद – 'मामप्राप्यैव' अर्थात् वे मुझे प्राप्त नहीं होते। वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाइसवें चतुर्युग में द्वापर के अन्त में श्रीकृष्णस्वरूप से अवतीर्ण मुझे प्राप्त हो कर मेरे विद्वेषी कंस आदि भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। भक्तिमिश्र ज्ञान की परिपक्व अवस्था में जो मुक्ति प्राप्त होती है, अपार करुणासिन्धु मैं कंस जैसे पापी को भी वही दुर्लभ मुक्ति प्रदान करता हूँ। श्रुति स्तुति (भा 10 /66 /23) में कहा गया है– हे प्रभो! मुनिगण एकान्त में वायु, मन एवं इन्द्रियां आदि को रोक कर तीव्र योग द्वारा जिस तत्त्व की उपासना करते हैं, आपका स्मरणकर शत्रुओं ने भी उसी तत्त्व को प्राप्त किया है। इसीलिए पूर्वकथित मेरी सर्वोत्कर्षता सर्वोपरि संगत ही है। भागवतामृतकारिका में भी पाया जाता है कि जब तक मेरे विद्वेषी मुझ कृष्ण को प्राप्त नहीं होते, तब तक अधम योनियों को ही प्राप्त करते रहते हैं॥ 20॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ 21॥

मर्मानुवाद – काम, क्रोध तथा लोभ आत्मा का पतन करने वाले ये तीन नरक के द्वार हैं, इसलिए उत्तम लोगों को चाहिए कि वे इनका परित्याग करें ॥ 21॥

अन्वय – कामः (काम) क्रोधः (क्रोध) तथा (और) लोभः (लोभ) इदम् (ये) त्रिविधम् (तीन प्रकार के) नरकस्य (नरक प्राप्ति के) द्वारम् (द्वार) आत्मनः (आत्मा के) नाशनम् (नाशक हैं) तस्मात् (इसलिए) एतत् (इन) त्रयम् (तीनों को) त्यजेत् (त्याग दो)॥ 21॥

टीका — तदेवमासुरीः सम्पत्तीर्विस्तार्य प्रोक्ता इत्यतः साधूक्तम्—"मा शुचः सम्पदं दै
स्वाभाविकमित्याह—त्रिविधमिति।। 21।।

भावानुवाद – इस प्रकार आसुरी सम्पदा विस्तृत रूप से वर्णन करने के पश्चात् भगवान् बोले हे— अर्जुन! तुम दैवी सम्पदा के साथ उत्पन्न हुए हो, इसलिए तुम शोक न करो। काम, क्रोध, लोभ और मोह ये तीनों असुरों के स्वाभाविक दोष हैं॥ 21॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ 22॥

मर्मानुवाद – इन तीन प्रकार के नरक के द्वारों से मुक्त होकर मनुष्य अपना मंगल करे, तभी श्रेष्ठ गति प्राप्त कर पायेगा। तात्पर्य यह कि चित्तशुद्ध करने के उपाय स्वरूप वैध–जीवन को अपनाकर धर्म का आचरण करते हुए कृष्णभक्तिरूपी परागति की प्राप्त होती है। शास्त्रों में कर्म और ज्ञान के जो उपाय और उनसे प्राप्त होने वाले जिन फलों का वर्णन है उनका मूल तत्त्व यही है कि विशुद्ध कर्म और ज्ञान का सम्बन्ध ठीक रहने पर ही जीव को चित्तसंशुद्धिरूप अभयपद प्राप्त होता है। यही भक्तिदेवी की दासी स्वरूपा मुक्ति है॥ 22॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) एतैः (ये) त्रिभिः (तीनों) तमोद्वारैः (नरक के द्वारों से) विमुक्तः (मुक्त हुआ) नरः (नर) आत्मनः (अपना) श्रेयः (मंगल) आचरति (करते हैं) ततः (बाद में) पराम् (श्रेष्ठ) गतिम् (गति को) याति (प्राप्त करते हैं)॥ 22॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ 23॥

मर्मानुवाद – जो शास्त्रविधि का परित्याग कर यदि कोई कार्य करते हैं, वे सिद्धि, सुख और परागति को प्राप्त नहीं करते। तात्पर्य यह है कि मानव सब प्रकार के इन्द्रियज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि नीति का सहारा नहीं लेता तो वह अधम नर है– और इन्द्रियज्ञान एवं नीति सम्पन्न होने पर भी यदि वह ईश्वर की अधीनता स्वीकार न करे, तो उसका अमंगल ही अमंगल हैं। ईश्वर की अधीनता स्वीकार करके भी विशुद्ध ज्ञान के साथ भगवद्भक्ति का अनुशीलन न करे वह भी परागति प्राप्त करने योग्य नहीं है, इसलिए सब शास्त्रों का तात्पर्य जो भक्ति है, वही जीव के लिए श्रेयस्कर है॥ 23॥

अन्वय – यः (जो) शास्त्रविधिम् (शास्त्रविधि) उत्सृज्य (छोड़कर) कामचारतः (अपनी इच्छा के अनुसार) वर्त्तते (कार्य करता है) सः (वह) सिद्धिम् (चित्त शुद्धि) सुखम् (सुख) परां गतिम् (और परागति को) न आप्नोति (प्राप्त नहीं कर पाता)॥ 23॥

टीका —आस्तिक्यवत एव श्रेय इत्याह–य इति । कामचारतः ॥॥ 23 ॥

भावानुवाद – शास्त्रविधि के अनुसार आचरण ही मंगलप्रद है, मनमाना आचरण नरक का कारण है ॥ 23 ॥

सोलहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ 24 ॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।

मर्मानुवाद – इसलिए क्या करणीय है क्या अकरणीय है, इसके लिए शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं। शास्त्रों का तात्पर्य है– 'भक्ति' है, जिस से अवगत होकर तुम कर्म करने के योग्य हो जाओगे।

सोलहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

आस्तिका एव विन्दन्ति सद्गतिं सन्त एव ते ।
नास्तिका नरकं यान्तीत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु षोडशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

आस्तिकता द्वारा सद्गति होती है और नास्तिकता से नरक की प्राप्ति होती है – यही इस अध्याय का अर्थ है॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

अन्वय – तस्मात् (इसलिए) कार्याकार्यव्यवस्थितौ (कार्य और अकार्य के निर्धारण में) शास्त्रम् (शास्त्र) ते (तुम्हारे लिए) प्रमाणम् (प्रमाण हैं) इह (इस कर्म भूमि में) शास्त्रविधानोक्तम् (शास्त्र विधान में कहे) कर्म (कर्म) कर्तुम् (करने के) अर्हसि (योग्य हैं) ॥ 24 ॥

सोलहवाँ अध्याय समाप्त

सत्रहवाँ अध्याय

श्रद्धात्रय-विभाग-योग

अर्जुन उवाच-

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ 1 ॥

मर्मानुवाद - अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण! मेरे मन मैं एक संशय उत्पन्न हुआ है। पहले आपने (4/39 में) कहा कि, 'केवल श्रद्धावान् लोग ही ज्ञान प्राप्त करते हैं' फिर (16/23 में) कहा कि ' जो शास्त्रविधि को छोड़ कर कामना के साथ पूजा इत्यादि करते हैं, उन्हें उस पूजा से सिद्धि, सुख और श्रेष्ठ गति नहीं मिलती'। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि कोई श्रद्धावान् व्यक्ति शास्त्रविधि को छोड़कर उपासना करे तो क्या होता है ? ज्ञानयोगव्यवस्थिति का फल चित्त संशुद्धि श्रद्धावान् व्यक्ति प्राप्त करेगा कि नहीं— स्पष्टरूप से

कहिए। शास्त्रविधि त्याग कर श्रद्धापूर्वक यत्न करने वाले उस व्यक्ति की निष्ठा सात्त्विक, राजसिक या तामसिक में से कौन सी कही जायेगी?॥ 1॥

अन्वय - अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण) ये (जो) शास्त्रविधिम् (शास्त्रों की विधि को) उत्सृज्य (छोड़कर) श्रद्धयान्विताः (अत्यन्त श्रद्धापूर्वक) यजन्ते (देवता आदि की पूजा करते हैं) तेषाम् (उनकी) निष्ठा (निष्ठा) का (कौन सी है) सत्त्वम् (सात्विकी) आहो (अथवा) रजः (राजसी) तमः (या तामसी)॥ 1॥

टीका — अथ सप्तदशे वस्तु सात्त्विकं राजसं तथा।
तामसञ्च विविच्योक्तं पार्थ प्रश्नोत्तरं यथा।।

नन्वासुरसर्गमुक्त्वा तदुपसंहारे"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।" इति त्वयोक्तम्, तत्राहमिदं जिज्ञासे इत्याह—ये इति। ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामचारतो वर्त्तन्ते, किन्तु कामभोगरहिता एव श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तपोयज्ञ-ज्ञानयज्ञ-जपयज्ञादिकं कुर्वन्ति, तेषां का निष्ठा स्थितिः किमालम्बनमित्यर्थः। तत् किं सत्त्वम्, आहोस्वित् रजः अथवा तमस्तद्ब्रूहीत्यर्थः।। 1।।

भावानुवाद - इस सत्रहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा किए गये प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वस्तुओं का विवेचन किया है।

अर्जुन जिज्ञासा करते हैं - हे कृष्ण! पिछले अध्याय के उपसंहार में आपने कहा कि जो लोग शास्त्रविधि का त्यागकर अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं। वे लोग न तो सिद्धि प्राप्त कर पाते हैं और न सुख व परम गति। यहाँ मेरा प्रश्न है कि जो शास्त्रविधि का त्यागकर मनमाने ढंग से तो रहते हैं, किन्तु कामभोग से रहित होकर श्रद्धापूर्वक तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ और जपयज्ञादि करते रहते हैं, उनकी 'निष्ठा' सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक तीनों में से कौन सी है? कृपापूर्वक कहिये॥ 1॥

श्रीभगवानुवाच-

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥2॥

मर्मानुवाद – जीवों के स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है॥ 2॥

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) देहिनाम् (देहधारियों की) सात्त्विकी (सात्त्विकी) राजसी (राजसी) तामसी च (और तामसी) त्रिविधा (तीन प्रकार की) श्रद्धा (श्रद्धा) भवति (होती है) सा (वह) स्वभावजा (पूर्वजन्मों के किए शुभ-अशुभ संस्कारों से बनी) ताम् (तीन प्रकार की श्रद्धा के विषय में) शृणु (श्रवण करो)॥ 2॥

टीका — भो अर्जुन! प्रथमं शास्त्रविधिमनुत्सृज्य यजतां निष्ठां शृणु, पश्चात् शास्त्रविधित्यागिनां निष्ठां ते वक्ष्यामीत्याह—त्रिविधेति। स्वभावः प्राचीनसंस्कारविशेषस्तस्माज्जाता श्रद्धा, सा च त्रिविधा।। 2।।

भावानुवाद - भगवान् कहते हैं - हेअर्जुन! पहले तुम शास्त्र की विधियों का त्याग न कर भजन करने वालों की निष्ठा के बारे में सुनो। बाद में विधियों का उल्लंघन कर भजन करने वालों की निष्ठा के विषय में कहूँगा - पूर्व जन्मों के संस्कार से उत्पन्न श्रद्धा भी तीन प्रकार की है॥ 2॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ 3॥

मर्मानुवाद - हे भारत! सभी पुरुष श्रद्धामय हैं, जिस व्यक्ति का जैसा अन्तःकरण है वैसी ही उसकी श्रद्धा है, जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है श्रद्धा करने वाला भी वैसा ही होता है। मूल तात्पर्य यह है कि जीव स्वभावतः ही मेरा अंश है इसलिए निर्गुण है, परन्तु मुझसे अपना सम्बन्ध भूल जाने के कारण, जीव माया के गुणों में फंस गया है। इस बद्ध अवस्था में प्रवेश करने से प्राचीन संस्कारवश उसका एक सगुण स्वभाव है। उसी स्वभाव से उसका अन्तःकरण गठित होता है। उसी अन्तःकरण को ही सत्त्व कहते हैं। अन्तःकरण का संशुद्ध होना ही 'अभयपद' है। शुद्ध अन्तःकरण की श्रद्धा निर्गुण भक्तिबीज एवं अशुद्ध अन्तःकरण की श्रद्धा सगुण है। श्रद्धा जब तक निर्गुण न हो, या उसका उद्देश्य निर्गुण होना न हो तब तक उसे ही काम कहते हैं, सकाम सगुण श्रद्धा के विषय में विस्तारपूर्वक कहता हूँ, सुनो॥ 3॥

अन्वय - भारत (हे भारत) सर्वस्य (सब की) श्रद्धा (श्रद्धा)

सत्त्वानुरूपा (विशेष संस्कार वाले अन्तःकरण के अनुरूप) भवति (होती है) अयम् (यह) पुरुषः (पुरुष) श्रद्धामयः (तीन प्रकार की श्रद्धा वाला है) यः (जो पुरुष) यच्छ्रद्धः (जैसे इष्ट में श्रद्धा रखता है) सः (वह पूजक) एव (वैसा ही गुणवान् होता है) ॥ 3 ॥

टीका — सत्त्वमन्तःकरणं त्रिविधम्—सात्त्विकं, राजसं, तामसञ्च, तदनुरूपा सात्त्विकान्तःकरणानां सात्त्विक्येव श्रद्धा, राजसान्तःकरणानां राजस्येव, तामसान्तःकरणानां तामस्येवेत्यर्थः। यच्छ्रद्धः यस्मिन् यजनीये देवेऽसुरे राक्षसे वा श्रद्धावान् यो भवति, स एव भवति तत्तच्छब्देनै इत्यर्थः।। 3।।

भावानुवाद – 'सत्त्वम्' का अर्थ है अन्तःकरण, जिसका जैसा अन्तःकरण होता है उसकी श्रद्धा भी वैसी ही होती है। सात्त्विक अन्तःकरण वाले की श्रद्धा सात्त्विक, राजसिक अन्तःकरण वाले की राजसिक एवं तामसिक अन्तःकरण वाले की श्रद्धा तामसिक होती है। जैसा आराध्य होता है, वैसा ही उसका आराधक होता है अर्थात् देवता असुर या राक्षस आदि को पूजने वाले क्रमशः वैसे ही होते हैं, उसी नाम से पुकारे जाते हैं, यानि देवता की पूजा करने वालों को देवता और राक्षसों की पूजा करने वालों को राक्षस कहा जाता है ॥ 3 ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ 4 ॥

मर्मानुवाद – सात्त्विक श्रद्धा वाले पुरुष देवताओं की, राजसिक श्रद्धा वाले यक्ष-राक्षसों की एवं तामसिक श्रद्धा वाले व्यक्ति भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं ॥4 ॥

अन्वय – सात्त्विकाः (सात्त्विक व्यक्ति) देवान् (सात्त्विक गुणप्रधान देवताओं की) यजन्ते (पूजा करते हैं) राजसाः (राजसिक व्यक्ति) यक्षरक्षांसि (यक्ष और राक्षसों की) अन्ये (एवं अन्य) तामसाः (तामसिक) जनाः (व्यक्ति) प्रेतगणान् भूतगणान् (भूत-प्रेतों की) यजन्ते (पूजा करते हैं) ॥4 ॥

टीका — उक्तमर्थं स्पष्टयति—सात्त्विकान्तःकरणाः सात्त्विक्या श्रद्धया सात्त्विकशास्त्रविधिना सात्त्विकान् देवानेव यजन्ते, देवेष्वेव श्रद्धावत्वात् देवा एवोच्यन्ते। एवं राजसा राजसान्तःकरणाः इत्यादि विवरितव्यम्।। 4।।

भावानुवाद – पहले कहे गये अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सात्त्विक अन्तःकरणवाले लोग सात्त्विकी श्रद्धा से सात्त्विक शास्त्रविधि के अनुसार सात्त्विक देवताओंकी पूजा करते हैं। देवताओं में श्रद्धावान् होने के कारण वे भी देवता ही कहलाते हैं। राजसिक और तामसिक अन्तःकरणवालों के लिए भी ऐसा ही विचार करना चाहिए॥ 4॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ 5॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 6॥

मर्मानुवाद – जिस घोर तपस्या का शास्त्रों में विधान नहीं है, काम, राग और बल के अभिमानी व्यक्ति दम्भ और अहंकार से उन्हीं तपस्याओं को करते हैं। जो शरीर में स्थित भूतसमूहों को उपवासादि रूपी कठिन तपस्याओं द्वारा क्षीण करते हैं, इसलिए उनके अन्तः करण में स्थित मेरे शक्ति के अंश आत्मा को दुःख देते हैं,वे आसुरी निष्ठा वाले हैं॥ 5-6॥

अन्वय - दम्भांहकारसंयुक्ताः (दम्भ और अहंकार युक्त) कामरागबलान्विताः (काम, आसक्ति और बल के अभिमान से युक्त) ये (जो सब) अचेतसः (अविवेकी) जनाः (व्यक्ति) शरीरस्थम् (शरीर में स्थित) भूतग्रामम् (भूतसमूहों को) अन्तःशरीरस्थम् (शरीर के अन्दर स्थित) मां च एव (मुझे) कर्षयन्तः (आज्ञा-उल्लंघन द्वारा कृश कर) अशास्त्रविहितम् (अशास्त्रविहित) घोरम् (तपस्या) तप्यन्ते (करते हैं) तान् (उनको) आसुरनिश्चयान् (अतिक्रूरबुद्धिवाला) विद्धि (जानना)॥ 5-6॥

टीका — यत्त्वया पृष्टं—"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य (कामभोगरहिताः) श्रद्धया यजन्ते तेषां का निष्ठा" इति, तस्योत्तरमधुना शृण्वित्याह—अशास्त्रेति द्वाभ्याम्। घोरं प्राणिभयकरं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्तीत्युपलक्षणमिदं जपयागादिकमप्यशास्त्रीयं कुर्वन्ति। कामाचरण-राहित्यं श्रद्धान्वितत्वञ्च स्वत एव लभ्यते। दम्भाहङ्कारसंयुक्ता इति—दम्भाहङ्काराभ्यां विना शास्त्रविध्युल्लङ्घनानुपपत्तेः, 'कामः' स्वस्याजरामरत्वराज्याद्यभिलाषः, रागस्तपस्यासक्तिः, 'बलं' हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव तपःकरणसामर्थ्यं, तै

कर्षयन्तः कृशीकुर्वन्तो माञ्च मदंशभूतं जीवञ्च दुःखयन्तः। आसुरनिश्चयान् असुराणामेव निष्ठायां स्थितानित्यर्थः।। 5-6।।

भावानुवाद - हे अर्जुन! तुमने जो पूछा- जो लोग शास्त्रविधि को त्यागकर, किन्तु कामभोग को छोड़कर श्रद्धापूर्वक पूजन इत्यादि करते हैं, उनकी निष्ठा सात्त्विक, राजसिक या तामसिक में से कौन सी है? अब दो श्लोकों में इसका उत्तर सुनो, जो प्राणियों को भय देनेवाली घोर तपस्या आदि करते हैं, यानि अशास्त्रीय जपयज्ञादि करते हैं, उनमें कामभोग आदि का त्याग और श्रद्धा सहज ही पाई जाती है, किन्तु वे दाम्भिक और अहंकारी होते हैं, जिसकारण वे शास्त्रविधि का उल्लघंन करते हैं। उनमें काम अर्थात्, मैं कभी बूढ़ा न होऊँ और कभी न मरूँ एवं राज्य आदि ऐश्वर्य मुझे प्राप्त होगा ऐसी अभिलाषाएं रहती हैं और हिरण्यकशिपु आदि की भाँति तपस्या करने की ताकत भी। इस कारण वे शरीरस्थ भूतों को एवं मेरे अंशभूत जीव को वृथा ही दुःख प्रदान करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की निष्ठा आसुरी निष्ठा होती है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ 7॥

मर्मानुवाद - मनुष्यों का आहार भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार उनके यज्ञ, तप एवं दान भी तीन प्रकार के होते हैं॥ 7॥

अन्वय - सर्वस्य (सभी प्राणियों का) प्रियः (प्रिय) आहारः (आहार) अपि (भी) त्रिविधः (तीन प्रकार का) भवति (होता है) तथा (वैसे ही) यज्ञः (यज्ञ) तपः (तपस्या) दानम् (दान भी [त्रिविधम्] [तीन प्रकार के होते हैं] तेषाम् (उन सबके) इमम् (इन) भेदम् (भेदों को) शृणु (सुनो) ॥7॥

टीका — तदेवं ये शास्त्रविधित्यागिनः कामचारेण वर्त्तन्ते पूर्वाध्यायोक्ताः, ये चास्मिन्नध्याये आसुरशास्त्रविधिना यक्षरक्षप्रेतादीन् यजन्ते, ये चाशास्त्रीयं तप-आदिकं कुर्वन्ति ते सर्वे आसुरसर्गमध्यगता एव भवन्तीति प्रकरणार्थः तथाप्याहारादीनां वक्ष्यमाणानां त्रै
स्वयमेव विविच्य जानीहीत्याह—आहारस्त्वित्यादि त्रयोदशभिः।। 7।।

भावानुवाद - पिछले अध्याय में कहे अनुसार जो शास्त्रविधि त्यागकर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं एवं इस अध्याय में कथित असुरशास्त्रविधि के

अनुसार यक्ष - राक्षस - प्रेत आदि की पूजा करने वाले - ये सभी आसुर श्रेणी में आते हैं। यही इस अध्याय का अर्थ है। फिर भी आगे जो आहार आदि के तीन प्रकार के भेद कहे जायेंगे, उनके आधारपर दैव और आसुर श्रेणी की पहचान स्वयं कर लेनी चाहिए, इसलिए 'आहारस्तु' इत्यादि तेरह श्लोक कहे जा रहे हैं॥ 7 ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ 8 ॥

मर्मानुवाद - आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाला रसयुक्त, स्निग्ध और अधिक समय तक रहने वाला, एवं शरीर का हित करने वाला भोजन सात्त्विक लोगों को प्रिय होता है॥ 8 ॥

अन्वय - आयुःसत्त्वबलारोग्यः सुखप्रीतिविवर्धनः (आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ाने वाले) रस्याः (रसीले) स्निधाः (स्निग्ध) स्थिराः (और स्थिर रहने वाले) हृद्याः (मनोरम) आहाराः (भोजन) सात्त्विकप्रियाः (सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं)।। 8॥

टीका — आयुरिति —सात्त्विकाहारवतामायुर्वर्द्धते इति प्रसिद्धिः, सत्त्वमुत्साहो रस्या इति केवलगुडादीनां रस्यत्वेऽपि रूक्षत्वमत आह— स्निग्धा इति, दुग्धफेनादीनां रस्यत्वस्निग्धत्वेऽप्यस्थै
पनसफलादीनां रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वेऽपि हृदुदराद्यहितत्वमत आह—हृद्या हृदुदर-हिता इति, तेन स-गव्यशर्करा—शालिगोधूमान्नादय, एव रस्यत्वादिचतुष्टय- गुणवत्त्वात् सात्त्विकलोकप्रिया ज्ञेयास्तेषां प्रियत्वे सत्येव सात्त्विकत्वञ्च ज्ञेयम्। किञ्च, गुणचतुष्टयवत्त्वेऽप्यपावित्र्ये सति सात्त्विकप्रियतादर्शनात्त्वत्र पवित्रा इत्यपि विशेषणं देयम्, तामसप्रियेष्वमेध्यपददर्शनात्।। 8।।

भावानुवाद - लोकप्रसिद्ध है कि सात्त्विक आहार से आयु बढ़ती है। 'सत्त्वम्' अर्थात् उत्साह बढ़ता है। 'रस्याः' गुड़ आदि पदार्थ रस वाले होने पर भी रूखे होते हैं। 'स्निग्धाः' दूध मलाई इत्यादि स्निग्ध रसवाले हैं, किन्तु ये ज्यादा देर तक रहने वाले नहीं होते। 'स्थिराः' कटहल आदि फल रसवाले स्निग्ध और स्थिर हैं, किन्तु ये भी हृदय और उदर के लिए हानिकारक हैं, इसलिए आहार हृदय तथा उदर के लिए हितकर होना

चाहिये, इसलिए गव्य अर्थात् गाय का दूध, दही और घी इत्यादि, शक्कर के साथ चावल, गेहूँ अन्नादि चारों गुणों वाले होने के कारण सात्त्विक लोगों को प्रिय हैं – ऐसा जानना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त चारों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि कोई वस्तु अपवित्र हो, तो सात्त्विक व्यक्ति उसे प्रिय न समझें। इसलिए श्लोक में 'पवित्र' विशेषण दिया गया है, क्योंकि अगले श्लोक में ऐसा कहा गया है कि अपवित्र पदार्थ तामस लोगों को प्रिय हैं॥ 8॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ 9॥

मर्मानुवाद – अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गर्म, अति तीखे, अति मिर्च मसालेदार, अति जलाने वाले एवं दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले आहार राजसिक व्यक्तियों को प्रिय होते हैं।। 9॥

अन्वय – कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णः रूक्षविदाहिनः (अति कड़वे , खट्टे, लवण युक्त और अति गरम, तीखे मसाले दार, पेट जलाने वाले) दुःखशोकामयप्रदाः (दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले) आहाराः (आहार) राजसस्य (राजसिक व्यक्तियों को) इष्टाः (प्रिय होते हैं)।। 9॥

टीका — 'अतिः'—शब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि सम्बध्यते। अतिकटुनिम्बादिरत्यम्ललवणोष्णः प्रसिद्ध एवातितीक्ष्णो मूलिकाविषादिर्मरीच्याद्या वा, अतिरूक्षो हिङ्गुको द्रवादिर्विदाही दाहकरो भृष्टचणकादिः—एते दुःखादिप्रदाः। तत्र दुःखं तात्कालिको रसनाकण्ठादिसन्तापः, शोकः पश्चाद्भाविदौ

भावानुवाद – 'अति' शब्द कटु इत्यादि सातों शब्दोंके साथ प्रयोग हुआ है। अति कड़वा जैसे नीम आदि, अति खट्टा, अति नमकीन, अति गर्म, अति-तीखा जैसे मूली एवं काली मिर्च इत्यादि, अति रूखे- हींग इत्यादि, दाहकारी-भुने हुए चने ये सब पदार्थ दुःख, रोग, शोक प्रदान करते हैं। इन पदार्थों को खाने से आरम्भ में जिह्वा, कण्ठ इत्यादि को भी संताप होता ही है, फलस्वरूप शोक, दुश्चिन्ता और पेट में आँव आदि रोग होते हैं॥ 9॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ 10॥

मर्मानुवाद – पकाने के बाद एक प्रहर (तीन घण्टें) से अधिक समय पहले से पका हुआ, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, एक दिन पहले पका होने के कारण बासी, गुरुजनों के अतिरिक्त दूसरों का जूठा या मद्यमांसादि अमेध्य भोजन तामसिक व्यक्तियों को प्रिय होता है॥ 10॥

अन्वय – यातयामम् (एक पहर से अधिक समय पहले से पका हुआ) गतरसम् (रसहीन) पूति (दुर्गन्धयुक्त) पर्युषितम् (बासी) उच्छिष्टम् (झूठा) अपि च अमेध्यम् (और अपवित्रम्) यत् (जो) भोजनम् (आहार है वह) तामसप्रियम् (तामसिक व्यक्तियों का प्रिय है)।। 10॥

टीका — यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेस्तद्यातयामं शै प्राप्तमित्यर्थः, गतरसं त्यक्तस्वाभाविकरसं निष्पीडितरसं पक्वाम्रत्वगष्ट्यादिकं वा, पूति दुर्गन्धम्, पर्युषितं दिनान्तरं पक्वमुच्छिष्टं गुर्वादिभ्योऽन्येषां भुक्तावशिष्टममेध्यमभक्ष्यं कलञ्जादि। ततश्चै
सात्त्विकाहार एव सेव्य इति भावः। वै
एव, भगवन्निवेदितमन्नादिकन्तु निर्गुणभक्तलोकप्रियमिति श्रीभागवताज्ज्ञेयम्।। 10।।

भावानुवाद – पकाने के बाद एक प्रहर (तीन घण्टे) तक रखे होने के कारण शीतल हो गये हों, 'गतरसम्' – जिनका स्वाभाविक रस नष्ट हो चुका हो या निचोड़ लिया गया हो, जैसे पके हुए आमका छिलका, गुठली आदि। 'पूति' अर्थात् दुर्गन्धयुक्त लहसुन-प्याजादि। 'पर्युषितम्' पिछले दिनका पका हुआ बासी।'उच्छिष्ट' – गुरुवर्ग के अतिरिक्त अन्य किसी का जूठा अन्न, 'अमेध्य' – अभक्ष्य माँस-मच्छली, तम्बाकू इत्यादि तामसिक व्यक्तियों के प्रिय हैं इसलिए इनका परित्याग कर हित करने वाले सात्त्विक आहार का सेवन करना चाहिए, किन्तु वैष्णव को भगवान् को निवेदित न किया हुआ भोजन – त्याग देना चाहिए। श्रीमद्भागवत से यह जाना जाता है कि भगवान् को निवेदित अन्न निर्गुण होता है और वही भक्तों को प्रिय होता है॥ 10॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ 11॥

मर्मानुवाद – यज्ञों का भेद यही है कि फल की इच्छा के बिना,

शास्त्रविधि अनुसार कर्तव्य समझकर किया गया यज्ञ ही 'सात्त्विक' है ॥11 ॥

अन्वय – अफलाकांक्षिभिः (फल की इच्छा से रहित व्यक्तियों के द्वारा) मनः समाधाय (मन को एकाग्र करके ही) यष्टव्यम् एव (यज्ञ करना कर्तव्य है) इति (इस प्रकार) विधिदिष्टः (शास्त्र विधि के अनुसार) यः (जो) यज्ञ (यज्ञ) इज्यते (किया जाता है) सः (वह यज्ञ तो) सात्त्विकः (सात्त्विक है) ॥ 11 ॥

टीका — अथ यज्ञस्य त्रै
ङ्खाराहित्ये कथं यज्ञे प्रवृत्तिरत आह—यष्टव्यमेवेति। स्वानुष्ठेयत्वेन शास्त्रोक्त्वाद वश्यकर्त्तव्यमेतदिति मनः समाधाय।। 11।।

भावानुवाद – तीन प्रकार के यज्ञों के बारे में बता रहे हैं । यदि प्रश्न हो कि फल की आकांक्षा से रहित होकर किस प्रकार यज्ञ में प्रवृत्ति होती है । इस के उत्तर में कहते हैं – फल की आकांक्षा से रहित होकर वेदविहित होने के कारण उसे कर्त्तव्य समझ कर एकाग्रमन से किया गया यज्ञ सात्त्विक है ॥11 ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ 12 ॥

मर्मानुवाद – फल की कामना से एवं दम्भ अर्थात् ख्यातिप्राप्ति के लिए किए गये यज्ञ को राजसिक यज्ञ कहा जाता है ॥ 12 ॥

अन्वय – फलम् (फल) अभिसन्धाय (की कामना से) अपि च (और) दम्भार्थम् (अपनी महिमा फैलाने के लिए) यत् (जो) इज्यते (यज्ञ किया जाता हैं) भरतश्रेष्ठ (हे भरतश्रेष्ठ) तम् (उस) यज्ञम् (यज्ञ को) राजसम् (राजसिक यज्ञ) विद्धि (जानना) ॥ 12 ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ 13 ॥

मर्मानुवाद – विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञ ही तामसिक यज्ञ है। यहां पर नितान्त भ्रष्ट स्वरूप वाली श्रद्धा को श्रद्धा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

अन्वय – [पण्डित व्यक्ति] विधिहीनम् (शास्त्र विधि को छोड़कर)

असृष्टान्नम् (अन्नादि के दान के बिना) मन्त्रहीनम् (मन्त्रस्वर और वर्णहीन) अदक्षिणम् (यथा उपयुक्त दक्षिणा के बिना) श्रद्धाविरहितम् (श्रद्धाहीन किए) यज्ञम् (यज्ञ को) तामसम् (तामसिक) परिचक्षते (कहते हैं) ॥ 13 ॥

टीका — असृष्टान्नमन्नदानरहितम्।। 13।।

भावानुवाद - असृष्टान्नम् - अन्नदान के बिना॥ 13॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ 14॥

मर्मानुवाद - तपस्या के भेद इस प्रकार है - देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा - ये सब शरीर सम्बन्धी तप हैं॥ 14॥

अन्वय - देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम् (देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा) शौचम् (पवित्रता) आर्जवम् (सरलता) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्य) अहिंसा च (और अहिंसा) शारीरम् (शारीरिक) तपः (तप) उच्यते (कहे जाते हैं) ॥ 14 ॥

टीका — तपसस्त्रै
देवेत्यादित्रिभिः।। 14।।

भावानुवाद - तीन प्रकार की तपस्या के विषय में बताते हुए सर्वप्रथम सात्त्विक तपस्या के भी तीन भेद बता रहे हैं॥ 14॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ 15॥

मर्मानुवाद - उद्वेग न देने वाले, सत्य, प्रिय और हित करने वाले वाक्य और व्यवहार एवं वेदपाठ और अभ्यास - तपस्या का 'वाङ्मय' रूप है अर्थात् वाचिक तप है॥ 15॥

अन्वय - अनुद्वेगकरम् (दूसरों को दुख न देने वाला) सत्यम् (प्रामाणिक) प्रियहितं च (प्रिय और हितकर) यत् (जो) वाक्यम् (वाक्य) स्वाध्यायाभ्यसनम् (वेदाभ्यास) वाङ्मयम् (वाचिक) तपः (तपस्या) उच्यते (कहा गया है) ॥ 15 ॥

टीका — अनुद्वेगकरम्—सम्बोध्य भिन्नानामप्यनुद्वेजकम्।। 15।।

भावानुवाद –सम्बोधन में भी किसी को उद्वेग न देने वाला।। 15।।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ 16॥

मर्मानुवाद – चित्त की प्रसन्नता, सरलता, मौन, आत्मविनिग्रह और भावशुद्धि अर्थात् कपटरहितभावना – ये सब मानस तप कहे गये हैं॥16॥

अन्वय – मनःप्रसादः (मन की प्रसन्नता) सौम्यत्वम् (अक्रूरता) मौनम् (मौन) आत्मविनिग्रहः (मन संयम) भावसंशुद्धिः (कपटता रहित व्यवहार) इति एतत् (ये सब) मानसम् (मानसिक) तपः (तप) उच्यते (कहे गये हैं)॥ 16॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ 17॥

मर्मानुवाद – निष्काम व्यक्ति द्वारा भगवान् की भक्ति के उद्देश्य से श्रद्धा के साथ किए गये उपर्युक्त कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीनों प्रकार के तप सात्त्विक कहे जाते हैं।। 17॥

अन्वय – अफलाकांक्षिभिः (फल की इच्छा से रहित) युक्तैः (एकाग्रचित्त) नरैः (पुरुषों के द्वारा) परया (अतिशय) श्रद्धया (श्रद्धा के साथ) तप्तम् (किए हुए) तत् (पहले कहे) त्रिविधम् (तीन प्रकार के) तप (तप को) सात्त्विकम् (सात्त्विक) परिचक्षते (कहते हैं)॥ 17॥

टीका — त्रिविधमुक्तलक्षणं कायिकवाचिकमानसम्।। 17।।

भावानुवाद – शरीरसम्बन्धी, मन सम्बन्धी और वाणीसम्बन्धी तीन प्रकार का तप सात्त्विक है ॥ 17॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ 18॥

मर्मानुवाद – लोग मेरे को साधु कहेंगे इस भावना से सत्कार, मान और पूजा पाने के लिए दम्भसहित जो तप किया जाता है, वही अनित्य और अनिश्चित 'राजसिक' तप है॥ 18॥

अन्वय – सत्कारमानपूजार्थम् (वाचिक, दैहिक और आर्थिक पूजा के लिए सत्कार, मान और पूजा के लिए) दम्भेन च (दम्भ के साथ) यत्

(जो) तपः (तप) क्रियते (किया जाता है) तत् (वह) इह (इस लोक में) चलम् (चंचल) अध्रुवम् (क्षणिक और) राजसम् (राजसिक) प्रोक्तम् (कहा गया है) ।। 18 ॥

टीका — 'सत्कारः' साधुरयमित्यन्यै
प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिरन्यै
मानै
तपः, चलं किञ्चित्कालिकमध्रुवमनियतसत्कारादिफलकम् ।। 18 ।।

भावानुवाद – सत्कार का अर्थ है यह बहुत अच्छा है इत्यादि प्रशंसनीय वाक्यों द्वारा सम्मान प्राप्ति। 'मान' उठकर खड़े होना और नमस्कार आदि द्वारा दूसरों से शारीरिक पूजाप्राप्ति को मान कहते हैं। 'पूजा' दूसरों द्वारा धनादिदान प्राप्ति वाली मानसिक पूजा कही गयी है । इन सब की प्राप्ति के लिए जो तप किया जाता है, वह राजसिक तप है। यह अधिक समय तक न रहनेवाला और अनिश्चित सत्कारादि फल देने वाला है ॥ 18 ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 19 ॥

मर्मानुवाद – मूढ़तावश अपने मन और शरीर को कष्ट देकर एवं दूसरे को विनाश करने के उद्देश्य से जो तप किया जाता है, वही तामसिक तप कहा गया है ॥ 19 ॥

अन्वय – मूढग्राहेण (अविवेकजनित दुराग्रह से) आत्मनः (अपने को) पीडया (कष्ट देकर) परस्य वा (या दूसरे को) उत्सादनार्थम् (विनाश करने के लिए) यत् (जो) तपः (तप) क्रियते (किया जाता है) तत् (वह) तामसम् (तामसिक) उदाहृतम् (कहा गया है) ॥ 19 ॥

टीका — 'मूढग्राहेण मौ

भावानुवाद - 'मूढग्राहेण' – मूढ़तावश दूसरे के विनाश के लिए किया गया तप तामस तप है ॥ 19 ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ 20 ॥

मर्मानुवाद – प्रत्युपकार करने में असमर्थ व्यक्ति को उचित स्थान,

उचित समय का विचार कर दिया गया दान 'सात्त्विक' दान है ॥ 20 ॥

अन्वय - अनुपकारिणे (प्रत्युपकार करने में असमर्थ व्यक्ति को) देशे (पुण्यक्षेत्र में) काले (पुण्यकाल में) पात्रे च (और तपस्या और विद्यादिगुणों वाले ब्राह्मण को) दातव्यम् (दान देना कर्तव्य है) इति (इस भाव से) यत् (जो) दीयते (दान किया जाता है) तत् (वही) दानम् (दान) सात्त्विकम् (सात्त्विक) स्मृतम् (कहा गया है) ॥ 20 ॥

टीका — दातव्यमित्येवं निश्चयेन, न तु फलाभिसन्धिना यद्दानम्। ।20। ।

भावानुवाद - योग्य काल और पात्र का विचार कर दान देना चाहिये, ऐसा निश्चय कर फल की इच्छा न रखकर दिया गया दान सात्त्विक दान है।

यत्तुप्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ 21 ॥

मर्मानुवाद - बदले में उपकार प्राप्त करने की भावना से या स्वर्गादि की प्राप्ति के उद्देश्य से पश्चात्ताप करते हुए दिया दान ही राजसिक कहा गया है ॥ 21 ॥

अन्वय - यत् तु (और जो) प्रत्युपकारार्थम् (बदले में उपकार प्राप्त करने के उद्देश्य) वा (या) फलम् (फल पाने का) उद्देश्य (उद्देश्य रख कर) पुनः च (और) परिक्लिष्टम् (पश्चात्ताप करते हुए) दीयते (दिया जाये) तद् दानम् (वह दान) राजसम् (राजसिक) स्मृतम् (कहा गया है) ॥21 ॥

टीका — परिक्लिष्टं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तम्, यद्वा, दित्साया अभावेऽपि गुर्वाद्याज्ञानुरोधवशादेव दत्तम्, परिक्लिष्टम् अकल्याणद्रव्यकर्मकं वा। ।21। ।

भावानुवाद - 'परिक्लिष्ट' - दान देने के बाद यह सोच कर कि इतना खर्चा हो गया, इस दुःख से दुःखी या दान देने की इच्छा न होते हुए भी गुरु आदि की आज्ञा या अनुरोध से दिया गया दान या अकल्याणकर द्रव्य का दान राजस होता है ॥ 21 ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ 22 ॥

मर्मानुवाद – जहां दान देने की आवश्यकता नहीं उस स्थान पर, जिस काल में दान करने से किसी का भी उपकार न हो उसकाल में एवं नर्तक, वेश्या और अभाव रहित व्यक्ति इत्यादि अपात्र को जो दान दिया जाये ,वही तामसिक दान होता है ॥ 22 ॥

अन्वय – अदेशकाले (अनुचित स्थान और अनुचित समय) अपात्रेभ्यः च (और अनुचित पात्र को) असत्कृतम् (अनादर) अवज्ञातम् (और अवज्ञा के साथ किया गया) यत् (जो) दानम् (दान है) तत् (उसे) तामसम् (तामसिक) उदाहृतम् (कहा गया है) ॥ 22 ॥

टीका — असत्कारोऽवज्ञायाः फलम्।। 22।।

भावानुवाद – 'असत्कारः' अवज्ञासहित दिये दान का फल ॥ 22 ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ 23॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ 24॥

मर्मानुवाद – यहां पर तात्पर्य कहता हूँ सुनो – तपस्या, यज्ञ, दान और आहार— ये सभी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के हैं। त्रिगुण में फंसी अवस्था में इन अनुष्ठानों के प्रति जो श्रद्धा रहती है, वह उत्तम, मध्यम और अधम होने पर भी सगुण और अकिञ्चित्कर है, जब निर्गुण श्रद्धा अर्थात् भक्तिप्राप्ति के उद्देश्य से श्रद्धा के साथ कर्म किए जाते हैं तभी वे अन्तःकरणशुद्धिरूपी अभयप्राप्ति के उपयोगी होते हैं।

शास्त्र में हर जगह उसी पराश्रद्धा के साथ कर्म करने का उपदेश हैं। शास्त्रों में '**ॐ**' **तत्-सत्** ब्रह्म -निर्देशक इन तीन नामों की व्यवस्था देखी जाती है। इन्हीं ब्रह्मनिर्देशक नामों के साथ ब्राह्मण, वेद और यज्ञ इत्यादि विहित हुए हैं। शास्त्रविधि को छोड़कर जो श्रद्धा है वह सगुण, अब्रह्म निर्देशक और कामफलदायक होती है। इसलिए शास्त्र-विधान में ही परा श्रद्धा की व्यवस्था है। तुम्हारे शास्त्र और श्रद्धा के सम्बन्ध में जो संशय हैं, वह केवल अज्ञान से उत्पन्न हैं। ब्रह्मवादी ब्रह्मउद्देशक 'ॐ' शब्द का व्यवहार करते हुए शास्त्रों में बताये गये सभी यज्ञ, दान, तप और क्रियायें करते हैं।। 23॥

अन्वय – ॐ तत् सत् इति (ॐ तत् सत्) इति (इन) त्रिविधः (तीन प्रकार के) ब्रह्मणः (ब्रह्म के) निर्देशः (नाम) स्मृतः (शास्त्रों में कहे गये हैं) तेन (उसी नाम–बह्म के द्वारा) पुरा (पूर्वकाल में) ब्राह्मणाः (ब्राह्मण) वेदाः (वेद) यज्ञाः च (और यज्ञ) विहिताः (निर्मित हुए हैं) ॥ 23 ॥

तस्मात् (उसी कारण) 'ॐ' इति ('ॐ' शब्द) उदाहृत्य (उच्चारण करके) ब्रह्मवादिनाम् (वेदवादियों के) विधानोक्ताः (वेदों में कहे) यज्ञदानतपःक्रिया (यज्ञ, दान और तपस्या इत्यादि कर्म) सततम् (हमेशा) प्रवर्तन्ते (किए जाते हैं) ॥ 24 ॥

टीका — तदेवं तपोयज्ञादीनां त्रै
मात्रमधिकृत्योक्तम्। तत्र ये सात्त्विकेष्वपि मध्ये ब्रह्मवादिनस्तेषान्तु ब्रह्मनिर्द्देशपूर्वका एव यज्ञादयो भवन्तीत्याह— ॐ तत् सदित्येवं ब्रह्मणो निर्द्देशो नाम्ना व्यपदेशः स्मृतः शिष्टै
नाम। जगत्कारणत्वेनातिप्रसिद्धेः अतन्निरसनेन च प्रसिद्धेस्तदिति च, "सदेव सौ
ब्रह्मणै
उदाहृत्य उच्चार्य वर्त्तमानानां ब्रह्मवादिनां यज्ञादयः प्रवर्त्तन्ते।।23–24।।

भावानुवाद - सामान्य भावसे मनुष्यमात्र के अधिकार के अनुसार तप, यज्ञ आदि के तीन प्रकार बताये गये हैं। उनमें सात्त्विकों में जो ब्रह्मवादी हैं, उनके जो ब्रह्मनिर्देशपूर्वक यज्ञादि होते हैं उनमें ॐ तत् सत् – तीन प्रकार के ब्रह्म के नामों द्वारा निर्देश या स्मरण प्रदर्शन साधु लोगों द्वारा किया जाता है, उनमें ॐ सभी श्रुतियों में प्रसिद्ध ब्रह्म का ही नाम है। जगत् के कारण के रूप में तथा अतत् के निरसन द्वारा तत् शब्द अति प्रसिद्ध है और 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' हे सोम्य! पहले एकमात्र 'सत्' ही था (छा.उ.6 /2 / 1), इसीकारण 'ॐ तत् सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म द्वारा ही ब्राह्मण, वेद यज्ञों का निर्माण हुआ है, इसलिए ॐ शब्द का उच्चारणकर वर्तमान वेदवादियों के यज्ञ आदि कार्य किए जाते हैं ॥ 23–24 ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ 25 ॥

मर्मानुवाद – इस संसार बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अतत्

वस्तु संसार से अतीत 'तद्' वस्तु के उद्देश्य से फल की कामना का परित्याग करते हुये यज्ञ, दान, तप और दानादि क्रियाओं का अनुष्ठान करो।

अन्वय - तत् इति ('तत्' ये शब्द) [उदाहृतम्] [उच्चारणपूर्वक] फलम् (फल की) अनभिसन्धाय (कामना न करके) मोक्षकांक्षिभिः (मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति द्वारा) विविधाः (नाना प्रकार के) यज्ञतपःक्रिया (यज्ञ और तपस्या) दानक्रिया च (दान क्रियायें) क्रियन्ते (की जाती हैं) ॥ 25 ॥

टीका — तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः। अनभिसन्धाय फलाभि-सन्धिमकृत्वा।। 25।।

भावानुवाद - उपर्युक्त तत् शब्द अर्थात् ब्रह्म के नामों का उच्चारण कर यज्ञादि कार्यों को करना चाहिए । 'अनभिसन्धाय' - का अर्थ है फल की अभिलाषा न रखते हुए विविध क्रियाओं को करना चाहिए ॥ 25 ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ 26 ॥

मर्मानुवाद - ब्रह्मत्व में और ब्रह्मवादित्व में सत् शब्द का प्रयोग होता है। उसी प्रकार तद् वस्तु के उद्देश्य से किए जाने वाले प्रशस्त कर्मों को समझाने के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।। 26 ॥

अन्वय - पार्थ (हे पार्थ) सद्भावे (ब्रह्मत्व में) साधुभावे (ब्रह्मज्ञत्व में) 'सद्' इति एतत् (सत् यही शब्द) प्रयुज्यते (प्रयोग किया जाता है) तथा (एवं) प्रशस्ते कर्मणि(उपनयनादि मांगलिक कार्यों में) सत् शब्दः (सत् शब्द) युज्यते (व्यवहार किया जाता है) ॥ 26 ॥

टीका — ब्रह्मवाचकः सच्छब्दः प्रशस्तेष्वपि वर्त्तते, तस्मात् प्रशस्तमात्रे कर्मणि प्राकृतेऽप्राकृतेऽपि सच्छब्दः प्रयोक्तव्यः इत्याशयेनाह—सद्भाव इति द्वाभ्याम्। सद्भावे ब्रह्मत्वे साधुभावे ब्रह्मवादित्वे प्रयुञ्जते संगच्छते इत्यर्थः।।26।।

भावानुवाद - ब्रह्मवाचक 'सत्' शब्द का व्यवहार मांङ्गलिक कार्य में भी होता है, इसलिए सभी सांसारिक और आध्यात्मिक माङ्गलिक कार्यों में सत् शब्द का प्रयोग करना चाहिए । इन दो श्लाकों में सद्भावे-ब्रह्मत्व में और साधुभावे-ब्रह्मवादित्व में कहा गया है ॥ 26 ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥27॥

मर्मानुवाद – यज्ञ, तपस्या और दान में भी सत् शब्द का तात्पर्य है, क्योंकि ये सब क्रियायें ब्रह्म के उद्देश्य से होती हैं, तो 'सत्' कहलाती हैं और ब्रह्म के उद्देश्य से न होने पर असत् हो जाती हैं। संसारिक सभी कर्म जीव के स्वरूप के विरोधी हैं। किन्तु जब ये सब कर्म ब्रह्मनिष्ठ होकर हृदय में भक्ति को प्रकट करवाने की प्रतिज्ञा करते हैं, तब ये सब क्रियायें भी जीव की चित्तसंशुद्धि अर्थात् स्वरूपसिद्धिरूप श्रीकृष्णदास्य के उपयोगी होती हैं।

अन्वय – यज्ञे (यज्ञ में) तपसि (तपस्या में) दाने च (और दान में) स्थितिः (अवस्थान) सत् इति च ('सत्') उच्यते (कहा जाता है) तदर्थीयम् (ईश्वर के लिए) कर्म च एव (मन्दिर निर्माण और मन्दिर मार्जनादि कर्म भी) सत् इति एव (सत् ही) अभिधीयते (कहे जाते हैं) ॥ 27 ॥

टीका — यज्ञादौ
ब्रह्मपरिचर्योपयोगि यत् कर्म भगवन्मन्दिरमार्जनादिकं तदपि।। 27।।

भावानुवाद – यज्ञ आदि में स्थिति का अर्थ है – यज्ञादिके तात्पर्य के रूप में अवस्थिति । 'तदर्थीयं कर्म' का अर्थ है – ब्रह्म की परिचर्या के उपयोगी मन्दिर मार्जन इत्यादि कर्म ॥ 27 ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ 28॥

श्रीकृष्णार्जुन-संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

मर्मानुवाद – हे अर्जुन! निर्गुण श्रद्धा के बिना जो यज्ञ, दान और तपस्या की जाती है, वह सब असत् है। ये सब क्रियायें इस लोक और परलोक किसी भी लोक में उपकार करने वाली नहीं हैं, इसलिए शास्त्र निर्गुण श्रद्धा का ही उपदेश करते हैं। शास्त्र का परित्याग करने से निर्गुण श्रद्धा का परित्याग करना पड़ता है। निर्गुण श्रद्धा ही भक्ति लता का एक मात्र बीज है।

इस अध्याय में शुद्धचित्त आश्रित श्रद्धा के साथ किए सभी भगवत्कर्म जीवों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं, यही कहा गया है॥ 28 ॥

सत्रहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - अश्रद्धया (अश्रद्धा के साथ किया हुआ) हुतम् (होम) दत्तम् (दिया गया दान) तप्तम् (किया हुआ) तपः (तप) यत् च (और जो कुछ भी) कृतम् (किया जाता है) तत् (वह सब) असत् इति (असत्) उच्यते (कहा गया है इसलिए) पार्थ (हे पार्थ वह) न प्रेत्य (न तो मरने के बाद) न इह (और न ही पहले ही लाभदायक है)॥ 28॥

टीका — सत्कर्म श्रुतम्, तथा असत्कर्म किमित्यपेक्षायामाह— अश्रद्धयेति। हुतं हवनं, दत्तं दानं, तपस्तप्तं, कृतं यदन्यच्चापि कर्म कृतं तत् सर्वमसदिति हुतमप्यहुतमेव दत्तमप्यदत्तमेव तपोऽप्यतप्तेमव कृतमप्यकृतमेव, यतस्तत् न प्रेत्य न परलोके फलति नापीहलोके फलति।। 28।।

भावानुवाद - सत्कर्म के विषय में सुना, किन्तु असत् कर्म क्या है? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं - 'अश्रद्धया'- अश्रद्धापूर्वक 'हुतम्' - होम, 'दत्तम्' - दान, 'तपः' - तपस्या, 'कृतम्' - अन्य जो कुछ भी कर्म किए जायें, वह सभी असत् हैं अर्थात् वह होम, होम नहीं है, दान, दान नहीं हैं, तपस्या, तपस्या नहीं हैं और जो कुछ भी किया जाता है, वह न करने के ही बराबर है, क्योंकि ऐसे कर्म 'तत् न प्रेत्य न इह' परलोक की तो बात दूर, इस लोक में भी फलदायक नहीं होते ॥ 28॥

उक्तेषु विविधेष्वेव सात्त्विकं श्रद्धया कृतम्।
यत् स्यात्तदेव मोक्षार्हमित्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वयं सप्तदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

इन कहे गये अनेक प्रकार के कर्मों में सात्त्विकी श्रद्धा के साथ किए गये सात्त्विक कर्म ही मोक्षदायक होते हैं ,यही इस अध्याय में निरूपण किया गया है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

सत्रहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

सत्रहवाँ अध्याय समाप्त

अठारहवाँ अध्याय

मोक्षयोग

अर्जुन उवाच-

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥1॥

मर्मानुवाद - पहले महाजनों के द्वारा गीता शास्त्र का गूढ़सार बताते हुए यही कहा गया है कि भक्ति ही सभी कर्मों का मंगलमय चरम फल है, यही प्रथम छः अध्यायों में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है, दूसरे छः अध्यायों में निर्गुण भक्ति का स्वरूप वर्णित हुआ है। अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञान, वैराग्य, कार्य-अकार्य का विवेक, सगुण निर्गुण का विचार करते हुए भक्ति

का चरम फल निर्दिष्ट हुआ है।

उपरोक्त सभी उपदेश 17वें अध्याय तक समाप्त हुए। उन्हें श्रवण करने के पश्चात् उपसंहार के रूप में अर्जुन सारे तत्त्व को पुनः संक्षेप में सुनने की इच्छा से जिज्ञासा कर रहे हैं – हे हृषिकेश! हे केशिनिसूदन ! संन्यास और त्याग इन दोनों शब्दों का तात्पर्य अलग-अलग रूप से सुनने की इच्छा करता हूँ।

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो) हृषिकेश (हे हृषिकेश) केशिनिसूदन (हे केशिनिसूदन) संन्यासस्य (संन्यास) त्यागस्य च (एवं त्याग के) तत्त्वम् (तत्त्व को) पृथक् (अलग-2) वेदितुम् (जानने की) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) ॥1॥

टीका — संन्यासज्ञानकर्मादिस्त्रै
गुह्यसारतमा भक्तिरित्यष्टादश उच्यते।।

अनन्तराध्याये "तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः। दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।" इत्यत्र भगवद्वाक्ये मोक्षकाङ्क्षिशब्देन संन्यासिन एवोच्यन्ते, अन्ये वा यद्यन्ये एव ते, तर्हि "सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्" इति त्वदुक्तानां सर्वकर्मफलत्यागिनां तेषां स त्यागः कः? संन्यासिनाञ्च को वा संन्यासः? इति विवेकतो जिज्ञासुराह—संन्यासस्येति। पृथगिति यदि संन्यासत्यागशब्दौ
पृथग्वेदितुमिच्छामि। यदि त्वेकार्थौ
तयोरै
मद्बुद्धेः प्रवर्त्तकत्वात् त्वमेव इमं सन्देहमुत्थापयसि। 'केशिनिसूदनः' इति तञ्च सन्देहं त्वमेव केशिनमिव विदारयसीति भावः। 'महाबाहो' इति त्वं महाबाहुर्बलान्वितोऽहं किञ्चिद्बाहुबलान्वित इत्येतदंशेनै
तव, न तु सार्वज्ञ्यादि- भिरंशै
निःशङ्कता भावः।। 1।।

भावानुवाद – इस अध्याय में संन्यास, ज्ञान और कर्म आदि के त्रिविध रूपों, मुक्ति निर्धारण एवं गुह्यसारतमा भक्ति का निरूपण हुआ है।

'मोक्षकामी पुरुष फल की इच्छा से रहित होकर 'तत्' शब्द का उच्चारण करते हुए अनेक प्रकार के यज्ञ, तपस्या और दानादि कार्य करते हैं'

(गीता 17/25) पिछले अध्याय के इस भगवद्वाक्य में 'मोक्षकामी' शब्द संन्यासियों के लिए ही प्रयोग किया गया है। यदि संन्यासियों के अतिरिक्त अन्य को उद्देश्य करके कहा माना जाए, तो उनके लिए तो 12वें अध्याय के 11वें श्लोक में यह आदेश प्राप्त हो ही चुका है कि 'आत्मवान् होकर सभी कर्मफलों का त्याग कर वैदिक कर्मों का आचरण करो'। तब इस वाक्य के अनुसार सर्वकर्मफलत्यागियों का वह त्याग कैसा? और संन्यासियों का संन्यास कैसा? विवेकवान् अर्जुन यहाँ यही जिज्ञासा कर रहे हैं कि यदि संन्यास और त्याग इन दोनों शब्दोंका अर्थ अलग - अलग हो, तो मैं उनके तत्त्व को अलग - अलग जानने की इच्छा रखता हूँ। और यदि आपके या दूसरों के मत में दोनों का एक ही अर्थ हो फिर भी अलग रूप से जानने की इच्छा रखता हूँ। हे हृषीकेश! आप ही मेरी बुद्धि के प्रवर्तक हैं, इसलिए मन में यह सन्देह भी आपकी ही प्रेरणासे उत्पन्न हुआ है। हे केशिनिषूदन! - यहां केशिनिषूदन कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार आपने केशी असुरका नाश किया, उसी प्रकार मेरे इस सन्देह का भी विनाश करें। हे महाबाहो! आप अति बलशाली हैं और मैं सामान्य बल-सम्पन्न हूँ। इस कुछ अंश को लेकर मेरा आपसे सखा सम्बन्ध है, किन्तु आपके सर्वज्ञता आदि धर्मों के साथ मेरी कुछ भी समानता नहीं है, अतः आपके द्वारा दिए किञ्चित् सख्यभाव के कारण ही मैं निर्भय होकर आपसे प्रश्न करने में समर्थ हुआ हूँ ॥1॥

श्रीभगवानुवाच-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ 2 ॥

मर्मानुवाद - श्रीकृष्ण ने कहा - सकाम कर्मों का स्वरूपतः परित्याग करते हुए नित्य-नैमित्तिक कर्मों को निष्कामरूप से करने का नाम ही 'संन्यास' है। जबकि नित्य-नैमित्तिक और सकाम सब प्रकार के कर्म करते हुए भी उनके फल को त्यागने का नाम ही त्याग है, सभी विचक्षण कवियों ने भी संन्यास और त्याग का यही भेद बताया है॥ 2॥

अन्वय - श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् ने कहा) कवयः (पण्डित लोग) काम्यानाम् (सकाम) कर्मणाम् (कर्मों के) न्यासम् (स्वरूपतः त्याग

को) संन्यासम् (संन्यास) विदुः (जानते हैं) विचक्षणाः (निपुण व्यक्ति) सर्वकर्मफलत्यागम् (नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के फलमात्र के त्याग को) त्यागम् (त्याग) प्राहुः (कहते हैं) ॥ 2 ॥

टीका—प्रथमं प्राच्यं मतमाश्रित्य संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्न-जातीयार्थत्वमाह—काम्यानामिति। "पुत्रकामो यजेत" "स्वर्गकामो यजेत" इत्येवं कामोपबन्धेन विहितानां काम्यानां कर्मणां न्यासं स्वरूपेणै
विदुर्न तु नित्यानामपि सन्ध्योपास्त्यादीनामिति भावः। सर्वेषां काम्यानां नित्यानामपि कर्मणां फलत्यागमेव, न तु स्वरूपतस्त्यागं केषामपीति भावः। नित्यानामपि कर्मणां फलं "कर्मणा पितृलोकः" इति, "धर्मेण पापमपनुदति" इत्याद्याः श्रुतयः प्रतिपादयन्त्येवेत्यतस्त्यागे फलाभिसन्धिरहितं सर्वकर्मकरणम्। सन्यासे तु फलाभिसन्धिरहितं नित्यकर्मकरणम्, काम्यकर्मणां तु स्वरूपेणै त्याग इति भेदो ज्ञेयः।। 2।।

भावानुवाद - पहले प्राचीन मतों केआधार पर 'संन्यास' और 'त्याग' - इन दोनों शब्दोंके अलग-अलग अर्थ बताते हुए कह रहे हैं 'काम्यानाम्' इत्यादि । 'पुत्रकी कामना से यज्ञ करो', 'स्वर्गकी कामना से यज्ञ करो, इन सकाम कर्मों के स्वरूपतः त्याग किन्तु सन्ध्या-उपासना आदि नित्य कर्मों को फलकी कामना से रहित होकर करने को ही 'संन्यास' जानो, । जबकि समस्त सकाम कर्म चाहे नित्य कर्म ही क्यों न हों उनकेकेवल फलत्याग को ही 'त्याग' जानो, उनके स्वरूपतः त्याग नहीं ।

समस्त श्रुतियाँ नित्य कर्मों का प्रतिपादन करती हुई कहती है,जैसे 'कर्म द्वारा पितृलोक प्राप्त होता है', 'धर्म करने से पाप नाश होते हैं' इत्यादि । । फलकी कामना से रहित होकर इन सभी कर्मों को करना ही त्याग है। । जबकि फलकामना शून्य होकर समस्त नित्य-नैमित्तिक कर्मों का करना और सकाम कर्मों का स्वरूपतः त्याग करना ही संन्यास है-दोनों में यही भेद जानने योग्य है ॥ 2 ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ 3 ॥

मर्मानुवाद - त्याग के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने यह निश्चित किया है कि कर्म को 'दोष' समझ कर उसे पूरी तरह से त्याग दो, जबकि कुछ विद्वानों

ने निश्चित किया है कि यज्ञ, दान, तप इत्यादि सभी कर्म अत्याज्य हैं॥ 3॥

अन्वय - एके मनीषिणः (सांख्य के अनुसार कई मनीषी) कर्म (सभी कर्म) दोषवत् (दोष युक्त हैं) इति (इसलिए) त्याज्यम् (त्यागने योग्य) प्राहुः (कहते हैं) अपरे च (और दूसरे विद्वान्) प्राहुः (कहते हैं कि) यज्ञदानतपः कर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूपी कर्म) न त्याज्यम् (त्याज्य नहीं है)।

टीका—त्यागे पुनरपि मतभेदमुपक्षिपति—त्याज्यमिति। दोषवत् हिंसादिदोषवत्त्वात् कर्म स्वरूपत एव त्याज्यमित्येके सांख्याः। परे मीमांसका यज्ञादिकं कर्मशास्त्रे विहितत्वान्न त्याज्यमित्याहुः।। 3।।

भावानुवाद - त्याग के विषय में यहाँ पुनः मतभेद दिखाते हुए कह रहे हैं। कुछ सांख्यवादियों का मानना है कि हिंसा आदि दोषों से युक्त होने के कारण कर्म स्वरूपतः ही त्याज्य हैं। जबकि मीमांसक लोग कहते हैं कि शास्त्रविहित होने के कारण यज्ञ आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं॥ 3॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः॥ 4॥

मर्मानुवाद - हे भरतसत्तम ! हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्त यह है, कि त्याग भी तीन प्रकार का है।। 4॥

अन्वय - भरतसत्तम (हे भरत श्रेष्ठ) अत्र (उस) त्यागे (त्याग के विषय में) मे (मेरा) निश्चयम् (सिद्धान्त) शृणु (श्रवण करो) पुरुषव्याघ्र (हे पुरुषव्याघ्र) त्यागः (त्याग) त्रिविधः (तीन प्रकार का) संप्रकीर्तितः (कहा गया है)।।4॥

टीका—स्वमतमाह—निश्चयमिति। त्रिविधः—सात्त्विको राजसः तामसश्चेति। अत्र त्यागस्य त्रै
नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः।।'' इति तस्य एव तामसभेदै
एवेत्यवगम्यते।। 4।।

भावानुवाद - अब इस विषय में श्रीभगवान् अपना मत कह रहे हैं - त्याग भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार का है। तीनों प्रकार

के त्यागों का अतिक्रमण करते हुए भी नित्य–कर्मों का संन्यास उचित नहीं है । जो मोहवश नित्य कर्म का परित्याग करते हैं, उनका वह त्याग तामसिक त्याग है । (गीता 18/7) इस वाक्य में त्याग को ही संन्यास कहा गया है, अतः श्रीभगवान् के मतानुसार त्याग और संन्यास दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है ॥ 4 ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ 5 ॥

मर्मानुवाद – यज्ञ, दान और तप इत्यादि कर्म स्वरूपतः त्याज्य नहीं हैं। ये सभी मानव के कर्तव्य कर्म हैं। बद्ध जीव चित्त संशुद्धि के उपाय स्वरूप इन कर्मों का अनुष्ठान करें॥ 5 ॥

अन्वय – यज्ञदानतपः कर्म (यज्ञ, दान और तपस्यादि कर्म) न त्याज्यम् (त्यागने योग्य नहीं है) तत् (उन सबको) कार्यम् एव (करना ही कर्तव्य है) यज्ञः (यज्ञ) दानम् (दान) तपः च एव (और तपस्या) मनीषिणाम् (विवेकी पुरुषों के) पावनानि (चित्त शुद्ध करने वाले हैं)।

टीका—काम्यानामपि मध्ये भगवन्मते सात्त्विकानि यज्ञदानतपांसि फलाकाङ्क्षारहितै
पावनानीति चित्तशुद्धिकरत्वादित्यर्थः।। 5।।

भावानुवाद – भगवान् के मतानुसार सकाम कर्मों में भी सात्त्विक यज्ञ, दान और तपस्यादि कर्म फल की अभिलाषा से रहित होकर करने कर्त्तव्य हैं, क्योंकि ये 'पावनानि' अर्थात् चित्त को शुद्ध करने वाले हैं॥ 5 ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ 6 ॥

मर्मानुवाद – उत्तम सिद्धान्त यह है कि आसक्ति और फल की

कामना का परित्याग करते हुये कर्तव्य बुद्धि से इन सब कर्मों को करना अवश्यक है॥ 6 ॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) एतानि (ये) कर्माणि अपि (संपूर्ण कर्म) सङ्गम् (कर्ता अभिमान) फलानि च (और फल की कामना) त्यक्त्वा (त्याग कर) कर्त्तव्यानि (करना कर्तव्य है) इति (यह) मे (मेरा) निश्चितम्

(निश्चित) उत्तमम् (उत्तम) मतम् (मत है)॥ 6॥

टीका—येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति, तं प्रकारं दर्शयति—एतान्यपीति। सङ्गं कर्त्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसन्धिञ्च, फलाभिसन्धि-कर्त्तृत्वाभिनिवेशयोस्त्याग एव त्यागः संन्यासश्चोच्यते इति भावः।। 6।।

भावानुवाद - जिस तरह करने से ये यज्ञादि कर्म चित्त को शुद्ध करनेवाले होते हैं, वह तरीका बताते हैं। 'सङ्गं' अर्थात् कर्त्तापन के अभिमान और फलकी कामना से रहित होकर ही कर्त्तव्य कर्मों को करना चाहिए । फलाकांक्षा और कर्त्तापन के अभिमान का त्याग ही 'त्याग' एवं 'संन्यास' कहलाता है॥ 6॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः॥ 7॥

मर्मानुवाद - नित्यकर्मों से संन्यास सम्भव नहीं है, जो मोहवश नित्यकर्मों का परित्याग करते हैं उनका त्याग तामसिक त्याग है॥ 7॥

अन्वय - तु (किन्तु) नियतस्य (नित्यनैमित्तिक) कर्मणः (कर्मों का) संन्यासः (त्याग) न उपपद्यते (युक्तियुक्त नहीं है) मोहात् (मोहवश) तस्य (उनका) परित्यागः (त्याग) तामसः (तामसिक त्याग) परिकीर्त्तितः (कहा जाता है)॥ 7॥

टीका—प्रक्रान्तस्य त्रिविधत्यागस्य तामसं भेदमाह—नियतस्य नित्यस्य। मोहात् शास्त्रतात्पर्याज्ञानात्। संन्यासी काम्यकर्मण्यावश्यकत्वाभावात् परित्यजतु नाम, नित्यस्य तु कर्मणस्त्यागो नोपपद्यते इति तु-शब्दार्थः। मोहादज्ञानात्, तामस इति तामसत्यागस्य फलमज्ञानप्राप्तिरेव, न त्वभीप्सितज्ञानप्राप्तिरिति भावः।। 7।।

भावानुवाद - तीन प्रकार के त्यागों में से यहाँ 'तामस' त्याग के विषय में कहा जा रहा है ।'मोहात्' अर्थात् शास्त्र के गूढ़ मर्म को न जानने के कारण जो 'नियतस्य' - नित्य कर्मों का त्याग किया जाता है, वह तामसिक त्याग है। सकाम कर्मों की आवश्यकता नहीं है, इसलिए संन्यासी उनका परित्याग करें, किन्तु नित्य कर्मों का त्याग उचित नहीं है। यही 'तु' शब्दका अर्थ है ।'मोहात्' का अर्थ है - अज्ञानवश 'तामस'

तामस–त्याग का फल अज्ञान ही है, संन्यासियों के इच्छित ज्ञान की प्राप्ति नहीं॥ 7॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ 8॥

मर्मानुवाद – जो नित्यकर्मों को क्लेशप्रद समझ कर भय से उनका परित्याग करता है, उसका त्याग ही राजसिक त्याग है, उसे त्याग का फल नहीं मिलता।। 8॥

अन्वय – [जो] कर्म (कर्म) दुःखम् (दुख देने वाले हैं) इति एव (ऐसा सोच कर) कायक्लेशभयात् (शारीरिक कष्ट के भय से) यत् त्यजेत् (जो त्याग करता है) सः (वह) राजसम् (ऐसा राजसिक) त्यागम् (त्याग) कृत्वा (कर के) त्यागफलम् (त्याग का फल) न लभेत् (प्राप्त नहीं करता)॥ 8॥

टीका—दुःखमित्येवेति। यद्यपि नित्यकर्मणामावश्यकमेव, तत्करणे गुण एव, न तु दोष इति जानाम्येव, तदपि तै
क्लेशयितव्यमिति भावः। त्यागफलं ज्ञानं न लभेत।। 8।।

भावानुवाद – यद्यपि नित्य कर्म करना आवश्यक ही है और उन्हें करने में गुण ही है, दोष नहीं – यह तो जानता ही हूँ, किन्तु फिर भी इन को करके मैं व्यर्थ अपने शरीर को क्यों कष्ट दूँ, ऐसे सोचने वाले त्यागी त्याग के फल 'ज्ञान' को प्राप्त नहीं करते हैं॥ 8॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ 9॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन! जो कर्तव्य समझकर नित्यकर्म करता है, किन्तु उस कर्म में आसक्ति और फल की कामना परित्याग करता है उसका त्याग ही सात्त्विक है॥ 9॥

अन्वय – अर्जुन (हे अर्जुन) संगम् (कर्त्तापन के अभिमान) फलम् (और फल की कामना) त्यक्त्वा (त्याग कर) कार्यम् (करणीय है) इति एव (ऐसा समझ कर ही) यत् (जो) कर्म (कर्म) नियतम् (नित्य) क्रियते (किये जाते हैं) सः (वही) त्यागः (आसक्ति और फल का त्याग)

सात्त्विकः (सात्त्विक) मतः (माना गया है)।। 9॥

टीका—कार्यमवश्यकर्त्तव्यमिति बुद्ध्या नियतं नित्यं कर्म, सात्त्विक इति त्यागात्यागफलं ज्ञानं स लभेतै

भावानुवाद - कर्म अवश्य करने योग्य है - ऐसी बुद्धि से किये गये नित्य कर्म सात्त्विक हैं। उनसे त्याग-अत्याग दोनों के फल 'ज्ञान' की प्राप्ति होती है॥ 9॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ 10॥

मर्मानुवाद - दुःख देने वाले कर्मों से जो द्वेष नहीं करता एवं सुख देने वाले कर्मों में आसक्त नहीं होता - इस प्रकार सत्त्वगुण में परिनिष्ठित मेधावी व्यक्ति का कोई संशय बाकी नहीं रहता।। 10॥

अन्वय - सत्त्वसमाविष्टः (सत्वगुण वाले) छिन्नसंशयः (संदेह रहित) मेधावी (प्रज्ञा-सम्पन्न) त्यागी (त्यागी व्यक्ति) अकुशलम् (शीतकाल में प्रातः स्नानादि दुःखदायक) कर्म (कर्मों के प्रति) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करता) कुशले (गर्मियों के समय दोपहर को स्नान जैसे सुखद कर्मों में) अनुषज्जते (आसक्त नहीं होता)॥ 10॥

टीका—एवम्भूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीति। अकुशलमसुखदं शीते प्रातःस्नानादिकं न द्वेष्टि, कुशले सुखग्रीष्मस्नानादौ

भावानुवाद - इस प्रकार सात्त्विक त्याग में निष्ठावाले व्यक्ति के लक्षण बताते हुए कह रहे हैं कि वह शीतकालमें असुखकर प्रातः शीतल जल द्वारा स्नान आदि कर्मों से द्वेष नहीं करते हैं और ग्रीष्मकाल में सुखकर शीतल जल के स्नान आदि में आसक्त नहीं होते॥ 10॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ 11॥

मर्मानुवाद - देहधारी जीव के लिए सभी कर्मों का परित्याग करना सम्भव नहीं है, इसलिए जो सभी कर्मों के फलमात्र को त्यागने वाला है वही वास्तविक त्यागी है॥ 11॥

अन्वय - देहभृता (देहधारी जीव के द्वारा) अशेषतः (सम्पूर्ण रूप

से) कर्माणि (सब कर्म) त्यक्तुं न शक्यः (त्यागने योग्य नहीं है) किन्तु यः (किन्तु जो पुरुष) कर्मफलत्यागी (मात्र कर्मों के फल का परित्याग करता है) सः (वह ही) त्यागी (त्यागी है) इति (इस प्रकार) अभिधीयते (कहा गया है)।। 11॥

टीका—इतोऽपि शास्त्रीयं कर्म न त्याज्यमित्याह—नहीति। त्यक्तुं न शक्यं न शक्यानि, तदुक्तम्–'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इति।।11।।

भावानुवाद – शास्त्रीय कर्म त्यागने योग्य नहीं है, इसलिए कहते है कि 'त्यक्तुं न शक्यम्' त्यागे नहीं जा सकते, क्योंकि गीता (3/5) में ही कहा गया है कि कर्म किये बिना कोई व्यक्ति एक क्षण भी नहीं रह सकता है॥11॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ 12॥

मर्मानुवाद – जिन्होंने कर्मफल का परित्याग नहीं किया, उन्हें अनिष्टं अर्थात् नरक दुःख, इष्टम् अर्थात् स्वर्ग सुख एवं मिश्र अर्थात् सुख-दुःख मिश्रित ये तीन प्रकार के कर्मफल मिलते हैं। किन्तु संन्यासियों को ये तीन प्रकार के फल भोगने नहीं पड़ते।। 12॥

अन्वय – अत्यागिनाम् (किन्तु जो कर्मों के फल का त्याग नहीं करते ऐसे सकामी पुरुषों को) प्रेत्य (मरने के पश्चात्) अनिष्टम् (नरक लोक) इष्टम् (देवत्व) मिश्रम् (मनुष्यत्व) त्रिविधम् (ये तीन प्रकार के) कर्मणः (कर्म) फलम् (फल) भवति (होते हैं) तु (किन्तु) संन्यासिनाम् (संन्यासियों के) क्वचित् (कभी भी ये फल) न (भोगने नहीं पड़ते)।। 12॥

टीका—एवम्भूतत्यागाभावे दोषमाह—अनिष्टं नरकदुःखमिष्टं स्वर्गसुखं मिश्रं मनुष्यजन्मनि सुखदुःखमत्यागिनामेवम्भूतत्यागरहितानामेव भवति, प्रेत्य परलोके।। 12।।

भावानुवाद – ऐसे फलाकांक्षारहित त्यागके अभाव में दोष बताते हुए कहते हैं– इससे नरक का दुःख, स्वर्ग का सुख और मनुष्य जन्म के सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। ऐसा केवल अत्यागियों को ही होता है, त्यागियों को नहीं। 'प्रेत्य' का अर्थ है – परलोक॥ 12॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ 13॥

मर्मानुवाद – हे महाबाहो! वेदान्तशास्त्रों के सिद्धान्त में सभी कर्मों की सिद्धि के लिए पांच कारण बताए गए हैं, वह कहता हूँ, सुनो॥13॥

अन्वय – महाबाहो (हे महाबाहो) सर्वकर्मणाम् (सभी कर्मों की) सिद्धये (सिद्धि के लिए) कृतान्ते (कर्म परिसमाप्ति सूचक) सांख्ये (वेदान्तशास्त्रों में) प्रोक्तानि (कहे गए) इमानि (ये) पञ्च (पाँच) कारणानि (कारणों की) मे (मुझ से) निबोध (जानकारी प्राप्त करो)॥ 13॥

टीका—ननु कर्म कुर्वतः कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्य निरहङ्कारत्वे सति कर्मलेपो नास्तीत्युपपादयितुमाह—पञ्चै
सिद्धये निष्पत्तये इमानि पञ्चकारणानि मे मम वचनान्निबोध जानीहि—सम्यक् परमात्मानं ख्याति कथयतीति संख्यमेव सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्, कीदृशे-कृतं कर्म तस्यान्तो नाशो यस्मात्तस्मिन् प्रोक्तानि।। 13।।

भावानुवाद – यदि कहो कि कर्म करने से कर्मफल क्यों नहीं होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जो पुरुष अहंकाररहित होकर कर्म करते हैं उनके कर्म उन्हें बांधते नहीं हैं, इसे प्रमाणित करने के लिए पाँच श्लोक कह रहे हैं – सभी कर्मों की सिद्धि केलिए इन पाँच कारणों को मेरे वचनों से भली प्रकार जान लो। जो सम्यक् रूप से परमात्मा के विषय में बताता है, वही 'संख्य' है, संख्य ही सांख्य या वेदान्त शास्त्र है। किये गए कर्म का नाश किस प्रकार होता है – यह उपाय उनमें बताया गया है॥ 13॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥ 14॥

मर्मानुवाद – देह, कर्त्ता, इन्द्रियां, विविध चेष्टायें एवं दैव – ये पाँच कारण हैं। इन पाँच कारणों के बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता॥ 14॥

अन्वय – अधिष्ठानम् (शरीर) तथा (एवं) कर्त्ता (चिद् और जड़ ग्रंथि का अहंकार) पृथग्विधम् (नाना प्रकार) करणम् (इन्द्रियां) विविधाः (नाना प्रकार) पृथक् चेष्टा (प्राण और अपान आदि अलग-अलग कार्य) अत्र च (इन कारणों में) पञ्चमम् (पाचवां) दैवम् (दैव है)॥ 14॥

टीका—तान्येव गणयति—'अधिष्ठानं' शरीरम्, 'कर्त्ता' चिज्ग्रन्थिरहङ्कारः, 'करणं' चक्षुःश्रोत्रादि, पृथग्विधमनेकप्रकारम्, 'पृथक् चेष्टा' प्राणापानादीनां पृथक्व्यापाराः, दै

भावानुवाद - 'अधिष्ठानम्' से शरीर, 'कर्त्ता' से जीव, एवं अंहकार से चित् और जड़ की ग्रन्थि, 'करणम्' से आँख कान आदि इन्द्रियाँ अभिप्रेत हैं। 'पृथग्विधम्' अर्थात् अनेक प्रकार की पृथक् चेष्टायें' जो प्राणापानादियों के पृथक् व्यापार हैं तथा 'दैवम्' अर्थात् सर्वप्रेरक एवं अन्तर्यामी–ये पांचों कर्मफल सिद्धि के कारण हैं॥ 14॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ 15॥

मर्मानुवाद - शरीर, मन और वाणी के द्वारा मनुष्य जो कर्म करता है, वह न्याय या अन्याय कुछ भी हो, वह उपरोक्त पाँच कारणों द्वारा ही साध्य होता है॥ 15॥

अन्वय - नरः (मनुष्य) शरीरवाङ्मनोभिः (शरीर, वाणी और मन के द्वारा) यत् (जो) न्यायम् (न्यायपूर्ण) वा (या) विपरीतम् (अन्यायपूर्ण) कर्म (कर्म) प्रारभते (आरम्भ करता है) एते (ये) पंच (पाँच) तस्य (उसके) हेतवः (कारण हैं)।। 15॥

टीका—शरीरादिभिरिति शारीरं वाचिकं मानसं चेति कर्म त्रिविधम्, तच्च सर्वं द्विविधम्—न्याय्यं धर्म्यं, विपरीतमन्यायमधर्म्यं, तस्य सर्वस्यापि कर्मण एते पञ्च हेतवः।।15।।

भावानुवाद - 'शरीरादिभिः' - शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के कर्म होते हैं! ये सभी कर्म धार्मिक और अधार्मिक भेद से दो प्रकार के हैं। इन सब कर्मों के यही पाँच कारण हैं॥ 15॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ 16॥

मर्मानुवाद - इस प्रकार जो केवल अपने आप को ही कर्त्ता मानता है। अशुद्धबुद्धि एवं दुर्मति होने के कारण वह अज्ञानी यथार्थ नहीं देख पाता है।

अन्वय - तत्र (सभी कर्मों में) एवं सति (इन पाँच कारणों के होते)

यः (जो व्यक्ति) केवलम् (केवल) आत्मानम् (अपने को ही) कर्त्तारम् (कर्त्ता) पश्यति (देखता है) अकृतबुद्धित्वात् (असंस्कृत बुद्धि होने के कारण) सः (वह) दुर्मति (दुष्ट बुद्धि वाला) न पश्यति (यथार्थ नहीं देख पाता है) ॥ 16 ॥

टीका — ततः किमत आह—तत्र सर्वस्मिन् कर्मणि पञ्चै
सति केवलं वस्तुतो निःसङ्गमेवात्मानं जीवं यः कर्त्तारं पश्यति, सोऽकृतबुद्धित्वादसंस्कृतबुद्धित्वाद् दुर्मतिनै
इति भावः।। 16।।

भावानुवाद – उन समस्त कर्मों के उपरोक्त पाँच हेतु रहने पर भी जो केवल असङ्ग आत्मा या जीव को ही कर्ता देखता है, वह संस्काररहित बुद्धिवाला होने के कारण दुर्मति है, क्योंकि वह यथार्थ नहीं देखता है या वह अज्ञानी है। अज्ञानी को अन्धा ही कहा जाता है ॥ 16 ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ 17 ॥

मर्मानुवाद – हे अर्जुन! युद्ध के विषय में जो तुम्हारा मोह हुआ था, वह केवल अहंकार-भाव से उत्पन्न था। उपरोक्त पाँच कारणों को कर्मों का कारक जान लेने पर तुम्हें मोह नहीं होता। इसलिए जिनकी बुद्धि कर्त्ता के अहंकार से लिप्त नहीं होती, वह सब लोगों की हत्या करने पर भी किसी को नहीं मारते हैं, न ही हत्या के फल 'पाप' में बंधते हैं ॥17 ॥

अन्वय – यस्य (जिस पुरुष में) अहंकृतः ('मैं कर्ता हूँ' ऐसे अहंकार का) भावः (भाव) न (नहीं है) यस्य (जिसकी) बुद्धिः (बुद्धि) न लिप्यते (कर्म में आसक्त नहीं होती) सः (वह) इमान् लोकान् (इन समस्त प्राणियों की) हत्वा अपि (हत्या करके भी) न हन्ति (परमार्थतः हत्या नहीं करता है) न निबध्यते (या कर्मफल से बंधता नहीं है)।। 17 ॥

टीका—कस्तर्हि सुमतिश्चक्षुष्मानित्यत आह—यस्येति अहङ्कृतोऽह-ङ्कारस्य भावः स्वभावः कर्त्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्त्यत एव यस्य बुद्धिर्न-लिप्यते इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु नासज्जते, स हि कर्मफलं न प्राप्नोतीति किं वक्तव्यम्? स हि कर्म भद्राभद्रं कुर्वन्नपि नै

स इमान् सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वापि स्वदृष्ट्या नै निरभिसन्धित्वादिति भावः, अतो न बध्यते कर्ममूलं न प्राप्नोतीति।। 17।।

भावानुवाद – तो फिर कौन सा व्यक्ति सुबुद्धिमान् और आँखो वाला है? इसके उत्तरमें कहते है – जिनमें कर्त्तापन का अभिमान नहीं है, जो कर्मों को प्रिय या अप्रिय जान उनमें आसक्त नहीं होते। उन्हें कर्म का फल नहीं मिलता । इस विषय में और क्या कहूँ वे अच्छा या, बुरा कर्म करते हुए भी उन कर्मों को नहीं करते। लौकिक दृष्टि से इन सब लोगों की हत्या करने पर भी कामनाशून्य होने के कारण अपनी दृष्टि में किसी की हत्या नहीं करते हैं, इसलिए कर्मफल उनको बांधते नहीं हैं॥ 17॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥18॥

मर्मानुवाद – ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीनों चोदना हैं एवं करण, कर्म और कर्त्ता ये तीनों कर्मसंग्रह (कर्म के आश्रय) हैं। मानव के द्वारा जो भी कर्म किये जाते हैं, उनकी दो अवस्थायें हैं–चोदना और संग्रह। कर्म करने से पहले जिस विधि को अपनाया जाता है उसे 'चोदना' कहा जाता है। 'चोदना' शब्द का अर्थ है 'प्रेरणा', प्रेरणा ही कर्म का सूक्ष्म अंश है अर्थात् कर्म के स्थूल रूप धारण करने के पहले जो वैज्ञानिक सत्ता रहती है, वही 'प्रेरणा' है। क्रिया की पूर्व–अवस्था कर्म करण का ज्ञान, कर्म का स्वरूपगत ज्ञेयत्व एवं कर्मकर्त्ता का परिज्ञातृत्व– इन तीन भागों में विभक्त है। क्रियागत अवस्था के स्थूलाकार में – 'करणत्व', 'कर्मत्व' और 'कर्तृत्व' ये कर्म के तीन विभाग हैं॥ 18॥

अन्वय – ज्ञानम् (ज्ञान) ज्ञेयम् (ज्ञेय) परिज्ञाता (ज्ञाता) [ये] त्रिविधा (तीन प्रकार के) कर्मचोदना (कर्म के प्रेरक हैं) करणम् (करण) कर्म (कर्म) कर्त्ता (और कर्त्ता) इति (ये) त्रिविधः (तीन प्रकार के) कर्मसंग्रह (पहले कहे गए ज्ञानादि के संग्रह हैं)॥ 18॥

टीका—तदेवं भगवन्मते उक्तलक्षणः सात्त्विकस्त्याग एव संन्यासो ज्ञानिनां, भक्तानान्तु कर्मयोगस्य स्वरूपेणै
भगवतै
यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः।।'' इत्यस्यार्थः स्वामिचरणै

यथा—"मया वेदरूपेणादिष्टानपि स्वधर्मान् संत्यज्य यो मां भजेत् स च सत्तम इति किमज्ञानतो नास्तिक्याद्वा? न, धर्माचरणे सत्त्वशुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे दोषान् प्रत्यवायांश्च आज्ञाय ज्ञात्वापि मद्ध्यानविक्षेपकतया मद्भक्त्यै
भविष्यतीति दृढनिश्चयेनै
संत्यज्येति तु व्याख्या न घटते, न हि धर्मफलत्यागे कश्चिदत्र प्रत्यवायो भवेदित्यवधेयम्। अयं भावः भगवद्वाक्यानां तद्व्याख्यातृणाञ्च—ज्ञानं हि चित्तशुद्धिमवश्यमेवापेक्षते, निष्कामकर्मभिश्चित्तशुद्धितारतम्ये वृत्ते एव ज्ञानोदयतारतम्यं भवेन्नान्यथा। अतएव सम्यक् ज्ञानोदयसिद्ध्यर्थं संन्यासिभिरपि निष्कामकर्म कर्त्तव्यमेव, कर्मभिः सम्यक्तया चित्तशुद्धौ
न कर्त्तव्यमेव। यदुक्तं—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यै
मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।" इति। भक्तिस्तु परमा स्वतन्त्रा महाप्रबला चित्तशुद्धिं नै
विष्णोः श्रद्धान्वितोऽशृणुयात्" इत्यादौ
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।" इति। अत्र त्वात्मप्रत्ययेन हृद्रोगवत्यप्यधि कारिणि परमाया भक्तेरपि प्रथममेव प्रवेशस्ततस्तत्रै कामादीनामपगमश्च, तथा "प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्। धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।।" इति च इत्यतो भक्त्यै
चित्तशुद्धिः स्यात् तदा भक्तै
प्रकृतमनुसरामः—किञ्च, न केवलं देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानमेव ज्ञानं तथात्मतत्त्वमपि ज्ञेयं, तादृशज्ञानाश्रय एव ज्ञानी, किन्त्वे तत्त्रिके कर्म-सम्बन्धः वर्त्तते, तदपि संन्यासिभिर्ज्ञेयमित्याह—ज्ञानमिति। अत्र 'चोदना' शब्देन विधिरुच्यते, यदुक्तं भट्टै
इति। उक्तं श्लोकार्द्धं स्वयमेव व्याचष्टे—करणमिति यज्ज्ञानं तत् 'करण'-कारकम्, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पत्तेः, यज्ज्ञेयं जीवात्मतत्त्वं, तदेव 'कर्म'-कारकम्, यस्तस्य परिज्ञाता स 'कर्त्ता' इति त्रिविधः, 'करणं' 'कर्म' 'कर्त्ता' इति त्रिविधं कारकमित्यर्थः। 'कर्म-संग्रहः'—कर्मणा निष्कामकर्मानुष्ठानेनै
'ज्ञेयत्वं', 'ज्ञातृत्वं' चै

भावानुवाद – इस तरह श्रीभगवान् के मतानुसार सात्त्विक त्याग ही

ज्ञानियों के लिए संन्यास है, भक्तों के लिए स्वरूपत: कर्मयोग का त्याग जाना जाता है। क्योंकि श्रीभगवान् ने श्रीमद्भागवत (11/11/32) में कहा भी है – ''हे उद्धव! धर्म–अधर्म के गुण–दोषों का भलीभाँति विचार कर मेरे द्वारा वेदरूप में आदिष्ट अपने वैदिक स्वधर्म का परित्याग कर जो व्यक्ति मेरा ही भजन करते हैं, वही श्रेष्ठ हैं।'' पूज्यपाद श्रीधरस्वामी ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए कहा है – ''मेरे द्वारा वेदरूप में आदेश दिए गए स्वधर्म को भी सर्वतोभावेन त्याग कर जो मेरा भजन करते हैं, वे सत्तम हैं। यदि प्रश्न हो कि क्या ऐसा वे अज्ञानवश करते हैं या नास्तिकता के कारण, तो इसके उत्तर में कहते हैं – नहीं, धर्म आचरण के विषय में अन्त:करण–शुद्धि आदि गुणों एवं न आचरण करने में प्रत्यवाय दोष को जानने के पश्चात् निश्चित रूप से उन्हें मेरे ध्यान के बाधक जानकर उन धर्मों का परित्याग कर मेरा भजन करते हैं,'' क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास होता है कि मेरी भक्ति से सब सिद्ध हो जाता है। यहाँ 'धर्म' यानि 'धर्मों के फलों को त्याग कर मेरा भजन करते हैं' ऐसा अर्थ नहीं लिया जायेगा, क्योंकि ऐसा समझना चाहिए कि धर्मफल के त्याग से कोई दोष नहीं हो सकता। भगवान् के वचन और उसके व्याख्याकारों का यही विचार है कि ज्ञान निश्चय ही चित्तशुद्धि की प्रतीक्षा करता है। निष्काम कर्म द्वारा चित्तशुद्धि का तारतम्य रहता है। उसी तारतम्य के अनुसार ही ज्ञान के उदय का भी तारतम्य होता है, जो कि अन्यथा नहीं है। इसलिए सम्यक् ज्ञानोदय के लिए संन्यासियों को भी निष्काम कर्म अवश्य करना चाहिए। कर्म द्वारा भलीभांति चित्त की शुद्धि होने पर फिर उन्हें और कर्मकी आवश्यकता नहीं रहती, जैसा कि गीता (6/3) में भी कहा है – 'ज्ञानयोग की कामना करनेवालों के लिए कर्म ही साधन है, किन्तु ज्ञानभूमिका में आरूढ़ होने पर बाधककर्म का त्याग करना होता है।' जो आत्मा में ही प्रीतिवान् हैं, आत्मा में ही तृप्त और सन्तुष्ट हैं, उनके लिए कोई कर्म करना कर्तव्य नहीं है। (गीता 3/17) किन्तु भक्ति परम स्वतंन्त्र और महाप्रबला है, यह चित्तशुद्धि की प्रतीक्षा नहीं करती, जैसा कि श्रीमद्भागवत (10/33/39) में कहा गया है – 'जो श्रद्धापूर्वक व्रजवधुओं सहित श्रीकृष्णलीला श्रवण करते हैं, वे भगवान् की पराभक्ति लाभकर शीघ्र ही कामरूपी हृदयरोग को दूर करते लेते हैं।' यहां यदि संशय हो कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है? तो उसके उत्तर में कहते हैं – 'काम आदि से

युक्त व्यक्ति के हृदय में पहले परमा भक्ति प्रवेश करती है और बाद में वहाँ काम आदि का नाश होता है।' श्रीमद्भागवत (2/8/5) में और भी कहा गया है – 'श्रीकृष्ण भक्तों के कर्णछिद्रों से उनके भावकमलरूपी हृदय में प्रवेश कर उनके समस्त मल को दूर करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे शरद् ऋतु वर्षागत जल के मल को दूर करती है ।' इसलिए जब भक्ति द्वारा ही यदि इस प्रकार चित्तशुद्धि होती है, तो भक्तों को अन्य कर्म करने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं। अब मूल श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'आत्मा शरीर से अलग है, केवल इतना ज्ञान ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण आत्मतत्त्व को जानना चाहिए और ऐसे ज्ञान का जिन्होंने आश्रय किया है, वे ही ज्ञानी हैं। किन्तु, इन तीनों में कर्म-सम्बन्ध वर्तमान है। संन्यासियों को यह कर्मसम्बन्ध भी जानना चाहिए। यहाँ 'चोदना' शब्द का अर्थ है – विधि। भट्टजी ने कहा है कि चोदना, उपदेश और विधि- ये सब पर्यायवाची हैं। अपने श्लोक के आधे अंश की स्वयं ही व्याख्या कर रहे हैं – जो ज्ञान है वह करणकारक है अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है, 'ज्ञेय' अर्थात् जो जानने योग्य है, वह है जीवात्मतत्त्व जो कि कर्म कारक है और जो इसको जानने वाला है अर्थात् परिज्ञाता है, वह कर्ता है। इस प्रकार 'करण', 'कर्म' तथा 'कर्ता' – ये तीन कारक हैं। 'कर्मसंग्रह' निष्काम कर्म द्वारा ही संगृहीत होता है। 'कर्मचोदना' पद की यही व्याख्या है। 'ज्ञानत्व', 'ज्ञेयत्व' और 'ज्ञातृत्व'- ये तीनों निष्काम- कर्मानुष्ठानमूलक हैं॥ 18॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ 19॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्त्ता सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के कहे गये है। उन्हें श्रवण करो।। 19॥

अन्वय – गुणसंख्याने (गुण निरूपक शास्त्रों में) ज्ञानम् (ज्ञान) कर्म (कर्म) कर्त्ता (और कर्त्ता भी) गुणभेदतः (गुण भेद से) त्रिधा एव (तीन प्रकार के) प्रोच्यते (कहे गये हैं) तानि अपि (उनको भी तुम मेरे से) यथावत् (शास्त्रानुसार) शृणु (श्रवण करो)।। 19॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ 20॥

मर्मानुवाद – एक जीवात्मा नानाविध फलों को भोगने के लिए क्रमशः देव, मनुष्य आदि योनियों में भ्रमण करता है। वह नश्वर वस्तु देह में रहता हुआ भी अनश्वर है। अनेक जीव परस्पर अलग अलग होने पर भी चेतनता (चिद्–जातीयत्व) की दृष्टि से एक हैं – इसी ज्ञान को सात्विक ज्ञान कहा जाता है ॥ 20 ॥

अन्वय - एकम् (एक) भावम् (जीवात्मा को) येन (जिस ज्ञान के द्वारा) विभक्तेषु (परस्पर भिन्न) सर्वभूतेषु (देव मनुष्यादि सब शरीरों में कर्मफल भोगने के निमित्त स्थित) अविभक्तम् (एकरूप) अव्ययम् (अविनाशी) ईक्षते (देखे) तज्ज्ञानम् (उस ज्ञान को) सात्त्विकम् (सात्त्विक) विद्धि (जानना) ॥ 20 ॥

टीका—सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वभूतेष्विति। एकं भावमेकमेव जीवात्मानं नानाविधफलभोगार्थं क्रमेण सर्वभूतेषु मनुष्यदेवतिर्यगादिषु वर्त्तमानमव्ययं नश्वरेष्वपि तेष्वनश्वरं विभक्तेषु परस्परं विभिन्नेष्वप्यविभक्तमेकरूपं येन कर्मसम्बन्धिना ज्ञानेनेक्षते, तत् सात्त्विकं ज्ञानम्।। 20।।

भावानुवाद – सात्त्विक ज्ञान के बारे में बता रहे हैं। 'एकं भावम्' अर्थात् एक ही जीवात्मा नाना प्रकार के कर्मफलों को भोगने के लिए क्रमशः मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी आदि सभी योनियों में विद्यमान रहता है। नश्वर शरीरों मे रहने पर भी वह अनश्वर है। वे जीवात्माएँ परस्पर 'विभक्तेषु' अर्थात् भिन्न है, तथापि वे 'एकरूपम्' अर्थात् चित्–जातीय होने के कारण एक समान हैं 'येन' जिस कर्म सम्बन्धी ज्ञान के द्वारा ऐसा 'ईक्षते' बोध हो, वह सात्त्विक ज्ञान है ॥ 20 ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ 21॥

मर्मानुवाद – मनुष्य एवं तिर्यगादि योनियों में जो तमाम जीव हैं, वे सब भिन्नजातीय जीव हैं। उनका स्वरूप भाव अलग– अलग है। इस प्रकार का ज्ञान राजसिक है।। 21 ॥

अन्वय – सर्वभूतेषु (देव मनुष्यादि समस्त योनियों में) पृथक्त्वेन (पृथक् रूप में अर्थात् देह के नाश में आत्मा का नाश इस प्रकार) यत्

(जो) ज्ञानम् (ज्ञान है) [येन ज्ञानेन] [और जिस ज्ञान के द्वारा] पृथग्विधान् (भिन्न जातीय) नानाभावान् (नाना अभिप्राय अर्थात् जीव, अणु, विभु, चेतन, अचेतन इत्यादि मतवादों को) वेत्ति (जाना जाय) तत् (उस) ज्ञानम् (ज्ञान को) राजसम् (राजसिक) विद्धि (जानना)।। 21॥

टीका—राजसं ज्ञानमाह—सर्वभूतेषु जीवात्मनः पृथक्त्वेन यज्ज्ञानमिति। देहनाश एवात्मनो नाश इत्यसुराणां मतम्। अतएव पृथक्पृथग् देहेषु पृथक् पृथगेवात्मेति तथा शास्त्रकारणात् पृथग् विधान् नानाभावान् नानाभिप्रायान्। आत्मा सुखदुःखाश्रय इति, सुखदुःखाद्यनाश्रय इति, जड इति, चेतन इति, व्यापक इति, अणुस्वरूप इति, अनेक इति, इत्यादि कल्पान् येन एक इत्यादि वेद तद् राजसम्।। 21।।

भावानुवाद – सभी शरीरों में पृथक् – पृथक् जीवात्माएँ है तथा देह के नाश होने पर उन आत्माओं का भी नाश हो जाता है, यह असुरों का मत है। अतः अलग–अलग देह में अलग – अलग आत्मा है। वे शास्त्रकारण से नाना प्रकार के अभिप्राय वाले लगते हैं। आत्मा सुख –दुःख का आश्रय है, सुख–दुःख आदि आश्रयविहीन हैं। जड़, चेतन, व्यापक, अणुस्वरूप, इस प्रकार अनेक कल्पनायें जिस ज्ञान से होती हैं वह ज्ञान राजसिक है॥ 21॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥ 22॥

मर्मानुवाद – स्नान भोजन इत्यादि शारीरिक कार्यों को ही श्रेष्ठ कार्य समझ कर जो उनमें आसक्त हैं उनका ज्ञान तुच्छ और तामसिक है, क्योंकि अयथाभूत होने पर भी अहैतुक अर्थात् 'औत्पत्तिक' के रूप में प्रतिभात होता है, उसमें तत्त्वरूपी किसी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। सिद्धान्त यह है कि देहादि के अतिरिक्त तत् पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान को सात्विक ज्ञान, नानावाद – प्रतिपादक न्यायादि शास्त्र ज्ञान को राजसिक ज्ञान एवं स्नान और भोजनादि व्यावहारिक ज्ञान को तामसिक ज्ञान कहते हैं।। 22॥

अन्वय – यत् तु (जो) ज्ञानम् (ज्ञान) अहैतुकम् (तर्कमात्र है) एकस्मिन् कार्ये (स्नान भोजनादि लौकिक कर्मों में ही) कृत्स्नवत् (पूर्ण रूप से) आसक्तम् (आसक्ति पैदा करने वाला) अतत्त्वार्थवत् (परमार्थशून्य) अल्पं च [पशु आदि तुल्य है] [तत् (वह ज्ञान) तामसम् (तामसिक) उदाहृतम्

(कहा गया है) देह से अलग आत्मा का ज्ञान सात्त्विक, नाना वादप्रतिपादक न्यायादिशास्त्र ज्ञान को राजस ज्ञान एवं स्नान और भोजनादि व्यावहारिक ज्ञान को तामस ज्ञान कहा गया है॥ 22॥

टीका—तामसं ज्ञानमाह—यत्तु ज्ञानमहै
कार्ये लौ
वै
नास्तीत्यर्थः। अल्पं पशूनामिव यत् क्षुद्रम्, तत् तामसं ज्ञानम्। देहाद्यतिरिक्तत्वेन 'तत्'-पदार्थज्ञानं 'सात्त्विकम्,' नानावादप्रतिपादकं न्यायादिशास्त्रज्ञानं—'राजसम्,' स्नानभोजनादिव्यावहारिकज्ञानं—तामसमिति सङ्क्षेपः।।22।।

भावानुवाद – जो ज्ञान 'अहैतुकम्' अर्थात् तर्कमात्र है, केवल लौकिक स्नान, भोजन, पान, स्त्री-सम्भोग और उनके साधन - कर्मों में आसक्त रखता है, किन्तु वैदिक कर्म, यज्ञ-दान इत्यादि में नहीं, वह ज्ञान तामसिक है। इसलिए 'अतत्त्वार्थवत्' जिसमें कोई वास्तविकता नहीं है ऐसा पशुओं जैसा ज्ञान तुच्छ है, तामसिक है। सारांश यह है कि देह आदि से परे 'तत्-पदार्थ का ज्ञान सात्त्विक है, नाना प्रकार के वाद-प्रतिपादक न्यायादि शास्त्रों का ज्ञान राजसिक तथा स्नान भोजनादि व्यावहारिक ज्ञान तामसिक है'

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥ 23॥

मर्मानुवाद - रागद्वेष रहित, आसक्तिशून्य, निष्काम नित्यकर्म ही सात्त्विक कर्म हैं॥ 23॥

अन्वय - यत् (जो) कर्म (कर्म) नियतम् (नित्य रूप से विहित) सङ्गरहितम् (आसक्तिरहित) अरागद्वेषतः (प्रीति और द्वेष रहित होकर) अफलप्रेप्सुना (फल की इच्छा रहित व्यक्ति के द्वारा) कृतम् (किया जाता है) तत् (वह) सात्त्विकम् (सात्त्विक कर्म) उच्यते (कहा गया है)॥ 23॥

टीका—त्रिविधं ज्ञानमुक्त्वा त्रिविधं कर्माह—नियतं नित्यतया विहितं सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यमत एवारागद्वेषतो रागद्वेषाभ्यां विनै
फलाकाङ्क्षारहितेनै

भावानुवाद – तीन प्रकारके ज्ञान के विषय में बतलाकर अब तीन प्रकार के कर्मों के विषय में बता रहे हैं। शास्त्रों में जिन्हें 'नित्य-कर्म' कहा गया है उन्हें अनासक्त एवं राग-द्वेष रहित होकर किया जाये, वही कर्म सात्त्विक है॥ 23॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ 24॥

मर्मानुवाद – जो सकाम कर्म अहंकारवश अतिशय परिश्रम के साथ किये जायें वही कर्म राजसिक हैं॥ 24॥

अन्वय – पुनः (और) कामेप्सुना (फलाकांक्षी) वा साहंकारेण (अहंकारी व्यक्ति के द्वारा) बहुलायासम् (अति क्लेश के साथ) यत् (जो) कर्म (कर्म) क्रियते (किया जाता है) तत् (वह) राजसम् (राजसिक) उदाहृतम् (कहा गया है)॥ 24॥

टीका—कामेप्सुनाऽल्पाहङ्कारवता इत्यर्थः साहङ्कारेणात्यहङ्कारवता इत्यर्थः।। 24।।

भावानुवाद :-'कामेप्सुना' का अर्थ है – थोड़े अहंकार वाला तथा 'साहङ्कारेण' का अर्थ है – अति अहंकार वाला॥ 24॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ 25॥

मर्मानुवाद – भावी क्लेश, धर्म-ज्ञान इत्यादि के नाश, हिंसा अर्थात् अपना या दूसरे के नुकसान इत्यादि एवं अपने सामर्थ्य का विचार न करके केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है, तामसिक कर्म कहा जाता है॥ 25॥

अन्वय – अनुबन्धम् (करने के पश्चात् राजा इत्यादि के द्वारा बन्धन) क्षयम् (धर्मादि का विनाश) हिंसाम् (हिंसा) पौरुषम् च (और अपने सामर्थ्य का) अनपेक्ष्य (विचार न करके) मोहात् (मोहवश) यत् कर्म (जो कर्म) आरभ्यते (आरम्भ किया जाता है) तत् (वह) तामसम् (तामस) उदाहृतम् (कहा गया है)।। 25॥

टीका—अनुकर्मानुष्ठानानन्तरम् आयत्यां भाविनं बन्धं राजदस्यु-यमदूतादिभिर्बन्धनं क्षयं धर्मज्ञानाद्यपचयं हिंसा स्वस्य नाशञ्चानपेक्ष्यापर्यालोच्य

पौ

तत्तामसम्।।25।।

भावानुवाद– जिस कर्म को करने के पश्चात् भविष्य में राजा, डाकू और यमदूतों के द्वारा बन्धन मिले, धर्मज्ञानादि का नाश हो, आत्मनाश हो– एवं व्यावहारिक पुरुषमात्र के कर्त्तव्य का विचार किये बिना मोहवश किया गया कर्म तामस कर्म कहलाता है॥ 25॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ 26॥

मर्मानुवाद – आसक्तिशून्य, अहंकारशून्य, धैर्य और उत्साह से पूर्ण एवं सफलता–असफलता में निर्विकार कर्त्ता ही सात्त्विक है॥ 26॥

अन्वय – मुक्तसंगः (फल की इच्छा और कर्त्ता के अभिमान से रहित) अनहंवादी (अहंकारपूर्ण वचन न बोलने वाला) धृत्युत्साहसमन्वितः (धैर्य और उत्साह से युक्त) सिद्ध्यसिद्ध्योः (कार्य के सिद्ध होने या न होने में) निर्विकारः (सुख–दुःख शून्य) कर्ता (कर्ता) सात्त्विकः (सात्त्विक) उच्यते (कहा गया है)॥ 26॥

टीका–त्रिविधं कर्मोक्तम्, त्रिविधं कर्त्तारमाह–मुक्तसङ्ग इति।।26।।

भावानुवाद – तीन प्रकार के कर्मों के पश्चात् अब तीन प्रकार के कर्ता के विषय में बताते हुए सर्वप्रथम सात्त्विक कर्ता के लक्षण बताये हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्त्तितः॥ 27॥

मर्मानुवाद – कर्मों में आसक्त, कर्मफल लोभी, विषयों में आसक्त, हिंसाप्रिय, अपवित्र और हर्ष–शोक के वश में रहने वाला कर्ता राजसिक कहा गया है॥ 27॥

अन्वय – रागी (स्त्री पुत्र आदि में आसक्त) कर्मफलप्रेप्सुः (कर्मफल की इच्छा रखने वाला) लुब्धः (लोभी) हिंसात्मकः (हिंसा परायण) अशुचिः (अपवित्र) हर्षशोकान्वितः (हर्ष और शोक युक्त) कर्ता (कर्ता) राजसः (राजसिक) परिकीर्तितः (कहा गया है)।।27॥

टीका–'रागी' कर्मण्यासक्तः, 'लुब्धो' विषयासक्तः।। 27।।

भावानुवाद – 'रागी' – कर्म में आसक्त व्यक्ति, 'लुब्धः' – विषय में आसक्त व्यक्ति॥ 27॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ 28॥

मर्मानुवाद – अनुचित–कार्यप्रिय, मन के अनुसार चलने वाला, अनम्र, शठ, दूसरों का अपमान करने वाला, आलसी, हमेशा विषादयुक्त और दीर्घसूत्री–ये सब तामसिक कर्ता हैं।। 28॥

अन्वय – अयुक्तः (अनुचित कर्म करने वाला) प्राकृतः (मन के अनुसार चलने वाला) स्तब्धः (अनम्र) शठः (मायावी) नैष्कृतिकः (दूसरों का अपमान करने वाला) अलसः (आलसी) विषादी (शोक करने के स्वभाव वाला) दीर्घसूत्री च (और दीर्घसूत्री है) कर्ता (वही कर्ता) तमसः (तामसिक) उच्यते (कहा गया है)॥ 28॥

टीका—अयुक्तोऽनौ
यदेव स्वमनसि आयाति तदेवानुतिष्ठति, न तु गुरोरपि वचः प्रमाणयतीत्यर्थः।
'नै
कर्त्तव्यः, सात्त्विकमेव कर्मनिष्ठं ज्ञानमाश्रयणीयं, सात्त्विकमेव कर्म कर्त्तव्यं सात्त्विकेनै
प्रकरणार्थनिष्कर्षः। भक्तानां तु त्रिगुणातीतमेव ज्ञानं, त्रिगुणातीतं मे कर्म भक्तियोगाख्यम्, त्रिगुणातीता एव कर्त्तारः, यदुक्तं भगवतै
श्रीमद्भागवते—"कै
ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।।" इति, "लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्येत्युदाहृतम्" इति "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः।" इति। किञ्च, न केवलमेतत्त्रिकमेव भक्तिमते गुणातीतमपि तु भक्तिसम्बन्धि सर्वमेव गुणातीतम्, यदुक्तं तत्रै
यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा।।" इति, "वनन्तु सात्त्विको वासः ग्रामो राजस उच्यते। तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्।।" इति, "सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्। तामसं मोहदै
भक्तिसम्बन्धीनि ज्ञानकर्मश्रद्धादौ

सात्त्विकानां ज्ञानिनां ज्ञानसम्बन्धीनि तानि सर्वाणि सात्त्विकान्येव, राजसानां कर्मिणां तानि सर्वाणि राजसान्येव, तामसानामुच्छृङ्खलानां तानि सर्वाणि तामसान्येवेति श्रीगीता-भागवतार्थदृष्ट्या ज्ञेयम्। ज्ञानिनामपि पुनरन्तिमदशायां ज्ञानसंन्यासानन्तरमुर्वरितया केवलया भक्त्यै
उक्तम्।।28।।

भावानुवाद – अनुचित कार्य करने वाले को 'अयुक्तः' कहा है । 'प्राकृतः' अपने मन के अनुसार कर्म करने वाला, गुरु का कहना भी न मानने वाला। 'नैष्कृतिकः'– दूसरों का अपमान करने वाला तामसिक कर्ता है। इसलिए ज्ञानियों के द्वारा कथित लक्षण वाला सात्त्विक त्याग ही कर्त्तव्य है, सात्त्विक कर्मनिष्ठ ज्ञान ही आश्रययोग्य है। सात्त्विक कर्म करना ही कर्तव्य है। सात्त्विक कर्ता ही बनना चाहिए, यही ज्ञानियों का संन्यास है, यही मेरे मत में ज्ञान है। यही इस प्रकरण का निष्कर्ष है, किन्तु भक्तों के पक्ष में जो ज्ञान है वह त्रिगुणातीत है। मुझ त्रिगुणातीत के लिए किया गया भक्तियोग कर्म भी त्रिगुणातीत और उसे करने वाला कर्ता भी त्रिगुणातीत होता है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (11/25/26) में कहा गया है – ''कैवल्य ज्ञान सात्त्विक है, वैकल्पिक ज्ञान राजस है, प्राकृत ज्ञान तामस है और मुझमें निष्ठा वाला ज्ञान निर्गुण कहा गया है।'' निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है। श्रीमद्भागवत (3/19/12) में कहा है– 'अनासक्त कर्ता सात्त्विक, आसक्तियुक्त कर्ता राजसिक, स्मृति-विभ्रष्ट कर्ता तामसिक और मेरे शरणागत कर्ता निर्गुण कर्ता कहलाता है।' भक्ति में केवल ये तीन ही निर्गुण हैं – ऐसा नहीं है, बल्कि भक्ति – सम्बन्धी सब कुछ गुणातीत है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (11/25/26) में ही श्रद्धा के विषय में कहा गया है – 'आध्यात्मिकी श्रद्धा सात्त्विकी है, कर्म के प्रति श्रद्धा राजसी और अधर्म सम्बन्धी श्रद्धा तामसी है, किन्तु मेरी सेवा के प्रति जो श्रद्धा है, वह निर्गुणा है।' निवास के विषय में कहा गया है – वन में वास करना सात्त्विक वास है, ग्राम में वास करना राजसिक वास है, द्यूतगृह, नाना कपट-क्रीड़ाओं से पूर्ण नगर में वास करना तामसिक वास है, किन्तु, मेरे मंदिर में वास और मेरे भक्तों का संग निर्गुण है। श्रीमद्भागवत (11/25/25) में सुख के विषय में कहा गया है – 'आत्मा से उदित सुख सात्त्विक है, विषय से उत्पन्न सुख राजसिक है, मोह – दैन्य से उत्पन्न सुख तामसिक है और मेरी शरण लेने से जो सुख प्राप्त होता है, वह

निर्गुण है। श्रीमद्भागवत (11/25/29) में इसी प्रकार गुणातीत भक्तों के भक्ति - सम्बन्धी ज्ञान, कर्म, श्रद्धा आदि एवं निजसुख-सभी गुणातीत हैं । सात्त्विक ज्ञानियों के ज्ञान-सम्बन्धी सभी कार्य सात्त्विक हैं, राजसिक कर्मियों के सभी कुछ राजसिक हैं, तामसिक उच्छृंखल व्यक्तियों से सम्बन्धित सभी कुछ तामसिक हैं - यही श्रीगीता और श्रीमद्भागवत से जाना जाता है। चौदहवें अध्याय में यह भी कहा गया है कि ज्ञान से संन्यास के पश्चात् केवला भक्ति के द्वारा ही गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है॥ 28॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ 29॥

मर्मानुवाद - हे धनंजय! बुद्धि और धृति के भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक गुणों के आधार पर जो तीन प्रकार का भेद है वह सम्पूर्ण रूप से कहता हूँ, तुम श्रवण करो॥ 29॥

अन्वय - धनंजय (हे अर्जुन) बुद्धेः (बुद्धि का) धृतेः च (और धृति का) गुणतः (त्रिगुणों के अनुसार) त्रिविधम् (तीन प्रकार का) भेदम् (भेद) पृथक्त्वेन (अलग-अलग रूप से) अशेषेण (सम्पूर्ण रूप से) प्रोच्यमानम् (मैं कह रहा हूँ) शृणु (श्रवण करो)।। 29॥

टीका—ज्ञानिभिः सर्वमपि वस्तु सात्त्विकमेवोपादेयमिति ज्ञापयितुं बुद्ध्यादीनामपि त्रै

भावानुवाद - ज्ञानियों की सभी सात्त्विक वस्तुएँ ही ग्रहण करने योग्य हैं, इसे बतानेके लिए श्रीभगवान् बुद्धि आदिके भी तीन भेद बताने जा रहे हैं॥ 29॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 30॥

मर्मानुवाद - जिस बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष, इन सब का भेद निर्धारण होता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है॥ 30॥

अन्वय - पार्थ (हे पार्थ) या बुद्धिः (जो बुद्धि) प्रवृत्तिं च (धर्म में प्रवृत्ति) निवृत्तिं च (अधर्म से निवृत्ति) कार्याकार्ये (कार्य और अकार्य में)

भयाभये (भय और अभय) बन्धम् (बन्धन) मोक्षं च (और मोक्ष को) वेत्ति (जान सकती है) सा (वही बुद्धि) सात्त्विकी (सात्त्विकी है)

टीका—भयाभये संसारासंसार-हेतुके।। 30।।

भावानुवाद – 'भयाभये' यानि भय संसार का तथा अभय असंसार का हेतु है॥ 30॥

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥31॥

मर्मानुवाद – जिस बुद्धि द्वारा धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य इत्यादि का भेद भलीभांति समझना सम्भव न हो पाये, वह बुद्धि राजसिक है।

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) यया (जिस बुद्धि के द्वारा) धर्मम् (धर्म) अधर्मं च (और अधर्म) कार्यम् (कार्य) अकार्यम् एव च (और अकार्य को) अयथावत् (सम्यक् रूप से नहीं) प्रजानाति (जाना जा सकता) सा बुद्धि (वह बुद्धिः) राजसी (राजसिक है)॥ 31॥

टीका—'अयथावत्' असम्यक्तया इत्यर्थः।। 31।।

भावानुवाद – 'अयथावत्' – अपरिपूर्ण रूप से॥ 31॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ 32॥

मर्मानुवाद – जो अधर्म को धर्म समझती है और मोहवश सभी (शास्त्र) अर्थों को उल्टा ही समझती है, वह बुद्धि तामसिक है॥ 32॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) या (जो बुद्धि) अधर्मम् (अधर्म को) धर्मम् (धर्म), सर्वार्थान् च (और समस्त जानने योग्य पदार्थों को) विपरीतान् इति मन्यते (उल्टा समझती है) सा बुद्धिः (वह बुद्धिः) तमसावृता (मोह से आवृत) तामसी (तामसिक है)॥ 32॥

टीका—'या मन्यत' इति-कुठारश्छिनत्तीतिवत् यया मन्यते इत्यर्थः।।32।।

भावानुवाद – 'या मन्यते' – जिसके द्वारा माना जाय कि कुठार छेदन करता है॥ 32॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 33॥

मर्मानुवाद – हे पार्थ ! जो धृति अव्यभिचारीयोग द्वारा मन, प्राण, इन्द्रिय और सब क्रियाओं को धारण करती है वह धृति सात्त्विकी है॥ 33॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) योगेन (परात्मचिन्तन के) अव्यभिचारिण्या (अनुगत) यथा (जिस) धृत्या (धृति द्वारा) मनःप्राणेन्द्रिय क्रियाः (मन प्राण और इन्द्रियों की चेष्टा को पुरुष) धारयते (नियमित करता है) सा धृतिः (वह धृति) सात्त्विकी (सात्त्विक है)॥ 33॥

टीका—धृतेस्त्रै

भावानुवाद – अब श्रीभगवान् तीन प्रकार की धृति बता रहे हैं॥33॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ 34॥

मर्मानुवाद – जो धृति फलाकांक्षा सहित धर्म, काम और अर्थ को धारण करती है वह राजसी है॥ 34॥

अन्वय – पार्थ (हे पार्थ) अर्जुन (हे अर्जुन) प्रसंगेन [सकाम पण्डित के संगवश] फलाकांक्षी (फलाकांक्षी मानव) यया धृत्या (जिस धृति के द्वारा) धर्मकामार्थान् (धर्म अर्थ और काम को) धारयते (नित्य कर्त्तव्य के रूप में धारण करता है) सा धृतिः (वह धृति) राजसी (राजसिक है।)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता॥ 35॥

मर्मानुवाद – जो धृति स्वप्न, भय, शोक, विषाद, मद, इत्यादि का त्याग नहीं करती वही बुद्धिहीना धृति तामसी है॥ 35॥

अन्वय – दुर्मेधाः (दुष्ट बुद्धि वाला व्यक्ति) यया (जिस धृति के द्वारा) स्वप्नम् (निद्रा) भयम् (भय) शोकम् (शोक) विषादम् (दुःख) मदम् एवं च (और विषय भोगों से उत्पन्न मदको) न विमुञ्चति (त्याग नहीं करती) सा धृतिः (वही धृति) तामसी (तामसिक के रूप में) मता (विदित है)।। 35॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति॥ 36॥

मर्मानुवाद – हे भरत श्रेष्ठ ! अब तुम तीन प्रकार के सुखों के विषय में श्रवण करो। बद्ध जीव एक कार्य का बार-बार अनुशीलन करने के कारण अभ्यासवश उसी सुख में रमण करते हैं, और कहीं-कहीं उपरति प्राप्त करते हुए संसार के दुःखों से छुटकारा भी पा लेते हैं॥ 36॥

अन्वय – भरतर्षभ ! (हे भरतश्रेष्ठ) इदानीं तु (इस समय) मे (मुझ से) त्रिविधम् (तीन प्रकार के) सुखम् (सुखों को) शृणु (श्रवण करो) [बद्धजीव] अभ्यासात् (एक ही कार्य का पुनः पुनः अनुशीलन करने के कारण) यत्र (जिस सुख में) रमते (रमण करते हैं) दुःखान्तं च (और दुःखों के अन्त को) निगच्छति (प्राप्त होते हैं)॥ 36॥

टीका—सात्त्विकं सुखमाह—सार्द्धेन 'अभ्यासात्' पुनरनुशीलनादेव रमते, न तु विषयेष्विवोत्पत्त्यै
रममाणः संसारदुःखं तरतीत्यर्थः।। 36।।

भावानुवाद – श्रीभगवान् सात्त्विक सुख के विषय में कह रहे हैं। 'अभ्यासात्' जिस सुख के बार-बार अनुशीलन से मनुष्य धीरे-धीरे उसमें आसक्त होता जाता है, और जिसके द्वारा 'दुःखान्तं निगच्छति' – संसार दुःख से पार हो जाता है॥ 36॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ 37॥

मर्मानुवाद – पहले कष्टकर एवं परिणाम में अमृत के समान अनुभव होने वाला, आत्म-विषयक बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न हुआ वह सुख ही सात्त्विक सुख है॥ 37॥

अन्वय – यत तत् (कोई भी सुख) अग्रे (पहले तो) विषम् इव (विष के समान) परिणामे (किन्तु अन्त में) अमृतोपमम् (अमृत के समान लगता है) आत्मबुद्धिप्रसादजम् (आत्म सम्बन्धिनी बुद्धि की निर्मलता से जात) तत् (वह) सुखम् (सुख) सात्त्विकम् (सात्त्विक) प्रोक्तम् (कहा गया है) ॥37॥

टीका—विषमिवेति—इन्द्रियमनो-निरोधो हि प्रथमं दु:खद एव भवतीति भाव:।। 37।।

भावानुवाद – 'विषमिव' यानि इंन्द्रियों और मन का संयम आरम्भ में विष की भांति दु:खप्रद ही होता है, यह भाव है॥ 37॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ 38॥

मर्मानुवाद – विषय इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख जो पहले अमृत के समान एवं परिणाम में विष के समान होता है उसे राजसिक सुख कहा जाता है॥ 38॥

अन्वय – विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषय और इन्द्रियों के संयोग से) यत् (जो सुख) [उत्पन्न होता है] तत् (वह) अग्रे (पहले तो) अमृतोपमम् (अमृत के समान) परिणामे (किन्तु अन्त में) विषमिव (विष के समान है) तत् सुखम् (वही सुख) राजसम् (राजसिक) स्मृतम् (कहा गया है)॥ 38॥

टीका—यदमृतोपमं परस्त्रीसम्भोगादिकम्।। 38।।

भावानुवाद – यदमृतोपमम् का अर्थ है परस्त्री सम्भोग आदि जो पहले अमृत के समान लगता है॥ 38॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मन:।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ 39॥

मर्मानुवाद – पहले भोगते समय और परिणाम के समय दोनों समय मोह उत्पन्न करने वाला निद्रा, आलस्य और प्रमादादि से उत्पन्न वह सुख ही तामसिक है॥ 39॥

अन्वय – यत् (जो) सुखम् (सुख)अग्रे (भोगते समय) अनुबन्धे च (और परिणाम में भी) मोहनम् (वस्तु के स्वरूप को ढकने वाला है) निद्रालस्यप्रमादोत्थम् (निद्रा आलस्य और अविवेक से उत्पन्न) तत् (वह) [सुख] तामसम् (तामसिक) उदाहृतम् (कहा गया है)॥ 39॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन:।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभि: स्यात्त्रिभिर्गुणै:॥ 40॥

मर्मानुवाद – इस पृथ्वी पर मनुष्यों में एवं स्वर्ग में देवताओं में कोई

भी ऐसा प्राणी नहीं है जो प्रकृति के गुणों से पूरी तरह मुक्त हो। ज्ञानी और कर्मी सभी लोग प्रकृति के गुणों के वशीभूत रहते हैं। भक्त लोग केवल देह यात्रा निर्वाह करने के लिए प्रकृति के गुणों को स्वीकार करते हैं वस्तुतः उनकी अपनी स्थिति प्राकृत गुणों से अलग रहती है इसलिए साक्षात् दिखने में सब को ही प्राकृत गुणों से आवृत जानना॥ 40॥

अन्वय - पृथिव्याम् (पृथ्वी पर) दिवि वा (या स्वर्ग में) पुनः देवेषु वा (या देवताओं के बीच में) तत् (कोई प्राणी या वस्तु) न अस्ति (नहीं है) यत् सत्त्वम् (जो प्राणी और अन्य वस्तु) एभिः (इन) प्रकृतिजैः (प्रकृति से उत्पन्न) त्रिभिः (तीन) गुणैः (गुणों से) मुक्तं स्यात् (मुक्त हो)॥ 40॥

टीका—अनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति—नेति। तत् सत्त्वं प्राणिजातमन्यच्च वस्तुमात्रं क्वापि नास्ति यदेभिः प्रकृतिजै
स्यादतः सर्वमेव वस्तुजातं त्रिगुणात्मकं, तत्र सात्त्विकमेवोपादेयं, राजसतामसे तु नोपादेये इति प्रकरणतात्पर्यम्।। 40।।

भावानुवाद – जिसे अभी तक नहीं बताया गया, उसे भी एक साथ बताते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते है। कहीं भी कोई प्राणी या कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो। अतएव सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं। इनमें से सात्त्विक वस्तु ही ग्रहण करने योग्य है, राजसिक और तामसिक नहीं – यही इस प्रकरण का तात्पर्य है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ 41॥

मर्मानुवाद –सात्त्विक, राजसिक और तामसिक ये तीनों गुण ही मायाबद्ध जीव के स्वाभाविक हो गये हैं। हे परन्तप ! उन्हीं स्वभावजनित गुणों के आधार पर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि सभी के कर्मों का विभाग हुआ है॥ 41॥

अन्वय - परन्तप (हे परन्तप) ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) शूद्राणां च (और शूद्र के) स्वभावप्रभवैः (स्वभाव से उत्पन्न) गुणैः (सात्त्विकादि गुणों द्वारा) कर्माणि (कर्मों को) प्रविभक्तानि (विभक्त किया गया है)॥ 41॥

टीका—किञ्च, त्रिगुणात्मकमपि प्राणिजातं स्वाधिकारप्राप्तेन विहितकर्मणा परमेश्वरमाराध्य कृतार्थीभवतीत्याह—ब्राह्मणेति षड्भिः। स्वभावेनोत्पत्त्यै
पृथक्कृतानि कर्माणि ब्राह्मणादीनां विहितानि सन्तीत्यर्थः।। 41।।

भावानुवाद – त्रिगुणमय प्राणी अपने-अपने अधिकार के अनुसार शास्त्रविहित कर्मों द्वारा परमेश्वर की आराधना कर कृतार्थ होते हैं। 'स्वभावप्रभवैर्गुणै:' – स्वाभाविक या जातिगत जन्म से उत्पन्न जो सात्त्विक आदि गुण हैं, उनके आधार पर ही पृथक्-पृथक् बताये गये कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के लिए कर्त्तव्य के रूप में निर्धारित होते हैं॥ 42॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ 42॥

मर्मानुवाद – शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं॥ 42॥

अन्वय – शमः (अन्तरिन्द्रिय निग्रह) दमः (बाहरी इन्द्रियों का निग्रह) तपः (तप) शौचम् (पवित्रता) शान्तिः (क्षमा) आर्जवम् एव च (और सरलता) ज्ञानम् (ज्ञान) विज्ञानम् (अनुभव ज्ञान) आस्तिक्यम् (शास्त्रों में विश्वास) स्वभावजम् (स्वभाव से उत्पन्न) ब्रह्मकर्म (ब्राह्मणों के कर्म हैं) ॥42॥

टीका—तत्र सत्त्वप्रधानानां ब्राह्मणानां स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शम इति। 'शमो'ऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः, 'दमो' बाह्येन्द्रियनिग्रहः 'तपः' शारीरादि, 'ज्ञानविज्ञाने' शास्त्रानुभवोत्थे, 'आस्तिक्यं' शास्त्रार्थे दृढ़विश्वासः—एवमादि ब्रह्मकर्म ब्राह्मणस्य कर्म स्वभावजं स्वाभाविकम्।। 42।।

भावानुवाद – सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म बता रहे हैं-अन्तः और बाह्य इन्द्रियों का संयम, शरीर के द्वारा किये गये शास्त्रविहित कर्म, शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव, शास्त्रवचनों में दृढ़ विश्वास ये सभी ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं॥ 42॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ 43॥

मर्मानुवाद – शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान,

नेतृत्व– ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ 43 ॥

अन्वय – शौर्यम् (पराक्रम) तेजः (तेज) धृतिः (धैर्य) दाक्ष्यम् (कार्य कुशलता) युद्धे च अपि अपलायनम् (और युद्ध में पीठ न दिखाना) दानम् (दान) ईश्वरभावः च (स्वामीपन का भाव, ये सब) क्षात्रम् (क्षत्रियों के) स्वभावजम् (स्वाभाविक) कर्म (कर्म हैं) ॥ 43 ॥

टीका—सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानानां क्षत्रियाणां कर्माह—'शौ
'तेजः' प्रागल्भ्यम्, 'धृतिः' धै

भावानुवाद – क्षत्रियों में सत्त्वगुण की अप्रधानता और रजोगुण की प्रधानता होती है । पराक्रम, साहसिकता, धैर्य और लोगों पर शासन का भाव क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ 43 ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ 44 ॥

ममानुवाद – कृषि, गोरक्षण और व्यापार, वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा ही शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है, इन चार प्रकार के स्वभाव से ही मानवों के वर्ण का निरूपण होता है, केवल जन्म से नहीं ॥ 44 ॥

अन्वय – कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् (कृषि, गोरक्षा, और व्यापार) स्वभावजम् (स्वभाव से जात) वैश्यकर्म (वैश्य के कर्म हैं)। शूद्रस्य अपि (और शूद्र के भी) परिचर्यात्मकम् (सेवारूप) कर्म (कर्म) स्वभावजम् (स्वाभाविक है) ॥44 ॥

टीका—तम उपसर्जनरजःप्रधानानां कर्माह—कृषीति। गां रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गोरक्ष्यम्। रज उपसर्जनतमःप्रधानानां शूद्राणां कर्माह—परिचर्यात्मकं ब्राह्मणक्षत्रियविशां परिचर्यारूपम्।। 44।।

भावानुवाद – तमोगुण गौण एवं रजोगुण प्रधान वैश्य के कर्म बता रहे है। कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। वे गाय की रक्षा यानि पालन करते हैं, अतः वे गोरक्षक कहलाते हैं । गोरक्षा का भाव पशुपालन से है । शूद्रों में रजोगुण की अप्रधानता तथा तमोगुण की प्रधानता होती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों की सेवा करना ही उनके स्वाभाविक

कर्म हैं ॥ 44 ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ 45॥

मर्मानुवाद – अपने-अपने कर्मों में लगा व्यक्ति संसिद्धि लाभ करता है। अपने-अपने कर्मों को करते हुए वह जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, उसे श्रवण करो॥ 45॥

अन्वय – स्वे स्वे (अपने-अपने) कर्मणि (अधिकार विहित कर्मों में) अभिरतः (तत्पर) नरः (व्यक्ति) संसिद्धिम् (ज्ञान-निष्ठा योग्यता रूपी सिद्धि) लभते (प्राप्त करता है)। स्वकर्मनिरतः (स्वाधिकार विहित कर्मों में लगा वह व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) सिद्धिम् (सिद्धि) विन्दति (प्राप्त करता है) तत् (वह) शृणु (सुनो)॥ 45॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 46॥

मर्मानुवाद – जो व्यष्टि और समष्टि रूप से इस जगत् में व्याप्त हैं एवं जिन के फलदान स्वभाव के कारण तमाम प्राणियों की पूर्ववासना रूपी प्रवत्ति होती है, उनकी अपने-अपने वर्ण-आश्रम विहित कर्मों द्वारा पूजा करके मानव सिद्धि प्राप्त करते हैं॥ 46॥

अन्वय – यतः (जिनसे) भूतानाम् (प्राणियों का) प्रवृत्तिः (जन्मादि होता है) येन (जिनके द्वारा) इदम् (ये) सर्वम् (सारा विश्व) ततम् (व्याप्त है) मानवः (मानव) स्वकर्मणा (अपने-अपने वर्ण और आश्रम के लिए विहित कर्मों के द्वारा) तम् (उस ईश्वर की) अभ्यर्च्य (पूजा करके) सिद्धिम् (सिद्धि) विन्दति (प्राप्त करते हैं)॥ 46॥

टीका—यतः परमेश्वरात्, तमेवाभ्यर्च्य इति अनेन कर्मणा परमेश्वरस्तुष्यत्विति मनसा तदर्पणमेव तदभ्यर्चनम्।। 46।।

भावानुवाद – जिन परमेश्वर से चराचर भूतों की उत्पत्ति होती है, उनकी पूजा करनी चाहिए। मेरे इस कर्म द्वारा परमेश्वर प्रसन्न हों, ऐसी मनोभावना से उनको कर्म अर्पण करना ही उनकी सम्यक् पूजा है॥ 46॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ 47॥

मर्मानुवाद – उत्तम रूप से अनुष्ठित किये हुए दूसरों के धर्म से अपना असम्यक् रूप से अनुष्ठित स्वधर्म ही श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव के अनुसार विहित कर्म का नाम ही 'स्वधर्म' है। किसी समय पूरी तरह से आचरण न होने पर भी स्वधर्म से ही सार्वकालिक उपकार होता है। स्वधर्म के करने से किसी प्रकार के पाप होने की सम्भावना नहीं रहती॥ 47॥

अन्वय – स्वनुष्ठितात् (अच्छी प्रकार अनुष्ठान किए हुए) परधर्मात् (दूसरों के धर्म से) विगुणः (निकृष्ट और अच्छी प्रकार से न अनुष्ठान किया हुआ) स्वधर्मः (अपना धर्म ही) श्रेयान् (श्रेष्ठ है, क्योंकि) स्वभावनियतम् (स्वभाव के अनुसार विहित किये हुए) कर्म (कर्म) कुर्वन् (करके) [मानव] किल्विषम् (पाप को) न आप्नोति (प्राप्त नहीं होता)॥ 47॥

टीका—न च क्रियादिभिः स्वधर्मं राजसं च वीक्ष्य तत्रानभिरुच्या सात्त्विकं कर्म कर्त्तव्यमित्याह—श्रेयानिति। परधर्मात् श्रेष्ठादपि स्वनुष्ठितात् सम्यगनुष्ठितादपि स्वधर्मो विगुणो निकृष्टोऽपि सम्यगनुष्ठातुमशक्योऽपि श्रेष्ठः। तेन बन्धुवधादि—दोषवत्त्वात् स्वधर्मं युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनादिरूप-परधर्मस्त्वया नानुष्ठेय इति भावः।। 47।।

भावानुवाद – क्रिया आदि के आधार पर स्वधर्म को राजसिक या तामसिक देखकर उस में अरुचि दिखाते हुए दूसरों के सात्त्विक धर्म को करना कर्त्तव्य नहीं है। भली भाँति करने में असमर्थ होने पर भी निकृष्ट स्वधर्म, भली भाँति किये गये श्रेष्ठ दूसरे के धर्म से अच्छा है। इसलिए बन्धुओं के वध आदि दोषों वाला होने पर भी युद्धरूपी अपने क्षत्रियधर्म को त्यागकर तुम्हारा भिक्षा के लिए भ्रमण आदि रूप जो दूसरे का धर्म है, वह तुम्हारे लिए पालनीय नहीं है॥ 47॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ 48॥

मर्मानुवाद – हे कौन्तेय! स्वाभाविक कर्म दोष युक्त होने पर भी त्यागने योग्य नहीं है, सभी कर्मों के आरम्भ में ही दोष है, अग्नि को जिस प्रकार धुआं आवृत करता है, उसी प्रकार सभी कर्मों को दोष आवृत करता

है, चित्तशुद्धि के लिए उसके दोष वाले अंश को त्याग कर स्वभावविहित कर्म के गुण वाले अंश को ही स्वीकार करना चाहिये॥ 48॥

अन्वय - कौन्तेय (हे कौन्तेय) सदोषम् अपि (दोषयुक्त होने पर भी) सहजम् (स्वभावविहित) कर्म (कर्म को) न त्यजेत् (त्याग नहीं करते) हि (क्योंकि) सर्वारम्भाः (सभी कर्म ही) धूमेन (धूएं द्वारा) अग्निः इव (अग्नि के सदृश) दोषेण (दोष से) आवृताः (ढके हुए हैं)।। 48॥

टीका—न च स्वधर्म एव केवलं दोषोऽस्तीति मन्तव्यम्, यतः परधर्मेष्वपि दोषः कश्चित् कश्चिदस्त्येवेत्याह—सहजं स्वभावविहितं, हि यतः सर्वेऽप्यारम्भाः दृष्टादृष्टसाधनानि कर्माणि दोषेणावृता एव, यथा धूमेन दोषेणावृत एव वह्निर्दृश्यते, अतो धूमरूपं दोषमपाकृत्य तस्य ताप एव तमः–शीतादिनिवृत्तये यथा सेव्यते तथा कर्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांश एव सत्त्वशुद्धये सेव्य इति भावः।। 48।।

भावानुवाद – केवल अपने धर्म में ही दोष देखना उचित नहीं है, क्योंकि दूसरों के धर्म में भी कोई न कोई दोष तो रहता ही है। इसलिए स्वभावविहित अपना धर्म ही उचित है, क्योंकि लौकिक और पारलौकिक कर्म किसी न किसी दोष द्वारा अवश्य आवृत हैं, जैसे कि अग्नि धुएँ से आवृत देखी जाती है। जिस प्रकार हम अग्नि के धुएँरूपी दोष को त्यागकर अन्धकार और शीत आदि के नाश के लिए उसके ताप को ही ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार कर्म के दूषित भाग का परित्याग कर अन्तःकरणशुद्धि के लिए उसके गुणवाले अंश को ही ग्रहण किया जाना चाहिए॥ 48॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ 49॥

मर्मानुवाद – प्राकृत वस्तुओं में आसक्तिशून्य बुद्धि वाला, वशीभूत मन वाला व्यक्ति और ब्रह्मलोक प्राप्ति तक के सुखादि में स्पृहारहित व्यक्ति स्वरूपतः कर्म का त्याग कर नैष्कर्म्यरूपी परमसिद्धि को प्राप्त करता है।

अन्वय - नैष्कर्म्यम् सर्वत्र (प्राकृत सभी विषयों में) असक्तबुद्धिः (आसक्ति रहित बुद्धि वाला), जितात्मा (जीते हुए मन वाला और) विगतस्पृहः (स्पृहारहित व्यक्ति) संन्यासेन (स्वरूपतः कर्म त्याग द्वारा) परमाम् (उत्तम) नैष्कर्म्यम् सिद्धिम् (ब्रह्म साक्षात्कार की योग्यता रूपी सिद्धि) अधिगच्छति

(प्राप्त करता है) ॥ 49 ॥

टीका—एवं सति कर्मणि दोषांशान् कर्त्तृत्वाभिनिवेशफलाभि-सन्धि-लक्षणान् त्यक्तवतः प्रथमसंन्यासिनस्तस्य कालेन साधनपरिपाकतो योगारूढत्वदशायां कर्मणां स्वरूपेणापि त्यागरूपं द्वितीयं संन्यासमाह—असक्तबुद्धिः सर्वत्रापि प्राकृतवस्तुषु न सक्ता आसक्तिशून्या बुद्धिर्यस्य सः, अतो जितात्मा वशीकृतचित्तो विगता ब्रह्मलोकपर्यन्तेष्वपि सुखेषु स्पृहा यस्य सः, ततश्च सन्यासेन कर्मणां स्वरूपेणापि त्यागेन नै परमां श्रेष्ठां सिद्धिमधिगच्छति प्राप्नोति, योगारूढदशायां तस्य नै सिद्धं भवतीत्यर्थः।। 49।।

भावानुवाद – कर्तापन का अभिमान और कर्मफल की कामना ही कर्म के दोष हैं। इन दोनों दोषों का परित्याग कर कर्म करते रहना ही संन्यासी की पहली अवस्था है, किन्तु धीरे-धीरे से जब उस संन्यासी का साधन परिपक्व हो जाता है और वह योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त करता है, तो उस अवस्था में वह कर्म का स्वरूपतः भी परित्याग कर देता है। यहाँ उस द्वितीय संन्यास के बारेमें कह रहे है कि ऐसा संन्यासी समस्त प्राकृत वस्तुओं में अनासक्त बुद्धि वाला हो जाता है, उसका चित्त उसके वशीभूत हो जाता है, ब्रह्मलोक तक के सुखों की उसके मन में कोई मांग नहीं रहती। उससे फिर कर्मों का स्वरूपतः ही त्याग हो जाता है अर्थात् उसे नैष्कर्म्यरूपी परमसिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। योगारूढ़ दशा में ही उसका नैष्कर्म्य अतिशय भाव में सिद्धि प्राप्त करता है ॥ 49 ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ 50॥

मर्मानुवाद – नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त करते हुए जीव जिस प्रकार ज्ञान की परानिष्ठा रूप ब्रह्म की प्राप्ति करता है, वह संक्षेप में कहता हूँ॥ 50॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कौन्तेय) सिद्धिं प्राप्तः (सिद्धि प्राप्त व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) ब्रह्म (ब्रह्म का) आप्नोति (अनुभव करता है) या (जो) ज्ञानस्य (ज्ञान की) परा निष्ठा (परिसमाप्ति है) तथा (वह) मे (मुझ से) समासेन एव (संक्षेप में) निबोध (श्रवण करो)॥ 50॥

टीका—ततश्च यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति ब्रह्मानुभवतीत्यर्थः। यै
अविद्यायामुपरतप्रायायां विद्याया अप्युपरमारम्भे येन प्रकारेण ज्ञानसंन्यासं कृत्वा ब्रह्मानुभवेत्तं बुध्यस्वेत्यर्थः।।50।।

भावानुवाद – नैष्कर्म्यसिद्धि के बाद जिस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति होती है, ब्रह्म की अनुभूति होती है, जिन समस्त योगों द्वारा अज्ञान का परम अन्त होता है (अमरकोश में निष्ठा, निष्पत्ति, नाश और अन्त ये चार समान अर्थ दिये हैं) उसे सुनो। अविद्या की प्रायः निवृत्ति होने पर विद्या की भी निवृत्ति के आरम्भ होने पर जिस प्रकार ज्ञान का संन्यास करके ब्रह्मानुभव होता है, उसे जान लो॥ 50॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ 51॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ 52॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 53॥

मर्मानुवाद – विशुद्ध बुद्धि वाला, मन को धृति के द्वारा नियमित करके शब्दादि तमाम विषयों का परित्यागी, रागद्वेष रहित, निर्जनवासी, अल्पाहारी, काय, मन और वाणी पर संयम रखने वाला, ध्यानयोग और वैराग्य आश्रित अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह से परिमुक्त, ममता रहित एवं शान्त पुरुष ही ब्रह्म का अनुभव करने में समर्थ होता है॥51–53॥

अन्वय – विशुद्धया (सात्त्विकी) बुद्ध्या (बुद्धि से) युक्तः (युक्त होकर) धृत्या (धृतिद्वारा) आत्मानम् (मन को) नियम्य (वशीभूत कर) शब्दादीन् (शब्दादि) विषयान् (विषयों को) त्यक्त्वा (त्याग कर) रागद्वेषौ च (रागद्वेष) व्युदस्य (परित्याग कर)।। 51॥

विवक्त सेवी (निर्जनवासी) लघ्वाशी (मिताहारी) यतवाक्कायमानसः (वाणी, शरीर, और मन को ध्येय की ओर अभिमुख कर) नित्यम् (नित्य) ध्यानयोगपरः (हरिचिन्तन परायण होकर) वैराग्यं समुपाश्रितः (वैराग्य का अवलम्बन कर)।। 52॥

अहंकारम् (देहात्माभिमान) बलम् (काम रागादि युक्त सामर्थ्य) दर्पम् (दर्प) कामम् (काम) क्रोधम् (क्रोध) परिग्रहम् (भोग और साधन का) विमुच्य (परित्याग कर) निर्ममः (ममता रहित) शान्तः (अज्ञान और ज्ञान की उपरति को प्राप्त या शान्त पुरुष) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्म का अनुभव करने में) कल्पते (समर्थ होता है) ॥ 53 ॥

टीका—बुद्ध्या विशुद्धया सात्त्विक्या आत्मानं मनो नियम्य। ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनै
अहङ्कारादीन् विमुच्येत्यविद्योपरमः, शान्तः सत्त्वगुणस्याप्युपशान्तिमानिति कृतज्ञानसंन्यास इत्यर्थः,—"ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्" इत्येकादशोक्तेः। अज्ञानज्ञानयोरुपरमं विना ब्रह्मानुभवानुपपत्तिरिति भावः। ब्रह्मभूयाय ब्रह्मानुभवाय कल्पते समर्थो भवति।। 51–53।।

भावानुवाद – सात्त्विकी बुद्धि और सात्त्विक धैर्य द्वारा जो व्यक्ति अपने मन को संयत कर लेते हैं और भगवान् का चिन्तन करते हुए श्रेष्ठ योगपरायण हो जाते हैं अर्थात् भगवान् का ही आश्रय ले लेते हैं, वे काम-राग से रहित होकर अहंकार आदि का त्यागकर अविद्या से रहित हो जाते हैं। इस प्रकार सत्त्वगुण की भी जब उपशान्ति अर्थात् ज्ञान का भी संन्यास हो जाता है, तब वे व्यक्ति ब्रह्मानुभव के योग्य होते हैं। एकादश स्कन्ध में कहा भी गया है – 'ज्ञान भी मुझ में संन्यस्त करो'। अज्ञान और ज्ञान दोनों से परे हुए बिना ब्रह्म का अनुभव नहीं किया जा सकता। 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' का तात्पर्य है – ब्रह्मानुभव के योग्य होना॥ 51–53॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काक्षंति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ 54॥

मर्मानुवाद – सांसारिक तमाम उपाधियाँ समाप्त हो जाने से जीव अपने अनावृत चैतन्य स्वरूप में ब्रह्मता प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप – सम्प्राप्त व्यक्ति, प्रसन्नात्मा, सब प्राणियों में समान बुद्धि रखने वाला पुरुष शोक और आकांक्षा नहीं करता। क्रमशः ब्रह्मभाव में स्थित होकर मेरी परा अर्थात् निर्गुणा भक्ति प्राप्त करता है॥ 54॥

अन्वय – ब्रह्मभूतः (ब्रह्मरूप) प्रसन्नात्मा (निर्मल चित्त वाला पुरुष) न शोचति (शोक नहीं करता) न कांक्षति (न आकांक्षा करता है) सर्वेषु

भूतेषु (सब प्राणियों में) [बालक की तरह] समः (समदर्शी होकर) पराम् (ज्ञान से भी पृथक् भूमिका और उत्तमा) मद्भक्ति (मेरी भक्ति) लभते (प्राप्त करता है) ॥ 54 ॥

टीका—ततश्चोपाध्यपगमे सति ब्रह्मभूतोऽनावृतचै इत्यर्थः, गुणमालिन्यापगमात्। प्रसन्नश्चासावात्मा चेति सः, ततश्च पूर्वदशायामिव नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावादिति भावः। सर्वेषु भूतेषु भद्राभद्रेषु बालक इव 'समः' बाह्यानुसन्धानाभावादिति भावः। ततश्च निरिन्धनाग्नाविव ज्ञाने शान्तेऽप्यनश्वरां ज्ञानान्तर्भूतां मद्भक्तिं श्रवणकीर्त्तनादिरूपां लभते, तस्या मत्स्वरूपशक्तिवृत्तित्वेन मायाशक्तिभिन्नत्वाद-विद्याविद्ययोरपगमेऽप्यनपगमात्। अतएव परां ज्ञानादन्यां श्रेष्ठां निष्कामकर्मज्ञानाद्युर्वरितत्वेन केवलामित्यर्थः। 'लभते' इति पूर्वज्ञानवै मोक्षसिद्ध्यर्थं कलया वर्त्तमानाया अपि सर्वभूतेष्वन्तर्यामिन इव तस्याः स्पष्टोपलब्धिर्नासीदिति भावः। अतएव कुरुत इत्यनुक्त्वा लभते इति प्रयुक्तम्,—माषमुद्गादिषु मिलितां तेषु नष्टेष्वप्यनश्वरां काञ्चनमणिकामिव तेभ्यः पृथक्तया केवलां लभत इतिवत्। सम्पूर्णायाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभसम्भवोऽस्ति, नापि तस्याः फलं सायुज्यमित्यतः 'परा' शब्देन प्रेमलक्षणेति व्याख्येयम्।। 54।।

भावानुवाद – जब साधक के चित्त से सत्त्व, रज और तमोगुण की मलिनतारूपी उपाधियों का पर्दा हट जाता है तो वे ब्रह्मभूत हो जाते हैं, प्रसन्न अवस्था को प्राप्त करते हैं। देहाभिमान नष्ट हो जाने के कारण न तो वे वस्तु के नष्ट होने पर शोक करते हैं और न ही किसी अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा करते हैं, क्योंकि वे बालककी भाँति समदर्शी हो जाते हैं। उन्हें बाह्य वस्तुओं का अनुसन्धान नहीं रहता। इन्धनरहित अग्नि की भाँति ज्ञान की शान्ति हो जानेपर ज्ञान के अन्तर्भूत श्रवण-कीर्तनादिरूपी मेरी अनश्वरा भक्ति प्राप्त करते हैं जो कि मेरी स्वरूप-शक्ति होने के कारण अनश्वरा या नित्य वस्तु है माया से भिन्न तत्त्व है। तब ज्ञान से श्रेष्ठ निष्कामकर्म और ज्ञानादिशून्य केवला भक्ति को प्राप्त करते हैं। मोक्ष सिद्धि के लिए वह भक्ति ज्ञान-वैराग्य आदि में आंशिक भाव से छिपी रहती है, स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे सब भूतों में अवस्थित अन्तर्यामी परमात्मा छिपे रहते हैं, दृष्टिगोचर नहीं

होते।

जिस प्रकार मूँग–उड़द आदि मिले हुए चावलों में से उड़द निकल जाने पर चावलों को पृथक् रूप में प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान–वैराग्य आदि में मिश्रित भक्ति भी ज्ञानादि के दूर होने पर उपाधिरहित अवशेष केवला भक्ति स्वतन्त्ररूप से उपलब्ध की जा सकती है। इसीलिए मूल में 'लभते' पद का प्रयोग हुआ है। परा–भक्ति का तात्पर्य भी एक मात्र प्रेम–भक्ति से है। सायुज्यमुक्ति कभी भी उपाधिरहित केवला भक्ति का फल नहीं हो सकती। यहाँ 'पराम्' शब्द की व्याख्या 'प्रेमलक्षणा भक्ति' ही समझना चाहिए॥ 54॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 55॥

मर्मानुवाद – मेरा जैसा स्वरूप है, मैं जैसे स्वभाव वाला हूँ, वह तो जीव विशेष रूप से तभी समझ सकता है जब उसके हृदय में निर्गुणा भक्ति उदित हो जाये। मेरे विषय में यथार्थ ज्ञान होने से जीव मुझ में प्रवेश करता है। यही मत्सम्बन्धीय, (गुह्य) ज्ञान है। इसी को ही निष्कामकर्मयोग द्वारा वर्णाश्रमियों की संन्यास आश्रम ग्रहण रूपी 'ब्रह्म प्राप्ति' कहते हैं, इस का भी चरम फल निर्गुण भक्ति या प्रेम है, 'विशते माम्', इस शब्द द्वारा शुष्क आत्म विनाश रूपी दुर्बुद्धि को नहीं समझना चाहिए। जड़ संसार से स्वरूपतः मुक्ति होने के पश्चात् परम चित् रूप मेरे स्वरूप की प्राप्ति को ही 'विशते माम्' शब्द द्वारा समझाया गया है, उसी स्वरूप प्राप्ति को ही 'विशुद्ध भागवत' प्रेम भी कहा जा सकता है॥ 55॥

अन्वय – [मैं] यावान् (जिस प्रकार विभूति सम्पन्न) यः च अस्मि (स्वरूपतः हूँ) माम् (मुझे) [ज्ञानी व्यक्ति] भक्त्या (भक्ति द्वारा ही) तत्त्वतः (यथार्थ रूप से) अभिजानाति (जान सकता है) ततः (उस गुणातीत भक्ति द्वारा) तदनन्तरम् (सात्त्विक विद्या से निवृत्ति के बाद) माम् (मुझे) तत्त्वतः (साक्षात्) ज्ञात्वा (अनुभव कर) विशते (मेरे साथ युक्त हो जाता है)।।55॥

टीका—ननु तया लब्धया भक्त्या तदानीं तस्य किं स्यादित्यतोऽर्थान्तरन्यासेनाह—भक्त्येति। अहं यावान् यश्चास्मि तं मां तत्पदार्थं ज्ञानी वा नानाविधो भक्तो वा भक्त्यै

ग्राह्यः" इति मदुक्तेः। यस्मादेवं तस्मात् प्रस्तुतः स ज्ञानी, ततस्तया भक्त्यै तदनन्तरं विद्योपरमादुत्तरकाल एव मां ज्ञात्वा मां विशति मत्सायुज्यसुखमनुभवति, मम मायातीतत्वादविद्यायाश्च मायात्वात् विद्ययाप्यहमवगम्य इति भावः। यत्तु "सांख्ययोगौ

नारदपञ्चरात्रे विद्यावृत्तित्वेन भक्तिः श्रूयते तत् खलु ह्लादिनीशक्तिवृत्तेर्भक्तेरेव कला काचिद्विद्यासाफल्यार्थं विद्यायां प्रविष्टा कर्मसाफल्यार्थं कर्मयोगेऽपि प्रविशति, तया विना कर्मज्ञानयोगादीनां श्रममात्रत्वोक्तेः। यतो निर्गुणा भक्तिः सद्गुणमय्या विद्याया वृत्तिर्वस्तुतो न भवत्यतो ह्यज्ञाननिवर्त्तकत्वेनै

कारणत्वं तत्पदार्थज्ञाने तु भक्तेरेव। किञ्च, "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इति स्मृतेः सत्त्वजं ज्ञानं सत्त्वमेव, तच्च सत्त्वं 'विद्या'—शब्देनोच्यते यथा, तथा भक्त्युत्थं ज्ञानं भक्तिरेव, सै

चोच्यते इति ज्ञानमपि द्विविधं द्रष्टव्यम्। तत्र प्रथमं ज्ञानं संन्यस्य, द्वितीयेन ज्ञानेन ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयादित्येकादश- स्कन्धपञ्चविंशत्यध्यायदृष्ट्यापि ज्ञेयम्। अत्र केचिद्भक्त्या विनै

क्लेशमात्रफला अतिविगीता एव, अन्ये तु 'भक्त्या विना केवलेन ज्ञानेन न मुक्तिरिति ज्ञात्वा भक्तिमिश्रमेव ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवांस्तु मायोपाधिरेवेति भगवद्वपुर्गुणमयं मन्यमाना योगारूढत्वदशामपि प्राप्तास्तेऽपि ज्ञानिनो विमुक्तमानिनो विगीता एव; यदुक्तम्—"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमै

चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणै

न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः।।" इति। अस्यार्थः—ये न भजन्ति, ये च भजन्तोऽप्यवजानन्ति ते संन्यासिनोऽपि विनष्टाविद्या अप्यधःपतन्ति, तथा ह्युक्तम्— "येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः"इति। अत्र अङ्घ्रिपदं भक्त्यै

'अनादृतयुष्मदङ्घ्रय' इति— तनोर्गुणमयत्वबुद्धिरेव तनोरनादरः, यदुक्तम्—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्" इति, वस्तुतस्तु मानुषी सा तनुः सच्चिदानन्दमय्येव, तस्याः दृश्यत्वन्तु दुस्तर्क्यतदीयकृपाशक्तिप्रभावादेव यदुक्तं नारायणाध्यात्मवचनम्— "नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः। तामृते परमानन्दं कः पश्येत्तमिमं प्रभुम्।।" इति। एवञ्च भगवत्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वे" तमेकं सच्चिदानन्दविग्रहं श्रीवृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्"

इति, ''शाब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्'' इत्यादि श्रुतिस्मृतिपर-सहस्रवचनेषु प्रमाणेषु सत्स्वपि ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्'' इति श्रुतिदृष्ट्यै भगवानपि मायोपाधिरिति मन्यन्ते किन्तु स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः—''अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्'' इति माध्वभाष्यप्रमाणितश्रुतेः। मायान्तु इत्यत्र 'माया' शब्देन स्वरूपभूता चिच्छक्तिरेवाभिधीयते न त्वस्वरूपभूता त्रिगुणमय्येव शक्तिरिति तस्याः श्रुतेरर्थं न मन्यन्ते, यद्वा प्रकृतिं दुर्गां मायिनन्तु महेश्वरं शम्भुं विद्यादित्यर्थमपि नै मन्यन्ते। अतो भगवदपराधेन जीवन्मुक्तत्वदशां प्राप्ता अपि तेऽधःपतन्ति, यदुक्तं 'वासना'भाष्यधृतं परिशिष्टवचनम्—''जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसारवासनाम्। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ
'नास्ति साधनोपयोगः' इति मत्वा ज्ञानसंन्यासकाले ज्ञानं तत्र गुणीभूतां भक्तिमपि संत्यज्य मिथ्यै
ज्ञानेन सार्द्धमन्तर्द्धानाद्भक्तिं ते पुननै
तत्पदार्थाननुभावान्मृषा-समाधयो जीवन्मुक्त-मानिन एव ते ज्ञेयाः, यदुक्तम्—''येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः'' इति। ये तु भक्तिमिश्रं ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवन्मूर्तिं सच्चिदानन्दमयीमेव मन्यमानाः क्रमेणाविद्याविद्ययोरुपरामे परां भक्तिं न लभन्ते, ते जीवन्मुक्ता द्विविधाः—एके सायुज्यार्थं भक्तिं कुर्वन्तस्तयै
लभन्ते, ते संगीता एव, अपरे भूरिभागा यादृच्छिकशान्तमहाभागवतसङ्गप्रभावेण त्यक्तमुमुक्षाः शुकादिवद्भक्तिरस-माधुर्यास्वादे एव निमज्जन्ति, ते तु परमसंगीता एव; यदुक्तम्—''आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहै भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।'' इति। तदेवं चतुर्विधा ज्ञानिनो द्वये विगीताः पतन्ति द्वये संगीतास्तरन्ति संसारमिति।। 55।।

भावानुवाद – वह ब्रह्मभूत व्यक्ति उस भक्ति को प्राप्त कर क्या फल लाभ करते हैं ? उसे अर्थान्तरन्यास से कहते हैं कि ज्ञानी व नानाप्रकार के भक्त मेरी विभुता, व्यापकता और मेरे स्वरूप को इसी भक्ति द्वारा ही यथार्थ रूप से जान सकते हैं। जैसा मैंने श्रीमद्भागवत (11/14/21) में कहा भी है – ''मैं केवला भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकता हूँ।'' इसलिए वे ज्ञानी भी भक्ति के द्वारा विद्या के निवृत्त होने पर मुझे जानकर मुझ में प्रविष्ट होते हैं या यूं कहें कि मेरे सायुज्य – सुख का अनुभव करते हैं। क्योंकि मैं मायातीत हूँ और

अविद्या ही माया है। इसलिए मैं केवल विद्या द्वारा ही जाना जा सकता हूँ। नारद पञ्चरात्र में कहा गया है – ''ज्ञान, योग, वैराग्य, तप एवं केशव की भक्ति ये पाँच प्रकार की विद्यायें हैं।'' भक्ति विद्या की ही वृत्तिविशेष है। पुनः ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति भक्ति का ही कोई अंश विद्या–विषय को सफल करने के उद्देश्य से विद्या में प्रविष्ट होता है अथवा कभी कर्मयोग की सफलता के लिए कर्म में प्रविष्ट होता है क्योंकि भक्ति के बिना कर्म, योग और ज्ञान आदि केवल परिश्रम ही हैं। कहने का भाव यह है कि भक्ति के बिना कर्म, ज्ञान, योग अपना फल भी प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं। यद्यपि वस्तुतः निर्गुणा भक्ति सत्त्वगुणमयी विद्या की वृत्तिविशेष नहीं हो सकती, तथापि अज्ञान के नाश में विद्या ही कारण है, किन्तु तत्पदार्थरूप भगवान् के निरूपण में भक्ति ही कारण है। गीता (14/17) में ''सत्त्वगुण से ज्ञानकी उत्पत्ति बतायी गई है।'' इसलिए सत्त्वगुण से उत्पन्न ज्ञान भी सत्त्वगुणी ही होता है, उसी प्रकार भक्ति से उत्पन्न ज्ञान भी भक्ति ही है । वह भक्ति ही कहीं–कहीं 'भक्ति' शब्दसे अथवा कहीं 'ज्ञान' शब्द से कही गई है। इस प्रकार ज्ञान को भी दो प्रकार का जानना आवश्यक है। सत्त्वगुण से उत्पन्न प्रथम ज्ञान को त्यागकर भक्ति द्वारा उत्पन्न द्वितीय ज्ञान से ही 'ब्रह्मसायुज्य' की प्राप्ति होती है । यह श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के पच्चीसवें अध्याय को देखने से जाना जाता है। ''जो भक्तिहीन लोग केवल ज्ञान के सहारे ही सायुज्य प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे ज्ञान पर अभिमान करनेवाले अन्त में केवल क्लेश ही प्राप्त करते हैं'', ऐसा कहकर यहाँ ज्ञान की निन्दा की गई है। कुछ लोग यह जान कर कि ''भक्ति के बिना केवल ज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं होती'' – भक्तिमिश्र ज्ञान का अभ्यास करते हुए वे मन में सोचते हैं कि भगवान् मायिक उपाधिवाले हैं और उनका शरीर गुणमय है। योगरूढ़ अवस्था प्राप्त होने पर अपने आप को मुक्त मानने का अभिमान करने वाले ऐसे ज्ञानी निन्दनीय हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (11/5/2) में कहा गया है – कि भगवान् के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पांव से शूद्र प्रकट हुए हैं, जो ऐसे स्वयंभू साक्षात् परमेश्वर का भजन नहीं करते हैं, बल्कि उल्टा उनका अनादर करते हैं उनका अधःपतन हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि जो भजन नहीं करते है और जो भजन करते हुए भी भगवान् की अवज्ञा करते हैं, संन्यासी होनेपर भी उनकी विद्या और

बुद्धि नष्ट हो जाती है और वे निम्न लोकों में जाते हैं। श्रीमद्भागवत (10/2/32) में और भी कहा गया है – जो लोग अपने को झूठमूठ ही मुक्त हुआ मानते हैं, आपके प्रति भक्तिभाव से रहित होने के कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे यदि तपस्या और साधना का कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुंच भी जायें तो भी वहाँ से गिर जाते हैं। इस श्लोक में 'अङ्घ्रि' पद से भक्ति को ही कहा गया है। 'अनादृतयुष्मदङ्घ्रय:' अर्थात् 'आप के चरणों का अनादर करने वाले' इस वाक्य से श्रीभगवान् के शरीर को माया का मानना ही उनकी देह का अनादर है। जैसे कि गीता (9/11) में कहा गया है "मूढ़ लोक मानवशरीरधारी मेरी अवज्ञा करते हैं"। वास्तव में मेरा मानुष शरीर सच्चिदानन्दमय है। मेरी तर्कातीत शक्ति के प्रभाव से ही उसका दर्शन होता है। जैसे नारायणाध्यात्म वचन में कहा है कि श्रीभगवान् नित्य अव्यक्त होने पर भी केवल उनकी शक्ति के प्रभाव से ही उनके दर्शन होते हैं। उस शक्ति के अतिरिक्त उस परमानन्दस्वरूप का दर्शन करने में कोई समर्थ नहीं हैं?" इस प्रकार भगवान् के शरीर का सच्चिदानन्दमय होना सिद्ध हुआ। " तमेकं सच्चिदानन्दविग्रहं श्रीवृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्', 'शब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्' अर्थात् 'श्रीवृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे सच्चिदानन्द विग्रह विराजमान है' तथा 'शब्दब्रह्म शरीरधारी है'। (भा 3/21/8) इत्यादि सहस्त्र श्रुति-स्मृति वाक्यों से उनके तनु को सच्चिदानन्दमय बताये जाने पर भी केवल श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहे गए 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' अर्थात् प्रकृति को माया एवं परमेश्वर को मायी जानो – इस श्रुति वाक्य के आधार पर ही वे भगवान् को मायिक उपाधियुक्त समझते हैं, किन्तु स्वरूपभूता निजशक्ति को यहां माया कहा गया है। 'अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्' अर्थात् उस माया से युक्त होने के कारण विष्णु को मायामय कहा जाता है– श्रीमध्वभाष्य में कथित उपरोक्त श्रुतिवाक्य के अनुसार भगवान् स्वरूपभूता माया नामक निजशक्ति द्वारा संयुक्त हैं।'मायान्तु' – यहाँ माया शब्द से उनकी स्वरूपभूता चित्-शक्ति को कहा गया है। अस्वरूपभूता त्रिगुणमयी शक्ति नहीं। यही वास्तविक अर्थ उनके मन में नहीं उतरता। अथवा, माया को प्रकृति अर्थात् दुर्गा तथा मायी महेश्वर को शम्भु समझना चाहिए, किन्तु वे ऐसा अर्थ भी स्वीकार नहीं करते, इसीलिए भगवान् के अपराधी होने के कारण जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होने पर भी वे

अध:पतित हो जाते हैं ।वासनाभाष्य ग्रन्थधृत परिशिष्ट वचन में कहा गया है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति भी यदि किसी प्रकार अचिन्तनीय महाशक्तिशाली भगवान् के अपराधी हों तो वे भी वासनायुक्त हो संसार में फंस जाते है। इस प्रकार वे फल प्राप्तिकाल आने पर 'अब साधन की कोई आवश्यकता नहीं हैं' ऐसा समझ, ज्ञान–संन्यासकाल में ज्ञान को एवं ज्ञान के साथ गुणीभूता भक्ति को भी परित्याग कर मिथ्या अपरोक्ष ब्रह्मानुभुति मान लेते हैं। श्रीविग्रह के चरणों में अपराध होने के कारण ज्ञानके साथ भक्ति भी अन्तर्हित हो जाती है फलस्वरूप वे पुनः भक्ति प्राप्त नहीं कर पाते है। भक्ति के अतिरिक्त परमात्मा का अनुभव भी नहीं होता हैं। उस समय भक्ति के बिना उनकी समाधि और जीवन्मुक्त अवस्था को वृथा समझना चाहिए। इस विषय में श्रीमद्भागवत (10/2/32) में कहा गया है – 'येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिनः। जो भक्तिमिश्र ज्ञान का अभ्यास करते भगवान् की श्रीमूर्ति को सच्चिदानन्दमयी मानते हुए धीरे–धीरे विद्या और अविद्या के उपरम होने पर परा भक्ति लाभ नहीं करते हैं, ऐसे जीवन्मुक्त दो प्रकार के हैं ।इनमें से कोई–कोई सायुज्य प्राप्त करनेके लिए भक्ति करते हैं एवं उस भक्ति द्वारा तत्पदार्थ को अपरोक्षरूप से अनुभव कर उसमें सायुज्य प्राप्त करते हैं। ये सम्माननीय हैं। दूसरे भूरिभाग्यवान्–व्यक्ति सौभाग्य से शान्त महाभागवतों के संग के प्रभाव से मुक्ति की वाञ्छा का परित्याग करने के पश्चात् शुकदेव गोस्वामी आदि की भाँति भक्तिरस – माधुरी के आस्वादन में ही निमग्न हो जाते हैं। ये लोग परम आदरणीय हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (1/7/10) में कहा गया है– जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मा मे रमण करने वाले हैं ऐसे आत्माराम मुनि भी फल की प्राप्ति की इच्छा से रहित होकर 'उरुक्रम' श्रीकृष्ण की भक्ति करते हैं, क्योंकि श्रीहरि ऐसे मधुर गुणों से सम्पन्न हैं कि वे सब को अपनी ओर खींच लेते हैं। अतएव इस प्रकार चार प्रकार के ज्ञानियों में पहले के दो ज्ञानी निन्दित होकर अध:पतित हो जाते हैं और बाद के दो ज्ञानी आदरणीय होकर संसार से उत्तीर्ण हो जाते हैं॥ 55॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ 56॥

मर्मानुवाद – निष्काम कर्मयोग से ज्ञान और ज्ञान द्वारा भक्ति प्राप्ति की

जो वैदिक प्रणाली है उसे ही मैंने अपनी प्राप्ति का 'गुह्य' रास्ता बतलाया है। जिन तीन प्रणालियों की बात मैं स्पष्ट रूप से बोल रहा हूँ उनमें से यह प्रथम प्रणाली है। अब ईश्वर आराधना रूपी दूसरी प्रणाली के विषय में कहता हूँ। श्रवण करो। विशेषतः सकाम भाव से मेरा आश्रय लेकर मुझे ईश्वर समझते हुए समस्त कर्म मेरे अर्पण करने पर मेरी कृपा से अव्यय और शाश्वत-पद रूपी निर्गुण भक्ति प्राप्त होती है॥ 56॥

अन्वय - मद्व्यपाश्रयः (मेरा भक्त) सदा (हमेशा) सर्वकर्माणि (समस्त कर्म) कुर्वाणः अपि (करके भी) मत्प्रसादात् (मेरी कृपा से) शाश्वतम् (नित्य) अव्ययम् (अविनाशी) पदम् (वैकुण्ठधाम को) अवाप्नोति (प्राप्त होता है)॥ 56॥

टीका—तदेवं ज्ञानी यथाक्रमेणै
ज्ञानसंन्यासै
शृण्वित्याह—सर्वेति। मद्व्यपाश्रयो मां विशेषतोऽपकर्षेण सकामतयापि य आश्रयते, सोऽपि किं पुनः निष्कामभक्त इत्यर्थः। सर्वकर्माण्यपि नित्यनै
कुर्वाणः किं पुनस्त्यक्तकर्मयोगज्ञानदेवतान्तरोपासनान्यकामानन्यभक्त इत्यर्थः। अत्राश्रयते सम्यक् सेवते इति आङुपसर्गेण सेवायाः प्रधानीभूतत्वम्। कर्माण्यपीत्यपि-शब्देनापकर्षबोधकेन कर्मणां गुणीभूतत्वम्। अतोऽयं कर्ममिश्रभक्तिमान्, न तु भक्तिमिश्रकर्मवानिति प्रथमषट्कोक्ते कर्मणि नातिव्याप्तिः। शाश्वतं महत्पदं मद्धाम-वै
यादिकमवाप्नोति। ननु महाप्रलये तत्तद्धाम कथं स्थास्यति? तत्राह—अव्ययं, महाप्रलये मद्धाम्नः किमपि न व्ययति, मदतर्क्यप्रभावादिति भावः। ननु ज्ञानी खल्वनेकै भिरनेकतपादिक्लेशै
सायुज्यं प्राप्नोति, तस्य ते नित्यं धाम सकर्मकत्वे सकामकत्वेऽपि त्वदाश्रयणमात्रेणै कथं प्राप्नोति? तत्राह—मत्प्रसादादिति मत्प्रसादस्यातर्क्यमेव प्रभावत्वं जानीहीति भावः।। 56।।

भावानुवाद :- इस प्रकार ज्ञानी यथाक्रम कर्मफल-त्याग, कर्मत्याग और ज्ञानत्याग द्वारा मेरा सायुज्य प्राप्त करते हैं, किन्तु मेरे भक्त मुझे जिस रूप से प्राप्त करते हैं, अब उसे सुनो - जो विशेषतः सकाम होकर भी मेरा आश्रय

ग्रहण करते हैं, वे भी परमपद को प्राप्त करते हैं, तो निष्काम भक्त की तो बात ही क्या? 'सर्वकर्माण्यपि' नित्य, नैमित्तिक, काम्य, पुत्र-कन्या आदि के पोषण सम्बन्धी व्यावहारिक सभी प्रकार के कर्मों को करते हुए भी जब मेरे भक्त अव्यय पद प्राप्त कर लेते हैं तो फिर कर्म-योग-ज्ञान, अन्य देवताओं की उपासना और अन्य कामनाओं का त्याग करने वाले भक्तों की तो बात ही क्या? यहाँ 'आश्रयते' का तात्पर्य है – जो सम्यक् रूप से मेरी सेवा करते हैं। 'आङ्' – इस उपसर्ग द्वारा सेवा की ही प्रधानता है। 'कर्माण्यपि' – यहाँ 'अपि' शब्द कर्म की अपकर्षता का बोधक होने से कर्म की गुणीभूतता है। इसलिए ये लोग कर्ममिश्र भक्तिमान् भक्त हैं, भक्तिमिश्र कर्मवान् नहीं। ऐसा प्रथम छः अध्यायों में कथित कर्म में अतिशय आसक्त नहीं हैं। 'शाश्वतं मत्पदम्' – वे मेरे शाश्वत वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारिका, अयोध्या आदि धाम को प्राप्त करते हैं। प्रश्न उठता है कि महाप्रलय के समय क्या ये धाम रहेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं – 'अव्ययम्' अर्थात् महाप्रलय के समय मेरे धाम का कुछ भी व्यय नहीं होता है। ऐसा मेरे अतर्क्य प्रभाव से ही सम्भव होता है।

यदि प्रश्न हो कि ज्ञानी अनेक जन्मों की अनेक तपस्याओं आदि क्लेश द्वारा विषयों की उपरमता के बाद नैष्कर्म्य होने से सायुज्य प्राप्त करते हैं, किन्तु आपके भक्तगण कर्मानुष्ठानपरायण सकामी होने पर भी केवल आपका आश्रय लेने से ही आपके नित्य धाम को कैसे प्राप्त करते हैं, तो इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – मेरे प्रसाद (कृपा) द्वारा ही ऐसा सम्भव है इसलिए मेरी कृपा के प्रभाव को तर्कातीत जानना ॥ 56 ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ 57॥

मर्मानुवाद – मैंने पहले ही कहा है कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन रूपों से मेरी अभिव्यक्ति होती है। बुद्धि-योग का आश्रय लेकर परमात्मरूप मुझ में चित्त लगाकर समस्त कर्म मुझे अर्पण करते हुए मेरे परायण हो जाओ॥ 57 ॥

अन्वय – चेतसा (अन्तःकरण द्वारा) सर्वकर्माणि (सम्पूर्ण कर्मों को) मयि (मुझे) संन्यस्य (अपर्ण कर) मत्परः (मेरे परायण होकर) बुद्धियोगम्

(व्यवसायात्मिका बुद्धि योग का) उपाश्रित्य (आश्रय लेकर) सततम् (हमेशा) मच्चितः (मुझ में चित्त वाले) भव (हो जाओ)॥ 57॥

टीका—ननु तर्हि मां प्रति त्वं निश्चयेन किमाज्ञापयसि?—किमहमनन्यभक्तो भवामि, किं वानन्तरोक्तलक्षणः सकामभक्त एव? तत्र सर्वप्रकृष्टोऽनन्यभक्तो भवितुं त्वं न प्रभविष्यसि, नापि सर्वभक्तेष्वपकृष्टः सकामभक्तो भव, किन्तु त्वं मध्यमभक्तो भवेत्याह—चेतसेति। सर्वकर्माणि स्वाश्रमधर्मान् व्यावहारिककर्माणि च मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परोऽहमेव परः प्राप्यपुरुषार्थो यस्य सः निष्काम इत्यर्थः, यदुक्तं पूर्वमेव—''यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौ
इति बुद्धियोगं व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगम्, सततं मच्चित्तः कर्मानुष्ठानकालेऽन्यदापि मां स्मरन् भव।। 57।।

भावानुवाद – अर्जुन जिज्ञासा करते हैं–अब निश्चित रूप से मेरे लिए आपकी क्या आज्ञा है? क्या मैं आपका अनन्य भक्त बनूँ अथवा उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट सकाम भक्त ही बन जाऊँ? उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं – तुम सर्वश्रेष्ठ भक्त तो नहीं बन पाओगे और न ही सभी भक्तों में अपकृष्ट अर्थात् सकाम भक्त भी मत बनो, अपितु तुम मेरे मध्यम श्रेणी के भक्त बनो। 'सर्वकर्माणि' – अपने आश्रम-धर्म और व्यावहारिक कर्मों को 'मयि संन्यस्य' मुझे समर्पित कर निष्काम भक्त बनों, क्योंकि मैं ही प्राप्त होने योग्य परम पुरुषार्थ हूँ। मैं (गीता 9-26) पहले भी कह चुका हूँ कि तुम जो कुछ भी दान, हवन और तप करो, वह सब मेरे अर्पण करो। व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा हमेशा मेरे परायण चित्तवाले बनो, अर्थात् कर्मों को करते समय एवं अन्य समय में मात्र मेरा ही स्मरण करो॥ 57॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥ 58॥

मर्मानुवाद – इस प्रकार मेरे में चित्त देने से समस्त दुर्ग अर्थात् जीवन यात्रा में आने वाली सभी बाधाओं को पार कर जाओगे। ऐसा न कर यदि देहात्म अभिमान रूपी अहंकारवश 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा समझोगे तो अमृत-स्वरूप से च्युत होकर संसार-रूप विनाश को प्राप्त होओगे॥ 58॥

अन्वय - त्वम् (तुम) मच्चितः (मेरे में चित्त देने से) मत्प्रसादात् (मेरी कृपा से) सर्वदुर्गाणि (समस्त दुःखों का) तरिष्यति (अतिक्रमण कर जाओगे) अथ चेत् (और यदि) अहंकारात् (अहंकारवश) न श्रोष्यसि (नहीं सुनोगे तब) विनंक्ष्यसि (स्वार्थभ्रष्ट हो जाओगे) ॥ 58 ॥

टीका—ततः किमतः आह—मच्चित्तः इति।। 58।।

भावानुवाद - तत्पश्चात् क्या होगा? उत्तर में कहते हैं कि मेरी कृपा से सभी बाधाओं का अतिक्रमण कर जाओगे॥ 58॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 59॥

मर्मानुवाद - यदि उसी अहंकार का आश्रय लेकर तुम यह सोचते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो मिथ्या-प्रतिज्ञा करने वाले कहलाओगे क्योंकि क्षत्रिय स्वभाव तुम्हें अवश्य ही युद्ध में लगा देगा॥59॥

अन्वय - अंहकारम् (अंहकार का) आश्रित्य (आश्रय लेकर) न योत्स्ये (युद्ध नहीं करूँगा) इति (इस प्रकार) यत् मन्यसे (जो तुम सोचते हो) ते (तुम्हारा) एषः (यह) व्यवसायः (निश्चय) मिथ्या एव (मिथ्या ही होगा, क्योंकि) प्रकृति (रजोगुणात्मिका प्रकृति) त्वाम् (तुम्हें) नियोक्ष्यति (अवश्य ही तुम्हें युद्ध कर्म में लगा देगी) ॥ 59 ॥

टीका—ननु क्षत्रियस्य मम युद्धमेव परो धर्मः, तत्र बन्धुवधपापाद्भीत एव प्रवर्त्तितुं नेच्छामीति तत्र सतर्जनमाह—यदहमिति। 'प्रकृतिः' स्वभावः। अधुना त्वं मद्वचनं न मानयसि, यदा तु महावीरस्य तव स्वाभाविको युद्धोत्साहो दुर्वार एवोद्भविष्यति, तदा युध्यमानः स्वयमेव भीष्मादीन् गुरून् हनिष्यन् मया हसिष्यसे इति भावः।। 59।।

भावानुवाद - यदि तुम कहो कि मैं क्षत्रिय हूँ, युद्ध ही मेरा परधर्म है, यह ठीक है किन्तु इस युद्ध में मैं अनेक पारिवारिक जनों के वध से होने वाले पाप के भय से युद्ध के लिए तैयार नहीं हो पा रहा हूँ, तो सुनो-अभी तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, किन्तु याद रहे, हे महावीर! जब तुम्हारा स्वाभाविक युद्धोत्साह दुर्वार हो उठेगा, तब तुम स्वयं युद्ध भी करोगे और भीष्म आदि गुरुजनों का वध भी, फिर मुझसे अपनी हँसी कराओगे॥ 59॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 60॥

मर्मानुवाद – मोहवश तुम युद्ध करने की इच्छा नहीं कर रहे हो किन्तु स्वभावजात स्वकर्म द्वारा मजबूर होकर तुम उसी कार्य को करोगे॥ 60॥

अन्वय – कौन्तेय (हे कौन्तेय) मोहात् (मोहवश) यत् (जो) कर्त्तुम् (करने की तुम) न इच्छसि (इच्छा नहीं कर रहे हो) स्वभावजेन (क्षत्रिय होने के कारण पूर्व संस्कार से उत्पन्न) स्वेन (अपने) कर्मणा (वीरतादि कर्मों द्वारा) निबद्ध (बंधे हुये) अवशः (अवश होकर) तत् अपि (उसको भी) करिष्यसि (करोगे)॥ 60॥

टीका—उक्तमेवार्थं निवृणोति 'स्वभावः' क्षत्रियत्वे हेतुः, पूर्वसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वीयेन कर्मणा शौ

भावानुवाद – क्षत्रिय स्वभाव के कारण पूर्व संस्कार से उत्पन्न स्वकीय कर्म शूरतादि के वशीभूत हुए तुम यन्त्रवत् युद्ध करोगे॥ 60॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ 61॥

मर्मानुवाद – सब प्राणियों के हृदय में परमात्मा रूप से मैं ही विराजित हूँ । परमात्मा ही सब जीवों का नियन्ता एवं ईश्वर है । जीव जो-जो कर्म करता है, उसके अनुरूप ही ईश्वर फल प्रदान करते हैं। यन्त्र पर आरूढ़ वस्तु जिस प्रकार घूमती है, उसी प्रकार सभी जीव भी ईश्वर के द्वारा भ्रमित होते हैं। पूर्व कर्मों के अनुसार तुम्हारी प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरणा द्वारा सहजता पूर्वक ही कार्य करेगी॥ 61॥

अन्वय – अर्जुन! (हे अर्जुन) ईश्वरः (अन्तर्यामी) सर्वभूतानि (प्राणियों को) यन्त्रारूढानि (यन्त्र पर आरूढ़ पुतलियों की तरह) मायया (माया शक्ति के द्वारा) भ्रामयन् (घुमाते हुये) सर्वभूतानाम् (सब प्राणियों के) हृद्देशे (हृदय में) तिष्ठति (अधिष्ठान कर रहे हैं)॥ 61॥

टीका—श्लोकद्वयेन स्वभाववादिनां मतमुक्त्वा स्वमतमाह—ईश्वरो नारायणः सर्वान्तर्यामी "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयतीति।" "यच्च किञ्चित् जगत्

सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।''
इत्यादि- श्रुतिप्रतिपादित ईश्वरोऽन्तर्यामी हृदि तिष्ठति, किं कुर्वन्? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तत्तत् कर्माणि प्रवर्त्तयन्, यथा सूत्रसञ्चारादियन्त्रमारूढ़ानि कृत्रिमाणि पाञ्चालिकारूपाणि सर्वभूतानि माया विभ्रमयति, तद्वदित्यर्थः, यद्वा, यन्त्रारूढानि शरीरारूढान् सर्वजीवानित्यर्थः।।61।।

भावानुवाद – भगवान् दो श्लोकोंमें स्वभाववादियों का मत बताने के पश्चात् अब अपना मत बता रहे हैं – श्रीनारायण सभी जीवों के अन्तर्यामी हैं – श्रुति में कहा गया है कि वह पृथ्वी के अन्दर रहते हुए भी पृथ्वी से अलग हैं, पृथ्वी उन्हें नहीं जानती है। पृथ्वी उनका शरीर है और वे पृथ्वी के अन्दर रहकर परिचालना करते हैं (बृहदारण्यक 3/6/3)। श्रुति में और भी कहा गया हैं – ''जो कुछ भी संसार में देखा या सुना जाता है, जो कुछ अन्दर या बाहर है, श्रीनारायण उन सब में व्याप्त होकर अवस्थित हैं।'' इन श्रुतिवाक्यों से यह प्रतिपादित होता है कि ईश्वर अन्तर्यामी रूप से हृदय में अवस्थित हैं। वे अवस्थित रहकर क्या कर रहे हैं? इसके उत्तर में कहते हैँ – सभी जीवों को अपनी माया-शक्ति द्वारा घुमाते हुए उन उनके कर्मों में प्रवर्तित कर रहे हैं। जैसे सूत्रसंचार आदि द्वारा यन्त्र पर आरूढ़ कठ-पुतली को सूत्रधार नचाता है, उसी प्रकार माया भी सभी जीवों को विशेष भावसे भ्रमण कराती है अथवा, 'यन्त्रारुढानि' का दूसरा तात्पर्य है – शरीर पर आरूढ़ सभी जीवों को उन-उन के स्वभावानुसार नचाते हैं॥ 61॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ 62॥

मर्मानुवाद - हे भारत ! तुम सर्वतोभाव से अर्थात् काय, मन और वाणी से उस ईश्वर के शरणागत हो जाओ उनकी कृपा से परम शान्ति एवं नित्यधाम को प्राप्त करोगे॥ 62॥

अन्वय - भारत (हे भारत) सर्वभावेन (काय, मन और वाक्य से) तम् एव (उसी के ही) शरणं गच्छ (शरणागत हो जाओ) तत्प्रसादात् (उनकी कृपा से) पराम् (परम) शान्तिम् (निवृत्ति) शाश्वतम् (और नित्य) स्थानम् (धाम को) प्राप्स्यसि (प्राप्त करोगे) ॥62॥

टीका—एतज्ज्ञापनप्रयोजनमाह—तमेवेति। परामविद्याविद्ययोर्निवृत्तिम्, ततश्च शाश्वतं स्थानं वै
भगवदुपासकानान्तु भगवच्छरणापत्तिरग्रे वक्ष्यते एवेति केचिदाहुः। अन्यस्तु यो मदिष्टदेवः श्रीकृष्णः स एव मद्गुरुर्मां भक्तियोगं तदनुकूलं हितञ्चोपदेशमुपदिशति च तमहं शरणं प्रपद्ये। तथा कृष्ण एव मदन्तर्यामी, सोऽपि मां तत्र तत्र प्रवर्त्तयतु, तञ्चाहं शरणं प्रपद्ये इत्यनिशं भावयति। यदुक्तमुद्धवेन—"नै
स्मरन्तः। योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचै
इति।। 62।।

भावानुवाद – इस विषय को जानने का प्रयोजन कहते हैं–'पराम्' अर्थात् अविद्या और विद्या की निवृत्ति होने के पश्चात् तुम शाश्वत स्थान वैकुण्ठ प्राप्त करोगे। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो अन्तर्यामी के उपासक हैं, उन्हें अन्तर्यामी की ही शरणागति प्राप्त होती है और जो भगवान् के उपासक है उनकी शरणागति की बात आगे कही जायेगी। दूसरे ऐसा कहते व मानते हैं – मेरे इष्टदेव श्रीकृष्ण हैं, वही मेरे गुरु हैं, वही मुझे भक्तियोग तथा उसके अनुकूल हितकर उपदेश प्रदान करते हैं, मैं उनके ही शरणागत हूँ, श्रीकृष्ण ही मेरे अन्तर्यामी हैं, वही मुझे उन-उन विषयों में लगाये। मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ। जैसा कि उद्धव भी कहते हैं – "हे ईश! कवि लोग ब्रह्माजी के समान लंबी आयु पाकर भी आपके द्वारा किये गये उपकारों को स्मरण करके शेष नहीं कर सकते, क्योंकि आप प्राणियों के अन्दर और बाहर आचार्य गुरु और चैत्य गुरु के रूप से अपनी प्राप्ति का उपाय प्रकाशित कर देते हैं।"॥ 62॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 63॥

मर्मानुवाद – इससे पहले तुम्हें जो ब्रह्मज्ञान के विषय में कहा वह गुह्य था। अब जिस परमात्मज्ञान को तुम से कहा यह गुह्यतर है। अच्छी प्रकार विचार कर तुम्हारी जो इच्छा है वही करो। तात्पर्य यही है कि यदि निष्काम कर्मयोग द्वारा ज्ञान के आश्रय में ब्रह्म एवं क्रमशः मेरी निर्गुणा भक्ति पाने की इच्छा करते हो तब निष्काम कर्मरूपी युद्ध करो और यदि परमात्मा के

शरणागत होना चाहो तो ईश्वर के द्वारा प्रेरित अपने क्षत्रिय स्वभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति के साथ ईश्वर को कर्म अर्पण करते हुए युद्ध करो, तभी मेरा ही अवतार रूप ईश्वर क्रमशः तुम्हें मेरी निर्गुणा भक्ति प्रदान करेगा। जैसे भी करो तुम्हारे लिए युद्ध ही मंगलकर है ॥ 63 ॥

अन्वय - इति (यह) गुह्यात् (गोपनीयों में) गुह्यतरम् (परम गोपनीय) ज्ञानम् (ज्ञानशास्त्र) मया (मेरे द्वारा) ते (तुम्हें) आख्यातम् (कहा गया है) अशेषेण (सम्पूर्ण रूप से) विमृश्य (अच्छी प्रकार से विचार करके) यथा (जैसी तुम्हारी) इच्छसि (इच्छा है) तथा (वैसा ही) कुरु (करो) ॥ 63 ॥

टीका—सर्वगीतार्थमुपसंहरति—इतीति। कर्मयोगस्याष्टाङ्गयोगस्य ज्ञानयोगस्य च 'ज्ञानं' ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञानशास्त्रं गुह्याद्गुह्यतरमित्यतिरहस्यत्वात् कै
तेषां सार्वज्ञ्यमापेक्षिकं ममत्वात्यन्तिकमित्यतस्ते तु एतदतिगुह्यत्वान्न जानन्ति, मयाप्यतिगुह्यत्वादेव ते सर्वथै
एव विमृश्य यथा येन प्रकारेण स्वाभिरुचितं तत् कर्त्तुमिच्छसि, तथा तत् कुर्वित्यन्त्यं ज्ञानषट्कं सम्पूर्णम्। षट्कत्रिकमिदं सर्वविद्याशिरोरत्नं श्रीगीताशास्त्रं महानर्घरहस्यतम-भक्तिसम्पुटं भवति—प्रथमं 'कर्म'-षट्कं यस्याधारपिधानं कानकं भवति, अन्त्यं 'ज्ञान'-षट्कं यस्योत्तरपिधानं मणिजटितं कानकं भवति, तयोर्मध्यवर्तिषट्कगता भक्तिस्त्रिजगदनर्घ्या श्रीकृष्णवशीकारिणी महामणिमतल्लिका विराजते, यस्याः परिचारिका तदुत्तरपिधानार्द्धगता 'मन्मना भव' इत्यादि पद्यद्वयी चतुःषष्ट्यक्षरा शुद्धा भवतीति बुध्यते।।63।।

भावानुवाद - परमब्रह्म श्रीकृष्ण समग्र गीता का उपसंहार कर रहे हैं। कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग एवं ज्ञानयोग का ज्ञान गुह्य से गुह्यतर है। अतिगोपनीय होने के कारण वशिष्ठ, वेदव्यास, नारद आदि किसीने स्वरचित शास्त्र में इसे प्रकाशित नहीं किया है या यूं कहें कि उनकी सर्वज्ञता आपेक्षिक है, किन्तु मेरी सर्वज्ञता की कोई सीमा नहीं है। अतिगुह्य होनेके कारण वे इस तत्त्व को अच्छी तरह नहीं जानते और अतिगुह्य होने के कारण ही मैंने भी उन्हें इस तत्त्व का उपदेश नहीं दिया। इस ज्ञान के उपदेश का पूरी तरह से विचार कर अपनी अभिरुचि के अनुसार जिस प्रकार भी उसे करने की इच्छा हो, वैसे ही करो। इस प्रकार ज्ञान सम्बन्धी अन्तिम छः अध्याय पूर्ण हुए। सभी

विद्याओं के शिरोमणिस्वरूप तीन षट्कों या अट्ठारह अध्यायों वाला यह गीताशास्त्र महामूल्य रत्नश्रेष्ठ रहस्यतम भक्ति की पेटिका है। कर्मयोग के प्रथम छः अध्याय इस पेटिका के स्वर्णमय तले के समान हैं। ज्ञानयोग के अन्तिम छः अध्याय इस तिज़ोरी के मणिजड़ित ढक्कन के समान हैं एवं मध्य में वर्णित भक्तियोग के छः अध्याय त्रिलोक की अनमोल सम्पत्ति है। श्रीकृष्ण को वशीभूत करने में समर्थ यह भक्तिपेटिका के बीच में प्रशस्त महामणि के समान विराजमान है। चौसठ अक्षरों वाले अगले 'मन्मना भव' इत्यादि दो श्लोकों को पेटिका के ढक्कन के आधे भाग में प्राप्त शुद्धा परिचारिका के रूप में समझना चाहिये। ॥ 63 ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ 64 ॥

मर्मानुवाद - तुम्हें गुह्य ब्रह्मज्ञान एवं गुह्यतर ईश्वरज्ञान के विषय में कहा; अब गुह्यतम भगवद् ज्ञान का उपदेश कर रहा हूँ, श्रवण करो। मैंने अब तक इस गीताशास्त्र में जितने उपदेश दिये हैं उन सबमें यही श्रेष्ठ है। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए तुम्हारे हित के लिए कह रहा हूँ॥ 64 ॥

अन्वय - सर्वगुह्यतमम् (अत्यन्त गोपनीय से अतिशय गोपनीय) मे (मेरे) परमम् (श्रेष्ठ) वचः (वाक्य) भूयः (दुबारा) शृणु (श्रवण करो) [तुम] मे (मेरे) दृढम् (अतिशय) इष्ट (प्रिय) असि (हो) इति ततः (इसलिए) ते (तुम्हारे) हितम् (हित की बात) वक्ष्यामि (कहता हूँ) ।।64 ॥

टीका—ततश्चातिगम्भीरार्थं गीताशास्त्रं पर्यालोचयितुं प्रवर्त्तमानं तूष्णीम्भूयै स्थितं स्व-प्रियसखमर्जुनमालक्ष्य कृपाद्रवच्चित्त-नवनीतो भगवान् 'भोः प्रियवयस्य अर्जुन! सर्वशास्त्रसारमहमेव श्लोकाष्टकेन ब्रवीमि, अलं ते तत्तत्-पर्यालोचनक्लेशेनेत्याह—सर्वेति। भूय इति राजविद्या राजगुह्याध्यायान्ते पूर्वमुक्तम्। ''मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवै युक्त्वै
गीतशास्त्रस्यापि सारं गुह्यतममिति—नातः परं किञ्चन गुह्यमस्ति क्वचित् कुतश्चित् कथमप्यखण्डमिति भावः। पुनःकथने हेतुमाह—इष्टोऽसि दृढ़मतिशयेन एव प्रियो मे सखा भवसीति। तत एव हेतोर्हितं ते इति सखायं विनातिरहस्यं न कमपि कश्चिदपि ब्रूते इति भावः। 'दृढमतिः' इति च पाठः।।64।।

भावानुवाद – उसके बाद अतिगम्भीर अर्थ से परिपूर्ण गीताशास्त्र पर गहन चिन्तन करने में प्रवृत्त अपने प्रिय सखा अर्जुन को जड़वत् खड़ा देखकर नवनीत के समान चित्तवाले श्रीकृष्ण का चित्त द्रवीभूत हो गया और वह कहने लगे – ''हे प्रिय मित्र अर्जुन! अब मैं तुम्हें आठ श्लोकों में सभी शास्त्रों का सार कहता हूँ। गुह्य और गुह्यतर उपदेश पहले दे आया हूँ, अब गुह्यतम सर्वशास्त्र सारपूर्ण वचन कहने जा रहा हूँ जिनसे परे और कुछ सार हो ही नहीं सकता। वह भी इसलिए क्योंकि तुम मेरे सखा हो, और अपने प्रिय सखा के प्रति हितवचन कहना सखा का कर्त्तव्य बन जाता है एवं दूसरी बात यह है कि अतिगोपनीय बात अपने प्रिय सखा के अतिरिक्त अन्य किसी से की भी नहीं जाती।'' ॥ 64 ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥65॥

मर्मानुवाद – मेरे भक्त बन कर अपना चित्त मुझे अर्पण करो, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और ध्यानयोगी जिस प्रकार चिन्तन करते हैं वैसा नहीं करना समस्त कर्मों से ही मेरे भगवत्स्वरूप की पूजा करना। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि ऐसा करने पर तुम्हें मेरे इस सच्चिदानन्दस्वरूप की नित्यसेवा प्राप्त होगी, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिए तुम्हें निर्गुण भक्ति का उपदेश कर रहा हूँ ॥65 ॥

अन्वय – मन्मना (मेरे में मन वाले) [होओ] मद्भक्तः (मेरी श्रवण कीर्तन आदि भक्ति का सहारा लो और)मद्याजी(मेरे पूजक) भव (बनो) माम् (मुझे) नमस्कुरु (नमस्कार करो) माम् एव (मुझे ही) एष्यसि (प्राप्त करोगे) ते (तुम्हारे सामने) सत्यम् (सत्य) प्रतिजाने (प्रतिज्ञा करता हूँ क्यों कि तुम) मे (मेरे) प्रियः असि (प्रिय हो) ॥ 65 ॥

टीका—''मन्मना भव'' इति मद्भक्तः सन्नेव मां चिन्तय, न तु ज्ञानी योगी वा भूत्वा मद्ध्यानं कुर्वित्यर्थः; यद्वा मन्मना मह्यं श्यामसुन्दराय सुस्निग्धाकुञ्चितकुन्तलकाय सुन्दरभ्रूवल्लि-मधुरकृपाकटाक्षामृत-वर्षिवदनचन्द्राय स्वीयं देयत्वेन मनो यस्य तथाभूतो भव अथवाश्रोत्रादीन्द्रियाणि देहीत्याह—मद्भक्तो भव, श्रवणकीर्त्तन-मन्मूर्त्तिदर्शन-मन्मन्दिरमार्जन-लेपन-पुष्पाहरण- मन्मालालङ्कारच्छत्रचामरादिभिः सर्वेन्द्रियकरणकं मद्भजनं कुरु,

अथवा मह्यं गन्धपुष्पधूपदीपनै
कुरु, अथवा मह्यं नमस्कारमात्रं देहीत्याह—'मां नमस्कुरु' भूमौ पञ्चाङ्गं वा प्रणामं कुरु। एषां चतुर्णां मच्चिन्तनसेवनपूजनप्रणामानां समुच्चयमेकतरं वा त्वं कुरु। मामेवै
गन्धपुष्पादिप्रदानं वा त्वं कुरु। तुभ्यमहमात्मानमेव दास्यामीति सत्यं, ते तवै नात्र संशयिष्ठा इति भावः,–"सत्यं शपथतथ्ययोः"इत्यमरः। ननु माथुरदेशोद्भूता लोकाः प्रतिवाक्यमेव शपथं कुर्वन्ति, सत्यम्, तर्हि प्रतिजाने प्रतिज्ञां कृत्वा ब्रवीमि—त्वं मे प्रियोऽसि, न हि प्रियं कोऽपि वञ्चयतीति भावः।। 65।।

भावानुवाद – 'मन्मना भव' अर्थात् तुम मेरे भक्त बनकर मेरा चिन्तन करो, किन्तु ज्ञानी या योगी की तरह मेरा चिन्तन मत करना बल्कि श्यामसुन्दर, सुस्निग्ध घुंघराली लटें, सुन्दर भ्रूलता, मधुर कृपाकटाक्ष वर्षणकारी मुखचन्द्र वाले मुझ को अपना मन समर्पण कर दो अथवा कर्ण, नेत्र आदि इन्द्रियों को मुझे अर्पण करो। मेरी कथा श्रवण और कीर्त्तन करो, मेरी श्रीमूर्ति के दर्शन, मेरे मन्दिर में मार्जन-लेपन, पुष्प चयन, माला, अलङ्कार, छत्र, चामर आदि द्वारा सभी इन्द्रियों से मेरा भजन करो। मुझे गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि अर्पित करो। 'मद्याजीभव' अर्थात् मेरी पूजा करो। 'मां नमस्कुरु' अर्थात् भूमि पर लेट कर अष्टाङ्ग या पंचांग प्रणाम करो। मेरे चिन्तन, सेवा, पूजा और प्रणाम – इन चारों को एकसाथ या इनमें से किसी एक को करो। 'मामेवैष्यसि' अर्थात् इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। तुम अपने मन को मुझे प्रदान करो, इसके बदले मैं स्वयं को तुम्हें प्रदान कर दूँगा । यही सत्य है। तुम इस विषय में संशय मत करो। अमरकोष के अनुसार सत्य, शपथ और तथ्य – इन तीनों का एक ही तात्पर्य है। यदि कहो कि मथुरावासी तो बात-बात पर शपथ खाते हैं, उनका क्या भरोसा? उत्तर में कहते हैं – यह बात तो ठीक है कि मथुरावासी बात-बात पर शपथ खाते हैं, किन्तु मैं प्रतिज्ञा कर यह कह रहा हूँ, कि तुम मेरे प्रिय हो, और कोई प्रिय व्यक्ति से छल नहीं करता हैं॥ 65॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ 66॥

मर्मानुवाद – ब्रह्म-ज्ञान और ईश्वर-ज्ञान प्राप्ति का उपदेश देते समय

वर्ण एवं आश्रम धर्म, संन्यास धर्म, वैराग्य, शम दम आदि धर्म, ध्यान योग, ईश्वर की ईशिता के वशीभूत होने इत्यादि जितने प्रकार के धर्मों का उपदेश दिया है उन सब को पूरी तरह त्याग कर भगवत्-स्वरूप एक मात्र मेरी शरण स्वीकार करो। मैं तुम्हें सारे पाप अर्थात् पहले कहे गये धर्मों के परित्याग से जो पाप होंगे, उन सब से मुक्त कर दूँगा। तुम अपने आप को अकृतकर्मा समझ कर शोक मत करना मेरी निर्गुणा भक्ति करने से जीव का सत् स्वभाव सहज ही स्वास्थ्य लाभ करता है। धर्माचरण, कर्तव्य आचरण और प्रायश्चितादि तथा ज्ञान, योग और ध्यान का अभ्यास कुछ भी आवश्यक नहीं होता। बद्ध अवस्था में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सारे कर्म करो किन्तु उन-उन कर्मों में ब्रह्म के प्रति निष्ठा को छोड़ कर मेरे सौन्दर्य और माधुर्य से आकर्षित होकर एक मात्र मेरी ही शरण लो। तात्पर्य यही कि जीव अपने निर्वाह के लिए जितने प्रकार के कर्म करता है, वे सब ऊपर कही गई तीन प्रकार की उच्च निष्ठा से करता है, या फिर इन्द्रियसुख - निष्ठारूप अधमनिष्ठा से करता है। अधम निष्ठा से अकर्म और विकर्मादि होते हैं, जो कि अनर्थ देने वाले हैं। उत्तम निष्ठा तीन प्रकार की है ब्रह्म के प्रति निष्ठा, ईश्वर के प्रति निष्ठा, और भगवान् के प्रति निष्ठा। वर्णाश्रम और वैराग्य इत्यादि सभी कर्म एक-एक प्रकार की निष्ठा को अवलम्बन कर एक-एक प्रकार के भाव को प्राप्त होते हैं। जब ये कर्म निष्ठा के अधीन होकर किये जाते हैं तब कर्म और ज्ञानभाव का प्रकाश होता है। जब ईश्वरनिष्ठा के अधीन होकर किये जाते है तब ईश्वर अर्पित कर्म और ध्यानयोग आदि का भाव मन में उदित होता है और जब भगवान् में निष्ठा रखकर किये जाते हैं तब वे शुद्ध एवं केवला भक्ति में परिणत हो जाते हैं। इसलिए भक्ति का यह गुह्यतम तत्त्व एवं प्रेम ही जीवों का चरम प्रयोजन है। यही इस गीताशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है। कर्मी, ज्ञानी, योगी और भक्त इनका जीवन एक प्रकार का होने पर भी निष्ठा में भेद होने से ये बिल्कुल अलग-अलग हैं॥ 66॥

अन्वय - सर्वधर्मान् (वर्ण और आश्रम के लिए विहित समस्त धर्मों को) परित्यज्य (परित्याग कर) एकम् (एकमात्र) माम् (मेरा) शरणं व्रज (सहारा ले) अहम् (मैं) त्वाम् (तुझे) सर्वपापेभ्यः (सब पापों से) मोक्षयिष्यामि (मुक्त कर दूंगा) मा शुचः (शोक मत करो)॥ 66॥

टीका—ननु त्वद्ध्यानादिकं यत् करोमि तत् किं स्वाश्रम-धर्मानुष्ठान-पूर्वकं वा केवलं, वा ? तत्राह—'सर्वधर्मान्' वर्णाश्रमधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य एकं मामेव शरणं व्रज, परित्यज्य संन्यस्येति न व्याख्येयमर्जुनस्य क्षत्रियत्वेन संन्यासानधिकारान्न चार्जुनं लक्ष्यीकृत्यान्य-जनसमुदायमेवोपदिदेश भगवानिति वाच्यम्। लक्ष्यभूतमर्जुनं प्रत्युपदेशं योजयितुमौ सत्येवान्यस्याप्युपदेष्टव्यत्वं सम्भवेन्न त्वन्यथा, न च परित्यज्येत्यस्य फलत्याग एव तात्पर्यमिति व्याख्येयमस्य वाक्यस्य "देवर्षिभूताप्तनॄणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्।।" "मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे। तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै
कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ
आज्ञायै
भजेत् स च सत्तमः।।"इत्यादिभिर्भगवद्वाक्यै
अत्र च परि-शब्द-प्रयोगाच्च। अत एकं मां शरणं व्रज न तु धर्मज्ञानयोग-देवतान्तरादिकमित्यर्थः। पूर्वं हि मदनन्यभक्तौ
नास्तीत्यतस्त्वं 'यत् करोषि यदश्नासि' इत्यादि ब्रुवाणेन मया कर्ममिश्रायां भक्तौ तवाधिकार उक्तः। सम्प्रति त्वतिकृपया तुभ्यमनन्य-भक्तावेवाधिकार; तस्याः अनन्यभक्तेः यादृच्छिकमदै
स्वकृतमपि भीष्मयुद्धे स्वप्रतिज्ञामिवापनीयं इति भावः। न च मदाज्ञया नित्यनै
नित्यकर्मानुष्ठानमादिष्टमधुना तु स्वरूपेणै
ते नित्यकर्माकरणे पापानि सम्भवन्तु? प्रत्युतातःपरं नित्यकर्मणि कृते एव पापानि भविष्यन्ति साक्षान्मदाज्ञा-लङ्घनादित्यवधेयम्। ननु यो हि यच्छरणो भवति, स हि मूल्यक्रीतः पशुरिव तदधीनः, स तं यत् कारयति, तदेव करोति, यत्र स्थापयति, तत्रै
धर्मस्य तत्त्वम्, यदुक्तं वायुपुराणे-"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पं प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्त्तृत्वे ("गोप्तृत्वे" इति पाठो वा) वरणं तथा। निःक्षेपणमकार्पण्यं षडविधा शरणागतिः।।" इति। भक्तिशास्त्रविहिता स्वाभीष्टदेवाय रोचमाना प्रवृत्तिरानुकूल्यं, तद्विपरीतं प्रातिकूल्यम्, 'भर्त्तृत्वे' (गोप्तृत्वे) इति—स एव मम रक्षको, नान्य इति यः 'रक्षिष्यतीति'

स्वरक्षणप्रातिकूल्यवस्तुषूपस्थितेष्वपि स मां रक्षिष्यत्येवेति
द्रौ
एव स्वस्य श्रीकृष्णार्थ एव विनियोगः, 'अकार्पण्यं' नान्यत्र क्वापि
स्वदै
तदद्यारभ्य यद्यहं त्वां शरणं गत एव वर्त्ते, तर्हि त्वदुक्तं भद्रमभद्रं वा यद्भवेत्तदेव मम कर्त्तव्यम्। तत्र यदि त्वं मां धर्ममेव कारयसि, तदा न काचिच्चिन्ता। यदि त्वीश्वरत्वात् स्वै
गतिस्तत्राह—अहमिति। प्राचीनार्वाचीनानि यावन्ति वर्त्तन्ते, यावन्ति वाहं कारयिष्यामि, तेभ्यः सर्वेभ्य एव पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि—नाहमन्यः शरण्य इव तत्रासमर्थ इति भावः। त्वामालम्ब्यै
मा शुचः—स्वार्थं परार्थं वा शोकं माकार्षीः—युष्मदादिकः सर्व एव लोकः स्वपरधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य मच्चिन्तनादिपरो मां शरणमापद्य सुखेनै वर्त्ततां, तस्य पापमोचनभारः संसारमोचनभारो मत्प्रापणभारः, मया प्रतिज्ञायै
यदुक्तम्—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।" इति। हन्त! एतावान् भारो मया स्व-प्रभौ
इत्यपि शोकं माकार्षीर्भक्तवत्सलस्य सत्यसङ्कल्पस्य मम न तत्रायासलेशोऽपीति नातः परमधिकमुपदेष्टव्यमस्तीति शास्त्रं समाप्तीकृतम्।।66।।

भावानुवाद – अर्जुन के मन में यदि प्रश्न हो कि आपके ध्यानादि जिन कर्मों को करूँ, उन्हें अपने आश्रम-धर्म का पालन करते हुए करूँ या किसी भी धर्म का भरोसा न कर केवल आप का ही ध्यान आदि करूँ? तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं – 'सर्वधर्मान्' अर्थात् सभी प्रकार के वर्णाश्रम धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करो। 'परित्यज्य' शब्द की व्याख्या 'संन्यास करना' उचित नहीं है। क्योंकि अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिए उसका संन्यास में अधिकार नहीं हैं तथा यह कहना भी उचित नहीं होगा कि अर्जुन को लक्ष्यकर भगवान् अन्य सभी लोगों को ऐसा उपदेश दे रहे हैं। लक्ष्यभूत अर्जुन के प्रति उपदेश का औचित्य होने से ही दूसरों के प्रति भी वह उपदेश वाक्य आरोपित हो सकता है अन्यथा सम्भव नहीं है। 'परित्यज्य' शब्द का अर्थ 'फलत्याग करना' भी उचित नहीं हैं। इस वाक्य के अर्थ का (भा 11/5/47, 11/29/34, 11/20/9, 11/11/32 में)

स्पष्टीकरण दिया गया है। जैसे ''जो सर्वात्मभाव से, कर्त्तापन का अभिमान त्याग कर शरणीय मुकुन्द की शरण ग्रहण करते हैं, वे देवता, ऋषि, भूत (जीव) आत्मीय जनों तथा पितरों के ऋण से मुक्त होते हैं''। ''मनुष्य जब समस्त कर्मों का परित्याग कर मुझे आत्मसमर्पण करते हैं, तब वे मेरी इच्छा से अमृतत्व को प्राप्त करके मेरे साथ समान ऐश्वर्य प्राप्ति के पात्र बन जाते हैं''। ''जब तक विषय से वैराग्य न हो और मेरी कथा में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो, तब तक नित्य-नैमित्तिक कर्मों का आचरण अवश्य करते रहना चाहिए''। ''वेदशास्त्र में मेरे द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मानुष्ठानों के गुणों एवं दोषों को समझते हुये उन समस्त धर्मों का परित्याग कर जो मेरी सेवा करते हैं, वे ही उत्तम साधु हैं।'' भगवान् के इन समस्त वाक्यों के साथ सामञ्जस्य रखकर ही इस श्लोक की व्याख्या करना आवश्यक है । यहाँ जो 'परि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे भी एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो, तद्भिन्न धर्म-ज्ञान-योग एवं अन्य देवताओं की शरण ग्रहण मत करो - ऐसा अर्थ लगता है। पहले कह आया हूँ कि सर्वश्रेष्ठ मेरी भक्ति में तेरा अधिकार नहीं है, तभी तो '*यत्करोषि यदश्नासि*' (गीता 9/26) इत्यादि वाक्यों के द्वारा मैंने तुम्हें कर्ममिश्रा भक्ति का अधिकारी बताया है। किन्तु अब अत्यन्त कृपापूर्वक तुम्हें अनन्य भक्ति का अधिकार दे रहा हूँ। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि अनन्या भक्ति सौभाग्यवश एकमात्र मेरे ऐकान्तिक भक्त की कृपा द्वारा ही प्राप्त होती है, उसका उल्लंघन करते हुए तुम्हें इस अनन्या भक्ति का अधिकार दे रहा हूँ। जैसा कि भीष्म के लिए भी मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। मेरी आज्ञा के अनुसार नित्य-नैमित्तिक-कर्मत्याग करने से तुम्हें प्रत्यवाय दोष नहीं लगेगा। मैंने ही वेद के रूप में नित्य कर्मानुष्ठान का आदेश दिया है और अब मैं स्वयं ही उसे त्यागने का आदेश दे रहा हूँ, इसलिए नित्य कर्मके त्याग से भी तुम्हें पाप होने की आशंका क्यों? बल्कि मेरे आदेश के बाद भी नित्य कर्म का अनुष्ठान करने से साक्षात् मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण तुम्हें पाप का भागी होना पड़ेगा। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसी के शरणागत होता है, तो मूल्य द्वारा बिके हुए पशु की भाँति उसी के अधीन रहता है। वे प्रभु उनसे जो करवाते हैं, वह वही करता है। जहाँ जिस स्थान में रखते है, वह उसी स्थान में रहता है, जो कुछ खाने को देते हैं, वह वही भोजन करता है - यही शरणागत का धर्म है। वायु पुराण में कहा गया है कि अनुकूल भाव का

सङ्कल्प, प्रतिकूल भाव का वर्जन, भगवान् मेरी रक्षा करेंगे – ऐसा दृढ़ विश्वास, पालक के रूप में उनका वरण आत्मनिवेदन और अकार्पण्य – ये छः प्रकार की शरणागति है। भक्तिशास्त्र में प्रतिपादित अपने अभीष्ट देवता के प्रति रोचमाना प्रवृत्ति ही 'आनुकूल्य' है, इसके विपरीत 'प्रातिकूल्य' है, वे ही मेरे रक्षक हैं, उनके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई रक्षक नहीं है – इसी रूप में उन्हें वरण करना होता है। रक्षा के प्रतिकूल अवस्था के उपस्थित होने पर वे ही मेरी रक्षा करेंगे – गजेन्द्र, द्रौपदी आदि के समान ऐसा विश्वास होना ही 'रक्षिष्यति' का तात्पर्य है। अपने स्थूल और सूक्ष्म देहके साथ स्वयं को श्रीकृष्ण के अर्पण करना ही 'निक्षेपण' है। अन्य किसी के सामने भी अपना दैन्यज्ञापन नहीं करना ही 'अकार्पण्य' है। यही शरणागति है। ''अतएव आज से ही आरम्भ कर यदि मैं आपके ही शरणागत होऊँ, तो फिर मेरा मङ्गल हो अथवा अमङ्गल, जो भी हो, शरणागति ही मेरा कर्त्तव्य है। इसमें यदि आप केवल धर्म ही करावें, तब तो चिन्ता का कोई कारण नहीं है, किन्तु यदि निरंकुश ईश्वर होने के कारण आप मुझे अधर्म में प्रवृत्त करें, तो मेरी क्या गति होगी?'' अर्जुन के इस संशय के उत्तर में भगवान् कहते हैं – ''तुम्हारे प्राचीन एवं नवीन जितने भी पाप मैं तुम से कराऊँगा, उन समस्त पापों से मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। अन्य शरण देने वालों की तरह मैं पाप से मुक्त कराने में असमर्थ नहीं हूँ। तुम्हें केन्द्रित कर मैं लोकमात्र को यह शास्त्रोपदेश प्रदान कर रहा हूँ। 'मा शुचः'– तुम अपने लिए अथवा दूसरे के लिए शोक मत करो। तुम्हारे जैसा जो कोई भी व्यक्ति मेरे चिन्तापरायण होकर अपने तथा पराये सभी धर्मों का परित्याग कर मेरे शरणागत होकर सुखपूर्वक रह सकता है, उसके पापमोचन का भार, संसारमोचन का भार एवं मुझे प्राप्त करने के उपाय का भार अङ्गीकार करने के लिए मैं प्रतिज्ञाबद्ध हूँ। और अधिक क्या कहूँ,शरणागत की देह–रक्षा का भार भी मैं अपने ऊपर लेता हूँ, क्योंकि मैंने पहले ही कहा है – '*अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्*' अर्थात् 'अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करते हुये जो जन मेरी उपासना करते हैं उनका समस्त योग–क्षेम मैं वहन करता हूँ यानि जो उनके पास नहीं है वह देता हूँ और जो है उसकी रक्षा करता हूँ (गीता 9/22)।' ओह! मैंने इतना भारी बोझ अपने प्रभु के ऊपर डाल दिया '' – ऐसा सोचकर शोक मत करो। क्योंकि इसमें भक्तवत्सल और सत्यकङ्कल्प मेरा जरा भी परिश्रम नहीं है।

अब और उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है, अतएव इस शास्त्र को यहीं समाप्त करता हूँ ॥ 66 ॥

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ 67 ॥

मर्मानुवाद- संयम हीन, अभक्त, परिचर्या विहीन और मुझ सच्चिदानन्द भगवान् की मूर्ति की निन्दा करने वाले व्यक्तियों को गीताशास्त्र का उपदेश मत देना, इस के द्वारा गीता श्रवण करने के अधिकारी का निर्णय किया गया है ॥ 67 ॥

अन्वय - इदम् (इस शास्त्र को) ते (तुम) अतपस्काय (असंयत इन्द्रिय) अभक्ताय (अभक्त) अशुश्रूषवे (परिचर्या विहीन) यः च (और जो) माम् [नित्य गुण विग्रह वाले] माम् (मुझ को) अभ्यसूयति (माया के गुण और माया के शरीर वाला कहते हैं उन्हें) न वाच्यम् (कहना उचित नहीं हैं) ॥ 67 ॥

टीका—एवं गीताशास्त्रमुपदिश्य सम्प्रदायप्रवर्त्तने नियममाह—इदमिति। अतपस्कायासंयतेन्द्रियाय—''मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः'' इति स्मृतेः। संयतेन्द्रियत्वे सत्यप्यभक्ताय न वाच्यम्, संयतेन्द्रियत्वेऽपि भक्तत्वेऽपि च सति अशुश्रूषवे न वाच्यम्, संयतेन्द्रियत्वादिधर्मत्रयवत्त्वेऽपि यो मामभ्यसूयति मयि निरुपाधिपूर्णब्रह्मणि माया-सावर्ण्यदोषमारोपयति, तस्मै

भावानुवाद - गीताशास्त्र का उपदेश प्रदान कर सम्प्रदाय - प्रवर्त्तन का नियम बतलाते हुए कहते हैं-'अतपस्काय' अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ असंयमित हैं ऐसे व्यक्ति को यह उपदेश मत सुनाना।

यदि कोई व्यक्ति जितेन्द्रिय हो किन्तु भक्त न हो, तो उसे भी यह उपदेश मत सुनाना। जितेन्द्रिय और भक्त होने पर भी यदि 'अशुश्रूषु' अर्थात् श्रवण करने में आग्रहशून्य हो, तो उसे भी इसका उपदेश नहीं देना। जितेन्द्रिय, भक्त एवं शुश्रूषु इन तीनों गुणों से युक्त होकर भी यदि 'यो मामभ्यसूयति' - मेरे निरुपाधिक पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दवपु में माया-मिश्रण का दोषारोप करता है, उसे तो कभी मत सुनाना ॥ 67 ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ 68 ॥

मर्मानुवाद – जो मेरे भक्तों की इस परम गुह्य गीता का उपदेश करेगा वह मेरी निर्गुण भक्ति प्राप्त कर मुझे ही प्राप्त करेगा ॥68॥

अन्वय – यः (जो) इमम् (इस) परमम् (अति) गुह्यम् (गोपनीय संवाद को) मद्भक्तेषु (मेरे भक्तों के सामने) अभिधास्यति (बोलता है) मयि (मेरी) पराम् (परा) भक्तिम् (भक्ति) कृत्वा (करता हुआ) माम् एव (मुझे ही) एष्यति (प्राप्त करेगा) असंशय (इस में कोई सन्देह नहीं है) ॥68॥

टीका—एतदुपदेष्टुः फलमाह—य इति द्वाभ्याम्। परां भक्तिं कृत्वेति प्रथमं परमभक्तिप्राप्तिः, ततो मत्प्राप्तिः, एतदुपदेष्टुर्भवति।। 68।।

भावानुवाद – दो श्लोकों में श्रीभगवान् गीताशास्त्र के उपदेशक का फल बताते हुए कहते हैं कि इस शास्त्र का उपदेश करने वाले को पहले मेरी परा भक्ति प्राप्त होती है तथा बाद में मेरी प्राप्ति होती है॥ 68॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥69॥

मर्मानुवाद – इस नरलोक में उससे अधिक मेरा अत्यन्त प्रियकार्य करने वाला और कोई नहीं है और न होगा॥ 69॥

अन्वय – मनुष्येषु (मनुष्यों में) तस्मात् (गीता वक्ता की अपेक्षा) कश्चित् (कोई) मे (मेरा) प्रियकृत्तमः (अतिशय प्रिय करने वाला) न (न है) न च भविता (न होगा) भुवि (पृथ्वी पर) तस्मात् अन्यः (उसे छोड़ कर) प्रियतरः (प्रियतर भी और कोई) न भविता (नहीं होगा)॥ 69॥

टीका—तस्मादुपदेष्टुः सकाशात् अन्योऽतिप्रियङ्करः अतिप्रियश्च नास्ति।।69।।

भावानुवाद – इसलिए गीताशास्त्र के उपदेशक से बढ़कर पृथ्वी पर दूसरा कोई भी मेरा अतिप्रिय करने वाला नहीं है और न ही अतिप्रिय।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ 70॥

मर्मानुवाद – जो हमारे परमधर्म सम्बन्धी इस कथन उपकथन का अध्ययन करेगा वह ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करेगा॥ 70॥

अन्वय - यः च (और जो) आवयोः (हम दोनों के) इमम् (इस) धर्म्यम् (धर्मयुक्त) संवादम् (संवाद का) अध्येष्यते (अध्ययन करेगा) तेन (उसके द्वारा) अहम् (मैं) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञान यज्ञ द्वारा) इष्टः (पूजित)स्याम् (होऊँगा) इति (यही) मे (मेरी) मति (धारणा है)

टीका—एतदध्ययनफलमाह—अध्येष्यते इति।। 70।।

भावानुवाद – इस श्लोक में भगवान् ने गीता के अध्ययन का फल बताया है – ॥ 70 ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपिमुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥71 ॥

मर्मानुवाद - जो भक्त नहीं है किन्तु मेरे प्रति श्रद्धावान् है और द्वेष रहित है वह व्यक्ति गीता श्रवण करने के प्रभाव से पाप-मुक्त होकर पुण्य कर्मियों के लोक को प्राप्त करता है ॥ 71 ॥

अन्वय - श्रद्धावान् (श्रद्धालु) अनसूयश्च (दोष दृष्टि रहित) यः (जो) नरः (नर) शृणुयात् अपि (केवल श्रवण करता है) सः अपि (वह भी पाप से) मुक्तः (मुक्त हो कर) पुण्यकर्मणाम् (पुण्य करने वालों के) शुभान् (शुभ) लोकान् (लोक को) प्राप्नुयात् (प्राप्त करता है) ॥ 71 ॥

टीका—एतच्छ्रवणफलमाह—श्रद्धावानिति।। 71।।

भावानुवाद – इस श्लोक में श्रीभगवान् ने इसके श्रवण का फल बताया है – 'श्रद्धावान्' इत्यादि ॥ 71 ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥72 ॥

मर्मानुवाद - हे धनञ्जय ! एकाग्रचित से यह गीता श्रवण करने से तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ क्या ? ॥72 ॥

अन्वय - पार्थ (हे पार्थ) त्वया (तेरे द्वारा) एकाग्रेण चेतसा (एकाग्रचित से) एतत् (इसे) श्रुतम् (सुने जाने से) कच्चित् (क्या) धनञ्जय (हे धनञ्जय) ते (तेरा) अज्ञानसम्मोहः (अज्ञान से उत्पन्न विपरीत बुद्धि) प्रनष्टः कच्चिद् (नष्ट हुई क्या ?) ॥ 72 ॥

टीका — सम्यग्बोधानुपपत्तौ कच्चिदिति।।72।।

भावानुवाद – यदि यथार्थरूप से तुमने इसे नहीं समझा, तो पुनः इसका उपदेश दूँगा – इसी अभिप्राय से श्रीभगवान् ने यह श्लोक कहा है॥ 72 ॥

अर्जुन उवाच–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ 73 ॥

मर्मानुवाद – अर्जुन ने कहा – हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया है एवं 'जीव कृष्ण का नित्यदास है' यह दुबारा स्मरण हो आया है। मेरा सन्देह दूर हो गया है। आपकी शरणागति ही जीवों का सर्वप्रधान धर्म है। उसमें अवस्थित हो गया हूँ, इसलिए अब आपकी हर आज्ञा का पालन करूँगा॥ 73 ॥

अन्वय – अर्जुन उवाच (अर्जुन ने कहा) अच्युत (हे अच्युत) त्वत्प्रसादात् (आपकी कृपा से) मोहः (मोह) नष्टः (नष्ट हो गया है) मया (मुझे) स्मृतिः (स्मृति) लब्धा (प्राप्त हुई है) स्थितः अस्मि (आपकी आज्ञा से स्थिर हो गया हूँ) गतसन्देहः (संशयहीन मैं) तब (आप के) वचनम् (वचनों का) करिष्ये (पालन करूंगा)॥ 73 ॥

टीका—किमतःपरं पृच्छाम्यहन्तु सर्वधर्मान् परित्यज्य त्वां शरणं गतो निश्चिन्त एव, त्वयि विश्रम्भवानस्मीत्याह—नष्ट इति। करिष्य इत्यतःपरं शरण्यस्य तवाज्ञायां स्थितिरेव शरणापन्नस्य मम धर्मः, न तु स्वाश्रमधर्मो, नापि ज्ञानयोगादयः, ते त्वद्यारभ्य त्यक्ता एव, ततश्च, भोः प्रियसख अर्जुन! मम भूभारहरणे किञ्चिदवशिष्टं कृत्यमस्ति, तत्तु त्वद्द्वारै भगवतोक्ते सति गाण्डीवपाणिरर्जुनो योद्धुमुदतिष्ठदिति।। 73।।

भावानुवाद – अर्जुन ने कहा– भगवन्! इससे आगे अब और क्या पूछूँ? मैं सब प्रकार के धर्मों का परित्याग करके आपके शरणागत होकर निश्चिन्त हो गया हूँ तथा आपमें पूर्ण विश्वासी हो चुका हूँ। 'करिष्ये' अब से आपकी आज्ञा में स्थित रहना ही मुझ शरणागत का धर्म है, स्वाश्रमधर्म तथा ज्ञानयोगादि का आश्रय नहीं। अभी से इन सब का परित्याग करता हूँ। इसके

बाद श्रीभगवान् बोले- ''हे प्रियमित्र! अर्जुन! पृथ्वी के भार हरण में अभी मेरा कुछ कार्य अवशिष्ट है, वह तुम्हारे द्वारा ही कराना चाहता हूँ'' श्रीभगवान् के ऐसा कहने पर गाण्डीवधारी अर्जुन युद्ध के लिए उठ खड़े हुए॥ 73॥

सञ्जय उवाच-

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ 74॥

मर्मानुवाद - संजय ने धृतराष्ट्र से कहा - कृष्णार्जुन के इस अद्भुत रोमाञ्चकारी संवाद को मैंने श्रवण किया॥ 74॥

अन्वय - संजय उवाच (संजय ने कहा) अहम् (मैंने) महात्मनः (महात्मा) वासुदेवस्य (वासुदेव के) पार्थस्य च (और अर्जुन के) इमम् (इस) रोमहर्षणम् (रोमाञ्चकारी) संवादम् (संवाद का) इति (इस प्रकार) अश्रौषम् (श्रवण किया)।।74॥

टीका—अत:परं पञ्चश्लोकव्याख्या सर्वगीतार्थतात्पर्य-निष्कर्षेऽन्तिम श्लोकाः यत्र वर्त्तन्ते, तां पत्रद्वयीं विनायकः स्ववाहनेनाखुनापहृतवानित्यतः पुनर्नालिखं तां तन्मात्रवादाम्। स प्रसीदतु, तस्मै
'सारार्थ-वर्षिणी' समाप्तीभूता सतां प्रीतयेस्तादिति॥ 74॥

सारार्थवर्षिणी विश्वजनीना भक्तचातकान्।
माधुरी धिनुतादस्या माधुरी भातु मे हृदि।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वष्टादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद - समस्त गीतार्थ के सारस्वरूप अगले पाँच श्लोकों की व्याख्या मैंने जिन पन्नों पर लिखी थी, गणेशजी ने वे दोनों पन्ने अपने वाहन चूहे के द्वारा अपहरण करवा लिए। इसके पश्चात् तन्मात्रवादपूर्ण उन पन्नों को मैंने पुनः नहीं लिखा। वे प्रसन्न हों, उन्हें नमस्कार हैं।

सर्वलोकहितकारिणी सारार्थवर्षिणी माधुरी भक्तचातकों को भली प्रकार प्रसन्न करे तथा इसकी माधुरी हृदय में प्रकाशित हो।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय की श्रीलविश्वनाथ

चक्रवर्ती-ठाकुरकृत साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।॥ 74 ॥

अठारहवें अध्याय की सारार्थवर्षिणी टीका का भावानुवाद समाप्त ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ 75॥

मर्मानुवाद - स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जो कहा था मैंने वही गुह्यतम परमयोग व्यास जी की कृपा से सुना है ॥ 75 ॥

अन्वय - अहम् (मैंने) व्यासप्रसादात् (व्यास जी की कृपा से) इमम् (इस) परं गुह्यम् (परमगोपनीय) योगम् (कर्मज्ञान और भक्ति योग को) साक्षात् कथयतः (साक्षात् अपने मुख से उपदेश करते हुए) योगेश्वरात् (योगेश्वर) स्वयम् (स्वयंरूप) कृष्णात् (श्रीकृष्ण से) श्रुतवान् (श्रवण किया है) ॥ 75 ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ 76॥

मर्मानुवाद - हे राजन्! केशव अर्जुन के इस अद्‌भुत संवाद का स्मरण करते-करते मैं बार-बार रोमाञ्चित हो रहा हूँ॥ 76॥

अन्वय - राजन् (हे राजन् धृतराष्ट्र!) केशवार्जुनयोः (केशव और अर्जुन के) इमम् (इस) पुण्यम् (सब प्रकार के पाप हरने वाले) अद्‌भुतम् (अद्‌भुत) संवादम् (संवाद का) संस्मृत्य संस्मृत्य (पुनः-पुनः स्मरण करके) मुहुर्मुहुः (पुनः पुनः) हृष्यामि (रोमाञ्चित हो रहा हूँ) ॥ 76 ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ 77॥

मर्मानुवाद - हे राजन् ! श्रीहरि के उस अद्‌भुत रूप का स्मरण करते-करते मैं विस्मित हो रहा हूँ एवं पुनः पुनः हर्षित हो रहा हूँ॥ 77॥

अन्वय - राजन् (हे राजन्) हरेः (हरि के) तत् (उस) अत्यद्‌भुतम् (अति आश्चर्यमय) रूपम् (विश्वरूप को) संस्मृत्य संस्मृत्य (बार-बार स्मरण करके) मे (मुझे) महान् (अतिशय) विस्मयः (विस्मय हो रहा है

और) मैं पुनः पुनः (बार-बार) हृष्यामि (रोमाञ्चित हो रहा हूँ)॥ 77॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 78॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः।

मर्मानुवाद - जहाँ पर योगेश्वर श्रीकृष्ण एवं जहाँ पर धनुर्धारी पार्थ है वहीं पर ही श्री, विजय, भूति और न्याय विद्यमान है, यही मेरा निश्चित मत है।

श्रीकृष्ण भक्ति ही जीव का एक मात्र धर्म है यही इस अध्याय का तथा समस्त गीता का तात्पर्य है॥ 78॥

अठारहवें अध्याय के रसिकरंजन मर्मानुवाद का भावानुवाद समाप्त।

अन्वय - यत्र (जिस पक्ष में) योगेश्वरः कृष्णः (योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं) यत्र (जिस पक्ष में) धनुर्धरः पार्थ (धनुर्धारी अर्जुन है) तत्र (उन पाण्डवों के पक्ष में) श्रीः (राजलक्ष्मी) विजयः (विजय) भूतिः (उत्तरोत्तर राज्य लक्ष्मी की वृद्धि) नीतिः (और न्याय इत्यादि) ध्रुवा (स्थिर है) इति (यह) मम (मेरा) मतिः (निश्चित वाक्य है)॥ 78॥

अठारहवाँ अध्याय समाप्त

श्रीधरकृता 'सुबोधिनी' टीका

तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथामनुसन्दधानः — संजय उवाच — इतीति। रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादमश्रौषं श्रुतवानहम्। स्पष्टमन्यत्॥ 74॥

आत्मनस्तत्श्रवणे सम्भावनामाह—— व्यासप्रसादादिति। भगवता व्यासेन दिव्यं चक्षुःश्रोत्रादि मह्यं दत्तम्। अतो व्यासस्य प्रसादादेतत् अहं श्रुतवानस्मि। किं तदित्यपेक्षायामाह-परं योगम्। परत्वमाविष्करोति-योगेश्वरात् श्रीकृष्णात्स्वयमेव साक्षात्कथयतः श्रुतवानिति॥ 75॥

किञ्च, राजन्निति। हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि हर्षं प्राप्नोमीति वा। स्पष्टमन्यत्॥ 76॥

किञ्च, तच्चेति। विश्वरूपं निर्दिशति। स्पष्टमन्यत्॥ 77॥

अतस्त्वं पुत्राणां राज्यादिशङ्कां परित्यजेत्याशयेनाह— यत्रेति। यत्र येषां पाण्डवानां पक्षे योगेश्वरः श्रीकृष्णो वर्तते यत्र च पार्थो गाण्डीवधनुर्धरस्– तत्रैव चः श्रीः राज्यलक्ष्मीस्तत्रैव च विजयस्तत्रैव च भूतिरुत्तरोत्तराभिवृद्धिश्च नीतिर्नयोऽपि ध्रुवा सर्वत्र निश्चितेति सम्बुध्यते। इति मम मतिर्निश्चयः। अत इदानीमपि तावत्सपुत्रस्त्वं श्रीकृष्णं शरणमुपेत्य पाण्डवान् प्रसाद्य सर्वस्वं च तेभ्यो निवेद्य पुत्रप्राणरक्षां कुर्विति भावः। "भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः। सुखं बद्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः।" तथाहि, "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया", "भक्त्या त्वनन्यया शक्यस्त्वहमेवंविधोऽर्जुन" इत्यादौ भगवद्भक्ते र्मोक्षं प्रति साधकत्वश्रवणात्तदेकान्तभक्तिरेव मत्प्रसादोत्थज्ञानावान्तरव्यापारमात्रयुक्ता मोक्षहेतुरिति स्फुटं प्रतीयते। ज्ञानस्य च भक्त्यवान्तरव्यापारत्वमेव युक्तम्। "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते" इत्यादिवचनात्। तत्त्वज्ञानमेव भक्तिरिति युक्तम्, "समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्। भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः॥" इत्यादौ भेददर्शनात्। न चैवं सति "तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति" श्रुतिविरोधः शङ्कनीयः, भक्त्यवान्तरव्यापारत्वात् ज्ञानस्य, न हि काष्ठैः पचतीत्युक्तेर्ज्वालानामसाधनत्वमुक्तं भवति। किञ्च, "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" "देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे", "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"— इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनान्येवं सति समञ्जसानि भवन्ति तस्माद्भगवद्भक्तिरेव मोक्षहेतुरिति सिद्धम्॥ 78॥

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ।।1।।

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ।।2।।

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।।3।।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ।।4।।

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।।5।।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।6।।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ।।7।।

कौन सा विषय कहाँ ?

ग

च

शब्दकोश

अग्निहोत्र–वैदिक मन्त्रों द्वारा अग्नि में नित्य आहुति देना।

अचिद्वस्तु–जड़वस्तु।

अच्छेद्य–जिसका छेदन न हो सके, अविभाज्य।

अच्युत–अविकारी।

अज–जन्मरहित, योनि से न जन्म लेने वाला।

अज्ञ–अज्ञानी।

अष्टादश विद्याएं–चार वेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और छन्द–ये छह वेदांग मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र–ये अष्टादश विद्याएं हैं

अणिमा–योगकी आठ सिद्धियों में से प्रथम, जिससे योगी अणु के समान सूक्ष्म हो सकता है।

अतिशयोक्ति–किसी बात को बढ़ा–चढ़ाकर कहना।

अत्याज्य–न त्यागने योग्य।

अत्युत्तम–अति उत्तम।

अदृष्ट–अनदेखा।

अधिकृत–जिस पर अधिकार कर लिया गया हो, जिसको कोई कार्य करने का अधिकार दिया हो।

अधिरूढ़–चढ़ा हुआ, सवार।

अधिष्ठान–आधार, आश्रय।

अध्याहार–अपूर्ण वाक्यों को पूर्ण करने के लिए और शब्द जोड़ लेना, अस्पष्ट भावों को अन्य शब्दों के द्वारा स्पष्ट करना।

अनघ–पापरहित।

अनभिज्ञ–अनजान।

अनामय–स्वस्थ, रोगरहित।

अनायास–बिना प्रयास या परिश्रम के, बैठे–बिठाए।

अनिर्देश्य–निर्देश न करने योग्य।

अनिर्वचनीय–वचन से न वर्णन करने योग्य।

अनुक्षण–निरन्तर।

अनुचिन्ता–निरन्तर चिन्तन।

अनुलिप्त–लिप्त।

अनुवर्तन–अनुसरण, अनुगमन।

अनुवर्ती–अनुयायी, अनुसरण करने वाला।

अनुष्ठान– शास्त्र विहित कर्म करना।

अनुसन्धान–खोज, प्रयत्न।

अनुसन्धेय–खोज के योग्य।

अन्त्यज–अछूत, नीच जाति में उत्पन्न।

अन्यतम–बहुतों में से एक।

अन्वय–वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध, मेल–जोल।

अन्वेषणीय–खोज योग्य।

अपकार–हानि।

अपरा– निकृष्ट, जड़, जो श्रेष्ठ न हो।

अपरिमेय–अनगिनत असंख्य, बेअंदाज।

अपरोक्ष–प्रत्यक्ष, इन्द्रियगोचर।

अपरोक्षानुभव–प्रत्यक्ष अनुभव।

अपवर्ग–मोक्ष, निर्वाण।

अपूर्व–जो पहले न हुआ हो, कर्म का अदृष्ट फल।

अपौरुषेय–अलौकिक, ईश्वरीय।

अप्रत्यगात्मा–विषयासक्त आत्मा।

अप्राकृत–अलौकिक।

अप्रारब्ध–संचित कर्म, वे कर्म जिनका फल वर्तमान शरीर में न भोगा जा रहा हो।

अभयत्व–अभयता, निर्भीकता।

अभिज्ञ–जानकार।

अभिधान–शब्दकोष।

अभिनिविष्ट–मनोयोग से किसी कार्य में लिप्त, धंसा हुआ।

अभिप्रेत–उद्दिष्ट, अभिलषित, स्वीकृत

अभिभूत–आक्रान्त, पराजित।

अभिवृद्धि–समृद्धि, बढ़ना।

अभ्यन्तर–अन्तःकरण, भीतर।

अभ्युदय–उदय।

अम्ल–खट्टा।

अयाचित–न मांगा हुआ।

अरण्य–जंगल।

अरुधन्ती–सप्तर्षि मण्डल के पास का एक तारा।

अर्चि–प्रकाश।

अर्जन–कमाना, संग्रह करना।

अर्वाचीन–आधुनिक।

अभिहित–कहा हुआ, कथित।

अवतारणा–उतारना।

अवधारणा–विचारपूर्वक निर्धारण।

अवध्य–वध न करने योग्य।

अवनति–पतन।

अवयव–अंग, अंश।

अवरुद्ध–रुका हुआ।

अवलम्बन–आश्रय लेना, सहारा लेना।

अवलोकन–देखना।

अवशिष्ट–शेष, बाकी, बचाखुचा।

अवान्तर–गौण।

अविचिन्त्य–अचिन्त्य।

अविच्छिन्न–अटूट, जिसका विच्छेद न हो सके, लगातार, निरन्तर।

अविद्याजनित–अविद्या से उत्पन्न।

अव्यय–अविनाशी।

अशब्दम्–शब्द द्वारा अवर्णनीय।

अशेष–शेष रहित, समूचा, अनन्त, अपार।

अश्वत्थ–पीपल वृक्ष।

अष्टसिद्धि–आठ प्रकार की सिद्धियां।

असङ्ग–संगहीन, किसी से आसक्ति न रखने वाला, निर्मोह, आसक्तिहीन।

असमोद्धर्व–जिससे और जिसके बराबर कोई न हो।

असामञ्जस्य–विरोध, असंगति।

असम्प्रज्ञात–एक प्रकार की समाधि जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय इत्यादि का भेद नहीं रहता।

अहंग्रहोपासक–जो तुम हो वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तुम हो इस प्रकार उपास्य तथा उपासक में अभेद चिन्तन करते हुए उपासना करने वाला।

आ

आकारविशिष्ट–विशिष्टआकारवाला

आच्छन्न–ढका हुआ, छिपा हुआ।

आततायी–जघन्य अपराधी, हत्यारा।

आत्मविषयणी–आत्म–सम्बन्धी।

आत्मप्रवणाबुद्धि–जिस बुद्धि का झुकाव परमात्मा की ओर हो।

आदिष्ट–जिसे आदेश दिया गया हो।

आधान–स्थापना, रखना।

आधिदैविक–देवतओं से सम्बन्धित ।

आधिभौतिक–अन्य प्राणियों से सम्बन्धित

आध्यात्मिक–मानसिक, आत्म–सम्बन्धी।

आपात रमणीय–तत्काल क्षणिक सुखदायक।

आयुध–अस्त्र

आरूढ़–आसीन, सवार, चढ़ा हुआ, तत्पर, उतारू।

आरोहण–चढ़ना, ऊपर की ओर जाना।

आर्त्ति–क्लेश, पीड़ा, दर्द।

आर्ष प्रयोग–प्राचीन ऋषियों के द्वारा प्रयोग किया हुआ।

आलोच्य–आलोचना करने योग्य।

आवृत्ति–एक ही काम को बार–बार करना।

आसन्न–निकट आया हुआ, समीपस्थ।

आह्लादित–आनन्दित

इ

इति–समाप्ति।

इन्द्रियग्राह्य–इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य।

इहलोक–यह लोक।

ई

ईक्षण–देखना।

उ

उच्छिष्ट–जूठा, परित्यक्त।

उत्कृष्ट–उत्तम, श्रेष्ठ।

उत्तरायणकाल–सूर्य का मकर रेखा से उत्तर में कर्क रेखा की ओर जाने का समय, छः मास का वह समय जब सूर्य बराबर उत्तर की ओर अग्रसर होता है।

उद्भासित–चमकता हुआ।

उद्वेग–चित्त की व्याकुलता, घबराहट।

उभयपक्षपाती–दोनों पक्षों का पक्षधर।

ए

एकीभूत–मिलकर एक होना।

ऐ

ऐहिक–सांसारिक।

क

कर्मजनित–कर्म से उत्पन्न।

कर्मविमूढ़–कर्म के विषय में मूढ़।

कलुषित–गंदा, दूषित, मैला।

कल्प–चौदहमन्वन्तर का एक काल। ब्रह्मा जी की आयु का एक दिन। सौर वर्ष की गणना के अनुसार ब्रह्मा जी का एक दिन 43200,00,000 वर्ष का होता है।

काम्यकर्म–फल की कामना से किये जाने वाले कर्म।

कार्पण्य–दीन-हीन।

किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ –कर्त्तव्य समझने में असमर्थ।

कुमुद–सफेद कमल फूल।

केवलाभक्ति–कर्म-ज्ञान रहित केवल शुद्धा भक्ति।

कैङ्कर्य–दासत्व।

कैवल्य मुक्ति–निर्वाण , मुक्ति।

क्षेत्र–शरीर।

क्षेत्रज्ञ–शरीर का ज्ञाता, आत्मा तथा परमात्मा।

क्षोभ–असंतोष, व्याकुलता।

ख

खड्ग–तलवार।

ग

ग्रथित–गूँथा हुआ।

ग्रीवा–गर्दन।

च

चतुर्युग–सत्ययुग,त्रेतायुग,द्वापरयुग,कलियुग,

चरम–अन्तिम।

चिज्जगत्–जड़ जगत् से परे का जगत् अर्थात् वैकुण्ठ।

चित्तप्रसाद–चित्त की प्रसन्नता।

चिन्मयत्व–चिन्मयता।

चैतन्यत्व–चेतनता।

चैतन्यहीन–चेतनारहित।

ज

जन्मान्ध–जन्म से अन्धा।

जड़ाभिमान–अपने आप को जड़देह समझने का भ्रम।

जर्जरित–जो जर्जर हो गया हो।

जरायु–गर्भ में बच्चे के ऊपर रहनेवाली झिल्ली।

जीवन्मुक्त–इस संसार में रहते–रहते ही मुक्त अवस्था को प्राप्त हो चुका हो।

त

तत्त्वज्ञान–यर्थाथ ज्ञान।

तत्त्वतः–यथार्थ,वास्तविक।

तत्त्वविद्–तत्त्व को जानने वाला।

तदीय–तद्वस्तु अर्थात् भगवान् से सम्बन्धित।

तनय–पुत्र।

तन्मय–तल्लीन।

तर्जनी–अँगूठे के साथ की अँगुली।

तादात्म्य–दो वस्तुओं के परस्पर अभिन्न होने का स्वभाव।

तारतम्य–एक–दूसरे की तुलना में कमवेशी या ऊँच–नीच का विचार। दो वस्तुओं के घट–बढ़कर होने का भाव

तिर्यग्–पशु–पक्षी

तुमुल–भयंकर

तैलधारावत्–तैल की धारा के समान निरन्तर।

त्रिगुणातीत–तीनों गुणों से परे।

त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ और काम।

द

दुर्ज्ञेय–दुर्बोध, कठिनाई से समझ में आने वाला।

दुर्वारित–कठिनाई से हटाया गया।

दुस्त्याज्य–जिसे त्यागना मुश्किल हो।

देहात्मबुद्धि–देह को ही आत्मा समझना।

देहाध्यास–देह को ही आत्मा (अपना–आपा) समझने का भ्रम।

द्रव्यमययज्ञ–द्रव्य द्वारा किया गया यज्ञ।

ध

धान्य–धान, अनाज।

धूम–धुआँ।

धूसरित–धूल से भरा हुआ।

ध्वनित होना–गूँजना।

न

नरपुगङ्गव–नरश्रेष्ठ।

नराकृति–मनुष्य के समान आकार।

नामाभास–नाम का आभास।

नाश्यधर्म–नष्ट होने योग्य धर्म।

निःशक्तिक–शक्तिरहित।

निःसृत–निकला हुआ।

निकेतन–घर।

निक्षेप करना–फेंकना।

निगृहीत–निग्रह किया हुआ।

निग्रह–संयम।

नितान्त–अत्यन्त, एकदम।

निमज्जित–डूबा हुआ, मग्न।

नियतात्म–जिसका मन वश में हो।

निर्गुण–सत्त्व, रज और तमोगुण से परे।

निशा–रात्रि।

निष्कामकर्म–फल की इच्छा के बिना किया गया कर्म।

निस्त्रैगुण्य–तीनों गुणों से अतीत।

निहत–मारा हुआ।

नैतिक–नीति सम्बन्धी।

नैमित्तिक–निमित्त या किसी कारण से उत्पन्न।

प

पंचमहाभूत–पृथ्वी, जल, अनल, वायु, आकाश

पंचविषय या तन्मात्राएं–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द

परिज्ञात–अच्छी प्रकार से ज्ञात।

पराभक्ति–श्रेष्ठा या शुद्धा भक्ति।

पराभूत–वशीभूत।

परिमित–सीमित।

परोक्ष–अगोचर और अप्रत्यक्ष।

पार्षद–परिकर।

पाषण्डी–पाखण्डी।

परदार–दूसरे की स्त्री।

परिचालक–चलाने वाला।

पारलौकिक–परलोक सम्बन्धी।

परिचर्या–सेवा।

परिवेष्टित–घिरा हुआ।

परिव्राजक–वह संन्यासी जो सदा भ्रमण करता रहता है।

पर्यन्त–तक।

पर्यवसित–समाप्त।

पाणि–हाथ।

पादद्वय–दो चरण।

पारत्रिक–परलोक सम्बन्धी।

प्रतिकोपासक–स्वयं को भगवान् से पृथक् जान इन्द्र सूर्यादि को भगवान् की विभूतियां मान कर उनकी उपासना करने वाला।

पिनाकपाणि–शिवजी।

पुनरुक्ति–एक बार कही हुई बात को दुबारा कहना।

पुष्करिणी–सरोवर, छोटा तालाब।

प्रकरण–किसी ग्रन्थ के अन्तर्गत छोटे–छोटे भागों में से एक कोई भाग, विभाग।

प्रकृत–यथार्थ, वास्तविक।

प्रच्छन्न–ढँका हुआ

प्रजल्प–इधर–उधर की बात।

प्रज्ञा–बुद्धि।

प्रणयन–रचना, निर्माण।

प्रणति–प्रणाम, शरणागति।

प्रताड़ित–सताया गया हो, ठगा गया हो।

प्रतिपदा–शुक्ल या कृष्ण पक्ष की पहली तिथि।

प्रतिपादित–जो प्रमाणित किया जा चुका हो।

प्रतिबोधित–जागा हुआ, सिखलाया हुआ, शिक्षित।

प्रतिपाद्य–समझाने योग्य, निरूपण करने योग्य।

प्रत्यगात्मा–विषयत्यागी आत्मा।

प्रत्यवाय–नित्य कर्म न करने से लगने वाला पाप, उलट–फेर।

प्रत्याहार–योग के आठ अंगों में से एक जिसमें इन्द्रियों को विषयों से हटा कर मन एकाग्र किया जाता है, इन्द्रिय निग्रह।

प्रत्युपकार–भलाई के बदले में की हुई भलाई।

प्रदत्त–दिया हुआ।

प्रपत्ति–शरणागति।

प्रमाद–अवहेलना, आलस्य, असावधानी।

प्रयोजनीयता–आवश्यकता।

प्रवणा–किसी वस्तु की ओर झुका हुआ।

प्रवर्त्तक–संचालक, आरम्भ करने वाला।

प्रवीर–अतिशय वीर।

प्रवृत्ति–मन का किसी विषय की ओर होने वाला झुकाव।

प्रशान्तात्मा–शान्त आत्मा।

प्राकृत–लौकिक।

प्राक्तन–प्राचीन।

प्रादुर्भूत–आविर्भूत, अवतरित, प्रकट हुआ हो।

प्रापक–प्राप्त करवाने वाला।

प्रेमास्पद–प्रेम का पात्र।

ब

बाहुल्य–अधिकता।

बाह्य अङ्ग–बाहरी अंग।

बृहत्–बड़ा।

ब्रह्मलय–ब्रह्म में लय होना।

ब्रह्मवेत्ता–ब्रह्म को जानने वाला।

भ

भक्तानन्दायिनी–भक्तों को आनन्द देने वाली।

भिक्षान्न–भिक्षा में मिला अन्न।

भोक्तृत्वभाव–भोक्ता होने का भाव।

म

मत्सम्बन्धी–मुझ सम्बन्धी।

मत्सरता–डाह, जलन, द्वेष।

मन्वन्तर–ब्रह्माजी के दिन का चौदहवाँ भाग।

मन्तव्य–विचार, मत।

मर्मार्थ–सार।

मस्त्यण्डिका–मोटी या बिना साफ की हुई चीनी।

माठरश्रुति–श्रुति का एक नाम।

मायाच्छन्न–माया द्वारा ढका हुआ।

मुकुलित–आधा विकसित।

मुमुक्षु–मुक्ति की इच्छा रखने वाला।

मेधायुक्त–मेधावी, बुद्धिमान्।

म्लेच्छ–चारों वर्णों से भी नीच।

य

यजमान–यज्ञ करवाने वाला।

यज्ञाङ्ग–यज्ञ का अंग।

यति–संन्यासी।

युक्तियुक्त–उचित, तर्कपूर्ण, तर्क के आधार पर ठीक, बाजिव।

योगमाया–भगवान् की परा शक्ति।

योगारुरुक्षु–योगाकांक्षी।

र

रञ्जित–रँगा हुआ।

रुक्ष–रूखा, नीरस।

ल

लिङ्गशरीर–सूक्ष्म शरीर।

लिप्सा–किसी वस्तुकी पाने की इच्छा।

लुब्ध–ललचाया हुआ, लोभित।

लोकप्रवर्त्तन–लोगों के कल्याण के लिए।

लोकायत–चार्वाक का अनुयायी।

लोमहर्षक–रोमांचकारी, लोम खड़े कर देने वाला।

व

वञ्चक–वंचना करने वाला, ठगने वाला।

वान्ताशी–वमनभोजी, उल्टी कर उसे खाने वाला।

वर्णविशिष्ट–विशिष्ट वर्णवाला।

वर्णसङ्कर–अलग-अलग जातियों के स्त्री पुरुष से उत्पन्न सन्तान।

वाक् –वाणी, बोलने की इन्द्रिय।

वाचाल–अधिक बोलनेवाला।

वायव्यास्त्र–एक अस्त्र विशेष ।

विक्षिप्त–पागल, उद्विग्न।

विजितात्मा–जिसने मन जीत लिया है ।

विज्ञ–पण्डित, विशेष जानकार।

विज्ञानानन्दपूर्ण–विज्ञान और आनन्दपूर्ण।

वितण्डावादी–व्यर्थ की बात करने वाला।

विधेयात्मा–आत्मसंयमी ।

विद्ध–छिदा हुआ, आहत।

विन्यास–व्यवस्थित करना।

विभूति–सम्पत्ति।

विमाता–सौतेली माता।

विचक्षण–विज्ञान, दूरदर्शी।

विरहकातर–विरह से दु:खी।

विरोधाभास–विचार में विरोध प्रतीत होना।

विवृत–स्पष्ट, व्यक्त।

विशारद–निपुण।

विशिष्ट–विशेषता युक्त।

विशिष्टता–विशेषता।

विशुद्धचित्त–विशेष रूप से शुद्ध चित्त।

विश्वरूपोपासक–विश्वरूप के रूप में भगवान् की उपासना करने वाला।

विशेषत्व–विशेषता।

विहित–निर्धारित, बताया हुआ।

वृष्टि–बर्षा।

वेदज्ञ–वेदों को जानने वाला।

वैश्वदेव यज्ञ–एक प्रकार का यज्ञ ।

व्यवसायात्मिका बुद्धि–दृढ़ निश्चयात्मिका बुद्धि।

श

शरीरके छः विकार–उत्पत्ति, वृद्धि, बाल्यावस्था, यौवन, जरा, मृत्यु

शोच्य–शोचनीय।

शोकार्त्त–शोक से व्याकुल।

श्रुत–सुना हुआ।

श्रोतव्य–सुनने योग्य।

श्लेषोक्ति–छिपे अर्थवाली बात।

ष

षडैश्वर्यपूर्ण–छ: ऐश्वर्यों से परिपूर्ण।

षण्मास–छ: मास।

स

संचरण–गमन, भ्रमण।

संवेदन–अनुभूति।

संस्पर्श–स्पर्श।

संहर्त्ता–संहार करने वाला।

सङ्गति–मेल।

सञ्चित–जमा किया हुआ।

सद्विवेकी–सद् विवेकवाला।

समत्वभाव–समता का भाव।

सन्निविष्ट–उत्तम रूपसे एकाग्र।

समरविजयी–युद्ध को जीतने वाला।

समासबद्ध–समास के रूप में प्रयुक्त।

समाहार–समुच्य, समूह।

समाहित–संयमित, संयत।

समिधा–यज्ञ की लकड़ी।

समीकरण–समान या बराबर करना।

सम्प्रज्ञात–एक प्रकार की समाधि जिसमें ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का बोध बना रहता है

सम्बन्धविशिष्ट–विशिष्ट सम्बन्धवाला।

सम्मत–सहमत, सम्बन्धवाला, एक मत।

समन्वित–संयुक्त, स्वाभाविक रूप से क्रमबद्ध।

सम्यक्–भलीभाँति, पूरी तरह।

सरकण्डा–कुश जाति का एक घास।

सर्वभूतात्मा–सभी जीवों के आत्मा अर्थात् परमात्मा।

सर्वभुक् –सब कुछ खा जाने वाला।

सहस्त्र–हजार।

साम–सामवेद।

सामर्थ्यविशिष्ट–सामर्थ्यवान्।

साम्यलक्षण–समानता का लक्षण।

सारगर्भित–सारपूर्ण।

सालोक्य मुक्ति–जीव का भगवान् के साथ एक ही लोक में वास करना।

साष्टाङ्ग प्रणाम–आठ अंगों सहित प्रणाम (सिर, हाथ, पैर, आँख, जंघा, हृदय, वचन और मन)।

सुखान्वेषी–सुख खोजी।

सुदुराचारी–अति दुराचारी।

सुधा–अमृत।

सुरस–रसयुक्त।

सुस्पष्ट–विशेषरूप से स्पष्ट।

सोदाहरण–उदाहरण के साथ।

सौम्य–सुन्दर, कोमल।

स्खलित–गिरा हुआ।

स्नेहाधिक्य–स्नेह की अधिकता।

स्पृहा–इच्छा, आकांक्षा।

स्फुरण–व्यक्त होना.

स्फुलिंग–चिंगारी।

स्मार्त्त–स्मृति शास्त्र का अनुसरण करने वाला।

स्त्रुवा–घी में आहुति डालने वाला चम्मच।

स्वच्छन्द–स्वतन्त्र।

स्वधर्मस्थ–अपने धर्म में स्थित।

स्वयंभू–स्वयं उत्पन्न।

स्वरूपसंप्राप्त–नित्यस्वरूप में अवस्थित।

स्वसत्ता–अपनी सत्ता।

स्वानन्दपूर्ण–अपने आनन्द में पूर्ण।

स्वेच्छाचारिणी–मनमानी करने वाली।

ह

हत–मरा हुआ।

हतभागा–भाग्यहीन।

हन्ता–मारनेवाला।

हवि–आहुति के द्रव्य।

हिरण्यगर्भ–ब्रह्मा।

हेयता–तुच्छता।

होम–हवन, यज्ञ।

हृदगत–हृदय सम्बन्धी।